स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

MAPS-06

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन

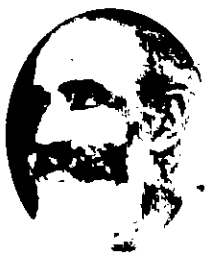

प्रथम खण्ड	:	भारतीय पुनर्जागरण और उदारवादी दृष्टिकोण
द्वितीय खण्ड	:	आदर्शवादी दृष्टिकोण
तृतीय खण्ड	:	समाजवादी एवं साम्यवादी चिन्तन
चतुर्थ खण्ड	:	गाँधीवादी चिन्तन
पंचम खण्ड	:	स्वातंत्रोत्तर चिन्तन

विश्वविद्यालय परिसर

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, इलाहाबाद-211013

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय

MAPS - 06
आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन

खण्ड

1

भारतीय पुनर्जागरण और उदारवादी दृष्टिकोण

इकाई 1
राजा राममोहन राय 5

इकाई 2
महादेव गोविन्द रानाडे 26

इकाई 3
गोपाल कृष्ण गोखले 45

खण्ड 1 का परिचय : भारतीय पुनर्जागरण और उदारवादी दृष्टिकोण

ारतीय उदारवाद काल

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन का सूत्रपात्र ब्रिटिश साम्राज्यवाद की छत्रछाया में हुआ, अतः यह स्वभाविक ही है कि इसका प्रारंभिक कारण ब्रिटिश उदारवाद एवं बुद्धिवाद से प्रेरित एवं प्रभावित है। 19वीं सदी के उतरार्द्ध में आधुनिक शिक्षा प्रणाली के बीज बोए जा चुके थे, ब्रिटिश संवैधानिक एवं राजनीतिक विचार एवं संस्थाओं का प्रवेश हो चुका था, भारत के आर्थिक एवं औद्योगिक पुर्निर्माण के कतिपय प्रयास भी आरंभ हो चुके थे। इन्हीं सब प्रयासों एवं प्रभावों के परिणाम स्वरुप भारतीय बौद्धिक एवं राजनीतिक जगत में आधुनिक राजनीतिक मान्यताओं की पदचाप भी सुनाई पड़ रही थी जो कालान्तर में भारतीय उदारवाद (Indian Liberlisation) के रुप भी प्रकट हुई। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक कि इसी कालखण्ड में बंकिमचन्द्र चटर्जी एवं बालगंगाधर तिलक जैसे चिन्तक भारतीय राजनीति की पुर्नरचना के स्रोत भारतीय परम्परा में खोज रहे थे।

भारतीय उदारवाद ब्रिटिश उदारवादी दर्शन का स्थानीय संस्करण था। भारतीय जन–जीवन के सभी क्षेत्रों -- धर्म, समाज, राजनीति को न केवल इस नयी विचारशैली की दृष्टि को निरूपित करने की चेष्टा की गयी वरन् उनमें परिवर्तन व सुधार का भी जोरदार प्रयास आरंभ हुआ। भारतीय उदारवाद के प्रमुख प्रतिपादकों में दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, राममोहनराय, महादेव गोविन्द रानाडे, गोपालकृष्ण गोखले, केशवचन्द्र सेन आदि का उल्लेख किया जा सकता है। लगभग इन सभी विचारकों एवं राजनीतिज्ञों ने धर्म, समाज, राजनीति व अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में आमूल सुधारों का समर्थन किया ताकि भारत एक आधुनिक राज्य के रुप में उभर सके।

इस खण्ड में तीन उदारवादी विचारकों – राम मोहनराय रानाडे एवं गोखले के विचारों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के शब्दों में राम मोहनराय भारतीय इतिहास के आकाश पर एक प्रकाशमान नक्षत्र थे, जिन्होंने भारत में बुद्धिवादी दृष्टिकोण की आधारशिला रखी एवं भारतीय समाज व्यवस्था एवं हिन्दू धर्म का पुर्नपरीक्षण किया। वे भारत में धर्म, राजनीति एवं समाज के आधुनिकीकरण के प्रबल पक्षधर थे। महादेव गोविन्द रानाडे एक प्रसिद्ध विधिशास्त्री एवं अर्थशास्त्री थे। वस्तुतः उन्होंने महाराष्ट्र में उन्हीं विचार–प्रवृत्तियों को आगे बढ़ाने का कार्य किया जिन्हें राममोहनराय बंगाल में प्रतिपादित कर रहे थे। रानाडे ने भारतीय अर्थतंत्र की समस्याओं पर गहराई से विचार किया व उसके आधुनिकीकरण का समर्थन किया। उन्होंने राज्य की भूमिका को भारतीय परिस्थितियों के संदर्भ में प्रतिपादित किया और इस प्रकार वह ब्रिटिश उदारवाद से भिन्न मत रखते हैं। गोखले एक महान राजनेता, अर्थशास्त्री व शिक्षाविद् थे। वे भारत में संवैधानिक एवं राजनीतिक सुधारों के प्रबल पक्षधर थे और राजनीति में नैतिक मानदण्डों की स्थापना की। यद्यपि वे संवैधानिक पद्धति के हिमायती थे, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर ब्रिटिश साम्राज्य की कटु आलोचना करने एवं बहिष्कार की पद्धति का सहारा लेने में भी नहीं हिचकते थे। इसीलिए गोखले को 'उदारवादियों में सर्वाधिक उग्र' माना जाता है।

भारतीय उदारवाद आधुनिक भारत के राजनीतिक विकास का प्रथम चरण था। स्वभावतः इसके विभिन्न पक्षों की मुखर आलोचनाऐं हुई है। परन्तु एक पराधीन राष्ट्र आत्म चेतना एवं राष्ट्र चेतना के मार्ग पर धीरे–धीरे ही प्रवृत्त होता है। उदारवादियों की महत्ता पहले कुछ कदमों को उठाने में है, न कि लक्ष्य–सिद्धि करने में।

इकाई 1 : राजा राममोहन राय

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 आरम्भिक जीवन एवं शिक्षा–दीक्षा
1.3 भारत में आधुनिक शिक्षा की पहल
1.4 राममोहन राय के धार्मिक विचार
1.5 समाजिक सुधार के प्रति राममोहन राय के विचार
1.6 प्रेस एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के समर्थक राममोहन राय
1.7 राममोहन राय के राजनैतिक विचार
1.8 न्यायिक प्रशासन में सुधार पर राममोहन राय की वकालत
1.9 राममोहन राय के आर्थिक विचार
1.10 सारांश
1.11 उपयोगी पुस्तकें
1.12 सम्बन्धित प्रश्न
1.13 प्रश्नोत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- राजा राम मोहनराय के जीवन पर टिप्पणी कर सकेंगे,
- तत्कालीन भारतीय समाज एवं समस्याएँ की विवेचना कर सकेंगे,
- राजा राममोहन राय के सामाजिक सुधार, शिक्षा संबंधी, आर्थिक एवं राजनैतिक विचारों और योगदान का उल्लेख कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

प्लासी युद्ध (1757) के बाद मुगल शासन का लगभग अंत और ब्रिटिश शासन का प्रारंभ हो चुका था। मराठे, राजपूत और सिख शक्तिशाली होते हुए भी आपस में लड़ रहे थे। परिणामस्वरुप अंग्रेज एक के बाद एक प्रदेश अधिकृत करते गये। केवल स्वतंत्र शासकों के प्रांत बच गये। शेष संपूर्ण भारत उनके नियंत्रण में आता जा रहा था। बंगाल में उनका प्रभाव ज्यादा था क्योंकि यहीं से उनके शासन का आरंभ हुआ था। उन दिनों बंगाल के गाँवों में मुख्यतः खेती का काम होता था। अधिकतर बुजुर्ग दल बाँधकर चिलम पीते हुए इधर–उधर की बातों में लगे रहते थे। विधवा की स्थिति और भी भयंकर थी। आर्थिक दृष्टि से परिवार पर निर्भर, निराश्रिता विधवा को आत्मदाह के लिए विवश किया जाता था। यहाँ तक कि यदि कोई स्त्री सती होने से इन्कार करती थी तो उसे बाँधकर जला दिया जाता था। रूढ़िवादी लोग इसे हिन्दूधर्म का आदेश कहते थे। संपूर्ण देश, विशेषकर बंगाल मूर्तिपूजा में लिप्त था। धर्म के नैतिक और आध्यात्मिक पक्ष के स्थान पर अंधविश्वासयुक्त कर्मकांड का प्रचलन था। प्रतिदिन कोई–न–कोई अनुष्ठान होता रहता था। काली और दुर्गा की पूजा में बलि दी जाती थी। पूजा के विधिविधानों तथा पंडितों द्वारा डराये जाने के कारण जनसामान्य की आर्थिक स्थिति भी प्रभावित हो रही थी। दूसरी ओर ईसाई धर्मप्रचारक हिन्दूधर्म की दुर्बलताओं की ओर इंगित कर, लोगों को अपने धर्म की ओर

ोहन राय को बगला, फारसी, अरबी, हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी इन छः भाषाओं का
ा अच्छा ज्ञान था कि उन्होंने उन भाषाओं में भाषण दिये, निबन्ध लिखे, पुस्तकें लिखी
लोगों से वाद–विवाद तथा शास्त्रार्थ भी किये। वे किसी भी विषय के मूल तत्व को
ाने की चेष्टा करते थे, कोई आवश्यक नहीं कि विषय कौन–सा है धर्म, राजनीति या
ज–शास्त्र और यह तभी सम्भव है जब मूल भाषा में तत्त्व की शोध की जाय। उनका
ना था कि अनुवाद या सुनी–सुनाई बातों से सतही ज्ञान भले हो जाय पर गहराई में
। बिना मूल तत्त्व का ज्ञान नहीं होता। इसलिए भाषा–शिक्षा को वे हमेशा महत्व देते थे।

ी के अधीन मुंशी के रूप में कार्य करते हुए राममोहन अंग्रेजी भाषा पर अधिकार प्राप्त
ने के लिए उसके अध्ययन में जुट गए।

ी ने उन्हें केवल अंग्रेजी भाषा के अध्ययन के लिए ही नहीं, तत्कालीन यूरोप एवं
रिका के राजनीतिक एवं आर्थिक विकास के अध्ययन के लिए भी हर प्रकार का अवसर
न किया। अंग्रेजी भाषा तथा यूरोप के राजनीतिक विकास के अध्ययन में उनकी
ीनता की पुष्टि करते हुए डिग्वी ने लिखा है : "मेरे समस्त सार्वजनिक पत्र–व्यवहार को
यता और ध्यान से हृदयंगम करने से तथा यूरोपीय लोगों के साथ पत्र–व्यवहार एवं
िलाप करने से, उन्हें अंग्रेजी भाषा का ऐसा सही ज्ञान हो गया कि वे काफी शुद्धता से
ख और बोल सकते थे। उन्हें अंग्रेजी के समाचार पत्र पढ़ने का भी पक्की आदत थी और
नमें यूरोप महाद्वीप की राजनीतिक गतिविधियों के समाचारों में विशेष रूचि लेते थे।"

स दक्षता और सहजभाव से राममोहन अंग्रेजी भाषा का प्रयोग करते थे, उसकी प्रशंसा
ने वाले अनगिनत लोगों में प्रमुख प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक जेरेमी बेन्थम तथा 'कलकत्ता
िल' के सम्पादक जेम्स सिल्क बकिंघम थे। बकिंघम ने लन्दन की एक पत्रिका के
ादक को लिखा "मुझे उन (राममोहन) की भाषा की बेजोड़ शुद्धता को देखकर सानन्द
श्चर्य होता है। मैंने एशिया मूल के किसी विदेशी को कभी उतनी शुद्धता से बोलते नहीं
ा। उनका शब्दचयन इतना सुन्दर है कि मैं उसे अंग्रेजों के लिए भी अनुकरणीय समझता
।"

जी भाषा में राममोहन की दक्षता ने उनके भाषा ज्ञान संबंधी यश में, जो पहले से ही
ुज्ज्वल था, चार चाँद ही नहीं लगाए, अपितु पाश्चात्य विचार एवं संस्कृति का
श्चर्यजनक संसार ही उनके सामने खोलकर रख दिया। जैसा कि डा0 ब्रजेन्द्र सील ने
ा है, "उनका उद्देश्य पश्चिम की नई विद्या तथा उसमें निबद्ध सामाजिक, राजनीतिक
र वैज्ञानिक संस्कृति का अध्ययन करना था।" दर्शन एवं वैज्ञानिक विचारण का साहित्य,
ेस्क्यू, ब्लेकस्टोन, बेन्थम और टाम पेन जैसे राजनीतिक विचारकों के लेख तथा वाल्टेयर
र वाल्ने, गिबन और ह्यूम जैसे नवयुग के प्रतिनिधि लेखकों के ग्रंथ बड़ी उत्सुकता और
ि से पढ़े। बेकन के साथ राममोहन भी यह कह सकते थे कि उन्होंने सम्पूर्ण ज्ञान को
पने अधिकार क्षेत्र में ले लिया था। उनके विस्तृत अध्ययन ने उनके अन्दर धर्म में तर्कवाद
ं राजनीति में उदारता की भावना पैदा कर दी थी। उन्हें प्रकाश के नवयुग से बहुत
णा मिली थी, जिसने यूरोप के बौद्धिक आकाश को जगमगा दिया था। जिन राजनीतिक
चारों ने पाश्चात्य जगत को हिला दिया था, उनको एक निश्चित रूप देने की ओर
नका ध्यान गया और वे अमरीकी स्वतंत्रता आन्दोलन तथा प्रथम फ्रांसीसी क्रांति की
टनाओं के पर्यालोचन में विशेष रूचि लेने लगे।

ममोहन का विचित्र मस्तिष्क जिन तत्त्वों का बना था, वे हेब्रू एवं अरबी दोनों परम्पराओं
ो सेमेटिक संस्कृति, वेदांत और उपनिषदों की हिन्दू संस्कृति, तथा यहूदी और
ूनानी–रोमन संस्कृति से भिन्न, वैज्ञानिक, आर्थिक एवं जनहितवादी विचारधारा पर आश्रित
श्चिम की नई विद्या के पूरे निचोड़ थे। भारत के स्वरूप में आमूल चूल परिवर्तन करने के

अपने महान कार्य को पूरा करने के लिए अपने आपको तैयार करने के वास्ते उन्होंने पुरानी दुनिया और नई दुनिया के दुर्लभ विचार–रत्न संकलित किए थे।[5]

1.3 भारत में आधुनिक शिक्षा की पहल

किसी भी राष्ट्र के विकास के लिए सर्वप्रथम शिक्षा का प्रचार–प्रसार आवश्यक है। उन्होंने कहा भारत में प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क एवं अनिवार्य होनी चाहिए। उनका मत था कि शिक्षा का विस्तार समाज के निम्नस्तर से होना चाहिए। जैसे जब आग पर कोई चीज पकायी जाती है तब बरतन के नीचे से ही आग जलाने की आवश्यकता होती है।[6] उनका कहना था कि देश में संस्कृत पाठशालाओं में जैसी शिक्षा दी जाती है वह वैसे ही चले। बल्कि इन विद्यालयों की शिक्षा–विधि को और उन्नत किया जाय। साथ ही अंग्रेजी शिक्षा–प्रणाली को भी अपनाना चाहिए। उन्होंने सन् 1823 ई0 में गवर्नर जनरल लार्ड एमहर्स्ट को पत्र लिखकर कहा – इंग्लैण्ड में बेकन के प्रभाव से लोगों को पुराने जीवनादर्श के साथ शिक्षाविधि बदलने की आवश्यकता हुई थी। यदि शिक्षाविधि को बदल कर बेकन की नीति को न अपनाया जाता तो पुरानी पद्धति से लोगों में शिक्षा–विस्तार करना सम्भव नहीं होता। वे सदा के लिए अज्ञानी रह जाते। यदि ब्रिटिश व्यवस्था का उद्देश्य भारतीयों को सदा अज्ञान के अन्धकार में रखना हो तो फिर संस्कृत प्रणाली ही अच्छी है। परन्तु जब सरकार भारतीय जनता की प्रगति चाहती है, तब आधुनिक एवं उदार शिक्षा–प्रणाली द्वारा गणित, प्राकृतिक दर्शन, रसायनशास्त्र, शरीर–विज्ञान एवं अन्य उपयोगी वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा भी दी जानी चाहिए। निर्धारित धनराशि से यूरोप में सुशिक्षित, प्रतिभावान् (भारतीय) विद्वानों को शिक्षक नियुक्त किया जाय। एक महाविद्यालय की स्थापना हो जिसके लिए आवश्यक पुस्तकें खरीदी जायें।[7] राममोहन राय की दूरदर्शिता सचमुच ही सराहनीय थी। सन् 1817 ई0 में डेविड हेयर नामक अंग्रेज के साथ मिलकर भारत में शिक्षा की उन्नति हेतु कार्य किया। सर एडवर्ड हाइडईस्ट को हिन्दू कॉलेज की स्थापना में मदद की। यह कालेज 1817 में कलकत्ता में खोला गया जो आज 'प्रेसिडेन्सी कॉलेज' के नाम से विख्यात है। स्काटलैण्डवासी शिक्षाविद् रेवरेण्ड डफ शिक्षा क्षेत्र में काम करने आये तो लोगों को आपत्ति हुई कि ईसाई के विद्यालय में बाइबिल पढ़ाई जाती है जिससे जाति–भ्रष्ट होने का डर है। इस वक्त राममोहन राय ने लोगों को समझाया – किसी भी धर्म का ग्रन्थ पढ़ने से जाति–भ्रष्ट होने का प्रश्न नहीं उठता है। सभी धर्म के विषय को जानना अच्छा है। मैंने खुद बहुत बार बाइबिल पढ़ी है, कुरान–शरीफ भी पढ़ी है परन्तु मैं न तो ईसाई बना हूँ न मुसलमान। बहुतेरे यूरोपीय गीता एवं रामायण आदि ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं, लेकिन वे लोग हिन्दू नहीं हो गये हैं।[8] उनकी बातों से प्रेरित होकर लोग 'डफ स्कूल' में नियमित रूप से जाने लगे। इस प्रकार शिक्षा विस्तार का काम सफलता से चलने लगा। राममोहन ने अपने आदर्शों को चरितार्थ करने के लिए एक विद्यालय खोला जिसका नाम 'एंग्लो–हिन्दू स्कूल' था (1822)। उनका विचार था कि विद्यालय में अंग्रेजी भाषा की पढ़ाई होगी, शिक्षा की पाश्चात्य प्रणाली अपनायी जायेगी और धर्म एवं नीति सम्बन्धी शिक्षा दी जायेगी। इस विद्यालय में छात्रों की मातृ–भाषा अर्थात् बंगला भाषा में विज्ञान एवं अन्य विषयों की शिक्षा दी जाती थी। छात्रों की वाद–विवाद गोष्ठियाँ होती थीं। उसमें भी मातृ–भाषा में ही बोलने को प्रोत्साहित किया जाता था। स्कूल का सारा खर्च वे स्वयं ही वहन करते थे। प्रारम्भिक छात्रों में उनका पुत्र रमाप्रसाद, प्रिंस द्वारकानाथ ठाकुर का पुत्र देवेन्द्रनाथ और नन्दकिशोर बसु का पुत्र राजनारायण बसु प्रमुख थे। उन्हें यह आशा थी कि इस विद्यालय में पढ़कर कई आदर्शचरित्र मनुष्य बनेंगे।

राममोहन राय ने अनेक पुस्तकों की रचना की थी। धर्म, शिक्षा, भाषा की उन्नति तथा प्रसार

ा लिए इन पुस्तकों का अत्यधिक महत्व समझा जाता है। जहाँ कहीं भी कमी महसूस हुई, ाममोहन राय ने उस विषय पर पुस्तक लिख डाली। भूगोल, विज्ञान यहाँ तक कि व्याकरण र भी उन्होंने पुस्तकें लिखीं। बंगला में व्याकरण की पुस्तक 'गौड़ीय व्याकरण' की रचना ी गयी जिससे बंगला शिक्षार्थियों की समस्या दूर हो सके। बाद में इसका अनुवाद अंग्रेजी में भी किया गया। अंग्रेजी शिक्षा के विस्तार के कारण लोग वेद एवं उपनिषद् आदि की चर्चा छोड़ न दें, इस उद्देश्य से उन्होंने वेदान्त कॉलेज की स्थापना की। देश में कुछ लोग राममोहन राय के द्वारा अंग्रेजी शिक्षा–प्रणाली के प्रवर्तन का विरोध करते थे। राममोहन की राय में देश की वास्तविक उन्नति के लिए विश्व से संबंध स्थापित करके, कदम से कदम मिलाकर चलना पड़ेगा, इसके लिए शिक्षा के क्षेत्र में पाश्चात्य प्रणाली को अपनाना जरूरी है, परन्तु उन्होंने कभी भी संस्कृत शिक्षा की अवहेलना नहीं की।

1.4 राममोहन राय के धार्मिक विचार

राममोहन के धार्मिक विचारों का मूल उद्देश्य सभी धर्मों के शाश्वत मूल्यों और निहित तत्वों को समझकर एक सार्वभौमिक, सार्वजनिक धार्मिक सहिष्णुता का परिवेश बनाना था। विश्व की तीन प्रधान धर्मों के अध्ययन और विवेचन के बाद वो अपने सिद्धान्त पर पहुँचे थे। वो ऐसे वैचारिक क्रांति के श्रष्टा थे जिससे आधुनिक भारत का जन्म हुआ। जूरी एक्ट के विरुद्ध उन्होंने अपनी प्रसिद्ध अपील में लिखा था कि धार्मिक सिद्धान्त लोगों के साधारण और रोजमर्रा के आचार–व्यवहार को काफी हद तक प्रभावित करते हैं। ये केवल सिद्धान्त और विचार मात्र नहीं, बल्कि ये देश के कानून, व्यवहार, दैनिक आवश्यकता, कार्यकलाप और मानव–जीवन के प्रत्येक पहलू के साथ गुँथे हैं। राममोहन देश और समाज के विभिन्न पहलुओं के बारे में पूरी तरह सचेत थे और उनके जीवन–चरित्र से स्पष्ट है कि यह चेतना उनमें बचपन से ही जागने लगी थी। जब वे बालक थे, तभी हम उन्हें मूर्तिपूजा के औचित्य पर संन्देह व्यक्त करते हुए पाते हैं। सभी विद्वान सहमत हैं कि राममोहन राय विशिष्ट अनुशासन के रूप में तुलनात्मक धर्म प्रतिष्ठापक माने जा सकते हैं।

उनके खोजी मस्तिष्क और सत्य की जिज्ञासा ने उन्हें उन्हीं भाषाओं में विभिन्न धर्मों के ग्रन्थों को सावधानी से पढ़ने के लिए प्रेरित किया, जिनमें वे मूल रूप से लिखे गए थे। इस प्रकार उन्होंने कुरान का अरबी में, वेदों और उपनिषदों का संस्कृत में, 'ओल्ड टेस्टामेंट' और 'तालमुद' का हेब्रू में तथा 'न्यू टेस्टामेंट' का यूनानी भाषा में अध्ययन किया। हिन्दूओं, मुसलमानों, ईसाइयों, यहूदियों और अन्य जातियों के धर्म–ग्रन्थों के गंभीर अध्ययन से तथा अपने निजी ज्ञान से उन्हें यह निश्चय हो गया कि सभी धर्मों के उपदेशों का मूल यह विश्वास है कि ईश्वर एक और अद्वितीय है और केवल उसी की पूजा करनी चाहिए।

सभी ऐतिहासिक धर्मों के वैध धर्मशास्त्र बिना किसी विकल्प के इस एकेश्वरवादी सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। आराधना विधियों, धार्मिक क्रियाओं और धार्मिक प्रतीकों में अन्तर भौगोलिक, जलवायु–जन्य एवं जातीय कारणों से पैदा हुआ। राममोहन राय की समन्वयात्मक प्रतिभा ने उन सब में उनके विश्वजनीन मूल्य खोजने और उनको धर्म के सार्वभौम सिद्धान्त में ग्रन्थित करने में उन्हें समर्थ बनाया। इससे यह स्पष्ट है कि वे प्रत्येक धर्म की ऐतिहासिक उक्तियों में भिन्नता को स्वीकार करते थे। वे कहते थे कि अपने शुद्ध रूप में प्रत्येक धर्म स्वयं में पूर्ण 'सत्य' है। उन्होंने "एक सच्चे ईश्वर की गैर–मजहबी उपासना" के लिए एक भारतीय चर्च की भी कल्पना की थी। उन्होंने साम्प्रदायिक एकता के लिए दार्शनिक आधार जो पेश किया वो आज भी उपयोगी है। उस समय, जबकि धार्मिक या सामाजिक रीतियों के विषय में अविश्वास का क्षीण से क्षीण स्वर भी बड़े–से बड़ा अपराध माना जाता था, राममोहन राय ने घोषणा की थी कि "मूर्तिपूजा की हिन्दूप्रथा

ने अन्य सभी प्रथाओं की तुलना में समाज के ढ़ाँचे को अधिक क्षति पहुँचायी है। मूर्तिपूजा के विभिन्न विधानों से जो असुविधाजनक अथवा हानिकारक रीतियाँ शुरू हो गई हैं, उन पर निरन्तर विचार करने के बाद, मैं अपने देशवासियों को भ्रांतियों के दुःस्वप्न से जगाने के लिए हर संभव उपाय करने पर बाध्य हुआ हूँ। अपने देशवासियों के प्रति मुझे जो प्रेम है, उसने भी मुझे इसके लिए बाध्य किया है।" उनकी निभ्रन्ति मानव–प्रेम भावना उनकी उस मार्मिक प्रार्थना में स्पष्ट झलकती है, जो उनकी "ईसाई जनता से पहली अपील" (फर्स्ट अपील टू द क्रिश्चियन पब्लिक) के अन्त में दी गई है। उन्होंने लिखा है – हे ईश्वर! तू धर्म को ऐसा बना दे कि वह मनुष्य और मनुष्य के बीच पारस्परिक भेदभाव और वैर विरोध को मिटाने तथा मानवजाति में शान्ति और एकता पैदा करने में समर्थ हो।" भारतीय परम्परा में जो कुछ महत्वपूर्ण था, उसका वे आदर तो करते थे, पर उसके दास कभी नहीं बने। उन्होंने अपने समय को इस परम्परागत हिन्दू मान्यता को निर्दयतापूर्वक उठा कर दूर फेंक दिया कि धर्मशास्त्र कुछ इने–गिने व्यक्तियों की गुप्त निधि हैं। वेदान्त और उपनिषदों का बंगला और अंग्रेजी जैसी जीवित भाषाओं में अनुवाद करके, उन्होंने हिन्दू धर्मग्रन्थों का सारतत्त्व अधिक–से–अधिक लोगों के सामने रख दिया। यह स्मरण रखना बहुत आवश्यक है कि हिन्दू धर्मग्रन्थों का उनका अनुवाद आधुनिक काल में पश्चिम के लिए भारत का पहला सन्देश था। जैसा कि मैक्समूलर ने लिखा है – "राममोहन राय पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने पूर्व और पश्चिम में प्रवाहित जीवनधारा को पूर्णतः संयुक्त किया"।

राममोहन राय के विचार में धर्म कोई ऐसा रहस्यात्मक गुण नहीं है, जिसका संबंध केवल व्यक्ति के अपने मोक्ष से हो। वस्तुतः वह ऐसी शक्ति है जिसे समाज के उत्थान का प्रशंसनीय कार्य करना और मनुष्य के आत्मोद्धार में योग देना है। एक वैज्ञानिक की तटस्थ दृष्टि से उन्होंने अपने काल के समाज में नासूर के समान फैली हुई बुराइयों का पता लगाया और उन्हें उखाड़ फेंकने के लिए संघर्ष आरम्भ किया।

धर्म की विश्वव्यापकता में राममोहन के विश्वास की तर्कसंगत क्रमिक परिणति राज्य शासन विधि में उनके अर्न्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के रूप में हुई। वे लिखते हैं – "केवल धर्म ही नहीं, निष्पक्ष सामान्य बुद्धि और वैज्ञानिक गवेषणा के सही निष्कर्ष भी हमें इसी परिणाम पर पहुँचाते हैं कि सम्पूर्ण मानव जाति एक बड़ा परिवार है।" इस प्रकार समस्त संसार में वे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने विश्व सरकार की कल्पना की और ऐसी विश्व संस्था की स्थापना पर बल दिया, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय विवाद आपसी बातचीत द्वारा तय किये जा सकें।[9]

1803 में, पिता की मृत्यु के एक वर्ष बाद, राममोहन बुडफोर्ड के साथ मुर्शिदाबाद चले गए। उसी वर्ष उनका पहला ग्रंथ 'तुहफातुल मुवाहिदीन' (एकेश्वरवादियों के लिए उपहार) or A Gift of Monotheists प्रकाशित हुआ। यह धार्मिक लेख फारसी में लिखा गया था। इस पुस्तक में धर्मों के स्वरूप को कलंकित करने वाले असत्य पर खेद प्रकट किया गया है तथा एक ईश्वर की सत्ता में विश्वास के संबंध में समस्त मनुष्य जाति में विचार की सामान्य एकता का प्रतिपादन किया गया है। उनका मानना है कि तार्किक दृष्टि के अभाव में लोग अंधविश्वास के गर्त में गिर जाते हैं। अपनी किताब में उन्होंने मूर्ति–पूजा तथा समस्त धर्मों के अन्ध–विश्वासों के विरुद्ध मत प्रकट किया है। 'तुहफात' में आदि से अंत तक अद्वैतवाद की मान्यता का दृढ़ता से पूर्ण समर्थन किया गया है तथा उतनी ही दृढ़ता से दैवी शक्तिवाद से होकर अवतारवाद तक समस्त अंधविश्वासों का विरोध एवं खंडन किया गया है। 'तुहफातुल मुवाहिदीन' राममोहन के धार्मिक एवं दार्शनिक विश्वासों का निचोड़ होने के कारण सदा एक रोचक और महत्वपूर्ण पुस्तक बनी रहेगी। इसका सर्वाधिक महत्व इस बात में है कि इसके प्रकाशन से मध्ययुग की लम्बी रात का अंत और नवयुग का अरुणोदय हुआ। यह मध्ययुग के विचारकों की परम्परा में एक निरर्थक धार्मिक व्याख्या न होकर प्रचलित धार्मिक विश्वासों के मूल की समीक्षा थी जहाँ अंधविश्वास का राज्य था वहाँ इसने तर्क को सिंहासन पर बैठाया और मानव कल्याण को धर्म का असली उद्देश्य ठहराया।

न् 1815 ई0 में राममोहन राय सेवा से अवकाश ग्रहण करके कलकत्ता आ गये। उनका त था कि कलकत्ता में रहने से भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विकास के लिए अधिक ास करना संभव होगा। उसी वर्ष इन्होंने धार्मिक विषयों पर विचार विनिमय के उद्देश्य से आत्मीय सभा" की स्थापना की। इस संस्था के स्थापित होने के पीछे उद्देश्य था मित्रों के ाथ बैठकर धर्म संबंधी विवेचना करना तथा सदस्यों की आध्यात्मिक उन्नति के लिए ास करना। शास्त्रों का अध्ययन करके राममोहन राय ने समझा था कि सभी धर्मों का ूल तत्त्व यह है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान एवं इस विश्व का निर्माता है। विश्व के सभी ाणी ईश्वर के बनाये हुए हैं। अतः आपस में एकता एवं भाईचारे का भाव होना जरूरी है। इसलिए राममोहन राय का मानव–प्रेम किसी देश या काल में सीमित नहीं था। विश्व–मैत्री ी उनका आदर्श था। सन् 1824 ई0 इन्होंने कलकत्ता "यूनिटेरियन कमेटी" की स्थापना की और 1825 ई0 में वेदान्त कॉलेज की स्थापना की। बाइबिल के अध्ययन के प्रभाव से न्होंने एक लेख "दी प्रिसेप्ट्स ऑफ जीसस" भी लिखा जिसमें बाइबिल के आधार पर शान्ति और प्रसन्नता का मार्ग दिखाया गया था। कुछ लोगों ने इनका अत्यधिक विरोध किया। 1828 ई0 में उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की जिसके जरिये वो सभी लोगों तक पहुँचना चाहते थे। उन्होंने अन्तरावलोकन तथा विश्लेषण के द्वारा हिन्दू धर्म को काफी हद तक अन्धविश्वासों से मुक्त कर दिया। इस सभा में वे सब एकत्रित हो सकते थे जो कि एक ईश्वर में विश्वास रखते थे और मूर्ति पूजा के विरोधी थे। 1830 ई0 में ब्रह्म समाज का दायित्व उसकी व्यवस्थापिका समिति को सौंपकर वे इंग्लैंड यात्रा पर निकल गये।

1.5 सामाजिक सुधार के प्रति राममोहन राय के विचार

प्रत्येक समाज में देखा गया है कि धार्मिक विकृतियाँ सामाजिक स्तर पर कुरीतियों को जन्म देती हैं। हिन्दू धर्म के क्षेत्र में भी ऐसा ही हुआ। राजा राममोहन राय के समय हिन्दू समाज जात–पात, छुआ–छूत, बहुविवाह, बाल–विवाह आदि न जाने कितने कुरीतियों के दलदल में फँसा हुआ था। इनमें सबसे घृणित रीति जो धर्म के साथ ही जुड़ी थी वह थी "सती प्रथा"। समाज सुधार के लिए राममोहन ने जो आन्दोलन छेड़ा सबसे महत्त्वपूर्ण और सफल आन्दोलन जो राममोहन के नाम के साथ जुड़ा रहेगा वह था "सती प्रथा" के विरुद्ध राममोहन का संघर्ष। इसके अलावा राममोहन ने बहुविवाह, बाल–विवाह, जात–पात, अस्पृश्यता और स्त्रियों के सम्पत्ति पर अधिकार जैसे सामाजिक अन्यायों के विरुद्ध आन्दोलन किया।

सती प्रथा अर्थात् मृत पति के साथ विधवा पत्नी को चिता पर जला डालने की प्रथा इस देश में काफी प्राचीन काल से चली आ रही थी। मध्ययुग में इस प्रथा ने भयंकर रूप धारण कर लिया। यह सारे समाज, देश के लिए कलंक का विषय बन गयी थी। सभ्य जगत के लिए यह उपहास का कारण बनी हुई थी। हत्या के इस नृशंस रूप को धार्मिक और सामाजिक मान्यता देकर चालू रखा गया था। जब राममोहन ने अपने बड़े भाई की पत्नी को सती होते देखा था तो उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि इस घृणित प्रथा को बन्द कराकर ही दम लेंगे। मुगलकाल में अकबर और जहाँगीर ने सती रोकने की कोशिश की लेकिन प्रतिबन्ध का असर दिल्ली से आगे न जा सका। जागरूक भारतीय इस प्रथा को हर तरह से अमानवीय मान रहे थे। उन्हें आशा थी कि अंग्रेजी शासन इस प्रथा का उन्मूलन करेगा। किन्तु अंग्रेजों को यह आशंका थी कि हिन्दू इसे धार्मिक प्रथा में हस्तक्षेप समझकर विद्रोह न कर दें। इस दिशा में पहला प्रयास लार्ड कार्नवालिस के समय में शाहाबाद के कलक्टर एम0 एच0 ब्रुक ने किया। उन्होंने सती होने की अनुमति नहीं दी और 28 जनवरी 1789 ई0 में गवर्नर जनरल को पत्र लिखकर अपने निर्णय का समर्थन माँगा। गवर्नर जनरल ने

सहमति के साथ यह सुझाव दिया कि भविष्य में ऐसा न किया जाये।[10] परन्तु 1813 तक सरकार ने सती रोकने हेतु कोई ठोस कदम नहीं उठाया। हिन्दूओं के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की अपनी इच्छा के कारण सरकार बिल्कुल तटस्थ और उदासीन रही। काफी हिचकिचाहट के बाद, 1817 में सरकार ने मजिस्ट्रेटों और पुलिस को यह आदेश दिया कि "जिन मामलों में हिन्दू धर्म सती प्रथा का विधान करता है, उन मामलों में सती की अनुमति दी जाए, परन्तु जिनमें वह निषेध करता है, उनमें उसे रोका जाए।" यह नियम कितना बेअसर रहा इसका सबूत सरकार द्वारा 1818 में एकत्र आँकड़ों से मिलता है। आँकड़ों से पता चला कि 1815 और 1818 के बीच कम से कम 2365 विधवाओं को जीवित जला दिया गया। इनमें से 1528 कलकत्ता और उसके आसपास के जिलों की रहने वाली थीं।[11] इसी समय समाज के कट्टरपन्थी नेताओं ने सरकार से आग्रह किया कि सती प्रथा को जारी रखा जाय। यही वह समय था जब अप्रिय होने के भय से शासक कोई भी निश्चित आदेश देने में सकुचा रहा था, और स्वार्थी व्यक्ति इस अमानवीय प्रथा को बढ़ावा दे रहा था, उस समय राममोहन राय समाज में इस कुप्रथा को रोकने हेतु आगे आये। उनके प्रयासों से विदेशी विद्वान इस ओर आकृश्ट हुए। कुछ विचारकों ने इस विषय पर लिखकर औरों तक पहुँचाया। 1828 ई0 में जे0 पेग्स लिखित पुस्तक 'दि सतीज क्राई टू ब्रिटेन' प्रकाशित हुई, जिसमें सती की मार्मिक कथाओं के साथ उन पर किये जाने वाले बल प्रयोग का भी जिक्र किया है।[12] इस दिशा में एक और महत्वपूर्ण पुस्तक फेनी पार्क्स द्वारा लिखी गयी जिसका शीर्षक 'Wanderings of pilgrim in search of the pictures during four and twenty years in the East with the revelations of life in the Zenana' था। इसमें सती की भयानक घटनाओं का विवरण मिलता है।

राममोहन के अनुसार सतीदाह पर तीन शास्त्रीय मत मिलते हैं। पहला यह कि पति की चिता पर अनुगमन स्त्री का कोई कर्त्तव्य नहीं है। इसके विषय में कोई शास्त्रीय मत नहीं मिलता। दूसरे स्मरण से ब्रह्मचर्य को श्रेष्ठ माना है। तीसरे शास्त्रीय विधान के अनुसार कोई स्त्री चाहे तो सहमष्ता हो सकती है। किन्तु उसके स्थान पर स्थिति यह थी कि बल प्रयोग किया जा रहा था। फिर भी 4 जनवरी, 1828 ई0 में लार्ड एम्हर्स्ट इस दिशा में धीरे चलने की नीति अपनाने को कहा। दो महीने बाद वे विलायत लौट गये। उनके बाद बैंटिक आये जो भारतीयों की रीति–रिवाज से परिचित थे। उन्होंने राममोहन और उनके सुधार प्रयासों के विषय में सुना हुआ था। वे उनके प्रशंसक थे उनके विचारों का आदर करते थे, अतः उन्हें सलाह लेने के लिए बुलाया। इसका संकेत 27 जुलाई, 1829 ई0 के 'इंडिया गजट' में मिलता है। सभी पहलुओं पर विचार करने के बाद बैंटिक ने 8 नवम्बर, 1829 ई0 को पूरी तैयारी के साथ इंगलैंड के राजा को इस प्रथा के उन्मूलन का सुझाव भेजा। उस ऐतिहासिक टिपण्णी में उन्होंने लिखा कि 'मेरे हृदय में प्रथम और मुख्य उद्देश्य हिन्दूओं का हित है। भविष्य में सुधार के लिए सबसे महत्वपूर्ण तत्त्व नैतिक पवित्रता है। हिन्दू ईश्वर संबंधी कोई भी मान्यता क्यों न रखते हों, सबसे पहले इन्हें धार्मिक मृत्यु और हत्या में अंतर समझना होगा। जब ये क्रूर व्यक्ति उत्तेजना रहित होकर शांतिपूर्वक इस सत्य को पहचानेंगे, तभी जान पायेंगे कि प्रत्येक जाति का ईश्वर एक ही आदेश देता है। 'निर्दोष का रक्त मत बहाओ।' इस लम्बी टिप्पणी के साथ 4 दिसम्बर, 1829 ई0 को प्रसिद्ध नियम, संख्या xvii (सत्तरह) पास किया गया, जिसके अंतर्गत सतीप्रथा को गैरकानूनी और दण्डनीय अपराध माना गया। स्पष्ट आदेश दिया गया कि 'जो भी व्यक्ति किसी विधवा को, भले ही वह स्वयं ऐसा करना चाहे, सती होने में सहायता करेगा, उसे मृत्युदण्ड तक दिया जा सकता है। इस प्रकार एक लम्बे संघर्ष के बाद गवर्नर जनरल के सहयोग से इस प्रथा का उन्मूलन हुआ। उस नियम को लागू करवाने में राममोहन का कितना हाथ था, यह

। की भाषा से स्पष्ट हो जाता है। 'सतीप्रथा या विधवा को जीवित जलाना या दबाना य भावनाओं के विरुद्ध है। हिन्दू धर्म में विधवाओं के लिए सात्त्विक और वैराग्यपूर्ण बिताने का सुझाव है, किन्तु सती होने का नहीं।' बैंटिक के इस आदेश से तावादी अत्यन्त प्रसन्न हुए लेकिन कट्टरपंथियों ने विरोध किया और सरकार को ा–पत्र भेजा। किन्तु भारत के कुछ प्रभावशाली व्यक्तियों ने बैंटिक के नियम के पक्ष में ा दी। 1832 ई0 के आरंभ तक कम्पनी के अधिकारी उन्मूलन के विरोध की चेष्टा रहे। जून के महीने में यह अपील प्रिवी कांउसिल के समक्ष रखी गई। सती प्रथा के निषेध को अंग्रेजी शासन के लिए खतरनाक बताया गया क्योंकि इससे हिन्दू धर्म के त में बाधा पड़ेगी। विपक्ष में राममोहन का पत्र था, जिसमें शास्त्र के आधार पर उसे ात बताया गया था। 11 जुलाई, 1832 को इस पर निर्णय देते समय कांउसिल के ों ने रूढिवादियों के प्रार्थना पत्र को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार सती प्रथा का हुआ। ब्रह्म समाज की व्यवस्थापिका समिति ने इस सफलता पर गवर्नर जनरल के कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए एक सभा बुलाई, जिसमें बड़ी संख्या में लोगों ने भाग । श्रीमती फ्रांसिस मार्टिन ने 26 नवम्बर, 1829 को 'हरकारा' में एक पत्र छापा जिसमें यदि राममोहन राय जैसे हिन्दू दार्शनिक की शक्तिशाली सहायता नहीं मिली होती ायद सती प्रथा अब भी चलती रहती। युगों से हजारों हिन्दू विधवायें धर्म के नाम पर कष्टप्रद मृत्यु को झेलती आ रहीं थी, उस त्रासद स्थिति का अन्त हुआ। हिन्दू जाति न कलंक को मिटाने के लिए भारतीय सदा राममोहन के ऋणी रहेंगे।

की स्त्रियों को, उनके पतियों की मृत्यु के बाद भी जीवित रहने का अधिकार दिलाने घरत रहते हुए भी, राममोहन ने उनके सम्पत्ति के अधिकार को कभी नजरअन्दाज किया। उस समय प्रचलित हिन्दू कानून के अनुसार स्त्रियाँ अपने पतियों या पिताओं म्पत्ति के किसी भाग को उत्तराधिकार में प्राप्त नहीं कर सकती थीं। अविवाहित या ा स्त्रियाँ, जिनकी जीविका का कोई साधन नहीं होता था और जो अपने भरण–पोषण ए पतियों पर ही निर्भर रह सकती थीं, आर्थिक दृष्टि से भार बन जाती थीं। ाओं की शारीरिक समाप्ति के आर्थिक लाभ भी थे। सती–प्रथा विरोधी कानून को के लिए चलाए जाने वाले आन्दोलन की चिकनी–चुपड़ी धार्मिक दलीलों की जड़ में निर्मम सत्य था। इस अन्यायपूर्ण प्रथा के विरोध में, राममोहन ने एक पुस्तिका लिखी, का नाम था – "माडर्न एन्क्रोचमेंट आन दी एन्शेंट राइट्स आफ हिन्दू फीमेल्स डेंग टू दी हिन्दू लॉ आफ इन्हेरीटेंस" (उत्तराधिकार संबंधी हिन्दू विधि के अनुसार हिन्दू ाओं के प्राचीन अधिकारों का नवीन अपहरण)। यह पुस्तिका 1822 में प्रकाशित हुई। उन्होंने प्राचीन हिन्दू धर्मशास्त्रों के आधार पर यह प्रमाणित किया कि यह न्याय ह प्रथा परम्परागत हिन्दू विधि को जान–बूझकर तोड़ने–मरोड़ने का परिणाम है। स्त्रियों म्पत्ति में उत्तराधिकार का प्रश्न अन्य सामाजिक बुराइयों जैसे कुलीनवाद और वाह आदि से जुड़ा हुआ था। यदि विधवाऐं वस्तुतः वित्तीय भार थीं, तो अविवाहित ायें अपने पिता के परिवार पर और भी अधिक बोझ थीं। इस खतरे को दूर करने का न तरीका शरीर–नाश नहीं, बल्कि विवाह था। प्रायः कन्या के विवाह के लिए वर को जाति का होना ही उसकी योग्यता की एक मात्र कसौटी थी। परिणामतः स्वस्थ ायाँ अल्पायु में ही बूढ़े, दुर्बल, लंगड़े, अपाहिज पुरुषों के साथ ब्याह दी जाती थीं। न सबसे उँची जाति के होते थे; अतः कुलीन वरों की मांग सबसे अधिक रहती थी। नता से लाभ उठाकर वे धन के लालच से अधिक से अधिक कन्याओं से विवाह कर थे।

त्ती प्रथा के विरुद्ध अपने विचार प्रकट करने हेतु वे प्रायः आत्मीय सभा के मंच और

मुद्रणयन्त्र का इस्तेमाल करते थे। उनका कहना था कि किसी भी व्यक्ति का, जो अपनी पहली पत्नी के जीवनकाल में दूसरा विवाह करना चाहता हो, ऐसा करने की अनुमति तभी दी जानी चाहिए जब वह किसी प्रामाणिक न्यायाधिकरण के समक्ष यह प्रमाणित कर दे कि वे सब शर्तें, जिनके अन्तर्गत हिन्दूशास्त्र एक से अधिक पत्नियाँ रखने की अनुमति देते हैं, पूरी कर दी गई हैं।

उनके अनुसार जाति–प्रथा एक पृथकतावादी प्रकृति है और इससे भारत के राजनीतिक जीवन पर घातक पड़ा है। जाति प्रथा के कारण हिन्दू अनेक जातियों और उपजातियों में विभक्त हो गया है। ऐसे लोग देशभक्ति की भावना से पूर्णतया वंचित हो गये हैं।

ब्राह्मनिकल मैगजीन में अपने लेख द्वारा उन्होंने बताया कि लगभग 9 शताब्दियों से हम ऐसे अपमान सहते आए हैं और उसका कारण रहा है हमारा जातियों में विभाजन तथा हमारी सभ्यता का अतिवाद। इसके कारण हमारी एकता में कमी रही है। राममोहन ने हिन्दूओं से अनुरोध किया कि वे शैव विवाहों को भी वैदिक विवाहों की तरह वैध समझें और इस प्रकार उन्होंने अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहन देने का प्रयत्न किया। अपने विचारों को मजबूती प्रदान करने हेतु उन्होंने 'महानिर्वाण सभा' से प्रमाण उद्धत किए। "महानिर्वाण तंत्र" में कहा गया है कि – "शैव विवाह में आयु, जाति, और नस्ल का कोई भेद नहीं माना जाता। शिव के निर्देशानुसार पुरुष को उस स्त्री से विवाह करना चाहिए, जिसके पति नहीं हैं, तथा जो 'सपिण्ड' नहीं है अर्थात् जो विवाह के लिए निशिद्ध गोत्र की नहीं है।"

जाति प्रथा के प्रामाणिक, विश्लेषणात्मक एवं वस्तुनिष्ठ विवेचन को जनता के लिए प्रस्तुत करने की दृष्टि से राममोहन ने 1827 में, "वजरसूची" नाम का एक संस्कृत ग्रन्थ उसके बंगला अनुवाद सहित, पुनः प्रकाशित किया। एक प्रख्यात संस्कृत विद्वान और पंडित द्वारा लिखित इस ग्रन्थ में जाति प्रथा के समर्थन में दिए गए प्रत्येक तर्क का शास्त्रोक्त प्रभावों द्वारा खंडन किया गया है। धर्म और संस्कृति की भाँति समाज सुधारों के प्रति भी राममोहन का मौलिक दृष्टिकोण पूर्व और पश्चिम के एकीकरण पर आधारित था। राममोहन के संबंध में किए गए एक गम्भीर अध्ययन में डा0 ब्रजेन्द्रनाथ सील ने इस बात पर विशेष बल दिया है। उन्होंने बताया हैं कि राममोहन का लक्ष्य व्यक्ति के हित को बहुसंख्यक जनता के हित के अनुकूल बनाना था, दूसरे शब्दों में, वे व्यक्तिवाद और समाजवाद में समंजस्य स्थापित करना चाहते थे। उन्होंने लिखा है – "पूर्व ने सामाजिक संगठन में समूह को व्यक्ति से ऊपर तथा परमार्थ की खोज में व्यक्ति को समस्त सामाजिक बन्धनों से उपर रखा है। पश्चिम ने सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति के दावों पर तथा कल्याण की दृष्टि से सामाजिक हित पर विशेष बल दिया है। परन्तु राजा राममोहन राय ने यह माना है कि व्यक्तिगत उन्नति सामाजिक उन्नति की कसौटी भी है और माप भी। पर व्यक्ति की उन्नति तभी हो सकती है, जब सामाजिक उन्नति के लिए परिस्थितियाँ पैदा की जायें।"

1.6 प्रेस एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के समर्थक राममोहन राय

राजा राममोहन राय प्रेस एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के महान् समर्थक थे। उन्होंने निश्चय किया कि समाचार–पत्र द्वारा वे लोगों में शिक्षा और ज्ञान का प्रसार करेंगे ताकि लोगों में समानता, भातृत्व और स्वाधीनता की भावना जगाई जा सके। उनका समाचान–पत्र 'संवाद कौमुदी' बंगला और अंग्रेजी भाषा में और दूसरा समाचार–पत्र 'मिरात–उल–अखबार' फारसी भाषा में प्रकाशित होता था। वे निर्भीक और निष्पक्ष समीक्षा के पक्षधर थे।
'मिरात–उल–अखबार' में उन्होंने इंग्लैण्ड द्वारा आयरलैण्ड के प्रति किए गए अन्याय और विरोध के बारे में जो विचार प्रकट किए और आयरलैण्ड में अकाल के समय जो चन्दा

एकत्रित कर के भेजा, उससे उन्हें कुछ समय के लिए अंग्रेजी सरकार की नाराजगी भी सहनी पड़ी। गवर्नर जनरल ने प्रेस आर्डिनेन्स जारी कर दिया था कि समाचार–पत्र निकालने के लिए सरकार से विशेष लाइसेंस लेना पड़ेगा। इस प्रतिबन्ध के मूल में यह विचार निहित था कि केवल उन्हीं लोगों को समाचार–पत्र निकालने की अनुमति दी जाए जो सरकार के प्रति निष्ठावान हों। राममोहन ने अपने कुछ साथियों से मिलकर सर्वोच्च न्यायालय तथा 'किंग–इन–कौन्सिल' में प्रेस की स्वतंत्रता हेतु अपील की किन्तु निष्फल रहे। राय का मुख्य तर्क था कि प्रेस की स्वतंत्रता शासन और शासित दोनों के लिए हितकर है। शासन के लिए यह इसलिये लाभप्रद है कि उसे अपने शासन–नीति के बारे में जनता के विभिन्न विचारों का पता चल जाता है। इस प्रकार जनता शासकों की भूलों की ओर उनका ध्यान आकर्षित कर सकती है। जनता के लिए प्रेस की स्वतंत्रता इसलिए हितकर है कि इससे ज्ञान का प्रसार होता है और मानसिक विचार में सहायता मिलती है। उन्होंने इस बात से इन्कार कर दिया कि स्वतन्त्रता प्रेस सरकार के विरुद्ध संगठित होने का साधन प्रस्तुत करता है। उन्होंने संवैधानिक सरकार को मजबूत बनाने के लिए प्रेस की स्वतंत्रता की मांग की। उनका कहना था कि समाचार–पत्र का उद्देश्य तो जनता और शासन के मध्य एक कड़ी का काम करना और पिछड़े हुए समाज को नई रोशनी देना है। उनकी पत्रकारिता का मूल्यांकन करते हुए के0 दामोदरन ने लिखा है – "उनकी पत्रकारिता ने देश के समस्त भागों में राष्ट्रीय पुनर्जागण के सन्देश को पहुँचा दिया.... उनका सन्देश मानवता और विश्व–बन्धुता का सन्देश था।"[13]

1.7 राममोहन राय के राजनैतिक विचार

लॉक, ग्रोशियस तथा टॉमस पेन की भाँति राजा राममोहन राय ने प्राकृतिक अधिकारों की पवित्रता को स्वीकार किया। उन्हें जीवन स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति धारण करने के प्राकृतिक अधिकारों में विश्वास था। उन्होंने व्यक्ति के नैतिक अधिकारों का समर्थन किया। उन्होंने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्तों को प्रचलित भारतीय लोक–संग्रह के आदर्श के ढाँचे के अन्तर्गत रखा। अधिकारों और स्वतन्त्रता के व्यक्तिवादी सिद्धान्त के समर्थक होते हुए भी उन्होंने आग्रह किया कि राज्य को समाज–सुधार तथा शैक्षिक पुनर्निर्माण के लिए कानून बनाना चाहिये। उन्होंने प्राकृतिक अधिकारों के साथ सामाजिक उपयोगिता तथा मानव कल्याण की धारणाओं का संयोग कर दिया।[14] उनके अनुसार राज को निर्बल तथा असहाय व्यक्तियों की रक्षा करनी चाहिए। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह जनता की सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक और राजनीतिक दशाओं के सुधार के लिए प्रयत्न करे। वे व्यक्ति की गरिमा के संरक्षण के पोषक थे। वे स्वतन्त्रता, अधिकार, अवसर, न्याय आदि राजनीतिक वरदानों को सर्वोच्च मानते थे। वे राज्य के कार्य–क्षेत्र को इन्हीं दिशाओं में प्रेरित करने की आकांक्षा करते थे। उनके चिन्तन में व्यक्ति एवं राज्य एक दूसरे के पूरक थे।

वाल्टेयर, मांटेस्क्यू और रूसो की भाँति राममोहन को स्वतन्त्रता के आदर्श से प्रेम था। वे प्रायः राष्ट्रीय मुक्ति के आदर्श की चर्चा करते थे। उनका कहना था कि स्वतन्त्रता राष्ट्र के लिए आवश्यक है। 'कलकत्ता जर्नल' के सम्पादक जे0 एस0 बकिंघम को 1 अगस्त, 1827 को लिखे अपने पत्र में उन्होंने विश्वास प्रकट किया था कि यूरोपीय राष्ट्र तथा एशियाई उपनिवेश निश्चय ही अपनी स्वाधीनता प्राप्त कर लेंगे। जब 1820 में नेपिल्स में निरंकुश शासन की पुनः स्थापना हो गई तो राजा राममोहन को भारी क्षोभ हुआ। उन्होंने जे0 एस0 बकिंघम के साथ अपना एक पूर्व–निर्धारित कार्यक्रम रद्द कर दिया तथा उन्हें सूचित किया कि यूरोप से प्राप्त ताजा समाचारों ने उनके मन को बहुत खिन्न कर दिया है यद्यपि उनका दृढ विश्वास है कि स्वतन्त्रता के शत्रु और निरंकुशता के मित्र अन्तिम रूप से न तो कभी

सफल हुए हैं और न कभी होंगे। यूरोप जाते समय मार्ग में जब उन्होंने एक फ्रांसीसी स्टीमर देखा तो उनके मुख से ये शब्द फूट पड़े – "यदि मैं स्वतन्त्र फ्रांसीसी राष्ट्र के जहाज में इंगलैण्ड जा सकता तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।"

1.8 न्यायिक प्रशासन में सुधार पर राममोहन राय की वकालत

राजा राममोहन राय यह मानते थे कि न्याय की उपलब्धि में ही न्याय का औचित्य है। न्याय की उपलब्धि के लिए न्यायिक संस्थाओं, न्यायिक संगठन और न्यायिक प्रक्रिया का जन–कल्याणकारी होना आवश्यक है। राजा राममोहन राय प्रथम भारतीय थे जिन्होंने शासन और न्याय विभागों को पृथक् करने की आवाज उठाई और ब्रिटिश संसद की विशिष्ट समिति के सम्मुख महत्त्वपूर्ण मसविदे प्रस्तुत किए। An Exposition of the Revenue and Judicial System of India अपनी पुस्तक में उन्होंने निर्भीकता से न्यायिक प्रशासन का मूल्यांकन किया और भारत में न्यायिक व्यवस्था के स्वरूप के बारे में अपने विचार रखे। उन्होंने भारत में न्यायिक व्यवस्था, नागरिक अधिकारों, कानूनों आदि के सम्बन्ध में विभिन्न सुधारों का सुझाव दिया। बी0 बी0 मजूमदार के शब्दों में "जीवन और स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने कानूनों को संहिताबद्ध करने, शक्ति पृथक्करण, न्यायाधीशों की ईमानदारी, कुशलता, स्वाधीनता, ज्यूरी प्रणाली तथा बन्दी प्रत्यक्षीकरण अधिनियम को अपनाने और अधिकारियों के कानूनी उत्तरदायित्व की माँग की। उनका विचार था कि दीवानी और फौजदारी कानूनों को इस तरह संहिताबद्ध कर दिया जाए कि मुसलमानों व ईसाइयों को किसी भी प्रामाणिक पुस्तक का हवाला देकर व्याख्या करने की आवश्यकता न रहे। शक्ति पृथक्करण उनके लिए अच्छे शासन का एक मूल सिद्धान्त था।... कलेक्टर के पद के साथ प्रबन्धकारिणी और न्यायिक शक्ति के सम्मिश्रण का उन्होंने जोरदार विरोध किया।"

न्यायिक प्रशासन की कुशलता में सुधार के लिए राजा राममोहन राय ने इस बात पर बल दिया कि कानून की नजरों में सभी लोग समान होने चाहिए। पुरातन भारतीय व्यवस्था में प्रचलित न्याय पंचायत का समर्थन करते हुए उन्होंने कहा कि उसी प्रकार जन–सम्बद्ध संस्था द्वारा ही न्यायिक प्रणाली चलनी चाहिए। अवकाश प्राप्त और अनुभवी भारतीय विधि–विशेषज्ञों को जूरी का सदस्य बनाना चाहिए। भारतीय सन्दर्भ को प्राथमिकता देते हुए जूरी–संहिता का निर्माण होना चाहिए, तभी भारत में स्वतन्त्रता और समानता की उपलब्धि की दिशा में बढ़ा जा सकेगा। विधि–संहिता जटिल न होकर स्पष्ट, सरल और जनकल्याण की संरक्षिका होनी चाहिए। उन्होंने कम्पनी सरकार के सन् 1827 के उस अधिनियम का विरोध किया जिसमें भारत में जूरी द्वारा विचार की प्रथा प्रचलित की गई, किन्तु यह निश्चित किया गया कि ईसाइयों के मुकदमों का विचार केवल ईसाई ही करेंगे, किन्तु हिन्दूओं और मुसलमानों के मुकदमें विचार के लिए ईसाईयों को भी उसमें भाग लेने का अधिकार होगा। राममोहन ने एक आवेदन के रूप में इस जूरी व्यवस्था का विरोध किया जिस पर देश के प्रसिद्ध हिन्दू और मुसलमानों के हस्ताक्षर थे। पर्याप्त वाद–विवाद के बाद सन् 1833 में चार्ल्स ग्रान्ट का जूरी बिल पास किया गया जिसके द्वारा सन् 1827 के जूरी कानून में जो आपत्तिजनक अंश था वह रद्द कर दिया गया। चार्टर एक्ट, सन् 1833 के निर्माण के समय राजा राममोहन को ब्रिटिश संसद की प्रवर समिति के समक्ष अपने विचार प्रस्तुत करने का अवसर मिला। उन्होंने भारत में प्रचलित न्यायिक और माल व्यवस्था कि विवेचना की तथा प्रशासन को न्यायिक व्यवस्था से अलग करने की माँग करते हुए समिति के सामने अनेक सुझाव पेश किए। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि वे ही व्यक्ति न्यायिक अधिकारी बने जो निष्पक्ष, स्पष्ट और विवेक सम्पन्न तथा निरपेक्ष होकर शासन की हर इकाई के प्रति ईमानदार रह सकें। राजा राममोहन राय का सुझाव था कि "यदि

.श सरकार चाहे कि भारतवासी सरकार के प्रति आस्थावान हों तो सरकार को उनकी
शिक्षा के अनुसार दायित्वपूर्ण पद पर नियुक्त करना पड़ेगा। देश–वासियों को उनकी
ता के अनुसार राष्ट्रीय सम्मान देना पड़ेगा। इस अधिकार को प्राप्त करने के लिए
मोहन राय को इंग्लैण्ड में अथक परिश्रम करना पड़ा। वे प्रतिदिन पार्लियामेण्ट में
न्त्रित होकर उपस्थित रहते थे और अधिकार वर्ग के विभिन्न प्रश्नों के उत्तर देते थे।[15]

9 राममोहन राय के आर्थिक विचार

र्थिक सुधारों के लिए राममोहन ने जो सुझाव दिये थे उनका सम्बन्ध स्वभाविक रूप से
के समय की महत्वपूर्ण आर्थिक समस्याओं से था। परन्तु उन्हें तात्कालिक आर्थिक दोषों
प्रभावकारी इलाज मात्र समझना उनके उद्देश्य के महान ऐतिहासिक महत्त्व को भुला
ा होगा। अन्य क्षेत्रों की भाँति आर्थिक समस्याओं के क्षेत्र में भी अपने उद्देश्य की सिद्धि
लिये वे सदा उन शक्तियों के प्रभाव का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण करते थे जिसके कारण
ई स्थिति या विशेष समस्या पैदा हो जाती थी और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के अपने
क्षण ज्ञान के कारण, जिसे प्रतिभा की संज्ञा दी जा सकती है, वे अपने पक्ष के समर्थन
लिए हर बार ऐसे 'विद्युच्छक्तिपूर्ति' तथ्य खोज निकालते थे, जो समाज को धक्का देकर
गे बढ़ाने की शक्ति रखते थे।

र्शास्त्र सम्बन्धी बहुविध आधारभूत प्रश्नों पर राममोहन के विचार उस प्रश्नावली के उनके
त्तरों में सविस्तार प्रतिपादित हैं जो 1831–32 में ब्रिटिश संसद द्वारा नियुक्त एक प्रवर
मिति ने उनके पास भेजी थी। इनमें से दो प्रश्न और उनके राममोहन द्वारा दिए उत्तर यह
खाने के लिए काफी होंगे कि उनका सर्वांशतः यह विचार था कि ऐसी परिस्थियाँ पैदा
ा जाएँ जिनमें ब्रिटिश प्रौद्योगिकी और पूँजी भारत में आर्थिक क्रांति लाने के लिए काम
र सकें। पूँजीपति यूरोपियों को भूसम्पत्ति खरीदने और उस पर बसने की अनुमति देने से
ि होगी या लाभ? इस प्रश्न के उत्तर में उनका विचार था: "यदि चरित्रवान एवं पूँजीपति
रोपियों को इंडिया बोर्ड या निदेशक मंडल या भारत सरकार की अनुमति से, इस देश में
सने दिया जाए तो उससे देश के साधनों में काफी सुधार होगा और यहाँ के निवासियों
ी दशा भी सुधरेगी, क्योंकि उन्हें कृषि की उत्तम विधियाँ तथा अपने नौकरों और आश्रितों
साथ व्यवहार करने का एक समुचित ढ़ंग देखने को मिलेगा।" सब प्रकार के यूरोपियों
ो बसने की अनुमति देने के वे खिलाफ थे। काफी सोच–विचार के बाद राममोहन ने मत
या कि "भारत में यूरोपियों का उपनिवेशन कम से कम प्रयोग तौर पर किया जाए, ताकि
त्यक्ष देखकर उसके परिणामों का पता लगाया जा सके।" परन्तु उनका अपना विचार
दा यही रहा कि : बसने वाले चरित्रवान, शिक्षित और पूँजीवाले व्यक्ति होने चाहिए। इस
म्बन्ध में राममोहन का अनवरत परिश्रम निष्फल नहीं रहा। 1833 में, ईस्ट इंडिया कम्पनी
ो जो नया चार्टर दिया गया, उसमें यह निर्धारित किया गया कि जो क्षेत्र पहले ही
म्पनी के अधिकार में आ गए हैं, उनमें यूरोपियों को बेरोकटोक बसने दिया जाएगा, परन्तु
न्य क्षेत्रों में बसने के लिए उन्हें विशेष अनुमति लेने की आवश्यकता होगी। इस प्रकार
ारत में आर्थिक विकास का एक नया अध्याय शुरू हुआ।

मक के व्यापार पर ईस्ट इंडिया कम्पनी के एकाधिकार को समाप्त कराने में उनकी
ूमिका महत्त्वपूर्ण रही। राबर्ट क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्स के दिनों में व्यक्तिशः अधिकारियों
को नमक व्यापार में भाग लेने की अनुमति दी गई थी और इससे वे मालामाल हो गए थे।
सरकार ने नमक पर भारी आयात–शुल्क लगा दिया और इस तटकर का संरक्षण प्राप्तकर
म्पनी और उसके नौकरों ने मनमाने ढ़ंग से नमक का मूल्य उसके असली मूल्य से 1000
प्रतिशत अधिक रख दिया। नमक बनाने के लिए सरकार ने एजेन्ट नियुक्त कर दिए, और

एजेन्टों ने इस कार्य के लिए लगभग 1,25,000 नौकर भर्ती किए, जो "मुलंगी" कहलाते थे। इनकी स्थिति दासों जैसी थी। तैयार होने के बाद नमक कलकत्ता भेज दिया जाता था जहाँ नीलाम द्वारा उसे बेचा जाता था। कुछ व्यापारी मूल्य बढ़ाने हेतु नमक रोक लेते थे। कई बार इसमें मिलावट कर दी जाती थी।

राममोहन ने इस बात पर बल दिया कि मनुष्यकृत नमक–अकाल के परिणामस्वरूप समस्त जनता को कष्ट उठाना पड़ता है। उन्होंने कहा कि यह स्पष्ट है कि यदि नमक उचित मूल्य पर बेचा जाए, तो उसकी खपत बढ़ सकती है। उन्होंने अनुरोध किया कि अंग्रेजी नमक के आयात की अनुमति दी जाए, क्योंकि वह सस्ता भी है और अच्छा भी। नमक के आयात से मुलंगी बेरोजगार हो जाएँगे, अतः उन्हें कृषि –क्षेत्र में वैकल्पिक रोजगार दिया जाए।

ब्रिटिश संसद की प्रवर समिति द्वारा भेजी गई प्रश्नावली का राममोहन ने जो उत्तर दिया था, उसमें एतद्विषयक विचार संनिबद्ध हैं। उन्होंने कम्पनी का एकाधिकार समाप्त कराने के लिए ऐसे अकाट्य और विश्वसनीय प्रमाण उपस्थित किए थे कि प्रवर समिति को उनकी बात माननी पड़ी। भारत की राजस्व व्यवस्था पर प्रवर समिति के प्रश्नों के जो उत्तर राममोहन ने दिए, उनमें किसानों के साथ न्याय किए जाने के लिए प्रबल तर्क उपस्थित किए गये थे।

राममोहन को इस बात का व्यक्तिगत अनुभव था कि 1793 के स्थाई बन्दोबस्त से जमींदारों को तो लाभ हुआ था, पर गरीब किसानों का भाग्य सदा की भाँति अंधकारपूर्ण ही बना रहा। उन्होंने लिखा, "किसानों की स्थिति बड़ी दयनीय है। वे जमींदारों की लोलुप्ता और महत्वाकांक्षा की दया पर हैं। राजस्व के निर्धारण में सरकार ने जमींदारों के साथ तो रियायत की है, परन्तु गरीब किसानों के साथ कोई रियायत नहीं की।" लगान इतना अधिक था, कि उसे देने के बाद किसान के पास कुछ न बचता था। राममोहन ने मांग की कि लगान में और अधिक वृद्धि पर रोक ही न लगाई जाये, अपितु उसे घटाया जाए। उन्होंने कहा कि इसके फलस्वरूप राजस्व में जो कमी होगी वह विलास–सामग्री पर कर लगाकर तथा लंबे–लंबे वेतन लेने वाले यूरोपियों के स्थान पर भारतीयों को कलक्टर नियुक्त करके पूरी की जा सकती है। राममोहन उपनिवेशन का समर्थन इसलिए नही करते थे कि उन्हें व्यक्तिश यूरोपीय व्यापारी या नील–उत्पादक की नैतिक ईमानदारी में बड़ा भारी विश्वास था, बल्कि इसलिए करते थे कि सामूहिक रूप से व्यापारियों में ही वह शक्ति थी जो ईस्ट इंडिया कम्पनी के एकाधिकार के उस गढ़ को तोड़ सकती थी जिसने भारत के आर्थिक जीवन को पंगु बना दिया था। ईस्ट इंडिया कम्पनी की उपस्थिति केवल चाहने से समाप्त नहीं हो सकती थी। राममोहन जानते थे कि अंग्रेज किसी के बुलाने से नहीं आए थे बल्कि ऐतिहासिक शक्तियों से प्रेरित होकर आए थे। वे लाभ कमाने के लिए आए थे और शासन करने के लिए यहाँ जम गये थे। वे इंग्लैण्ड के कारखानों को कच्चे माल की सप्लाई करने वाले के रूप में और इंग्लैण्ड में तैयार माल के खरीददार के रूप में भारत का शोषण करते। इस प्रकार के आयात से, विशेष रूप से कपड़े के आयात से, इस देश के घरेलू उद्योग नष्ट हो रहे थे।

तैनात फौज के उपर अधिक व्यय होता है। अतः तैनात फौज की अधिक संख्या घटा दी जाय और उस तैनात फौज के बदले यहाँ के कुछ लोगों को प्रशिक्षित करके रिजर्वड फोर्स के रूप में केवल भारत के रक्षार्थ रखा जाये। किसान द्वारा रिजर्वड फोर्स में पदभार ग्रहण से जो बचत होगी वह अन्याय किसी भी उपाय से बढ़ायी गयी आय से अधिक ही होगी।[16]

10 सारांश

ामोहन राय एक दूरदर्शी वास्तविकतावादी थे। वे सांस्कृतिक पुनरूत्थान और आर्थिक नति के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्टतया समझते थे। यह बात प्रजा की दशा सुधारने के ए प्रशासनिक सुधारों के वास्ते दिए गए उनके सुझावों से, ईस्ट इंडिया कम्पनी के पार सम्बन्धी एकाधिकार एवं कम्पनी के नौकरों के नमक व्यापार सम्बन्धी एकाधिकार के ेध से तथा मुक्त व्यापार और यूरोपीयों को यहाँ बसाने के सिद्धान्त के समर्थन से, स्पष्ट जाती है। भारतीय सम्पत्ति की लूट के विषय में कांग्रेस पार्टी ने जो प्रचार किया, ये ा राममोहन ने एक शताब्दी पहले ही उठा दिया था। राममोहन का समस्त जीवन विशाल ानें पर सश्लेषण का अनवरत प्रयास थी।

ो ब्रजेन्द्रनाथ सील ने जीवन के प्रति राममोहन के मौलिक दृष्टिकोण का वर्णन इस ार किया है : "उन्होंने अपने सामाजिक, राजनीतिक तथा कृषि एवं उद्योग सम्बन्धी सभी ारों का आधार सामाजिक जीवन की आलोचना, दूरस्थ स्वयंसिद्ध प्रमाणों और कल्पनाओं बनाया, जिससे उन्होंने पूर्व और पश्चिम को संश्लिष्ट किया। इस प्रकार ऐतिहासिक ों का उनका संश्लेषण प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृतियों एवं सभ्यताओं के संश्लेषण से पूरा ा, जिसे ऐतिहासिक परिस्थितियों से विवश होकर उनके लिए करना आवश्यक हुआ। स प्रकार विचार के क्षेत्र में उन्होने व्यक्तिगत विवेक का सामूहिक ज्ञान के एवं शास्त्रीय ाण के साथ सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया, उसी प्रकार सामाजिक पुनर्गठन क्षेत्र में, उन्होंने व्यक्ति के हित का सामूहिक हित के साथ -- दूसरे शब्दों में, व्यक्तिवाद समाजवाद के साथ – सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया।"

ोक्षकों का एक वर्ग राममोहन राय की इस बात के लिए आलोचना करता रहा है कि ापि वह अन्य देशों में चल रहे स्वतन्त्रता संघर्षों के प्रशंसक एवं पक्षधर थे, परन्तु भारत में होंने ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना का स्वागत किया एवं उसे दैवीय विधान का अंग ा। अशोक सेन के अनुसार राममोहन राय का आधुनिकता के प्रति आग्रह बेमानी है ोंकि वे भारत के हितों व ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों में कोई विरोध नहीं देखते। इसी ार सुमित सरकार जैसे विद्वानों का विचार है कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के ली चेहरे को देख पाने में राममोहन राय असफल रहे। उनकी रचनाओं में प्रखर राष्ट्रवाद अभाव है।

त में उदारवादी दृष्टिकोण को स्थापित करने में राममोहन राय की प्रमुख भूमिका रही। न्तु रवीन्द्र नाथ टैगोर जैसे विद्वान यह भी मानते हैं कि वे भारत के सांस्कृतिक जागरण लिए प्रयत्नशील रहे। उन्हीं के शब्दों में– " Ram Mohan Roy was the only person in his e to realize completely the significance of the modern age. He knew that the ideal of man civilization does not lie in isolation of independence but in the brotherhood of er-dependence of indivisuals as well as nations. His attempt was to establish are ples on the free consciousness of their own cultural personality, to make them compre-nd the reality of all that was unique in their civilizations in the spirit of sympathetic operation."

वन के अंतिम दिनों में राममोहन इंग्लैण्ड की यात्रा पर थे। इस महायोगी ने अपने प्रिय ेवार एवं स्वदेश से बहुत दूर स्थित ब्रिस्टल में अपने अति–प्रिय 'ओंकार' उच्चारण के थ अनन्त एवं अमर्त्य की ओर अपनी यात्रा की। सन् 1833 ई0 के 27 सितम्बर, शुक्रवार दिन, रात्रि में 2 बजकर 25 मिनट पर उनका देहान्त हो गया।

1.11 उपयोगी पुस्तकें :–

1. आचार्य, विमला; भारतीय पुनर्जागरण के सामाजिक प्रभाव; गाजियाबाद; 97
2. गुप्त, विश्वप्रकाश और मोहिनी गुप्त; राजाराम मोहन राय : व्यक्ति और विचार; दिल्ली; 1996.
3. पाठक, उमा; राममोहन राय; दिल्ली 1998.
4. ठाकुर सौम्येन्द्रनाथ; राजा राममोहन राय; प्रकाशन विभाग, 1974.
5. ठाकुर सौम्येन्द्रनाथ; राममोहन राय; भारतीय साहित्य के निर्माता; साहित्य एकेडेमी दिल्ली.
6. दत्ता, के0 सी0; राजा राममोहन राय : जीवन और दर्शन; इलाहाबाद; 1993.
7. राजा राममोहन राय द्विशत जन्मवार्षिकी; राजा राममेहन राय : 19वीं श0 के पूर्ण मानव; पटना, 1972.
8. श्रीवास्तव, अजय कुमार; राजा राममोहन राय और सामाजिक परिवर्तन; वाराणसी; 2002.
9. शर्मा उर्मिला और एस0 के0 शर्मा; भारतीय राजनैतिक चिन्तन; दिल्ली; 2001
10. Barua, B.P. ; Raja Rammohan Roy and the New learning ; Calcutta ; 1988.
11. Carpenter, M ; The last days in England of the Rajah Rammohan Roy : Calcutta : 1915.
12. Chatterjee, R ; Impact of Raja Rammohan Roy on Education in India ; Delhi ; 1983.
13. Collet, S.D. ; The life and letters of Raja Rammohan Roy ; Calcutta ; 1988.
14. Cromwell, S.C. ; Rammohan Roy ; New Delhi ; 1984.
15. Das Gupta, B.W. ; The life and Times of Raja Rammohan Roy ; Delhi : 1980.
16. Das, Harihar & S. Mahapatra ; The Indian Renaissance and Rammohan Roy ; New Delhi ; 1996.
17. Kotnala, M.C. ; Raja Rammohan Roy and Indian Awakening ; Delhi ; 1975.
18. Majumdar, R.C. ; Rammohan Roy ; Calcutta ; 1972.
19. Mukherjee, H. ; Indian Renaissance and Raja Ramohan Roy ; Poona ; 1975.
20. Robertson, B.C. ; Raja Rammohan Roy ; The Father of Modern Indian ; Madras : 1995.
21. Seal, B.W. ; Raja Rammohan Roy – The Universal Man (Address at Banglore on 27th Sept' 1924, published in 1937).
22. Singh, Iqbal ; Raja Rammohan Roy – Life, writings and Speeches ; New Delhi.
23. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा : भारतीय राजनैतिक चिन्तन, पृ0 – 17.
24. राजा राममोहन राय, द्विशत जन्म वार्षिक समारोह समिति पुस्तिका, पृ0 – 115.

1.12 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. राममोहन राय के द्वारा किए गए सामाजिक सुधार प्रयास पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।
2. राममोहन राय के द्वारा दिए गए धार्मिक विचार पर टिप्पणी लिखें।
3. राममोहन राय के द्वारा दिए गए राजनैतिक विचार पर टिप्पणी लिखें।

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. राममोहन राय के शिक्षा–संबंधी विचार।
2. न्यायिक प्रशासन में सुधार पर राममोहन राय के विचार।
3. प्रेस की स्वतन्त्रता के समर्थक के रूप में राममोहन राय।

वास्तुनिष्ठ प्रश्न

1. राममोहन राय ने अपने आदर्शों को चरितार्थ करने के लिए किस विद्यालय की स्थापना की–
   (a) एंग्लो हिन्दू स्कूल,
   (b) डक्कन विद्यालय,
   (c) कलकत्ता अंग्रेजी स्कूल,
   (d) उपर्युक्त में से कोई नहीं।
2. राममोहन राय ने आत्मीय सभा की स्थापना किस वर्ष की–
   (a) 1812 ई0 (b) 1815 ई0
   (c) 1818 ई0 (d) 1828 ई0
3. राममोहन के द्वारा प्रकाशित 'संवाद–कौमुदी' समाचार पत्र किस भाषा में था–
   (a) अंग्रेजी (b) हिन्दी
   (c) बंगला (d) मराठी
4. राममोहन राय ने भारत में किस दृष्टिकोण को स्थापित करने में प्रमुख भूमिका निभायी–
   (a) समाजवादी (b) एकाधिकारवादी
   (c) मार्क्सवादी (d) उदारवादी

1.13 प्रश्नोत्तर

1. a 2. b 3. c 4. d.

इकाई 2 : महादेव गोविन्द रानाडे

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 जीवनपरिचय
2.3 विचारक एवं जनसेवक के रूप में
2.4 रानाडे के चिन्तन का दार्शनिक आधार
2.5 रानाडे एवं समाजसुधार
2.6 रानाडे के राजनैतिक विचार
2.7 रानाडे के द्वारा अंग्रेजी शासन का मूल्यांकन
2.8 रानाडे एवं तिलक
2.9 रानाडे एवं गाँधी
2.10 सारांश
2.11 उपयोगी पुस्तकें
2.12 सम्बन्धित प्रश्न
2.13 प्रश्नोत्तर

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- महादेव गोविन्द रानाडे के जीवन पर टिप्पणी कर सकेंगे,
- तत्कालीन भारतीय समाज एवं समस्याओं पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- महादेव गोविन्द रानाडे का जनसेवक के रूप में तथा समाज सुधार एवं राजनैतिक चिन्तन में योगदान का उल्लेख कर सकेंगे।
- महादेव गोविन्द रानाडे की तुलना तिलक व गाँधी के साथ कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

अंग्रेजों के शासनकाल में अंग्रेजी शिक्षा से जनतन्त्रीय, वैज्ञानिक और विवेकवादी सांस्कृतिक मूल्यों का प्रसार हुआ। अंग्रेजी जनतन्त्रीय साहित्य को पढ़कर पढ़े–लिखे भारतीयों में प्रतिक्रियावादी सामाजिक संस्थाओं के प्रति विद्रोह उत्पन्न हुआ। विश्व–संस्कृति के ज्ञान से जहाँ एक ओर भारतीयों का ज्ञान बढ़ा वहाँ दूसरी ओर उनका दृष्टिकोण भी व्यापक हुआ। उससे उनमें विश्व–विकास की एकता की भावना बढ़ी। उससे उन्होंने अपनी परम्परागत सामाजिक संस्थाओं, रीति–रिवाजों और संरचना की समीक्षा की तथा उसके गुण–दोषों को पहचाना। अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से जहाँ एक ओर काले अंग्रेजों का वर्ग बढ़ा जो केवल जन्म से भारतीय और अन्य सब प्रकार से अंग्रेज थे, वहीं दूसरी ओर ऐसे पढ़े–लिखे लोगों

ा वर्ग भी निर्मित हुआ जो देश की प्राचीन परम्पराओं पर गर्व करते थे। इन्हीं लोगों ने श में राष्ट्रीय आन्दोलनों का सूत्रपात किया।

ग्रेजों के समय नवीन सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था तथा नवीन प्रशासनिक प्रणाली ोर नई शिक्षा के विस्तार से नए वर्गों का उदय हुआ जो प्राचीन भारतीय समाज में नहीं ाए जाते थे। नये वर्गों में जमींदार, भूमि जोतने वाले, भू–स्वामी वर्ग, कृषि श्रमिक, व्यापारी र्ग, साहूकार वर्ग, पूँजीपति वर्ग, मध्यम वर्ग, छोटे व्यापारी और दुकानदार वर्ग, डाक्टर, कील, प्रोफेसर, मैनेजर, क्लर्क, व्यवसायी वर्ग, विभिन्न कारखानों, खानों और बागीचों में ाम करने वाले इत्यादि प्रमुख थे। इन सबों में सबसे महत्वपूर्ण विशिष्ट वर्ग (Elite) या द्धिजीवी वर्ग (Intellectual) है।

ह विशिष्ट वर्ग ही प्रत्येक देश की प्रगति का मूल आधार होता है। इसी में से विभिन्न क्षेत्र ं नेता उत्पन्न होते हैं। यही देश की समृद्धि को आगे बढ़ाता है। इसी से राजनैतिक, ार्थिक, धार्मिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक प्रगति सम्भव हो पाती है। इस विशिष्ट वर्ग ं निर्माण के बिना कोई भी देश आगे नहीं बढ़ सकता और जिन देशों ने संसार में भूतपूर्व प्रगति की है उनकी प्रगति का श्रेय उनके विशिष्ट वर्गों को ही जाता है। प्राचीन ारत में विशिष्ट वर्ग ने ही विभिन्न क्षेत्रों में देश को आगे बढ़ाया। मध्यकाल में देश में ोशिष्ट वर्ग बहुत कमजोर हो गया था। वर्तमान काल में देश में राष्ट्रीय आन्दोलन का ादय और विकास विशिष्ट वर्ग के माध्यम से ही हुआ और स्वतन्त्र भारत में देश की प्रगति ोशिष्ट वर्ग पर ही निर्भर है।

ाधुनिक भारत में पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से विवेकवाद (Rationalism), जनतन्त्रवाद, वैज्ञानवाद आदि मूल्यों के जरिये ही बौद्धिक वर्गों का उदय हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीय अर्द्धभाग में देश एक विशाल बुद्धिजीवी वर्ग का निर्माण हुआ। इस बुद्धिजीवी वर्ग ने ाधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया। इन लोगों द्वारा अनेक गतिशील समाज–सुधार और धर्म–सुधार आन्दोलन प्रारम्भ किए गये। राष्ट्रीयता और वतन्त्रता की भावना को शिक्षा प्रचार के माध्यम से समस्त देश में फैलाया। उन्होंने विभिन्न ेशी भाषाओं के माध्यम से विशाल साहित्य का निर्माण किया और उसके द्वारा राष्ट्रवाद, और जनतन्त्र के मूल्यों का प्रसार किया। इसी वर्ग में महान् वैज्ञानिकों, कवियों, तिहासकारों, समाजशास्त्रियों, दार्शनिकों और अर्थशास्त्रियों का उदय हुआ। इन लोगों ने ाश्चात्य संस्कृति, सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक संरचना का अध्ययन किया और उसके आधार पर भारतीय राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया। 19वीं शताब्दी में इन लोगों ने अनेक समितियों तथा संगठनों का गठन किया। इसमें सबसे महत्वपूर्ण ारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस (Indian National Congress) है जिसकी स्थापना सन् 1885 में हुई। भारत में राष्ट्रवाद का इतिहास मुख्य रूप से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का ही इतिहास रहा है। काँग्रेस का संगठन क्रमशः मध्यम वर्ग और साधारण जनसमाज में फैलने लगा किन्तु इस आन्दोलन के नेता सदैव बुद्धिजीवी वर्ग के लोग ही रहे हैं। उग्रवाद और उदारवादी दोनों ही प्रकार के नेता बुद्धिजीवी थे और काँग्रेस से जुड़े हुए थे। उदारवादी पक्ष के एक महत्वपूर्ण बुद्धिजीवी महादेव गोविन्द रानाडे थे। न्यायमूर्ति रानाडे ने अनेक क्षेत्रों में पथ–प्रदर्शक का कार्य किया। उन्होंने अपनी असीम बौद्धिक प्रतिभा से राष्ट्र शक्ति के आधारभूत तत्त्वों की विवेचना की। समाज सुधार के क्षेत्र में भी वे अग्रणी रहे और इतिहास तथा राजनैतिक अर्थव्यवस्था पर लिखी उनकी पुस्तकें उनके बहुमुखी ज्ञान की परिचायक हैं।

2.2 जीवन- परिचय

जब पेशवाओं का पतन हो रहा था, उसी समय अन्य चितपावन ब्राह्मण परिवार की भाँति रानाडे के पूर्वज अपना मूल गाँव मोभर पचेरी (Mobhar Pacheri) जो महाराष्ट्र के रत्नागिरि जिले के चिपलुन तालुक (Chiplun Taluka) में था, छोड़कर शोलापुर जिले के कारकम्ब (Karkamb) गाँव में आ गये। ऐसा उन्होंने अच्छी जीविका पाने के उद्देश्य से किया था। अमृतराव जो रानाडे के बाबा (grandfather) अंग्रेजी शासनकाल में कार्यरत थे। रानाडे के पिता गोविन्दराव भाऊ कोल्हापुर रियासत में कई उच्च पदों पर रहकर पेंशन पाते थे। जब रानाडे के दादाजी नासिक जिले में कार्यरत थे तो यहीं पर मंगलवार 18 जनवरी, 1842 को संध्या समय में रानाडे का जन्म हुआ। उन्होंने अद्वितीय न्यायाधीश, अर्थशास्त्री, इतिहास, समाज–सुधारक और शिक्षाशास्त्री के रूप में भारत का नाम उज्ज्वल किया। एक उच्च सरकारी अधिकारी होते हुए भी वे वर्षों तक पीछे से काँग्रेस का सूत्र–संचालन करने वाली शक्ति बने रहे।[1] काँग्रेस आन्दोलन के नेताओं पर उन्होंने अपना अमिट प्रभाव डाला। उन्होंने राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक महत्वपूर्ण पहलू में रूचि ली, परन्तु धार्मिक तथा सामाजिक सुधार में सबसे अधिक शक्ति लगाई। लगभग आधे शतक तक वह भारतीय समाज के कुसंस्कारों और बुराइयों से लोहा लेते रहे।

बाल्यावस्था में रानाडे बड़े शरमाऊ और बोदे मालूम होते थें।[2] वे अपने पिता और दादा से दूर रहते थे। उन्होंने अपने दादा अमृतराव से सबसे पहले 22 वर्ष की अवस्था में, एम0 ए0 पास करने के उपरान्त, वार्त्तालाप किया था। ढाई वर्ष की आयु में रानाडे अपनी माता गोपिकाबाई के साथ बैलगाड़ी में बैठकर कोल्हापुर की ओर रवाना हुए थे।

रानाडे ने मराठी की प्रारम्भिक शिक्षा कोल्हापुर के पांडोवा तात्या दिवेकर से ली। 1856 में उन्होंने बम्बई के एल्फिस्टन इंस्टीट्यूशन के उस विभाग में दाखिला लिया जिसको अब 'एल्फिस्टन हाईस्कूल' कहते हैं। 1859 में बम्बई विश्वविद्यालय से मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा पास करने के उपरान्त जूनियर दक्षिण फेलो चुने गए। सन् 1861 में लिट्ल–गो की परीक्षा तथा 1862 में बी0 ए0 की परीक्षा पास की। सन् 1864 में एम0 ए0 तथा सन् 1866 में एल0 एल0 बी0 की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास किया। बी0 ए0 की परीक्षा में अंग्रेजी और इतिहास के जो उत्तर उन्होंने दिये थे उनको उस समय के डाइरेक्टर मिस्टर हावर्ड, जो परीक्षक भी थे, अपने साथ इंग्लैण्ड ले गए थे, इसलिये कि वे वहाँ की अपनी परिचित विद्वानमंडली को दिखलावें कि एक हिन्दू विद्यार्थी में किस उच्च श्रेणी की विद्वत्ता है। एल्फिस्टन कॉलेज की, जिसमें वे पढ़ते थे, उस समय की प्रायः प्रतिवर्ष की रिपोर्ट में इनके परिश्रम, विद्यानुराग और गवेषणशक्ति की प्रशंसा की गई है।[3]

रानाडे का पहला विवाह सन् 1854 ई0 में, जब उनकी बारह वर्ष की अवस्था थी, इचलकरंजी के राजा की साली सखूबाई से हुआ था। सखूबाई बड़ी पतिव्रता थी। उनको अपने पति की सेवा का बड़ा ध्यान रहता था। परंतु दुर्भाग्य से सन् 1876 में पूना में क्षय रोग से उनका देहान्त हो गया। उस समय रानाडे पूना में सब जज थे। पत्नी की मृत्यु के अनन्तर रानाडे रात में तुकाराम के अभंग पढ़कर अपना समय काटते और प्रायः एक वर्ष तक सखूबाई का जिक्र आते ही उनकी आँखों में आँसू आ जाता। रानाडे की माता के मरने पर उनके पिता गोविन्दराव ने दूसरी शादी कर ली थी। पिता के खूब मनाने के बाद उन्होंने दूसरी बार यमुना चिपलुनकर (Yamuna Chiplunkar) जो रमाबाई के नाम से प्रसिद्ध हैं, शादी कर ली। रानाडे के कोई पुत्र नहीं हुआ, केवल एक पुत्री थी। 1900 ई0 में जब अपना वसीयतनामा लिखा तो अपने भतीजे को गोद लेने का अधिकार रमाबाई को दिया।

अपने संक्षिप्त जीवनकाल में वो बहुत से महत्वपूर्ण पदों पर कार्यरत रहे। शिक्षा समाप्त

करने के बाद सन् 1867 में वे कोल्हापुर के न्यायाधीश हुए। 1868 में उन्हें एल्फिस्टन कॉलेज का अंग्रेजी और इतिहास का प्रोफेसर बनाया गया। 1871 में वे पूना के कायममुकाम सब–जज हुए। फिर नासिक और धुले में रहने के बाद 1881 में उन्हें बम्बई के प्रेसीडेंसी मैजिस्ट्रेट बनाया गया। सन् 1885 में बम्बई के गवर्नर लॉर्ड री ने रानाडे को बम्बई विधानसभा का विधि सदस्य मनोनीत किया। सन् 1890 और 1893 में वे पुनः परिषद् के विधि सदस्य बने। सन् 1886–87 में बम्बई सरकार की तरफ से वो वित्त–समिति में सदस्य हुए। सन् 1887 में उन्हें सी0 आई0 ई0 की उपाधि मिली। 23 नवम्बर,1893 को वो बम्बई हाईकोर्ट के जज बन गये।

मराठी, संस्कृत और अंग्रेजी के प्रकाण्ड विद्वान रानाडे में अद्भुत वक्तृत्व शक्ति थी। उनके भाषण की भाषा ऐसी होती थी कि सभी सम्मोहित हो जाते थे। अपनी पुस्तक 'The Rise of the Maratha Power' में उन्होंने माना कि 'मराठों का उदय' राष्ट्रनिर्माण की प्रक्रिया का प्रथम चरण है। उन्होंने 'Essay in Indian Economics' नामक पुस्तक की रचना की। T.V. Parvate ने अपनी किताब Mahadev Govind Ranade (A Biography) में उन्हें भारतीय अर्थशास्त्र का जनक बताया है।[4] उनके सामाजिक तथा राजनीतिक दर्शन में अनेक धाराओं का मिश्रण था। ईश्वर के अस्तित्व में वो उसी तरह विश्वास रखते थे जैसे – तुकाराम, तुलसीदास, सन्त ऑगस्टाइन तथा ग्रेगरी प्रथम। उनके अनुसार इतिहास के महत्वपूर्ण आन्दोलन ईश्वरीय योजना तथा उद्देश्य की अभिव्यक्ति होते हैं। समाज की प्रकृति के सम्बन्ध में रानाडे की धारणा अवयवी थी और उनका स्वतन्त्रता विषयक सिद्धान्त बहुत व्यापक था। उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता और सामाजिक समानता का तथा स्त्रियों की पराधीनता के उन्मूलन का समर्थन किया।[5]

1900 ई0 की जुलाई से रानाडे के पेट में ऐंठन का रोग लग गया, अगस्त से यह भयानक हो गया। काँग्रेस के अधिवेशन के दिन निकट आ रहे थे। सोशल कान्फ्रेन्स में भाग लेने हेतु उन्होंने "विशिष्ठ और विश्वास मित्र" शीर्षक लेख पढ़ने हेतु तैयार किया था। अपने डॉक्टर भालचन्द्र तथा श्री गोपाल कृश्ण गोखले के मना करने पर उन्होंने कहीं न जाने की बात मान ली। 16 जनवरी, 1901 बड़ी अभागिनी निकली। जो शरीर दिन के समय आह्लादित मालूम होता था वह केवल बुझती हुई ज्योति का अनुकरण कर रहा था। जिस महापुरूष ने कई वर्ष तक अपने देश का सिर ऊँचा करने के लिये अपनी विद्या बुद्धि और परिश्रम से निरन्तर उद्योग किया और एक दिन भी विश्राम न किया वह भी अंत में शांति को प्राप्त हुआ। सहानुभूति प्रकट करनेवालों में बड़े लाट लार्ड कर्जन, बम्बई के लाट लार्ड नार्थकोट, महाराजा गायकवाड़, महाराजा होलकर, महाराजा कोल्हापुर शामिल थे। वाइसराय ने अपने तार में लिखा था कि रानाडे की मृत्यु से देश ने केवल एक प्रसिद्ध जज ही नहीं खोया बल्कि ऐसे देशभक्त को खोया है जिसने अपना सारा जीवन प्रेमपूर्वक अपने देशवासियों की उच्च धार्मिक उन्नति और विद्या–वृद्धि में लगा दिया था।

समाचार–पत्रों ने रानाडे के जीवन पर 'महामति रानाडे' 'ऋषि रानाडे', 'न्यायमूर्ति रानाडे', शीर्षक से बड़े–बड़े लेख लिखे। यद्यपि अपने राजनैतिक विचारों के कारण वे भारतीय अंग्रेजों में सर्वप्रिय नहीं थे परन्तु इस समय उन्होंने भी मुक्त कण्ठ से इनकी योग्यता और उदारता स्वीकार की। बम्बई के टाइम्स ऑफ इण्डिया ने, जो अंग्रेजी का पत्र है, लिखा है – "भारतवासियों में सबसे प्रबल और सबसे अधिक श्रद्धा–उत्तेजक पुरूष हमलोगों में से चल बसा।" इस अखबार में उनकी तुलना राजा राममोहन राय से की। दादाभाई नैरोजी जो उनके गुरु थे, ने कहा कि समस्त भारत में वे प्रथम श्रेणी के भारतवासी थे, विशेषकर समाज–संशोधन के निरन्तर कार्य में। अन्तिम शब्द जो उनके विषय में कहा जा सकता है वह यह है कि देश–सेवा में अब तक जितने आदमियों ने नाम पाया है उनमें से कोई भी

इनके बराबर क्रोध और वैमनस्य से रहित नहीं था।[6]

रानाडे की मृत्यु पर कई शोक सभाएँ हुईं पर दो विशेष महत्व रखती हैं। एक बम्बई की जिसमें उस प्रान्त के गवर्नर लार्ड नार्थकोट ने सभापति का आसन ग्रहण किया था और दूसरी पूना की जिसमें सर चार्ल्स आलिबन्ट, जो उस समय बम्बई प्रान्त की कौन्सिल के सीनियर सदस्य थे, सभापति हुए थे। दोनों में हिन्दू, मुसलमान और अंग्रेज शरीक हुए थे। डाक्टर सेल्बी ने, जो अपनी विद्वता के लिये प्रसिद्ध थे, रानाडे के विद्यानुराग की प्रशंसा की – "उनको सत्य की खोज की धुन थी और जो सत्य है उसी को वे मानते थे। उनके भाव विशाल थे" –– इत्यादि।[7] कई नगरों में उनके स्मारक बनाये गये। बम्बई के स्मारक का रूप उनकी एक मूर्ति है जिसका निर्माण प्रसिद्ध भारतवासी म्हात्रे ने किया है और पूना के स्मारक का रूप रानाडे इन्स्टीट्यूट नाम की संस्था है। मद्रास में स्मारक का नाम रानाडे पुस्तकालय है। ईंट पत्थर के स्मारक बना करते हैं परन्तु रानाडे के कीर्ति–भवन के दो स्तम्भ सदा स्मरणीय रहेंगे। एक श्रीमति रानाडे और दूसरे श्रीयुत गोखले। इन दोनों को देशभक्ति के लिये रानाडे ही ने तैयार किया था।

2.3 विचारक एवं जनसेवक के रूप में

स्वर्गवासी ह्यूम साहब ने, जिनको काँगेस का जन्मदाता कहते हैं, जो भारतीय सिविल सर्विस के बड़े उच्च पदाधिकारी रह चुके थे और जिनसे उस समय के प्रायः सभी सुप्रसिद्ध लोगों से परिचय था, रानाडे के संबंध में लिखा था कि "भारत में यदि कोई व्यक्ति ऐसा था जिसको पूरे चौबीस घंटे अपने देश का विचार रहता था तो वह व्यक्ति रानाडे था।" ह्यूम उनको "गुरू महादेव" कहकर पुकारते थे। डाक्टर पोलन कहा करते थे कि रानाडे पूना के छत्रधारी राजा हैं। जब तक वे पूना में रहे, कोई भी संस्था ऐसी नहीं बनी कि जिसको या तो उन्होंने स्थापित न किया हो अथवा उसकी उन्नति में योग न दिया हो। सन् 1862 ई० में 'इन्दुप्रकाश' पत्र अंग्रेजी और मराठी में निकलने लगा तो इन्हें अंग्रेजी विभाग का सम्पादक नियुक्त किया गया। रानाडे के ओजस्वी लेखों ने सरकार और शिक्षित–समाज को इस पत्र की ओर आकर्षित किया। पानीपत के युद्ध की 'शताब्दी' के लेख ने, इस पत्र को बड़ा सर्वप्रिय कर दिया। देशहित का ऐसा कोई कार्य नहीं था जिसमें उनको अनुराग न हो। उनका मत था कि देश में धार्मिक, सामाजिक, औद्योगिक, राजनैतिक उन्नति एक साथ होनी चाहिए। उनके अनुसार संशोधन करनेवालों को कोरी पटिया पर लिखना आरंभ नहीं करना चाहिए। बहुधा उनका कार्य यही है कि अर्द्ध–लिखित वाक्य को पूर्ण करें। वे जो कुछ उत्पन्न करना चाहते हैं, अपने अभिलाषित स्थान पर तभी पहुँच सकते हैं जब वे प्राचीन काल में सत्य ठहराये गये बात को सत्य मान लें। और बहाव में कभी यहाँ और कभी वहाँ, धीमा सा घुमाव दे दें, न कि उसमें बाँध बाँधे अथवा उसको किसी न्यून स्रोत की ओर बरबस ले जायें। पूना में पचीसों संस्थाऐं हैं जिनको उन्होंने जीवन प्रदान किया था। सार्वजनिक सभा जो 1871 में महाराष्ट्र में स्वदेशी आन्दोलन के जन्मदाता श्रीयुत गणेश वासुदेव जोशी ने स्थापित किया था और जो उस समय प्रसिद्ध राजनैतिक सभा थी, उसका सभी कार्य प्रायः रानाडे किया करते थे। उनकी सलाह पर सन् 1876 के दुर्भिक्ष में इस सभा ने अकाल–पीड़ितों की रक्षा के लिये उत्तम उपाय किए। उन्होंने इस सभा की एक त्रैमासिक पत्रिका निकाली जिसमें वे देश के उत्थान हेतु गंभीर, सामयिक और महत्व के लेख लिखते थे। पूना के फर्ग्युसन कॉलेज, पूना पुस्तकालय और प्रार्थना–समाज में उनकी भूमिका अहम थी। सन् 1875 में वसंत व्याख्यान–माला रानाडे और उनके मित्रों ने स्थापित की थी जिसमें इतिहास, पुराण, समाजसुधार, राजनीति, शिक्षा आदि विषयों पर मराठी भाषा में प्रतिवर्ष व्याख्यान होते थे और अब भी यह जारी है। पूना के अलावा नासिक, धूले, तथा कई गाँवों और कस्बों में भी उन्होंने कन्या–पाठशालाऐं शुरू करवाया।

विश्वविद्यालयों में देशी भाषाओं को स्थान दिलाने का भी उन्होंने अनेक बार प्रयत्न किया। विश्वविद्यालयी परीक्षाओं के स्थापना होने के आरम्भ के समय में, सन् 1859 में, देशी भाषाऐं पढ़ाई जाती थीं परन्तु 1870 से उनको परीक्षाओं से यह कहकर निकाल दिया गया कि इनमें संस्कृत और अरबी जैसा साहित्य नहीं है। रानाडे के अथक प्रयास के बाद 29 जनवरी, 1901 में उनकी मृत्यु क तुरंत बाद, बम्बई विश्वविद्यालय के सेनेट ने गुजराती, मराठी तथा कानड़ी भाषा को एम0 ए0 की परीक्षा में स्थान दिया।

रानाडे समाज का तर्कसंगत गति देने हेतु अपने विचार व्याख्यानों और लेखों द्वारा प्रकाशित करते थे। सोशल कान्फ्रेन्स और अन्य संस्थाओं में जो विचार उन्होंने प्रकट किये और सार्वजनिक सभा की पत्रिकादि में जो लेख उन्होंने लिखे थे तो आज उच्च श्रेणी के साहित्य में गिना जाता है। उनके ऐतिहासिक ग्रन्थों में सबसे महत्वपूर्ण 'मराठा शक्ति का उदय' (Rise of the Marhatha Power) है। यह पुस्तक सन् 1900 में छपकर प्रकाशित हुई थी। इसमें उन्होंने बताया कि शिवाजी और अन्य महाराष्ट्र योद्धा लुटेरे नहीं थे। इनमें प्रबल प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया गया है कि इन लोगों की राज्य प्रणाली बड़ी संगठित थी और इनके आचरण बड़े उत्कृष्ट थे। रानाडे का मत था कि महाराष्ट्र अभ्युदय का कारण औरंगजेब का अत्याचार नहीं था। मुसलमानों का अत्याचार अभ्युदय में सहायक हुआ परन्तु उसका कारण यह था कि कई वर्ष पहले से देश में जातियों के चिह्न दिखलाई दे रहे थे। इस जातियों का पहला स्वरूप धार्मिक था। शिवाजी ने इसको राजनैतिक स्वरूप दिया। इसी पुस्तक में इन्होंने बताया कि शिवाजी की 'अष्ट--प्रधान' आठ सचिवों की प्रणाली ही महाराष्ट्र अभ्युदय का और वही उसकी अवनति का कारण हुई। उन्होंने पहली बार बताया कि शिवाजी के चौथ कर प्रणाली को आधार बनाकर मारक्विस वेलेस्ली ने अंग्रेजी राज्य की वृद्धि सफलतापूर्वक किया। इस कृति से दुनिया को ज्ञात हुआ कि मराठा शक्ति की उत्पति और उनका अभ्युदय जातियता और देशभक्ति के उद्वेग का परिणाम था। रानाडे के ग्रंथों में 'Essay on Indian Economics' जो 1899 में छपा था, अलग ही स्थान है। इसका महत्व इसी से लगाया जा सकता है कि यह निबन्ध कई विश्वविद्यालय के एम0 ए0 के अर्थशास्त्र की पाठ्य पुस्तकों में रखी गई थी। इस निबन्ध में उन्होंने बताया कि प्रकृति ने हमारे उपर हर प्रकार से कृपा की है फिर भी हमारी आर्थिक दशा बदतर है। पहले की अपेक्षा अकाल अब ज्यादा पड़ रही है। देश के किसी भाग में वर्षा न होने के कारण लोग भूखों मरने लगते हैं। इसके अनेक कारण बताया गया – (i) समस्त देश में गरीबी का कठिन रूप में दूर तक फैलना और बढ़ते जाना, (ii) छोटी जातियों में घोर कष्ट का बढ़ता जाना और (iii) जनसमूह में आर्थिक कष्ट के रोकने की सामर्थ्य का अभाव। सन् 1877 में "A Revenue Manual of the Empire in india" नामक पुस्तक में उन्होंने बतलाया कि सरकारी आय किन–किन विभागों से होती है।

सार्वजनिक सभा के त्रैमासिक जर्नल जो 1878 से छपना शुरू हुआ, उसमें रानाडे ने अपनी लेखनी के माध्यम से भारतीय कृषि पर प्रकाश डाला।[6] इसी जर्नल में 1880 में इन्होंने 'Law of land sale in British India' पर निबन्ध लिखा। 1883 में इन्होंने रूसी किसानों (serf) तथा बम्बई प्रेसीडेन्सी में जंगल के उत्थान की चर्चा की। उनके प्रयास से ही 1884 में सरकार ने भूमि–बन्दोबस्त कानून सुधार की। बड़ौदा, कोल्हापुर, मैसूर तथा अन्य भारतीय रियासतों के सरकारी काम–काज के सुधार हेतु भी वे सदा प्रयत्नशील रहे। 1882 में जब भारतीय शिक्षा में सुधार हेतु हन्टर आयोग का गठन किया गया तो रानाडे ने अपने सुझाव दिये। उपर्युक्त पुस्तकों, जर्नलों, निबन्धों इत्यादि में रानाडे के विचार–रत्न मिलते हैं। उनमें अद्वितीय भाषा–लावण्य और ओज है। सब लेख समयानुकूल हैं और उनमें देश–हितकारी चर्चा है।

2.4 रानाडे के चिन्तन का दार्शनिक आधार

महाराष्ट्र के सन्तों और ईसाई लेखकों के आस्तिक तथा उदारवादी विचारों से प्रभावित महादेव गोविन्द रानाडे को ईश्वर की अनुकम्पा में – उसकी दयालुता और सर्वशक्तिमतता में गम्भीर आस्था थीं। "प्रार्थना समाज" के एक सक्रिय अनुयायी के रूप में उनके प्रवचनो का उद्देश्य ईश्वर–चिन्तन से उत्पन्न होने वाले आनन्द का अनुभूति करना था जिससे सत्कार्यों की अन्तर्निहित प्रवृत्ति को बल मिले। प्रारम्भिक काल में इन प्रवचनों में रानाडे बाइबिल के चुने हुए अंशों को उद्धर्ति करते थे, लेकिन बम्बई पहुँचने के बाद वे आमतौर पर उपनिषदों, भगवद्गीता तथा मराठी सन्तों की रचनाओं जैसे हिन्दू ग्रन्थों के उद्धरण देने लगे।[9] आधुनिक विचारों के होते हुए भी रानाडे अत्यन्त धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। उनका स्वभाव सात्त्विक था। धैर्य, क्षमा, निःस्पष्टता इत्यादि गुणों के वे खान थे परन्तु इनके साथ ही असहाय के साथ सहानुभूति, रात दिन परिश्रम करना इत्यादि गुण भी उनमें थे। वो तीन चार बजे प्रातःकाल उठ जाते और उसी समय अपनी धर्मपत्नी को भी उठा देते। उनपर ईसाई विचारों का प्रभाव उतना नहीं पड़ा था जितना राजा राममोहन राय और केशवचन्द्र सेन पर पड़ा था। भारतीय आध्यात्म और दर्शन के प्रति पूर्ण आस्था रखते हुए वे बडे ही सीधे, सरल किन्तु सारगर्भित रूप में इसकी व्याख्या करते थे। वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों में रानाडे के लिए धर्म का विशेष महत्व था। उनका मानना था कि ईश्वर के प्रति सच्ची श्रद्धा से और नैतिक नियमों के पालन से चरित्र सुदृढ़ हो सकता है।

रानाडे प्रार्थना समाज से जुड़े थे। इस समाज का सिद्धांत प्रायः वही है जो ब्रह्म–समाज का। इस समाज के लोग एक ईश्वर में विश्वास रखते हैं। किसी ग्रंथ–विशेष को ईश्वरकृत नहीं समझते। संसार के सब धर्मग्रंथों को मनुष्य के स्वभाव में धार्मिक रुचि के अस्तित्व की साक्षी मानते हैं। एक ईश्वर को माननेवालों का क्या विश्वास होना चाहिए, इस विषय पर रानाडे ने एक लेख "A theist's confession of faith" लिखा था। रानाडे में गुरू अथवा आचार्य बनने की लालसा नहीं थी, इसलिये अपने सिद्धान्तों को बतलाते हुए उन्होंने कहीं यह नहीं कहा कि ये मेरे सिद्धान्त हैं। प्रत्येक विषय पर यही कहा है कि एक ईश्वर को माननेवालों का यह सिद्धान्त है। उनके धार्मिक उपदेश पूना और बम्बई की प्रार्थना–समाज में विशेषकर मराठी भाषा में हुआ करते थे।

धार्मिक सुधार संबंधी नवीन संस्थाओं में ब्रह्मसमाज सबसे प्राचीन समझा जाता है। रानाडे का यह मत था कि सुधारक लोगों का दल 19वीं शताब्दी में ही पहले पहल उत्पन्न नहीं हुआ। धर्म में जो बुराइयाँ पीछे से आती रहीं उनका विरोध प्राचीनकाल से होता चला आया है। उपनिषद्–कर्त्ताओं ने अनेक स्थानों पर यथादि निष्प्रयोजनता दिखलाई है। शाक्य मुनि बुद्ध ने अपने समकालीन धर्म की प्रथा का संशोधन कर संसार के बहुत बड़े भाग पर अपना प्रभाव डाला। मुसलमानों के समय में इस देश में अनेक प्रभावशाली साधु संत हुए जिन्होंने धर्म के बाहरी दिखलावे की खुल्लमखुल्ला निन्दा की और संसार को उपदेश दिया कि बाहरी आडम्बर छोड़कर अपने हृदय को पवित्र करो। रानाडे ने अपने अनेक व्याख्यानों में दिखलाया है कि संसार में किसी देश के सुधारकों को इतनी प्राचीनता का गौरव नहीं हो सकता जितना इस देश के लोगों को है। नारद, प्रह्लाद, वासुदेव, बुद्धदेव इत्यादि ऋषिगों ने जिस प्रकार अपने समय में नवीन जीवन का संचार किया था उसी प्रकार ज्ञानदेव, एकनाथ, तुकाराम इत्यादि ने मुसलमानों के राज्यकाल में किया। उन्हीं उच्च आदर्शों से उत्तेजित होकर अंग्रेजी राज्य में राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती इत्यादि ने लोगों को धर्म–पथ दिखलाया।[10] प्रचीन काल के ऋषियों के विचार संस्कृत–ग्रंथों में मिलते हैं परन्तु सोलहवीं शताब्दी और उसके पीछे के साधु संतों ने जो कार्य किया है वह जनसमूह की भाषा द्वारा। नाभाजी, उद्धव, प्रियादास और महीपति ने जिन संतों का विवरण लिखा है उनमें स्त्री और पुरुष दोनों थे। जिस प्रकार महाराष्ट्रीय लोगों को अपने सन्तों पर गर्व है

प्रकार हिन्दी भाषा–भाषी लोगों का सूरदास, तुलसीदास कबीरदास, गुरू नानक जैसे माओं से सिर ऊँचा होता है। रानाडे उपर्युक्त महात्माओं की कुछ विशेषताएँ बतलाई हैं – इनके वचन स्थानीय भाषा में हुआ करते थे। इनमें से कुछ संस्कृत द्वारा प्रचार करने रोधी थे, यद्यपि इन्होंने स्वयं संस्कृत का अध्ययन किया था। उस समय के पंडित ा विरोध करते थे। इन संतों द्वारा भाषा–साहित्य में अद्‌भुत उन्नति हुई। रानाडे कहते ं पंडितों और संतों में अवश्य झगड़ा रहा होगा, नहीं तो कबीर साहब इस प्रकार क्यों ते?

संस्कृत ही पंडित कहै, बहुत करै अभिमान।
भाषा जानि तरक करें, ते नर मूढ़ अजान।।
पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित हुआ न कोय।
एकै आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय।।

संतों ने धर्म के आडंबरों को त्यागने की शिक्षा दी और उनके बदले धार्मिक जीवन ा का उपदेश किया। इन संतों ने जाति पाँति को भक्ति की प्राप्ति के लिये आवश्यक माना है। रैदासजी मोची थे, सदनाजी कसाई थे, गरीबदास जाट थे, बल्ला साहब ी थे, धरनीदास कायस्थ थे, यारी साहब और दोनों दरिया साहब मुसलमान थे, कबीर ा जुलाहे थे। जिन भक्तों का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था, वे भी प्रेमपूर्वक उन संतों वहार करते थे जिनका जन्म छोटी जाति में हुआ था। ये सभी दया का प्रचार और ा का उपदेश सर्वदा किया करते थे, अपने इस उद्देश्य में कृतकार्य हुए।

रानाडे एवं समाजसुधार

र फिशर ने, जो विलायत के एक विश्वविद्यालय के कुलपति थे, अपने एक व्याख्यान हा था कि भारत का स्थान अंग्रेजी साम्राज्य के उपनिवेशों के समान तब हो सकता है यहाँ के लोग नीच जातियों के साथ अच्छा वर्ताव करने लगें, बाल–विवाह बिल्कुल दिया जाय और जाति के बन्धन कुछ ढ़ीले कर दिए जायें। मिस्टर फिशर का यह र सत्य है या झूठ इस पर विवाद की आवश्यकता नहीं परन्तु इस उदाहरण से यती राजनीतिज्ञों की सम्मति इस देश को राजनैतिक अधिकार देने के संबंध में मालूम ाती है। सामाजिक दुर्दशा समस्त जातीय दुर्दशा का कारण होती है। रानाडे का देश इसी से जान पड़ता है कि उन्होंने अपने जीवन का बहुमूल्य और अधिकांश समय ोग्य सामाजिक अवस्था के सुधार में लगाया। 'इन्दु–प्रकाश' के सम्पादक के रूप में ने विधवा विवाह की वकालत की। बंगाल के ईश्वरचन्द विद्यासागर के कार्य को आगे ी हेतु उन्होंने उनकी किताब का मराठी में अनुवाद किया। 1865 में जो विधवा विवाह बना उसके वे सदस्य थे। उन्होंने 1884 से 1892 के बीच Rakhmabai Defence mittee तथा मालाबारी के Age of Consent का समर्थन किया। ये हिन्दू समाज में ह सम्बन्धित सुधार की बातें थीं। सन् 1884 में रानाडे ने पंडित शंकर पांडुरंग और सर ृष्ण भंडारकर के साथ मिलकर कन्याओं के लिये पूना में स्कूल खोला। यह साहस समय किया गया जब समाज में महिला का शिक्षित होना अच्छा नहीं मानते थे। 1885 ाँग्रेस के जन्म के साथ राजनैतिक विषयों पर आन्दोलन होने लगा। काँग्रेस का वेशन देश के प्रत्येक हिस्से में होने से हर जगह जागृति उत्पन्न हुई। रानाडे का विचार के राजनैतिक कार्य के साथ–साथ समाज संशोधन संबंधी जागृति भी होनी चाहिए प्रान्त के हिन्दूओं का दूसरे प्रान्त के हिन्दूओं से मिलना, हिन्दू, मुसलमान, पारसी, आदि क जातियों का एक साथ बैठना, एक प्रकार से सामाजिक संकीर्णता पर कुठार मारना ालाँकि काँग्रेस एक राजनैतिक मंच के रूप में आया था फिर भी इसके प्रथम

अधिवेशन (1885) जो बम्बई में हुई, रानाडे और दीवान बहादुर रघुनाथराव ने समाज–संशोधन की आवश्यकता पर व्याख्यान दिए। सन् 1887 में जब काँग्रेस का तीसरा अधिवेशन मद्रास में हुआ, तो यह निश्चय हुआ कि भारतीय सोशल कान्फ्रेन्स (सामाजिक समिति) स्थापित की जाय। इसके प्रथम सभापति राजा तांजोर माधवराव के० सी० आई०, जो ट्रावनकोर, इन्दौर और बड़ौदा में दीवान रह चुके थे, कान्फ्रेन्स के मंत्री दीवान बहादुर रघुनाथ राव चुने गए। रानाडे उपमंत्री नियुक्त हुए। यह कान्फ्रेन्स के साथ–साथ प्रति वर्ष होने लगा। प्रथम तेरह अधिवेशनों में रनाडे बराबर उपस्थित होकर समाज सुधार विषयों पर व्याख्यान देते रहे। चौदहवाँ अधिवेशन जब लाहौर में होने वाला था, तो वे बीमार पड़ गये जिनके कारण उनकी मृत्यु हो गयी।

भारतीय सोशल कान्फ्रेन्स का असर पूरे देश में दिखने लगा। अब छोटे जिले, नगरों तथा कस्बों में भी समाज–संशोधन संबंधी सम्मेलन होने लगी। देश में अनेक संस्थाऐं समाज की कुरीतियों को दूर करने के लिये स्थापित होने लगे। कोई स्त्रियों की अवस्था के सुधार का प्रयत्न करती, कोई अछूत जातियों की दुर्गति के सुधार का काम करती, कोई विवाह–संस्कारों की कुरीतियों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करती इत्यादि। इस प्रकार समाज–संशोधन के विचार सारे देश में फैलने लगा। अनेक जातियों में जैसे क्षत्रिय, वैश्य, जायसवाल प्रभृति सभाओं द्वारा सामाजिक उन्नति की पुकार सुनाई देने लगी। बाल–विवाह निषेध, स्त्री–शिक्षा प्रचार, अपव्ययों को रोकना इत्यादि विषयों पर अब कम विरोध होने लगा।

एक समय था जब स्त्रियों को पढ़ाना लोग बुरा समझते थे, जब बुड्ढों का विवाह छोटी कन्याओं के साथ होने पर किसी के कान नहीं खड़े होते थे, जब समुद्र पार करके विदेश से शिक्षा अथवा अनुभव प्राप्त करके आना महापातक समझा जाता था, जब महाभोज से ग्लानि होती थी, बिरादरी की सीमा से बाहर प्रेम और सहानुभूति का नाम नहीं था। रानाडे के समाज–सुधार प्रयास से इन सबमें परिवर्त्तन होने लगा। उनके दुनिया से जाने के बाद उनके कार्यों को उनकी धर्मपत्नी रमाबाई रानाडे ने आगे बढ़ाया।

भारतीय सोशल कान्फ्रेन्स में रानाडे के व्याख्यान बड़े विचारपूर्ण, विचार–उत्तेजक और सामयिक होते थे, जैसा कि निम्नलिखित विषय–सूची से प्रतीत होता है – 'पुर्नजीवन और सुधार', 'एक शताब्दी पूर्व दक्षिणी भारत', 'भारत एक सहस्त्र वर्ष पूर्व', न मैं हिन्दू हूँ न मुसलमान', 'वशिष्ठ और विश्वामित्र', सामाजिक विकास', 'सामाजिक उन्नति की सच्ची कसौटी', इत्यादि। उनका मत था कि कान्फ्रेन्स का उद्देश्य केवल सुधार हेतु जागृति पैदा करना है। वे कहते थे कि जिस प्रांत में कान्फ्रेन्स होती है वहाँ के लोग सुधार संबंधी विषयों पर सोचने लगते हैं। उनमें से जिनमें देशसेवा का भाव अधिक रहता है वे कोई संस्था खोलकर या अपने कर्त्तव्यों द्वारा सब प्रकार के सुधार अथवा किसी विशेष सुधार की चर्चा फैलाने लगते हैं। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये कान्फ्रेन्स – आर्य–समाज, प्रार्थना–समाज, ब्रह्म–समाज, देव–समाज, सनातन धर्म सभाओं और अन्य संस्थाओं से सहायता लेने में संकोच नहीं करती। रानाडे की सफलता का कारण यही था कि उन्होंने ...जक सुधार को धर्म अथवा मतमतांतर से अलग रखा। रानाडे का विश्वास था कि सुधार अवश्य होगा, शिक्षा–प्रचार, वर्तमान समय की अवस्था और अन्य कारणों से अब सुधार रूक नही सकता। अंग्रेजी राज्य को वे सुधार का सहायक समझते थे। सरकारी कानून की सहायता से कुरीतियों को दूर करने के वे पक्षपाती थे। इस विषय पर उनका एक लेख "State Legislation in Social Matters" बड़े महत्व का है। अंग्रेज राज के समय में ही बुराइयों को रोकने हेतु कई कानून बने, जैसे – सती प्रथा रोकने का कानून, रेगुलेशन XVII – 1829, विधवा

ाह हेतु कानून, रेगुलेशन XV – 1856, इत्यादि। अपने अमरावती व्याख्यान के समय ोंने समाज में पाये जाने वाले सभी बुराईयों पर प्रहार किया। उन्होंने कहा पुराने समय ी समयानुसार ऋषिगण सिद्धान्तों में आवश्यक परिवर्तन किया करते थे। शास्त्रों के प्रति तीय जनता में जो श्रद्धा मौजूद है उसको सुधार का सहायक बनाना चाहिए।[11]

6 रानाडे के राजनैतिक विचार

ाडे एक सरकारी नौकर होते हुए भी भारत की राजनैतिक अवस्था के सुधार के काम से न रह सके। विश्वनाथ प्रसाद वर्मा के शब्दों में "रानाडे ने राष्ट्र के भौतिक तथा नैतिक याण के आदर्श का बिगुल बजाया। वे चाहते थे कि पूर्व के मूल्यों तथा मान्यताओं और चम की राजनीति तथा आर्थिक विचारधारा का समन्वय किया जाये।" भारतीय इतिहास ा राजनीति में रानाडे देशभक्ति के सन्देश ग्राहक थे और उन्होंने स्वतन्त्रता, सामाजिक ति तथा वैयक्तिक चरित्र की पुनःस्थापना का उपदेश दिया। उन्हें 'उदात्त भारतीय ्वाद' का गुरू कहा जाता है।[12] उनकी दृष्टि में "भविष्य के भारत का चित्र ऐसे राष्ट्र था, जिसका अतीत शानदार था और जो अब ईश्वर की कृपा से उज्ज्वल भविष्य की ; बढ रहा था, समानता और स्वतन्त्रता के आदर्शों का अनुसरण करते हुए दृढ़ता से ताबद्ध था, साथ ही सामाजिक बुराइयों से शुद्ध और विवेक तथा सदाचार की आवाज ेरित था।[13] हीगल, बोसाँके तथा केशवचन्द्र सेन की भाँति रानाडे का भी विश्वास था इतिहास में ईश्वरीय शक्ति कार्य करती है। भारतीय इतिहास तथा राजनीति के ार–चढ़ाव में भी उन्हें इच्छा विवेक की कार्यान्विति दिखाई देती है। जेन्स कैलक ने के बारे में लिखा है, "19वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में भारतीयों द्वारा चलाए ाकांश राजनीतिक आन्दोलन् के पीछे उनका प्रेरक और प्रभावपूर्ण मानस रहता था।" ाडे भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के संस्थापकों में से एक थे। उनके राजनैतिक विचार प्रायः ी थे जो काँग्रेस के थे। यों तो वे प्रायः हर एक अधिवेशन मे जाते थे और विषय ारित करनेवाली समिति में अपनी सलाह भी दिया करते थे परन्तु पहली काँग्रेस वेशन के अतिरिक्त किसी में उन्होंने व्याख्यान नहीं दिया। 1885 में भारतवासियों की नैतिक अवस्था विलायत के सर्वसाधारण पर विदित करने के लिए श्री मनमोहन घोष के ा कुछ प्रसिद्ध भारतवासी विलायत गए थे। वहाँ वितरण करने के लिए कुछ छोटी ाकें लिखी गई थीं, उनमें से "India's appeal to the English electors" नाम की पुस्तक बहुत सा अंश रानाडे का लिखा हुआ था। काँग्रेस में जिन विषयों पर प्रस्ताव पास होता उन पर पहले विषय–निर्धारिणी समिति में विचार होता था। इस विषय–निर्धारिणी ाति को शुरू करने में रानाडे का बड़ा हाथ था।

; के दिनों में काँग्रेस में दो दल – गरम और नरम हुआ करता था। दोनों दलों के ओं को अपने साथ रखना रानाडे का विशेष गुण था। नरम दल उदारवाद का प्रतीक सन् 1885 से 1905 तक काँग्रेस पर उदारवादियों का आधिपत्य था। अपने प्रारम्भिक में काँग्रेस पूरी तरह नरम दल के नेताओं के प्रभाव में थी जो पूर्णतया वैधानिक साधनों वेश्वास करते थे और भारतीय शासन व्यवस्था में थोड़े बहुत सुधार के लिये ही दोलन करते थे। ऐसा सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी का मत था। इन उदारवादियों में व्योमेशचन्द्र र्जी, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, दादाभाई नैरोजी, फिरोजशाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले, तथा देव गोविन्द रानाडे उल्लेखनीय हैं। इनका विचार था कि जब अंग्रेजों को भारतीयों की शा का पता चल जायेगा तो वे निश्चय ही उसे सुधारने के प्रयास करेंगे। इन्हें अंग्रेजों न्यायप्रियता में पूर्ण विश्वास था। इनका ध्येय भारत में स्वशासन की स्थापना करना इनका साधन वैधानिक संघर्ष था जिसमें सरकार से प्रार्थना की जाती थी और सरकार ा प्रस्तावों को ठुकरा दिये जाने के बावजूद फिर से प्रार्थना की जाती थी। सार्वजनिक

भाषणों, स्मृति पत्रों, प्रस्तावों, आवेदन पत्रों और शिष्ट मंडलों द्वारा जनता की उचित माँगों और कठिनाइयों की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया जाता था।

उदारवादियों के नेतृत्व में काँग्रेस ने अपने प्रथम अधिवेशन में निम्नलिखित सुधारों की माँग की – भारत मंत्री की कौन्सिल की समाप्ति, आई0 सी0 एस0 की परीक्षा इंग्लैण्ड के साथ–साथ भारत में भी हो, केन्द्र और प्रान्तों की धारा सभाओं में निर्वाचित सदस्य रखे जायें। सन् 1886 में माँग की गयी कि सभाओं में 50 प्रतिशत सदस्य अप्रत्यक्ष निर्वाचन विधि द्वारा निर्वाचित हों। सन् 1887 में एक सैनिक कॉलेज स्थापित करने की माँग की गई। सन् 1893 में वेगार और रसद की प्रथाओं को समाप्त करने और रूई पर से एक्साईज ड्यूटी हटाने की माँग की गई। विदेशों में रहने वाले भारतीयों की स्थितियों में सुधार, समाचार पत्रों पर प्रतिबन्ध हटाने और किसानों को ऋण में सुविधा देने की माँगें उल्लेखनीय हैं। सन् 1898 में शड्यंत्रकारी अधिनियम (Conspiracy Act) को हटाने की माँग भी इन लोगों द्वारा की गयी। इसके पूरी सच्चाई है कि ब्रिटिश सरकार ने सुधारवादियों की माँगों को पूरा करने का कोई विशेष प्रयास नहीं किया। उदारवादियों की यह धारणा गलत थी कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी अपनी इच्छा से देश में राजनैतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक सुधार करेंगे। वे ये भूल गये कि अंग्रेज की स्पष्ट नीति सब प्रकार से भारत का शोषण करने की थी। फिर भी श्री पट्टाभि सीतारामैया के अनुसार हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रारम्भिक राष्ट्रवादियों ने ही आधुनिक स्वतन्त्रता की इमारत की नींव डाली थी। इनके प्रयत्न की इस नींव पर एक–एक मंजिल करके इमारत बनती चली गयी। उनके प्रयासों से देशवासियों को राजनैतिक शिक्षा देने का महत्वपूर्ण कार्य किया। 1892 का इण्डियन कौन्सिल अधिनियम भारत में संवैधानिक सुधारों के विषय में एक महत्वपूर्ण कदम था।

सर ह्यूम ने उन्हें अपना राजनीतिक गुरू कहा था। गोपालकृश्ण गोखले उनके योग्यतम राजनीतिक शिष्य थे। काँग्रेस के नेता सभी प्रकार की राजनीतिक समस्याओं पर उनसे परामर्श करते थे। तत्कालीन राजनीतिक प्रश्नों पर रानाडे के विचार और भाषण बड़े पाण्डित्यपूर्ण होते थे। वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट, आर्म्स एक्ट, सिविल सर्विस परीक्षाओं आदि महत्वपूर्ण एवं ज्वलन्त राजनीतिक प्रश्नों पर रानाडे ने जनता के विचारों को प्रेरणा दी तथा जनमत को जाग्रत किया। ब्रिटिश-शासन की तिलक और उनके दल द्वारा आलोचना रानाडे के दृष्टिकोण से अनावश्यक रूप से कटु थी। उनका मत था कि उदारवादी भावना से हमारा अभिप्राय है जाति और धर्म सम्बन्धी राग–द्वेष से उपर उठ जाना और उन बातों के प्रति लगाव जिससे मनुष्य–मनुष्य के बीच न्याय होता हो, शासकों के प्रति वह निष्ठा जो उन्हें इसलिए मिलनी ही चाहिए कि वे कानून से बँधे हुए हैं, किन्तु साथ ही शासितों के लिए भी समानता प्राप्त करना, क्योंकि कानून के अन्तर्गत उन्हें यह अधिकार मिला हुआ है। नरमी का अभिप्राय यह है कि असम्भव अथवा बहुत दूर के आदर्शों के पीछे हम बेकार न दौड़ें, बल्कि प्राकृतिक विकास की पद्धति से प्रतिदिन अगला कदम उठाने का प्रयत्न करें, और समझौते तथा न्याय की भावना को दिल में रखते हुए वही काम हाथ में लें जो बिल्कुल सामने है। देखा जाए तो राजनीतिक कार्यों का सबसे बड़ा महत्व इस बात के लिए नहीं है कि कोई विशेष परिणाम प्राप्त हो बल्कि राजनीतिक शिक्षा की प्रक्रिया के लिए है, जो सार्वजनिक प्रश्नों में दिलचस्पी पैदा करने से और नागरिकता के अपने आत्मसम्मान और आत्मनिर्भरता को बढ़ाने से ही उपलब्ध होती है।[14]

वो क्रान्तिकारी, हिंसात्मक एवं विद्रोहात्मक साधनों के विरूद्ध थे। वो हमेशा सरकार से अपनी बात मनवाने हेतु सांविधानिक साधनों का सहारा लेने का पक्षधर थे। काँग्रेस की स्थापना से बहुत पूर्व सन् 1874 में ही रानाडे ने ब्रिटिश संसद् और प्रमुख प्रशासकीय अधिकारी के पास एक याचिका भेजी जिसमें यह माँग की गई कि ब्रिटिश संसद् में भारतीयों को प्रतिनिधित्व दिया जाय तथा भारतीय प्रश्नों का निर्णय करने में उनकी सहमति

जाए। इस याचिका में रानाडे ने भारत में स्वशासी संस्थाओं की स्थापना की भी माँग । इन माँगों के पीछे जनमत का सामूहिक बल सिद्ध करने के लिए उन्होंने याचिका पर ारों व्यक्तियों के हस्ताक्षर कराए। यद्यपि रानाडे जानते थे कि ब्रिटिश सरकार उनकी ों को एकदम ही स्वीकार नहीं कर लेगी, फिर भी उन्होंने आवेदन के इस साधन को लिए अपनाया क्योंकि उनकी दृष्टि से जनता को राजनीतिक शिक्षा देने का यह सर्वोत्तम ाय था। देश की तत्कालीन परिस्थितियों में भारतीयों के लिए अन्य उपायों का लम्बन करने से अधिक अच्छा यही था कि वे राजनीतिक प्रश्नों पर विचार करना और नीतिक मामले रुचि लेना सीखें तथा अपनी शिकायतों की ओर सरकार का ध्यान कृष्ट करने के लिए याचिकाओं, माँगों व आवेदनों द्वारा अधिकारों पर दबाव डालें। रानाडे कहा था कि भारतीय राष्ट्रवादियों को ब्रिटेन के उदारवादी दल के साथ एक सन्धि कर ो चाहिए और उसके सहयोग से भारतीय कष्टों को ब्रिटिश संसद् के सम्मुख प्रस्तुत ना चाहिए। वो चाहते थे कि ब्रिटिश संसद् में ऐसे व्यक्ति निर्वाचित होकर जाएँ जो त के हितैषी हों। सन् 1876 में उन्होंने भारत के एक सच्चे मित्र हैनरी फासटे को ेश लोक सभा में लाने के लिए सक्रिय योग दिया। उन्होंने कहा कि भारत पराधीन श्य है, किन्तु भारतीयों की स्थिति वस्तुतः उतनी बुरी नहीं है। ब्रिटेन तक में साढे तीन ड़ की आवादी में सिर्फ वीस लाख लोगों को मताधिकार प्राप्त था, किन्तु फिर भी यह । सर्वस्वीकृत थी कि वहाँ जनता का ही शासन है। भारतीयों की स्थिति उन्हीं अंग्रेजों ी थी जिन्हें मताधिकार प्राप्त था। इसलिए हमारा तात्कालिक कार्य सरकार पर अपना . व बढाना होना चाहिये। ब्रिटेन के राजनीतिक दलों से सम्पर्क स्थापित करके और की सहानुभूति प्राप्त करके हम ऐसा कर सकते हैं।

डे के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ नियन्त्रण अथवा शासन का अभाव न होकर कानून व्यवस्था के अन्तर्गत शासन है। स्वतन्त्रता इस बात में निहित है कि मनुष्य असहाय की े दूसरों पर निर्भर न रहे और सत्ता तथा शक्ति को धारण करने वालों के अनुचित हार से उसकी रक्षा हो। इस प्रकार रानाडे का दृष्टिकोण मॉण्टेस्क्यू तथा धानवासियों से मिलता–जुलता था। उन्होंने फ्रेन्च लेखक डनौयर के इस मत से सहमति ट की कि स्वतन्त्रता केवल नियन्त्रण का अभाव नहीं है। वरन् हर प्रकार के श्रम की ता की वृद्धि करने का भावात्मक प्रयत्न है। उनकी स्वतन्त्रता सम्बन्धी मान्यता उदारवादी जिसका अर्थ "निश्चित मापदण्डों की सीमा में स्वतन्त्रता का उपभोग था। अनियंत्रित न्त्रता व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अनुपयुक्त है। कानून–सम्मत राज्य में ही न्त्रता सुलभ होती है। 1893 में रानाडे ने कहा था, "स्वतन्त्रता का अर्थ कानून बनाना, लगाना, दण्ड–व्यवस्था स्थापित करना और अधिकारियों की नियुक्ति करना। एक न्त्र देश और गुलाम देश में अन्तर केवल इतना ही है कि स्वतन्त्र देश में किसी प्रकार दण्ड देने से पूर्व ही नियम बने हुए होते हैं, कर लगाने से पूर्व उसके लिए जनता की कृति ली जाती है और विधि–निर्माण के पूर्व जनमत ले लिया जाता है।[15] विधे के सन और संसदीय शासन–प्रणाली में उनकी स्वाभाविक आस्था थी। शासन के ऐसे रूप में ही किसी देश में यथार्थ अर्थों में स्वतन्त्रता की स्थापना सम्भव है। वे प्रशासनिक केन्द्रीकरण के पक्ष में थे। वे न्यायपालिका के क्षेत्र में प्रशासन के हस्तक्षेप को अनुचित ते थे। लार्ड रिपन की स्थानीय स्वराज्य योजना पर अपने एक भाषण में उन्होंने, बर्क ही भाँति, यह मत व्यक्त किया था कि निर्वाचित व्यक्ति केवल डेलिगेट या प्रतिनिधि ही ं होता बल्कि ट्रस्टी (न्यासी) भी होता है। और इसलिए उसका कार्य मतदाताओं को क्षित करना और राह दिखाना भी है। देश में एकरूपता की बढ़ती हुई प्रवृत्ति की वो ोचक थे। लोक–प्रशासन के क्षेत्र में वे भारतीयों को अंग्रेज के समान ही अधिकार ाना चाहते थे। बम्बई विधान–परिषद् में अपना स्थान ग्रहण करने से पूर्व रानाडे ने कहा "लार्ड रिपन ने हमें निम्न स्तर पर जो अधिकार दिए हैं यदि सफलतापूर्वक कार्यान्वित

करना है तो उच्च स्तर पर भी वे अधिकार प्राप्त होने चाहिए। स्वतन्त्रता की लोकतान्त्रिक अवधारणा में विश्वास के कारण ही रानाडे विधान–परिषदों में निर्वाचित सदस्यों के पक्ष में थे। निर्वाचित सदस्यों के पीछे लोकमत रहता है, अतः वे मनोनीत सदस्यों की अपेक्षा अधिक आत्म–विश्वास के साथ बात कर सकते हैं और कदम उठा सकते हैं। राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में रानाडे ने प्रत्ययवादी और व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का समन्वय किया। वे निर्मम प्रतिस्पर्द्धा के, जो पूँजीवादी अर्थतन्त्र का आधार है, कट्टर शत्रु थे। वे राज्य की अवयवी प्रकृति में विश्वास करते थे, इसलिए जर्मन विचारकों के आदर्शों से उन्हें सहानुभूति थी। उनकी मान्यता थी कि राज्य का अस्तित्व इसलिए है कि वह अपने सदस्यों को उनके प्रत्येक जन्मजात गुण का विकास करके, अधिक श्रेष्ठ, सुखी, समृद्ध, तथा पूर्ण बनाए। उद्देश्य की पूर्ति तभी सम्भव थी जब नागरिक भी अपने कर्त्तव्य और व्यवहार में ईमानदार और सच्चे बनें। रानाडे ने देशी राजाओं की गैर–जिम्मेदारिओं को देशी रियासतों में कुशासन का कारण बताया। उन्होंने इस पर अंकुश लगाने की बात कही थी।

2.7 रानाडे के द्वारा अंग्रेजी शासन का मूल्यांकन

राजनैतिक विचारों के कारण रानाडे को अनेक बार कष्ट उठाने पड़े। सरकार उन्हें संदेह की दृष्टि से देखते थे। उनकी योग्यता भारत में इतनी विख्यात हो चली थी कि नहीं चाहते हुए भी सरकार को उन्हें हाईकोर्ट का जज बनाना पड़ा। वे सदा यही कहते थे कि अंग्रेजी राज्य परमेश्वर की देन है। उनका विश्वास था कि जब मुसलमान शासक दुश्चरित्र हो गए और जब हिन्दूओं में आपस में फूट पड़ने लगी तब आवश्यक था कि ऐसी जाति हमारे देश पर शासन करे जो देश के संकीर्ण भावों का विनाश कर दे और बिखरी हुई शक्तियों को एक कर दे। परमेश्वर को मंजूर था कि भारत जीवित रहे इसी लिये अंग्रेजों का राज्य इस देश में स्थापित हुआ।[16] वो मानते थे कि भारत विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र में म्युनिसिपल प्रशासन और नागरिक गुणों के क्षेत्र में पर्याप्त श्रेष्ठता का परिचय नहीं दे पाया।[17] ब्रिटिश शासन इस आधार पर स्वागत–योग्य था कि उसके माध्यम से सामाजिक प्रगति एवं राष्ट्रीय जागरण का लक्ष्य पूरा हो सकेगा। उनका विचार था कि यद्यपि ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत वैयक्तिक प्रतिभा की अभिव्यक्ति के लिये कम गुँजाइश थी, और वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए क्षेत्र भी सीमित था, किन्तु बहुसंख्यक जनता के लिए सम्भावनाऐं अधिक थीं और देश का भविष्य महान था; शर्त यह थी कि उपलब्ध अवसरों और सुविधाओं का सदुपयोग किया जाए और लोग हृदय से राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा सामाजिक उद्धार के लिए कार्य करें। रानाडे के इस विचार को बाद में फिरोजशाह मेहता और गोपालकृष्ण गोखले ने दुहराया। वे कहते थे, कि विदेशियों को बुरा कहना सरल है, किन्तु न्यायोचित यही है कि जो ऐसा करते हैं वे आत्मपरीक्षा करें और देखें कि क्या वे इस सम्बन्ध में बिल्कुल निर्दोष हैं? भारत के विभिन्न भागों मे हमारी अपनी जाति के लोग निम्न जाति वालों से कैसा व्यवहार करते हैं? क्या यह न्यायुक्त है? रानाडे किसी भी अन्यायपूर्ण कार्य को बर्दाश्त नहीं करते थे चाहे वह देशवासियों द्वारा किया गया हो या विदेशियों द्वारा। रानाडे ने अनेक बार सरकारी शासन में दोष बतलाए; परन्तु उनसे न्याय–प्राप्ति की आशा कभी नहीं छोड़ी।

भारत में ब्रिटिश शासन में नौकरी करते हुए सरकार की गलत नीतियों का निर्भीकतापूर्वक आलोचना करने का श्रेय रानाडे को जाता है। उन्होंने भूमि–अधिकरण एवं वंचित भूमि राजस्व व्यवस्था, उत्तरदायित्वपूर्ण पदों से भारतीयों को पृथक् रखने की आलोचना की। उन्होंने ब्रिटिश शासन की उस औद्योगिक नीति को भी अनुचित बताया जिसके फलस्वरूप भारत ब्रिटिश कारखानों के लिए कच्चे माल का पूरक और ब्रिटिश कारखानों द्वारा निर्मित माल की बिक्री का बाजार बन गया था। रानाडे ने अत्यधिक केन्द्रीकृत प्रशासन–व्यवस्था का विरोध किया। ऐसे प्रशासन में स्थानीय उपक्रम के लिए कोई स्थान नहीं रहता। विदेशी

।सकों द्वारा भारतीयों को हीन समझने की प्रवृत्ति को उन्होंने अनुचित ठहराया और कहा ि इससे तो ब्रिटिश शासन का नैतिक औचित्य ही समाप्त हो जायेगा। भारत राष्ट्र को भी भी बलपूर्वक स्थाई रूप से दबाकर नहीं रखा जा सकता और ईश्वरेच्छा से अथवा ब्रिटिश उदाहरण एवं अनुशासन से प्रोत्साहित होकर इस देश के लोगों को एक स्वशासित ।माज के स्तर तक उठाना ही होगा। समस्याओं को खुद हल करना होगा। रानाडे ने ाजनीतिक आदर्श की बात रखी और उसकी प्राप्ति के लिए उदार दलीय अंग्रेजों के साथ ेलकर एक संघर्ष की सम्भावना पर विचार किया।"[16]

2.8 रानाडे एवं तिलक

रानाडे और तिलक राष्ट्रवाद के दो अलग–अलग रूपों का प्रतिनिधित्व करते थे। दोनों के ाष्ट्रीय समस्याओं के सम्बन्ध में, अलग–अलग दृष्टिकोण थे। पी० जे० जागीरदार के शब्दों "रानाडे की दृष्टि में ब्रिटिश शासन भारत के लिए एक ईश्वर–प्रदत्त सुयोग था जो कई ताब्दियों की निद्रा के बाद उसे विपुल भौतिक समृद्धि और नैतिक पूर्णता की ओर अग्रसर करने के लिए मिला था; क्योंकि ब्रिटेन तथा पाश्चात्य जगत उस ओर बढ़ते हुए आगे ेनकल चुके थे. किन्तु तिलक की दृष्टि में वह यहाँ के लोगों के लिए घोर अपमान–स्वरूप ा और उसे उखाड फेंकना प्रत्येक भारतवासी का परम कर्त्तव्य था। रानाडे की दृष्टि में, ारे भारत को एकता के सूत्र में बाँधने वाली प्रवृत्तियाँ ब्रिटिश शासन की नियामतें थीं जो हले सर्वथा अज्ञात थीं – जैसे कि, अच्छी तरह विचार करके बनाए गए नियमों से पूरी रह नियन्त्रित एक प्रशासन–व्यवस्था, कानूनों से नियन्त्रित एक न्याय–व्यवस्था, रेल और ार जैसे आधुनिक संचार–साधन, अंग्रेजी भाषा और उससे प्राप्त होने वाला पाश्चात्य ंस्कृति तथा विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान और एक ऐसा आर्थिक ढ़ाँचा जो ब्रिटेन के नमूने पर ाडा किया गया हो। तिलक की दृष्टि से एकता का सूत्र था धर्म एवं संस्कृति में गौरवबोध, कमात्र जिसमें ही भारतीयों के बीच देशभक्ति का भाव उत्पन्न करने की सामर्थ्य थी।"[17] ानाडे का कहना था कि भारतवासी धर्म, परम्पराओं, साहित्य, दर्शन, जीवन–पद्धति एवं ेचारधाराओं की एक ऐसी अविच्छिन्न धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं जो इसी भूमि की ेशेषता है. किन्तु साथ ही यह भी मानते थे कि वह अतिच्छिन्नता विधि के विधायन के न्तर्गत और उसके कठोर नियन्त्रण में रहती है, जो कभी–कभी उस पर विदेशियों का भुत्व इसलिए थोप देता है कि उनसे यह राष्ट्र कुछ ऐसे गुण सीख सके जो उन्हीं के ास हैं। इस तरह की काल्पनिक व्याख्याओं को तिलक हजम नहीं कर सकते थे; उनका ेश्वास था कि हमारा देश सदा से महान रहा है, जैसा कि उसके अतीत के गौरवशाली इतिहास से प्रकट है, और स्वाधीनता प्राप्त करते ही वह फिर अपने लुप्त गौरव को प्राप्त कर लेगा। रानाडे तिलक के इस विचार से सहमत नहीं थे कि केवल एक ही धर्म को राष्ट्रवाद का आधार बनाया जाए। उनका विचार था कि जीवन की आधुनिक अवस्थाओं में जिस भारत को जन्म लेना है उसमें मात्र जाति, धर्म, वर्ण के भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा। हम सभी केवल भारतीय बनना चाहते हैं – उन सभी अवस्थाओं का अन्त करके, जिनके कारण भारत एक नहीं हो पाया था। भारत–ब्रिटिश सम्बन्धों को क्षति न पहुँचाने की रानाडे की चिन्ता को तिलक ने देश भक्ति विरोधी माना, कुप्रथाओं के दूर करने के रानाडे के गम्भीर प्रयत्नों को ब्रिटिश संस्कृति का आक्रमण मान लिया गया, और मुसलमानों के आक्रामणात्मक होते हुए भी जब रानाडे ने हिन्दूओं और मुसलमानों के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध का समर्थन किया तो इसे उनकी कायरता समझी गई।

रानाडे और तिलक में अनेक बातों में मत–भेद था पर तिलक राजनैतिक बातों में रानाडे को

सदा अग्रगण्य मानते रहे। कई वर्षों तक दोनों ने मिलकर सार्वजनिक सभा में काम किया। था। अपने वैचारिक मतभेद के बावजूद रानाडे की मृत्यु पर तिलक महाशय ने अपने 'मराठा' पत्र में रानाडे के चरित्र की वृद्ध समालोचना करते हुए लिखा – "सर्वज्ञ–विद्वता, सार्वजनिक सहानुभूति और पवित्रतम देशहितैषिता रखनेवाले इस महापुरूष की मृत्यु से मानव जाति की कितनी क्षति हुई है इसका अंदाजा करना कठिन है। वे यथार्थ में 19वीं शताब्दी के ऐसे पुरूष थे जिनको एक शताब्दी भी अपने पेट से, जिसमें सदा उत्पत्ति होती ही रहती है. कठिनाई से पैदा कर सकती है। उनकी मृत्यु से जनता ने एक प्रदर्शक, दिव्यदृष्टा और मित्र खो दिया।"[20]

2.9 रानाडे एवं गाँधी

महात्मा गाँधी, गोखले को अपना गुरू मानते थे। गोखले, रानाडे का अपना गुरू समझते थे। गाँधी, रानाडे को इतना सम्मान की नजर से देखते थे कि वो उनसे बात करने की हिम्मत नहीं जुटा पाते थे। दोनों लोगों के बीच पत्राचार के माध्यम से काफी बातें होती थीं। आमने–सामने, गाँधी जी को रानाडे से मिलने का सिर्फ एक मौका 1896 में बम्बई में मिला। इस समय हिन्दू यूनियन क्लब में गाँधीजी ने बतलाया था कि दक्षिण अफ्रीका के नेटाल, केप कॉलोनी और ट्रांसवाल में हिन्दूस्तानी सड़क की पटरियों पर नहीं चल पाते, रेल में अव्वल दर्जे में सफर नहीं कर सकते, होटलों में ठहरने नहीं पाते। गाँधी इन्हीं विषयों के विरुद्ध दक्षिण अफ्रीका में अपना आन्दोलन चला रहे थे। रानाडे से इस विषय पर गाँधी बहुत पहले से पत्र–व्यवहार कर रहे थे और वे उनकी सलाह पर चला करते थे। भारत छोड़ो आन्दोलन का नारा देते हुए 8 अगस्त, 1942 को गाँधी ने रानाडे को याद करते हुए कहा कि वे सरकारी नौकरी में रहते हुए अपने आपको काँग्रेसी कहा करते थे। सभी सरकारी नौकरी करने वाले लोगों से उन्होंने आग्रह किया कि वो भी ऐसा ही करें। 1880 में अपने सार्वजनिक सभा के त्रैमासिक जर्नल के माध्यम से रानाडे ने चरखा के आधुनिकरण करने की बात लोगों से की थी। जब गाँधी को ये ज्ञात हुआ तो उन्होंने अपने 'हरिजन' अखबार में 21 अगस्त, 1935 में रानाडे के प्रति आभार प्रकट किया था। भारत में विकास हेतु दोनों लोगों ने "Constructive programme" तथा चरखा को अपनाने की बात लोगों से की।

2.10 साराश

रानाडे की देश सेवा अनेक मार्गों में झुकी हुई थी। विद्यार्थियों में विद्यानुराग और देश–सेवा का वे संचार करते थे। नवयुवकों के उत्तेजक थे। अनेक संस्थाओं के वे प्रवर्त्तक थे। राजनैतिक, औद्योगिक, धार्मिक, समाज–सुधार और विद्याप्रचार संबंधी उनके अनेक कार्य देशवासियों की सम्पत्ति के समान हैं। स्वामी विवेकानन्द की भाँति रानाडे को भारत के राष्ट्रीय उत्थान और उज्ज्वल भविष्य में विश्वास था। अपने इस सिद्धान्त के बावजूद कि "असम्भव तथा अत्यन्त दूरवर्त्ती आदर्शों के पीछे निरर्थक नहीं दौड़ना चाहिए," रानाडे ने एक महान् और शक्तिशाली भारत का स्वप्न देखा। सन् 1896 में कलकत्ता के सामाजिक सम्मेलन में उन्होंने कहा था, "एक बन्धन मुक्त पुरूष तत्त्व के साथ, एक उल्लासपूर्ण आशा के साथ, एक सतत् कर्त्तव्यपरायण विकास के साथ, सबके प्रति एक न्याय–भावना के साथ, निर्मल बुद्धि एवं पूर्णतः विकसित शक्तियों के साथ, तथा अन्त में सम्पूर्ण सीमाओं का

तिक्रमण करने वाले एक प्रेम के साथ, नवीनीकृत भारत संसार के राष्ट्रों के बीच अपना
ुचित स्थान प्राप्त करेगा और अपनी स्थिति एवं अपने भाग्य का स्वतन्त्र स्वामी होगा।
ही है वह मंजिल जहाँ पहुँचना है – धरती पर ही बनने वाला हमारा स्वर्ग।"

.11 उपयोगी पुस्तकें

T.V. PARAVATE : Mahadev Govind Ranade (A Biography).

P. J. JAGIRDAR : Studies in Social Thoughts of Mahadeo Govind Ranade, Asia Publishing House, Bombay, 1963.

B. R. Ambedkar : Ranade, Gandhi and Jinnah.

D. G. Karve : Ranade – The Prophet of Liberated India, Arya Bhushan, Pune, 1941.

G. A. Mankar : Mr. Justice M. G. Ranade : A Sketch of the Life and work, Bombay, 1902

M. G. Ranade : Essays on Indian Economics;

: Rise of the Mahratha Power;

: Miscellaneous writings (published by Ramabai Ranade), Manoranjan Press, Bombay, 1915

Pattabhi Sitaramaya : History of the Indian National Congress, 2 Vol. Padma Publication, Bombay.

Tara Chand : History of the Freedom Movement in India, Publication Division Govt. of India.

विश्वनाथ प्रसाद वर्मा : भारतीय राजनैतिक चिन्तन, Luxmi Narian Agarwal, AGRA-1995

0 डॉ0 उर्मिला शर्मा एवं डॉ0 एस0 के0 शर्मा : भारतीय राजनैतिक चिन्तन

1 रामनारायण मिश्र : महादेव गोविन्द रानाडे

2 महादेव गोविन्द रानाडे : मराठा शक्ति का उदय; अनुवाद : दामोदर अग्रवाल

2.12 सम्बन्धित प्रश्न

ीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. रानाडे के राजनैतिक चिन्तन पर प्रकाश डालें।
2. रानाडे के जीवन चरित्र, सरकारी एवं समाज सेवा को देखते हुए उनके व्यक्तित्व का मूल्यांकन करें।
3. रानाडे एवं तिलक के बीच सहमति एवं मतभेदों पर प्रकाश डालें।

लघुउत्तरीय प्रश्न

1 रानाडे के आध्यात्मिक चिन्तन पर प्रकाश डालें।

2. रानाडे की जनसेवा पर प्रकाश डालें।

3. रानाडे के द्वारा अंग्रेजी शासन के मूल्यांकन का परीक्षण करे।

वास्तुनिष्ठ प्रश्न

1. समाजसेवा के अलावा रानाडे ने समर्थन किया था–
   (a) उग्रवाद का, (b) ब्रिटिश शासन का,
   (c) राजनैतिक आन्दोलन का, (d) संवैधानिक माध्यमों के जरिए शांतिपूर्ण उन्नति का
2. महाराष्ट्र के स्वदेशी आन्दोलन के जन्मदाता कौन थे–
   (a) गणेश वासुदेव जोशी (b) महादेव गोविन्द रानाडे
   (c) गोपाल कृश्ण गोखले (d) महात्मा गाँधी
3. 'मराठा शक्ति का उदय' (Rise of the Maratha Power) के रचयिता कौन है–
   (a) बालगंगाधर तिलक (b) गोपाल कृश्ण गोखले
   (c) महादेव गोविन्द रानाडे (d) डा0 भीमराव अम्बेदकर
4. 'मराठा पत्र' का संचालक निम्न में से कौन था–
   (a) गोपाल कृष्ण गोखले (b) महादेव गोविन्द रानाडे
   (c) गणेश वासुदेव जोशी (d) बालगंगाधर तिलक

2.13 प्रश्नोत्तर

1. b 2. a 3. c 4. d

इकाई 3 : गोपाल कृष्ण गोखले

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 तत्कालीन देश की परिस्थिति एवं गोखले के द्वारा तैयार भावी रणनीति

3.3 गोखले की राष्ट्र सेवा व्रत के प्रति वचनवद्धता

3.4 गोखले के राजनीतिक दर्शन

3.5 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में गोखले की भूमिका

3.6 गोखले के विचारों में स्वशासन की अवधारणा

3.7 गोखले एवं राजनीतिक पद्धति

3.8 गोखले के आर्थिक संबंधी विचार

3.9 गोखले एवं महात्मा गाँधी

3.10 साराश

3.11 उपयोगी पुस्तकें

3.12 सम्बन्धित प्रश्न

3.13 प्रश्नोत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- गोपाल कृष्ण गोखले के जीवन दर्शन, राष्ट्रसेवा का व्रत तथा कांग्रेस में महत्वपूर्ण भूमिका की विवेचना कर सकेंगे,
- गोखले के विचारों में स्वशासन की अवधारणा तथा राजनैतिक पद्धति, आर्थिक सम्बन्धी विचारों का उल्लेख कर सकेंगे।
- गाँधी जी के पथ प्रदर्शक के रूप में गोखले पर टिप्पणी कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

1857 बीत चुका था। यह वह जमाना था जब भारत ने अपनी आजादी की पहली लड़ाई लड़ी थी। 1857 की क्रांति के बाद इंग्लैण्ड के नेताओं ने यह तय किया कि भारत पर ईस्ट इंडिया कम्पनी की बजाए ब्रिटेन की महारानी का सीधा शासन होना चाहिए। 1858 में महारानी विक्टोरिया ने ऐलान किया कि भारत के शासन की बागडोर मैंने अपने हाथों में ले ली है, मैं भारत की भी महारानी बन गई हूँ और भारत के लोग उसी तरह मेरी प्रिय प्रजा हैं जिस तरह कि इंग्लैण्ड के लोग। इस घोषणा के बाद भारत की सरकार ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथों से निकलकर ब्रिटिश–संसद के हाथों में चली गई। मगर इससे भारत के पढ़े–लिखे और समझदार लोगों को संतोष नहीं हुआ। चाहे राज अंग्रेज व्यापारी करें या उनकी संसद, भारत तो गुलाम ही रहा। देश बराबर गरीब होता जा रहा था। बड़े–बड़े सरकारी पद अंग्रेजों के पास थे। सेना में भी अफसर अंग्रेज ही थे। कोई भी भारतीय सेना में अफसर नहीं हो सकता था। इन बातों ने देश में बेचैनी पैदा कर दी और पढ़े–लिखे लोगों का एक ऐसा वर्ग उठ खड़ा हुआ जो समझता

था कि भारत के पुराने गौरव को वापस लाने के लिए अंग्रेज का शासन यहाँ से मिट जाना चाहिए। कुछ दूसरे लोग थे जो यह चाहते थे कि अंग्रेज हमें धीरे–धीरे ज्यादा अधिकार दें। उनका कहना था कि पहले हमें अपने समाज की उन कुरीतियों को दूर करना होगा जिससे हमारा देश कमजोर हुआ – जैसे औरतों को न पढ़ाना, समुद्र यात्रा न करना और छुआ–छूत मानना। इन्होंने समाज–सुधार के लिए जगह–जगह बहुत सी संस्थाऐं चलाई – जैसे बम्बइ प्रेजीडेंसी एसोसिएशन, पूना की सार्वजनिक सभा, बंगाल की कलकत्ता एसोसिएशन और मद्रास महाजन सभा आदि।[1]

'अमरफल', 'अमृतफल', आदि बहुत सी कथाऐं सुनने में आती हैं, वो 'अमरतत्त्व' देश सेवा में ही है। देश सेवा करने वालों को ही अमरत्व प्राप्त होता है। भारतमाता के ऐसे ही सपूत थे महात्मा गोखले।[2] उनका जन्म आजादी की पहली लड़ाई के लगभग नौ साल बाद बुधवार की शाम 9 मई, 1866 को महाराष्ट्र के रत्नागिरि जिले के कोतलुक गांव में चितपावन ब्राह्मण परिवार में हुआ। इनका नाम गोपालराव रखा गया। कौन जानता था कि यह बालक बड़ा होकर भारत का नाम ऊँचा करेगा और महात्मा गाँधी जैसे नेता का राजनीतिक गुरू होगा। यही बालक गोपालकृश्ण गोखले के नाम से प्रसिद्ध हुआ और इसने यह सिद्ध कर दिया कि कड़ी मेहनत और देशप्रेम द्वारा मामूली बालक भी अपना और अपने देश का नाम ऊँचा कर सकता है।

गोपालकृश्ण गोखले का परिवार बड़ा पुरूषार्थी था। गोखले परिवार मूलतः रत्नागिरि के वेलणेश्वर नामक गाँव में रहता था। उनके पूर्वज, स्पष्टतः आर्थिक कारणों से, उसके समीप के एक अन्य गांव ताम्हनमाला में जा बसे थे। ये लोग मशहूर मराठा सेनापति बापूजी गोखले के वंशज थे; बापूजी गोखले ने अंग्रेजों से लड़ते हुए पेशवा बाजीराव द्वितीय की रक्षा के लिए अपने प्राण दे दिए थे। गोखले खानदान के लोग ईमानदारी और सच्चाई के लिए दूर–दूर तक प्रसिद्ध थे। इसलिए शाहू महाराज के शासनकाल में इन्हें 'रास्ते' की उपाधि दी गई थी। 'रास्ते' शब्द शायद फारसी के 'रास्त' से बना है जिसका अर्थ है 'सच्चाई'। गोखले के पिता कृश्णराव की पढ़ाई कोल्हापुर में हुई। महादेव गोविन्द रानाडे उनके सहपाठियों में से एक थे। रानाडे बाद में न्यायमूर्ति कहलाए और उन्होंने अपना सारा जीवन देश की सेवा में लगा दिया। उस समय कृश्णराव ने सोचा भी न होगा कि एक दिन मेरा बेटा मेरे सहॅपाठी महादेव का सबसे प्रिय शिष्य बनेगा और उसके चरणों में बैठकर भारतमाता की सेवा करेगा।

गोखले के पिता कृश्णराव ने रियासत कोल्हापुर के एक छोटे से सामन्ती रजवाड़े, कागल में नौकरी कर ली थी। वह वहाँ एक क्लर्क के रूप में नियुक्त हुए। बाद में पुलिस के सब–इंस्पेक्टर बन गए। कृश्णराव की पत्नी सत्यभामा देवी कोतलुक के रहने वाले 'ओक' परिवार की सदस्या थीं। वो बड़ी धार्मिक और दयालु थीं। उनके छः बच्चे थे, जिनमें दो लड़के थे। बड़े पुत्र का नाम गोविन्द और छोटे का नाम गोपाल था। माँ। ने दोनों बेटों को बचपन में ही नम्रता, सेवा और उदारता का पाठ पढ़ाया था। शुरू में दोनों भाई कागल में ही पढ़े। आगे की पढ़ाई के लिए उन्हे कोल्हापुर भेजा गया। इसी समय 1879 में उनके पिता का देहान्त हो गया। इस आड़े समय में उनके चाचा अनन्तराव गोखले उनके बड़े काम आये। 1881 में गोपाल राव ने हाई स्कूल की परीक्षा पास की। जनवरी, 1882 में वे कोल्हापुर के राजराम कॉलेज में भर्ती हुए। उनकी भाभी तथा बड़े भाई ने गरीबी में रहते हुए उनकी काफी मदद की। बी0 ए0 के दूसरे साल की पढाई के लिए पूना के प्रसिद्ध डेकन कॉलेज में भर्ती हुए। गोखले की स्मरणशक्ति बहुत तेज थी। इसके लिए वह अपने कॉलेज भर में मशहूर थे। बी0 ए0 के आखिरी साल की पढ़ाई के लिए गोपालराव बम्बई के एल्फिंस्टन कॉलेज में भर्ती हुए। यहाँ उन्हें बीस रुपये महीना की छात्रवृत्ति मिल गई जिससे उनके लिए पढ़ाई का खर्च चलाना आसान हो गया। गणित के प्रोफेसर हॉथार्नवेट तथा अंग्रेजी के प्रोफेसर डा0 वर्डसवर्थ गोखले की प्रतिभा से काफी प्रभावित थे।

3.2 तत्कालीन देश की परिस्थिति एवं गोखले के द्वारा तैयार भावी रणनीति

गोखले ने जब अठारह वर्ष की उम्र में बी० ए० पास की तो उस समय महाराष्ट्र में रानाडे, तिलक आदि नेता समाज की कुरीतियों को सुधारने, शिक्षा का प्रचार करने और लोगों को स्वराज्य के लिए तैयार करने में लगे थे। गोखले भी उन्हीं ही तरह अपने देश के लोगों की सेवा करना चाहते थे। सारे देश में राष्ट्रीय–भावना की लहर दौड़ रही थी। बंगाल में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, लालमोहन घोष, डा० रासविहारी घोष, अरविन्द घोष और रमेशचन्द्र दत्त; पंजाब में सरदार अजीत सिंह और लाला लाजपतराय, बम्बई में दादाभाई नैरोजी, फिरोजशाह मेहता और दिनशा इदुलजी वाचा, और महाराष्ट्र में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, महादेव गोविन्द रानाडे, आप्टे, आगरकर, नामजोशी और महर्षि कर्वे जैसे नेता समाज में लोगों को जागरूक बनाने में लगे थे। पूना के न्यू इंगलिश स्कूल की स्थापना भी इसी उद्देश्य से की गई थी। यह स्कूल तथा तिलक के 'केसरी' तथा मराठा नामक अखबार महाराष्ट्र में राष्ट्रीय जागरण का बिगुल बजा रहे थे। ये लोग चाहते थे कि यूरोप में जो वैज्ञानिक विकास हुआ है वो भारत के लोग भी जानें। ज्ञान तथा विकास के जरिये ही हम अंग्रेजों की बराबरी कर सकते हैं और उनसे अपना राज्य वापिस ले सकते हैं। इन बातों को ध्यान में रखकर गोखले न्यू इंगलिश स्कूल में अध्यापक हो गये। ये स्कूल आगे चलकर फर्ग्युसन कॉलेज के रूप में विकसित हुआ। जब गोखले के मन में कानून पढ़ने की इच्छा पैदा हुई तो वह शाम के समय डेकन कॉलेज में कानून पढ़ने लगे। वह बनना तो चाहते थे वकील या मुन्सिफ, लेकिन विधाता की कुछ इच्छा ही और थी। कुछ ऐसी कठिनाइयाँ आई कि वह कानून की पढ़ाई पूरी न कर पाए।

1866 में गोखले ने यूरोप के युद्धों के बारे में 'मराठा' में कुछ लेख लिखे। उनकी विद्वता को पहचान कर तिलक ने पूरी कोशिश की कि गोखले डेकन एजूकेशन सोसाइटी के आजीवन सदस्य बन जाऐं। अपनी माँ और भाई के आग्रह पर उन्होंने ऐसा ही किया। स्थायी सदस्य को थोड़े से वेतन पर जीवन भर सेवा का व्रत लेना पड़ता है। सन् 1889 में उन्होंने कांग्रेस में प्रवेश किया। अपने 49 साल के जीवन में उन्होंने अनेक कार्य किये। उनकी पहली शादी 1880 में और दूसरी शादी 1887 में हुई। 1888 में 'सुधारक' के अंग्रेजी–भाग का सम्पादन किया तथा 'सार्वजनिक सभा' में अवैतनिक मंत्री बने। 1897 में पहली इंग्लैण्ड–यात्रा की तथा वेल्बी आयोग के सामने प्रस्तुत हुए। 1898 में प्लेग सहायता में प्रमुख रूप से भाग लिया। 1899 में बम्बई विधान परिषद के सदस्य चुने गए। 1902 में फर्ग्युसन कॉलेज से प्रिंसिपल पद से सेवा निवृत्ति मिली। 12 जून, 1905 में सर्वेंट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी की स्थापना की गई। उसी वर्ष बनारस कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता की। 1911 में प्रारम्भिक शिक्षा विधेयक पेश किया तथा राजद्रोहात्मक सभा विधेयक का विरोध किया। 1914 में के० सी० आई० ई० (नाइट कमाण्डर आफ दि इण्डियन एम्पायर) की उपाधि लेने से इन्कार। 1902 में गोखले केन्द्रीय विधान परिषद् के सदस्य बने। परिषद् में उनके बजट–भाषण बहुत ही तर्कपूर्ण और आकर्षक हुए। उन्होंने परिषद् के सदस्य के रूप में नमक–कर को हटाने, अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा को शुरू करने, सरकारी नौकरियों में भारतीयों के साथ भेदभाव न बरतने, सरकारी व्यय कम करने आदि की दिशा में बड़े प्रभावी रूप से भाषण दिये। 1912 में उनकी नियुक्ति लोक–सेवा में आयोग में हुई।[3] इसमें कार्य करते समय वो बीमार हो गये थे। यद्यपि वे मधुमेह रोग से 13 वर्ष से बीमार थे। उन्हें देश सेवा से इतना अवकाश न मिला कि वे अपना स्वास्थ्य सुधार लेते। मृत्यु के एक दिन पहले उन्होंने अपने परिवार के लोगों तथा भारत सेवक समिति के सदस्यों से कहा– "मेरी कोई जीवनी न छापी जाया।" अन्तिम समय गोखले को केवल पब्लिक सर्विस कमीशन के काम को पूरा न करने का दुख रहा। भारत सेवक समिति का उन्होंने अपनी ओर से कोई सभापति नहीं चुना और उसका निर्वाचन सेवक समिति के सदस्यों पर ही छोड़ा।[4] 19 फरवरी, सन् 1915 को रात्रि के दस बजकर पच्चीस मिनट पर उनका जीवन प्रदीप बुझ गया। भारत गगन मण्डली

से राजनैतिक सूर्य अस्त हो गया। सारा देश शोकाकुल हो गया। हाउस ऑफ लॉर्डस में बोलते हुए कर्जन ने कहा था कि उन्हें कभी "किसी भी राष्ट्र का ऐसा व्यक्ति नहीं मिला जिसमें उनसे ज्यादा संसदीय प्रतिभा हो। "तिलक ने अपने मतभेद के बावजूद लोगों से कहा– "गोखले की मृत्यु से वृद्धा भारत माता की जो अकथनीय हानि हुई है, उस पर यह रोने का अवसर है क्या। तुम देखते नहीं हो, भारत के हीरा, महाराष्ट्र के रत्न, प्रमुख कार्यकर्त्ता वीर गोखले आज इस मृत्यु शय्या पर घोर विश्राम कर रहे हैं। आँखें खोलकर उनकी ओर देखो और उनसे कर्तव्य करना सीखो।" वो कितना महत्वपूर्ण हस्ती थे उसका अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि उनकी मृत्यु के कारण स्कूल, कॉलेज, अदालतें तथा हाईकोर्ट बन्द कर दी गई। हार्डिंग महोदय ने बड़ी व्यवस्थापक सभा (लेजिस्लेटिव कौन्सिल) का अधिवेशन स्थगित कर दिया। कलकत्ता में गवर्नमेन्ट आउस का आधा झण्डा शोक के कारण गिरा दिया गया। बड़े लाट महोदय ने खेद–प्रकट करते हुए कहा था – "माननीय मिस्टर गोखले की आकस्मिक मृत्यु को सुनकर मुझे अत्यन्त दु:ख हुआ, उन्होंने सच्चाई चमत्कारिणी योग्यता और विचित्र व्यक्तित्वशक्ति से हिन्दूस्तानियों में एक उच्च स्थान प्राप्त कर लिया था। वे राजभक्त थे परन्तु सरकारी कामों की निडर होकर आलोचना करते थे और उनके विरोधियों का उनके सामने ठहरना मुश्किल हो जाता था। दक्षिण अफ्रीका के जटिल प्रश्न की मीमांसा उन्हीं की राजनीतिज्ञता और बुद्धिमत्ता से हुई थी। मैं उन्हें केवल कौन्सिल का एक योग्य सभासद ही नहीं समझता था किन्तु उन्हें अपना मित्र समझता था।" सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कलकत्ते की शोक सभा में मिस्टर गोखले को राजनैतिक ऋषि कहा था। दादाभाई नैरोजी ने कहा कि गोखले की मृत्यु से उनकी आशाओं पर पानी फिर गया है। सर फिरोजशाह मेहता बड़े अच्छे वक्ता थे। वो इतना दु:खी हुए कि शोक सभा में बहुत देर तक कुछ नहीं बोल सके। सभी ऐंग्लो इण्डियन और देशी अखबारों ने गोखले की मृत्यु पर शोक प्रकट किया। श्रीमती सरोजिनी नायडू ने उनके पुनः जन्म की आशा की।

3.3 गोखले की राष्ट्र सेवा व्रत के प्रति वचनबद्धता

तिलक और आगरकर के कहने पर गोपाल कृष्ण गोखले ने 1886 में डेकन एजुकेशन सोसाइटी के सदस्य बन गए और जीवन भर देश की सेवा करने के लिए गरीबी और सादगी का व्रत ले लिया। गोखले ने अपने साथी ए0 जे0 बापट के साथ मिलकर गणित की एक पुस्तक लिखी जो काफी प्रशंसनीय रही। उन्होंने तिलक के कहने पर स्कूल से हटकर कॉलेज में पढ़ाना शुरू कर दिया। यहाँ उन्होंने अंग्रेजी के अलावा इतिहास और अर्थशास्त्र भी पढ़ाया। 1890 में तिलक और आगरकर के बीच मतभेद हो गया और तिलक ने सोसाइटी छोड़ दी। इस समय गोखले ने आगरकर को बहुत मदद की। वो आगरकर के अखबार 'सुधाकर' के लिए लेख भी लिखते और सोसाइटी के लिए धन भी इकट्ठा करते। आगरकर, वामन, शिवराव, आप्टे और केलकर आदि बुजुर्ग कार्यर्त्ताओं की मृत्यु के बाद सोसाइटी का सारा काम गोखले के कन्धों पर आ गया। अब उन्हें मंत्री बना दिया गया। 1887 में उनका परिचय महादेव गोविन्द रानाडे से हुआ। रानाडे बहुत बड़े समाज सुधारक थे। वो जज (हाईकोर्ट) बनने के पहले अर्थशास्त्र के प्रोफेसर भी थे। उन्होंने महाराष्ट्र में अनेक स्कूल, लाइब्रेरियाँ, सभाऐं आदि स्थापित की थीं। वो मानते थे कि भारत की उन्नति तभी हो सकती है जब लड़कियों को पढ़ाया जाए, छोटे लड़के–लडकियों की शादी न की जाय और छुआछूत छोड़ी जाय। गोखले ने उन्हें अपना गुरू मान लिया। गोखले ने पूरे चौदह साल तक रानाडे के चरणों में बैठकर देश की सेवा की और उनके जीवन काल में ही वो उनकी "सार्वजनिक सभा" का मंत्री बन गये थे। सरकारी रिपोर्टों का अध्ययन करके विद्वतापूर्ण भाषण तैयार करने का ढ़ंग गोखले ने रानाडे से ही सीखा था।

रानाडे ने उन्हें सिखाया था कि जो लोग देशसेवा का काम करते हैं उन्हें निजी स्वार्थों में नहीं फँसना चाहिए। इसी शिक्षा के अनुसार गोखले ने जीवन भर लगन से देश की सेवा की और कभी अपना फायदा करने की नहीं सोची। उन्होंने बताया था कि राजनीति में यदि वाद–विवाद

तो क्रोध नहीं करना चाहिए, शांति से अपनी बात कहनी चाहिए। रानाडे छुआछूत का कट्टर धी थे। उनका गोखले तथा गाँधी पर गहरा प्रभाव पड़ा। गोखले जात–पात के घोर शत्रु ो गए और गाँधीजी ने तो छुआछूत मिटाने तथा अछूतों की सेवा करने का जीवन भर के लिए त्र ले लिया। गोखले तथा गाँधी को स्वदेशी का महत्व रानाडे ने ही बतलाया था। गोखले ने नाडे से नगरपालिकाओं के महत्व को समझा। रानाडे ने गोखले को ऊँचे चरित्र की शिक्षा दी। न्होंने गोखले को अपनी भूलों को हमेशा स्वीकारने की सलाह दी। गोखले ने स्कूल में चालीस पये महीना तथा कॉलेज में पचहत्तर रूपया महीना वेतन पर 20 साल तक कार्य किया। टायर होने पर 30 रूपया महीना पेंशन लिया।

ोखले कहा करते थे कि देश की सेवा करने के लिए केवल देशप्रेम से काम नहीं चल सकता। सके लिए यह आवश्यक है कि हम देश की समस्याओं का अध्ययन करें और कोई बात कहने ा करने से पहले उसके बारे में पूरी जाँच–पड़ताल कर लें। जब कोई भी व्यक्ति उनसे कहता कि मैं देश सेवा करना चाहता हूँ, तो वह उसको साफ–साफ कह देते कि मेरे साथ काम करने ी यह शर्त होगी कि तुम एक साल तक अध्ययन करके और देश में घूमकर अपने को देशसेवा के लिए तैयार करोगे। इस बीच न तो तुम भाषण दोगे और न पत्र–पत्रिकाओं में अपने विचार यक्त करोगे। जिस समय गाँधीजी भारत आए और उन्होंने गोखले के सामने भारत में काम करने ी इच्छा प्रकट की, (उस समय वह दक्षिण अफ्रीका में कई साल तक सार्वजनिक काम कर ुके थे और सत्याग्रह चला चुके थे) तो उन्हें भी गोखले ने वैसा ही करने को कहा। गाँधीजी ने अपने गुरू के आदेश का पूरी तरह पालन किया और वह एक साल तक चुपचाप देश का ौरा करके देश की हालत का अध्ययन करते रहे।

3.4 गोखले के राजनैतिक दर्शन

गोपालकृष्ण गोखले भारतीय राजनीति के महान् उदारवादी नेता, व्यावहारिक आदर्शवादी और राजनीतिक पथ–प्रदर्शक थे। उन्होंने तत्कालीन राजनीति और प्रशासन में क्रमिक सुधारों का पक्ष लिया तथा एकाएक स्वशासन की माँग को अव्यावहारिक माना। रानाडे की तरह गोखले भी यह मानते थे कि भारत का भला इसी में है कि हम अंग्रेजों के साथ संबंध बनाए रखें। वह ऐसा सोचते थे कि भारत में अंग्रेजी राज से हमें दो बड़े फायदे हुए हैं। पहला यह कि सारा देश एक हो गया है, और दूसरा यह कि देश में लोकतंत्र का वातावरण तैयार हो रहा है। जिस तरह इग्लैण्ड के उदारवादी समाज सुधारक, गुलामों की आजादी और सारी जनता को वोट देने के अधिकार का समर्थन करते थे, उसी तरह रानाडे भी भारत के लोगों के लिए ऐसा ही चाह रहे थे। रानाडे और गोखले मानते थे कि समाज में ऊँच–नीच का भेदभाव नहीं होना चाहिए, सबको एक सा न्याय मिलना चाहिए और सब पर एक सा कानून लागू होना चाहिए। उनकी राय थी कि जनता को स्वतंत्रता और समानता प्राप्त करने के लिए कानूनी ढ़ंग से आन्दोलन करने का अधिकार है। त्र्यम्बक रघुनाथ देवगिरीकर के शब्दों में, "शासन तन्त्र के विरुद्ध युद्ध करते समय गोखले ने वैधानिक मार्ग अपनाया। उनका प्रयास यह था कि तथ्यों तथा तर्कों को अपनी बात का आधार बनाया जाए और समझा–बुझाकर उन लोगों के विचार बदले जाऐं जिनका कुछ महत्व है।[3] अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए उन्हें सांविधानिक संघर्ष के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय रूचिकर न लगा। वे सार्वजनिक जीवन का आध्यात्मीकरण करना चाहते थे। उनकी धार्मिक प्रवृत्ति और साधुवृत्ति के कारण ही महात्मा गाँधी ने उन्हें अपना राजनीतिक गुरू माना।

रानाडे और गोखले नरम दली (मॉडरेट) कहलाते थे। ये लोग यह चाहते थे कि अंग्रेजों के साथ लड़ाई मोल लेने की बजाय उनके साथ समझौता करके एक–एक कदम आगे बढ़ना चाहिये। उनका ख्याल था कि भारत से अंग्रेजों को एकदम से निकलना संभव नहीं है। इसीलिए भारत के लोगों को पहले सरकारी नौकरियों और कौंन्सिलों में अपने लिए जगह माँगनी चाहिए और इसके साथ–साथ समाज को भी सुधारना चाहिए।

भारत के तत्कालीन उदारवादियों को ब्रिटिश शासन में दो कारणों से गहरा विश्वास था– एक तो ब्रिटिश शासन की न्यायप्रियता का विचार और दूसरे ब्रिटिश शासन की [illegible] संस्थानों तथा शिक्षण–पद्धति के प्रति आकर्षण। उदारवादी चिन्तन का यह विश्वास [illegible] कृष्ण गोखले में मुखरित हुआ। मानव–स्वभाव की अच्छाई में विश्वास रखने वाले गोखले यह मानते थे कि अन्ततः एक नवीन अंग्रेज राजनीतिज्ञता का उदय होगा जो भारत के साथ न्याय करेगी। पूना काँग्रेस–अधिवेशन में उन्होंने कहा था, "अच्छे अथवा बुरे के लिए हमारा भविष्य और हमारी आकांक्षाऐं ब्रिटेन के साथ जुड़ गई हैं और कांग्रेस उन्मुक्त रूप से यह स्वीकार करती है कि हम जिस प्रगति की आकांक्षा करते हैं वह ब्रिटिश शासन की सीमाओं में ही है।"[6]

गोपाल कृष्ण गोखले व्यावहारिक बुद्धि के धनी थे। वे ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासकों की न्याय और उदारता की भावना को उकसा कर उन्हें भारत को अपने साम्राज्य के भीतर ही स्वशासन देने को तैयार करना चाहते थे। उनका विचार था कि उग्रवादी साधनों से भारत का अहित ही होगा, आवश्यकता यह है कि उदारवादी अंग्रेजों के साथ उदारवादी भावना से काम किया जाए। "वे कहा करते थे कि इस मनोवैज्ञानिक विधि से कार्य करके ही ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न की जा सकती है कि अंग्रेज तथा भारतवासी दोनों अपने हितों को एकरूप समझने लगें।"[7] रानाडे की तरह गोखले ने भी प्रजातीय साम्राज्यवाद की आलोचना की। समकालीन उदारवादियों की भाँति गोखले भी भारत के लिए ब्रिटिश शासन के कल्याणकारी स्वरूप में विश्वास करते थे। ब्रिटेन के साथ सम्पर्क बनाए रखने से भारतीयों की बौद्धिक प्रतिभा चमकेगी, दृष्टिकोण विकसित होगा और भावी भारत के निर्माण का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा। पाश्चात्य शिक्षा की प्रशंसा करते हुए उन्होंने देशवासियों के नैतिक, बौद्धिक और शारीरिक योग्यताओं के विकास पर बल दिया। हिन्दू–मुस्लिम एकता को भारत राष्ट्र के लिए कल्याणकारी माना। ब्रिटिश शासन और ब्रिटिश–भारत सहयोग में आस्था के बावजूद गोखले ब्रिटिश शासकों के साम्राज्यवादी रवैए की निर्भीक आलोचना करने से पीछे नहीं हटे। उन्होंने भारतवासियों को उत्तरदायित्व के पदों से वंचित रखने तथा भारत के प्रति शोषणवादी अर्थनीति की भी आलोचना की। उन्होंने नौकरशाही के हाथों में शक्ति के विकेन्द्रीकरण की बुराइयों को प्रकट किया।

3.5 भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस में गोखले की भूमिका

देशप्रेम की प्रेरणा गोखले को तिलक, आगरकर, फिरोजशाह मेहता तथा दादाभाई नैरोजी से मिली। लेकिन गोखले को राजनीतिक कार्य की शिक्षा–दीक्षा मुख्यतः रानाडे और रावबहादुर जोशी से मिली। जोशीजी धार्मिक मामलों और खेती के मामले में विशेषज्ञ थे। गोखले ने सार्वजनिक अर्थशास्त्र का ज्ञान उन्हीं से प्राप्त किया। इन्होंने गोखले को सिखाया कि सरकारी प्रतिवेदनों को पढ़कर उनपर किस तरह टीका–टिप्पणी करनी चाहिए। गोखले का राजनीतिक जीवन तो वास्तव में तभी शुरू हो गया था जब वह न्यू इंगलिश स्कूल में अध्यापक बने। तिलक और आगरकर के राजनीतिक कार्यों को वह बहुत बारीकी से समझने की कोशिश किया करते थे। उनके असली राजनीतिक जीवन की शुरूआत रानाडे के सम्पर्क में आने के बाद हुई। रानाडे ने राजनीतिक कार्यों के लिए 'सार्वजनिक सभा' नामक संस्था बनाई थी। उन दिनों पूना और बम्बई में राजनीतिक और सामाजिक कार्यों को मुख्यरूप से 'सार्वजनिक सभा' ही चलाती थी। 1890 में गोखले इस 'सार्वजनिक सभा' के मंत्री बने और साथ–साथ उनकी त्रैमासिक पत्रिका 'सुधार' के सम्पादक भी। इन पदों पर वह 1896 तक काम करते रहे। इसी वर्ष 'सार्वजनिक सभा' तिलक और उनके मित्रों के हाथों में चली गई और रानाडे तथा गोखले उससे अलग हो गए। गोखले ने उसी वर्ष रानाडे की सहायता से डेकन सभा (दक्षिण सभा) का संगठन बनाया और स्वयं इस सभा के पहले मंत्री बने। 1885 में देश के विभिन्न सार्वजनिक संस्थाओं और उनके कार्यकर्त्ताओं को मिलाकर राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना की गई। 1889 में बम्बई में काँग्रेस का पाँचवाँ अधिवेशन हुआ। इसमें गोखले और तिलक ने मिलकर यह माँग रखी कि केन्द्रीय

ौंसिल के सदस्यों का चुनाव प्रान्तीय कौंन्सिलों द्वारा कराया जाना चाहिए। बाद में सरकार । इस माँग को मान लिया। 1902 के बाद अपनी मृत्यु के समय तक गोखले केन्द्रीय कौंन्सिल के सदस्य चुने जाते रहे। गोखले ने अपने भाषण में ब्रिटिश नौकरशाही की कड़ी आलोचना की और कहा कि उसने महारानी विक्टोरिया के इस वचन का पालन नहीं किया है कि भारत के लोगों को अंग्रेजों के समान ही समझा जाएगा। गोखले के इस ओजस्वी भाषण से बड़े–बड़े नेता ाफी प्रभावित हुए। 1896 में ब्रिटिश सरकार ने भारत के शासन पर होनेवाले खर्च को ब्रिटेन और ारत सरकारों के बीच सही रीति से बाँटने के तरीके का सुझाव देने के लिए लार्ड वेल्बी की ाध्यक्षता में एक आयोग गठित किया। काँग्रेस ने दिनशा वाचा, डेकन सभा ने गोखले को अपना तिनिधि बनाकर अपना–अपना विचार आयोग के समक्ष रखने हेतु लन्दन भेजा। आयोग के ामने गवाही देने हेतु सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गणपति सुब्रह्मण्य अय्यर आदि नेता भी गये। भारतीय ताओं में सबसे अधिक समय तक बोलने का मौका गोखले को ही दिया गया और उनके यक्तव्य तथा सवाल–जवाब को 186 पृष्ठों की एक पुस्तिका में प्रकाशित किया गया। वेल्बी ायोग के सामने गोखले के व्यक्तव्यों की रानाडे और तिलक दोनों ने भूरि–भूरि सराहना की। ुणा के प्लेग मामले में जब अपने मित्रों के कारण गोखले की बदनामी हुई तो रानाडे के कहने र उन्होंने ब्रिटिश सरकार से माफी माँग ली। कई काँग्रेसी नेता भीतर से उनसे नाराज हो गये ा। प्लेग के पुनः फैलने पर यह अपना सारा अपमान भूल कर लोगों की सेवा में जुट गए। र–घर जाकर उन्होंने लोगों की मदद की, जिससे उनकी निस्वार्थ सेवा को देखकर जनता ही हीं सरकार ने भी उनका आदर किया। इसके अलावा सर विलियम वैडरबर्न, काँग्रेस के संस्थापक ए0 ओ0 ह्यूम, रानाडे, दादाभाई और सुरेन्द्रनाथ जैसे नेताओं ने गोखले को ढ़ाढ़स धाया। बम्बई कौंन्सिल (विधान परिषद्) के सदस्य रहते हुए उन्होंने हमेशा जनता के हितों की ावाज उठायी। इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंन्सिल (केन्द्रीय विधान परिषद्) से फिरोजशाह हता के त्याग पत्र देने के बाद 1902 में गोखले को उनकी जगह चुन लिया गया। अपनी मृत्यु क वो इस कौंन्सिल के सदस्य बने रहे। गोखले गलत सरकारी नीतियों की खूब तीखी, मगर थ्यपूर्ण, आलोचना करते थे। कौंन्सिल में भाषण देने से पहले वह पूरी तैयारी कर लेते थे और ोशा सही तथ्य पेश करते थे। कौंन्सिल में उन्हें विरोधी पक्ष का नेता कहा जाता था।

नकी लोकप्रियता को देखते हुए 1904 में गोखले को काँग्रेस का मंत्री और 1905 में उन्हें काँग्रेस का अध्यक्ष बनाया गया। 1904 में काँग्रेस के बम्बई अधिवेशन के प्रस्ताव के मुताबिक इंग्लैण्ड के आम चुनावों के अवसर पर वहाँ की जनता को भारत की सही हालत बताने और उनके मन में भारत के प्रति सहानुभूति पैदा करने के लिए देश के प्रत्येक प्रान्त से कुछ प्रतिनिधि इंग्लैण्ड भेजे गये। बम्बई से गोखले को भेजा गया। उन्होंने पचास दिनों में वहाँ पर पैंतालीस सभाओं में भाषण दिये। इंग्लैण्ड की जनता उनके भाषणों से बहुत प्रभावित हुई क्योंकि वो अपने भाषणों में सरकारी प्रतिवेदनों से सबूत देते थे।

3.6 गोखले के विचारों में स्वशासन की अवधारणा

समकालीन उदारवादी नेताओं की भाँति गोखले भी ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत भारत के लिए स्वशासन चाहते थे। रानाडे की तरह वो भी ब्रिटिश शासन को ईश्वरीय देन मानते थे जिससे पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद भारतीयों के लिए अहितकर था। ब्रिटिश नौकरशाही के फलस्वरूप प्रशासन में जो आर्थिक और अन्य दोष प्रवेश कर गए थे, उनका निराकरण स्वशासन द्वारा ही हो सकता था। स्वशासन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए गोखले ने कहा था– "ब्रिटिश अभिकरण के स्थान पर भारतीय अभिकरण को प्रतिष्ठित करना, विधान–परिषदों का विस्तार और सुधार करते–करते उन्हें वास्तविक निकाय बना देना और जनता को सामान्यतः अपने मामलों का प्रबन्ध स्वयं करने देना।" सन् 1905 में बनारस काँग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में गोखले ने कहा था, "काँग्रेस का लक्ष्य यह है कि भारत भारतीयों के हितों का ध्यान में रखते हुए प्रशासित होना चाहिए। एक निश्चित

समयावधि में भारत में ऐसी ही सरकार गठित होनी चाहिए जैसी कि ब्रिटिश साम्राज्य की अन्य स्वशासित उपनिवेशों की सरकार है।" गोखले ने स्वशासन को भावात्मक आवश्यकता और नैतिक तथा राजनीतिक उपलब्धि माना। उन्होंने कहा कि लार्ड कर्जन ने भारत पर उसी तरह का तानाशाही शासन किया है, जिस तरह औरंगजेब ने किया था। लेकिन इसके साथ ही उन्होंने नए वायसराय लार्ड मिन्टो का भारत में स्वागत भी किया और प्रिन्स ऑफ वेल्स के भारत आगमन का समर्थन किया। बनारस काँग्रेस की अध्यक्षता करते हुए उन्होंने सरकार से नौ तात्कालिक माँगें प्रस्तुत की जो निम्न निम्नलिखित हैं–[8]

1. विधान–परिषदों का सुधार किया जाए, उनके लिए निर्वाचित सदस्यों का अनुपात बढ़ाकर आधा कर दिया जाए तथा ऐसी व्यवस्था की जाए कि बजट परिषदों द्वारा ही पारित किए जाऐं,
2. इण्डिया कौन्सिल में कम से कम तीन भारतीय सदस्य नियुक्त किये जाऐं,
3. देश के सभी जिलों में सलाहकार परिषदों की रचना की जाए और जिलाधीश प्रशासन के महत्वपूर्ण मामलों में अनिवार्य रूप से इन परिषदों की राय लें,
4. भारतीय लोक सेवाओं की न्यायिक शाखा के लिए नियुक्तियाँ वकील वर्ग में से की जाऐं,
5. न्यायिक तथा कार्यपालिका विभागों का पृथक्करण,
6. भारी सैनिक व्यय में कटौती,
7. प्राथमिक शिक्षा का प्रसार,
8. औद्योगिक तथा प्राविधिक (तकनीकी) का विकास तथा प्रसार, और
9. देहाती जनता को ऋण के बोझ से राहत देना।

3.7 गोखल एवं राजनीतिक पद्धति

ये माँगें भारतीय मितवादियों के राजनीतिक दर्शन का सारांश प्रकट करती हैं। सन् 1907 में इलाहाबाद में दिए गए अपने एक भाषण में उन्होंने कहा था, "मेरी आकांक्षा है कि मेरे देशवासियों की स्थिति अपने देश में वैसी ही हो जैसी कि अन्य लोगों की अपने देश में है। मैं जाति या सम्प्रदाय के भेदभाव से परे प्रत्येक नर–नारी के पूर्ण विकास का समर्थक हूँ। मैं चाहता हूँ कि उन पर किसी प्रकार के अप्राकृतिक प्रतिबन्ध न लगाए जायें। मैं चाहता हूँ कि भारत विश्व के महान राष्ट्रों में राजनीतिक, औद्योगिक, धार्मिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक और कला के क्षेत्र में अपना उपयुक्त स्थान ग्रहण करे। मेरी आकांक्षा यही है कि ये सभी आदर्श ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत ही प्राप्त हों।"[9]

गोखले का संवैधानिक साधनों तथा वैधानिक आन्दोलन में अडिग विश्वास था। वे उग्र विचारों और साधनों तथा असंवैधानिक मार्ग के विरुद्ध थे, वे संवैधानिक तरीकों से ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत स्वशासन के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते थे। संवैधानिक साधनों के प्रयोग का एक बड़ा लाभ यह था कि इससे भारतीयों को अंग्रेजों की सहानुभूति से वंचित नहीं होना पड़ेगा। यदि उग्रवादी या आतंकवादी साधनों का आश्रय लिया गया तो भारतीयों को ब्रिटिश जनता से समर्थन नहीं मिल सकेगा और यह स्थिति तत्कालीन परिस्थितियों में भारतीयों के लिए अहितकर होगी। 4 जनवरी, सन् 1907 को इलाहाबाद में अपने एक भाषण में गोखले ने संवैधानिक आन्दोलन (constitutional agitation) का अभिप्राय एक ऐसा आन्दोलन बताया जिसमें संवैधानिक सत्ताओं (constituent authorities) की कार्रवाई द्वारा ही वांछित परिवर्त्तन लाने का प्रयास किया जाता है।[10] संवैधानिक आन्दोलन में हिंसा, विद्रोह सशस्त्र क्रान्ति अथवा विदेशी आक्रमण को

हायता या आमन्त्रण आदि की पद्धतियों को कोई स्थान नहीं मिलता। संवैधानिक पद्धति के न्तर्गत आते हैं– याचिकाऐं, न्याय के लिए प्रार्थना, निर्वाचन प्रतिनिधियों द्वारा पारित प्रस्ताव ार यहाँ तक कि विरोध स्वरूप करों को न चुकाना आदि। संवैधानिक सत्ताओं (constituent uthorities) द्वारा ही शिकायतें दूर करवाने का प्रयत्न होना चाहिए, और इसके लिए निराशाओं वावजूद, उन सत्ताओं पर निरन्तर दवाव डालते रहना चाहिए, पर यह दवाव प्रभावशाली तभी गा जब उसके पीछे लोकमत की शक्ति और उसका दृढ़ निश्चय होगा। यद्यपि संवैधानिक न्दोलन में निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive resistance) को शामिल किया जाता है, लेकिन गोखले जिस संवैधानिक आन्दोलन में निष्ठा प्रकट की उसमें निष्क्रिय प्रतिरोध को सम्मिलित नहीं ख्या गया। गोखले के अनुसार उग्रवादियों द्वारा प्रस्तावित व्यापक वहिष्कार जैसा कदम वैधानिक था, लेकिन अपने उग्र स्वरूप के कारण तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल और द्धिमत्तापूर्ण नहीं था क्योंकि इसके द्वारा सरकारी सहयोग और सहानुभूति प्राप्त नहीं हो सकती ो। राजनीतिक प्रगति के मार्ग पर सरकार के साथ सहयोग करके ही आगे वढ़ना सम्भव था। खले के मार्ग को उनके विरोधियों ने 'भिक्षावृत्ति' (Mendicancy) का नाम दिया। यह आरोप नुचित था, क्योंकि गोखले ने भिक्षावृत्ति का नहीं वरन् आत्मनिर्भरता और बलिदान का सन्देश या था। रानाडे की तरह उन्होंने भी सत्ता के विकेन्द्रीकरण करने की बात को आगे बढ़ाया।

पालकृष्ण गोखले भारत में वित्तीय, प्रशासकीय और आर्थिक सुधारों के जवरदस्त समर्थक थे। न्होंने ब्रिटिश सरकार पर भारत के भौतिक और नैतिक उत्थान के लिए सुधारात्मक कदम उठाने लिए दवाव डाला। अपने वजट भाषणों में सरकार की दोषपूर्ण नीतियों की खुलकर आलोचना रते हुए उन्होंने सरकार के समक्ष रचनात्मक सुझाव पेश किए। आर्थिक पक्ष में, उनका विचार ा कि बढ़ते हुए सैनिक व्यय (Growing Military Expenditure) और बढ़ते हुए गृह–व्यय ncreasing Home Charges) के फलस्वरूप ब्रिटिश शासन ने भारतीयों के जीवन स्तर को ऊँचा ठाने पर कोई ध्यान नहीं दिया है और इस प्रकार भारत के लिए विनाशकारी परिणामों को पस्थित कर दिया है। 1905 में लन्दन के न्यू रिफार्म क्लब में दिए गए अपने एक भाषण में खले ने राजनीतिक पक्ष में ब्रिटिश नौकरशाही व्यवस्था के दोषों की ओर संकेत किया। उन्होंने हा कि इस नौकरशाही के तीन मुख्य दोष हैं––

> यह व्यवस्था अत्यधिक केन्द्रीकृत है और चूँकि चोटी के अधिकारी देश में केवल थोड़े ही समय के लिए भेजे जाते हैं, अतः वे जनता की आकांक्षाओं और अभिरुचियों से भलीभाँति परिचित नहीं हो पाते।
>
> भारतीय शिक्षित वर्ग को सत्ता से बाहर रखना असंतोषजनक है, एवं
>
> अधिकारी प्रत्येक प्रश्न पर अपनी सत्ता क हितों की दृष्टि से विचार करते हैं, तथा लोगों के हितों को गौण समझते हैं।

906 में ही गोखले ने भारत मंत्री मॉर्ले तथा अन्य ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के सामने यह बात स्पष्ट ही थी कि भारत में राजनीतिक सुधार बहुत जरूरी है। उन्होंने उस समय यह माँग भी की कि लॉर्ड कर्जन ने बंगाल का बँटवारा करके देश की भावनाओं को जो ठेस पहुँचाई है, उसका पचार करने के लिए बंगाल को फिर से प्राप्त बना दिया जाना चाहिए। गोखले पाँच वार मॉर्ले मिले और उसके मन पर अपनी ईमानदारी, योग्यता, गंभीरता और देशभक्ति की गहरी छाप ोड़ी। उन्के प्रयत्नों से ब्रिटिश सराकार ने मॉर्ले–मिन्टो सुधारों की घोषणा की। सरकार ने ोखले आदि नेताओं के सुझावों को तोड़–मरोड़कर महत्वहीन कर दिया था। सुधारों की घोषणा कहा गया था कि केन्द्रीय सरकार में एक सर्वोच्च विधान–परिषद् बनाई जाएगी। मगर इसमें ारत के लोगों के लिए खुश होने की कोई वात न थी, क्योंकि सरकार ने तय कर लिया था क उस विधान–परिषद् से सरकारी सदस्यों का बहुमत रहेगा। इतना ही नहीं, गैर–सरकारी ोगों के लिए जो 60 स्थान रखे गये थे, उनमें से केवल 27 का चुनाव होना था, बाकी को सरकार नामजद करती। मुसलमानों के लिए अलग चुनाव की योजना का कॉंग्रेस ने अपने

अधिवेशन (1909) में विरोध किया। 12 दिसम्बर, 1911 को दिल्ली में सम्राट जार्ज पंचम ने अपने राज्याभिषेक के अवसर पर घोषणा की कि भारत सरकार की राजधानी कलकत्ता से हटाकर दिल्ली लाई जाएगी और बंगाल को फिर से एक कर दिया गया है।

गोपाल कृश्ण गोखले के वहिष्कार सम्बन्धी विचारों पर देवगिरीकर ने लिखा है, "बहिष्कार को वे एक ऐसा अस्त्र मानते थे, जिसका प्रयोग और कोई चारा बाकी न रहने पर ही किया जाना चाहिए। शासितों की शिकायतों की ओर शासकों का ध्यान आकृश्ट करने का यह एक उपयोगी साधन था। गोखले इसे विधि–हथियार मानते थे। इसे काम में लाने से पहले यह आवश्यक था कि सभी ओर किसी सामान्य संकट का अनुभव किया जाए और सभी व्यक्तिगत मतभेद दूर कर लिए जायें।[11] गोखले स्वदेशी के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने इसे एक अमूल्य भावना के रूप मे स्वीकार किया। उन्होंने कहा, "स्वदेशी अथवा राष्ट्र प्रेम का दृष्टिकोण मानवता के हृदय में उत्पन्न एक परमोत्कृष्ट अथवा सुन्दरतम विचार है। मातृभूमि के लिए त्याग सर्वोत्तम स्वदेशी भावना है। स्वदेशी विचार का यह प्रभाव होता है कि प्रत्येक व्यक्ति देश की सेवा में लग जाता है। गोखले ने रानाडे तथा गाँधी की तरह हथकरघा उद्योग का पुनरूत्थान करने और उसे आधुनिक रूप देने के महत्व पर बहुत जोर दिया, ताकि किसानों को अतिरिक्त आय हो सके।[12] गोखले के लिए स्वदेशी आन्दोलन एक देशभक्तिपूर्ण राजनीतिक और आर्थिक आन्दोलन था। अधिक व्यावहारिक रूप में यह आर्थिक ही था। गोखले के अनुसार भारत की मुख्य समस्या उत्पादन के लिए पूँजी और साहस की कमी थी और यदि देश का भी कोई व्यक्ति या संगठन भारत में उत्पादन वृद्धि के उद्देश्य से पूँजी और साहस लगाता है तो उसे भी स्वदेशीवाद की ही संज्ञा दी जानी चाहिए।

गोखले को मानव प्रकृति के लिए स्वतन्त्रता की अनिवार्यता में गहरा विश्वास था। उन्होंने लॉर्ड कर्जन के प्रशासन की इसलिए कटु आलोचना की थी कि उसने कुशलता के लिए स्वतन्त्रता का बलिदान करने की नीति अपनाई थी। भारत की पराधीनता से उन्हें मार्मिक कष्ट था। उनका ब्रिटिश राजनीतिज्ञों से आग्रह था कि वे भारत पर इस तरह शासन करें कि भारतवासी पश्चिम के उच्च आदर्शों के अनुसार स्वयं अपने पर शासन करने योग्य बन सकें। गोखले न्यायपालिका और कार्यपालिका की पृथकता के समर्थक थे। उनका कहना था कि दोनों के संयुक्त हो जाने से नागरिकों की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जाएगी। कर्जन के समय उन्होंने भारतीय विश्वविद्यालय विधेयक का विरोध किया जिसका उद्देश्य विश्वविद्यालयों पर सरकार के नियन्त्रण को बढ़ाना था। उन्होंने जीवनपर्यन्त सरकार के प्रत्येक दमनकारी प्रतिवन्धक कानून के विरोध में शक्तिशाली आवाज उठाई।

राष्ट्रीय एकता और सार्वजनिक नीति के आध्यात्मीकरण के विचारों को मूर्त्त रूप देने के लिए गोखले ने 12 जून, 1905 को 'भारत सेवक समाज' (Servants of India Society) नामक संस्था की स्थापना की। इसके संविधान की प्रस्तावना में ब्रिटिश सम्बन्ध को भारत के हित–साधन के लिए एक प्राकृतिक विधान मान लिया गया था। संविधान में चरित्र तथा क्षमता–निर्माण पर ज़ोर दिया गया और कहा गया कि सार्वजनिक जीवन का आध्यात्मीकरण अनिवार्य है। हृदय स्वदेशानुराग से इतना ओत–प्रोत हो जाना चाहिए कि उसकी तुलना में और सभी कुछ तुच्छ जान पड़ने लगे। गोखले सोचा करते थे कि यदि देश में थोड़े से ऐसे नवयुवक मिल जाऐं जो सादगी और गरीबी से रहने का व्रत लेकर अपना पूरा जीवन देश की सेवा में लगाने को तैयार हों, तो देश को गुलामी से छुड़ाया जा सकता है। 1897 में ही उनके मन में ऐसे देशभक्तों का एक संगठन बनाने का संकल्प जगा। इसके बारे में उन्होंने अपने सहयोगी और मित्र डा0 परांजपे से भी बातचीत की और 1904 में मद्रास की एक सार्वजनिक सभा में इस संकल्प को सबके सामने रख दिया। हालाँकि फिरोजशाह मेहता ऐसा नहीं चाहते थे फिर एक साल बाद इस संस्था का गठन कर दिया गया जो अभी तक जारी है।

। क सदस्य यह प्रतिज्ञा करते हैं कि हम हमेशा देश का हित--चिन्तन करेंगे, अपनी सारी देश की सेवा में लगायेंगे, देश--सेवा से हम किसी तरह का निजी लाभ नहीं उठाऐंगे, भारत ी लोगों को अपना भाई मानेंगे और जात--पाँत तथा धर्म व भेदभाव किए बिना सबकी ा के लिए काम करेंगे। वे यह भी प्रतिज्ञा करते हैं कि हम अपनी शक्ति को अपने परिवार ए पैसा कमाने के काम में नहीं लगायेंगे, अपना तथा अपने परिवार का गुजारा सोसाइटी र से मिलनेवाले भत्ते से करेंगे, हम शुद्ध जीवन बिताऐंगे, किसी के साथ झगड़ा नहीं करेंगे, समिति के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए काम करेंगे, और कभी भी कोई ऐसा काम नहीं करेंगे मिति के उद्देश्यों के विरुद्ध हो। गोखले ने इस संस्था के उद्देश्य ये रखे थे :-- सोसायटी दस्य इस ढंग से काम करेंगे और ऐसी बातें कहेंगे जिससे जनता के मन में सेवा और ान की भावना पैदा हो। यह संस्था लोगों को राजनीतिक शिक्षा देगी और देश के ातिक जीवन को मजबूत बनाएगी। सोसाइटी यह भी कोशिश करेगी कि देश में --अलग जातियों के लोगों के बीच भाईचारा और प्रेमभाव पैदा हो। यह सोसाइटी ऐसे काम में लेगी जिनसे पिछड़ी जातियों को आगे बढ़ने का अवसर मिल सके। सोसाइटी शिक्षा ाम भी देखेगी और स्त्रियों तथा पिछड़े हुए वर्गों की शिक्षा तथा औद्योगिक और वैज्ञानिक को बढ़ाएगी।

ोसाइटी का संगठन देश की स्वतंत्रता के लिए तथा गोखले के द्वारा किया गया जीवन त्यन्त महत्वपूर्ण कार्य था। इसके द्वारा उन्होंने श्रीनिवास शास्त्री, डा0 परांजपे और डा0 ाथ कुजरू जैसे देशभक्त तैयार किए। सोसाइटी की नियमावली से यह बात स्पष्ट है कि ो राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं के लिए गरीबी और सादगी को आवश्यक मानते थे। वह कहा थे कि जब तक हमारे देश का साधारण आदमी गरीब है, तब तक यह शोभा नहीं देता नता की सेवा करने वाले लोग देशसेवा के नाम पर ऐशोआराम करें और जनता की कमाई ा अपनी सुख--सुविधा पर गलत ढंग से खर्च करें। वह ऐसा मानते थे कि सेवक को स्वामी त् जनता) से ज्यादा ऊँचे ढंग से नहीं रहना चाहिए। उनकी इसी सीख को गाँठ बाँधकर ी देशसेवा के काम में उतरे थे और उन्होंने बेहद गरीबी तथा सादगी के साथ अपना सारा बिताया था। वह मिट्टी के झोंपड़ें में रहे और केवल लंगोटी बाँधकर और अपने हाथ से कातकर अपनी गुजर करते रहे। गोखले का मानना था कि सामाजिक और राजनीतिक र्त्ताओं को उसी भावना से काम करना चाहिए जैसे कि धार्मिक काम किए जाते हैं। इसके ही उन्होंने सोसाइटी की ओर से कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था भी की। उनका ा कि सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं को खूब योग्य होना चाहिए। वह नारेबाजी की राजनीति ोई महत्व न देते थे। गोखले की इस सोसाइटी से लाला लाजपतराय इतने प्रभावित हुए न्होंने भी इसके नमूने पर लाहौर में सर्वेंट्स ऑफ पीपल्स सोसाइटी का संगठन किया।

गोखले के आर्थिक संबंधी विचार

य अर्थव्यवस्था की राशिवृद्धि का परीक्षण करने और उसके नियम के उपाय सुझाने के नियुक्त वेल्बी--आयोग के समक्ष गोखले ने 1897 में जो लिखित और मौखिक साक्ष्य प्रस्तुत उससे स्पष्ट है कि भारत की वित्तीय समस्याओं की उनकी जानकारी कितनी गहरी और ामयिक थी। साक्ष्य में महत्व का प्रत्येक विभाग अंतर्भुक्त था। सैनिक--असैनिक दोनों के अर्थव्यय की राशिवृद्धि पर विद्यमान राजनीतिक व्यवस्था के अपकारक प्रभाव के प्रति ायोग का ध्यान उन्होंने आकृष्ट किया हीं, आयोग को यह सुझाना भी वे न भूले कि शिक्षण ान में अधिकारी कितने कृपण हैं। वर्तमान अर्थव्यय के विषय में लिखते हुए उन्होंने री टीप जड़ी कि "फलसे अनुमान लगाकर अपनी धारणा बनाने में जहाँ तक समर्थ हम के हैं, वहाँ तक दिखाई तो हमें यही पड़ता है कि जिन दूसरे देशों में समुचित सार्वजनीन ण हैं, उनमें राशिवृद्धि अर्थव्यय ने राष्ट्र की बढ़ी--चढ़ी बलवत्ता और बढ़ी--चढ़ी सुरक्षा ही

दी है, जनता को बढ़ी–चढ़ी ज्ञानदीप्ति और बढ़ी–चढ़ी समृद्धि ही दी है। इधर हमारा यह हाल है कि हमारा निरंतर राशिवृद्धि होता जा रहा अर्थव्यय, हमारे ख्याल से, एकतंत्री प्रबन्ध व्यवस्था, सदोष सांविधानिक नियंत्रण और परकीय अधीनता के जन्मजात दोषों के कारण ही बस यही कर पाया है कि हमारे साधनों के निरंतर–वर्तमान दोहन को बढ़ावा देता रहा है, हमारी भौतिक प्रगति की बाढ़ मारी है, हमारे प्राकृत कवज जर्जर किए हैं तथा अनिश्चित, अनिर्धारित, अपरिभाषित और असीम वित्तीय देनदारियाँ हमपर लाद–लादकर हमारी कमर टेढ़ी कर दी है।"[13] भारत में शिक्षण की जो निर्गति है, उसकी विरोध–तुलना इंग्लैण्ड में घटमान खरकी दर से प्रगति से करके उन्होंने बताया कि इधर तो 1891–92 और 1894–95 ई0 के बीच भारत का शिक्षण–व्यय दो लाख से थोड़ा–सा ही अधिक बढ़ा है और उधर ग्रेटब्रिटेन और आयरलैंड का साढ़े छह करोड़ से बढ़कर साढ़े तेरह करोड़ हो गया है। इस विकासावधि में वित्तीय प्रश्नों और दूसरी महत्वपूर्ण समस्याओं का जैसा सावधान और सर्वग्राही उन्होंने किया, उसी ने पाँच वर्ष बाद सर्वोच्च विधान–परिषद् के सदस्य के रूप में अपनी विशेष योग्यता की छाप लगाने में उन्हें समर्थ किया।

जिरह में वे ऐसे साबित हुए कि उनका कमाल देखकर बेंडर्बर्न और केन् दोनों ने उनका अभिनन्दन किया। बेंडर्बर्न ने कहा कि उत्तमता में आपका साक्ष्य "अपने पक्ष के बढ़िया से बढ़िया साक्ष्य से भी बहुत दूर आगे निकल गया है।" केन् ने उनके नाम पत्र लिखा कि जितने भी विषयों का समावेश इस साक्ष्य में हुआ है, उनमें से किसी एक के भी निर्वहण में किसी शिक्षित भारतीय सुधारक के विचारों का आपका–सा विदग्ध और आपका–सा अभिभूतिकर प्रस्तुतीकरण कम–से–कम मैंने तो कभी नहीं देखा–सुना है।[14] दादाभाई नौरोजी, सर विलियम बेंडर्बर्न और डब्ल्यू0 एस0 केन् ने जो 'अल्पमत–प्रतिवेदन' उपस्थापित करने का निश्चय किया था, उसका प्रथम प्रारूप तैयार करने का काम गोखले को सौंपकर उन्होंने गोखले की इसी आप्रतिमता के प्रति अपनी श्रद्धा का निवेदन किया था। बम्बई विधान–परिषद् के सदस्य के रूप में उनकी सर्वाधिक ख्याति 1903 ई0 के बम्बई मालगुजारी "विधेयक" पर उनकी गहन और ओजस्वी आलोचना को लेकर है। उनका भाषण पढ़कर सर दिनशा वाचा ने पत्र लिखा, "धीर और वैज्ञानिक उद्यम के कैसे चमत्कार हैं आप भी।"[15]

सर्वोच्च विधान–परिषद् में अपने प्रथम बजट भाषण (1902) के जरिये पूरे देश का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। भारतीय वित्त–व्यवस्था का जैसा प्रवीण विश्लेषण और जनता के आर्थिक और सामाजिक योगक्षेम से संबद्ध समस्याओं का जैसा पारंगत प्रतिपादन उन्होंने किया, वैसा किसी और से नहीं हो सका। रूपये के क्षीयमाण विनिमय–मूल्यमान के नाम पर थोंपा गया और उसके एक शिलिंग चार पेन्स के मानपर स्थिर हो चुकने के बाद भी जहाँ का जहाँ बनाये रखा गया कराधान, नमक चुंगी ('नमक–कर') गाँवों की जनता की दरिद्रता, कृषि का ऋणभार, कृषि की असंतोषकर दशा, औद्योगिक शिक्षण और कृषि शिक्षण की समस्या, आम जनता का शिक्षण, वृद्धिमान सैनिक अर्थव्यय, सबकी खबर उन्होंने उस भाषण में ली थी। शिक्षण, जलापूर्ति, आरोग्य प्रबन्ध तथा जनता की नैतिक और भौतिक दशा सुधारने की योजनाएँ अविलंब लगाने पर वो सबसे अधिक जोर देते थे। मार्च, 1906 के बजट भाषण में वे सामान्य जनगण के उन्नयन के उपाय अपनाने के लिए सरकार के पीछे पड़े। लगभग प्रत्येक भाषण में वे जनता की 'गहरी और गहराती' दरिद्रता सविस्तार निरूपण किया करते थे। उन्होंने भूमि से सरकारी अनुयोग की सीमन की आतुर आवश्यकता, स्थायी बंदोबस्त, ग्रामीण ऋणग्रस्तता के उन्मूलन, किसानों के लिए सस्ते कर्ज की व्यवस्था, उन्नत वैज्ञानिक कृषि–प्रणाली के सूत्रपात आदि का निरूपण विस्तार से किया। नमक–चुंगी घटाने में भी उन्हें सफलता मिली। 1902 में यह चुंगी ढाई रूपये मन लगती थी जो उनके प्रयास से घटकर रूपये मन हो गयी। वे फाउसेट के इस मत के पोषक थे कि जीवन की 'आदिम साधन–सामग्री' होने के कारण नमक भी 'उतना ही मुक्त' होना चाहिए 'जितनी मुक्त हवा' होती है। उन्होंने कहा सैनिक अर्थव्यय घटाने पर करों का परिहार भी संभव होगा, राष्ट्रनिर्माण के कार्यक्रमों पर काफी बढ़ा–चढ़ा तगड़ा अर्थव्यय भी। इसीलिए उन्होंने

ई0 से 1909 ई0 तक संभवतः प्रतिवर्ष सैनिक अर्थव्यय की जाँच बड़ी ही गहराई और
ा से की। 1907–1908 में इंग्लैंड और रूस के बीच संधि होने पर भी ब्रिटिश अधिकारियों
य–नीति में कोई परिवर्तन नहीं किया। सरकार पर गोखले का अभियोग था कि
ना–व्यवस्था' को वह जनता के प्रति अविश्वास की नीति के आधार पर चलाती थी।
र प्रजा के लिए सैनिक के पेशे का निषेध है।

ने भारत की निर्धनता पर चिन्तन किया और उसका एक बड़ा कारण यह बताया कि
काल में भी सामरिक स्तर पर एक विशाल यूरोपीय सेना के व्यय एवं उनके यूरोपीय
ारियों के ऊँचे–ऊँचे वेतन चुकाने का भार भारत सहन कर रहा था। उनका मत था कि
में रेल–निर्माणों का विस्तार शोषण के लिए किया जा रहा है। यद्यपि रेलों के कारण
-व्यवस्था में सुधार हुआ है और अकालग्रस्त क्षेत्रों में भोजन आदि पहुँचाने में रेलें उपयोगी
तथापि उनका विस्तार वस्तुतः मानवोचित कारणों से नहीं बल्कि व्यावसायिक कारणों
त है। देश के आन्तरिक यातायात की अपेक्षा दूसरे देशों में कुछ बड़े पैमाने पर अनाज
च्चा माल भेजने के लिए ही रेलों का अधिक प्रयोग हो रहा है। भारत से बाहर भेजी
ली सामग्री के बदले में विदेशों से बना सस्ता और अनावश्यक जो सामान भारत में आता
के वितरण में रेलें सहयोग दे रही हैं। आयात किया गया यह माल स्वदेशी उद्योगों का
र रहा है और दस्तकारों तथा छोटे शिल्पकारों को पुनः कृषि–कार्य के लिए विवश कर
। निर्बन्ध व्यापार से भारत के उद्योगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। विदेशी व्यापारियों
जाने वाली अधिकाधिक रियायतों और सुविधाओं के कारण रेलों को घाटा हो रहा है।[17]
ने कहा कि लोगों के कल्याण–कार्यों का भार प्रान्तों पर है, लेकिन राजस्व का अधिकांश
न्द्रीय सरकार हड़प लेती है। यह स्थिति अनुचित है।

गोखले एवं गाँधी

की ही तरह अफ्रीका में भी यूरोपी गोरों का ही शासन था। पूरे अफ्रीका को यूरोप के देशों
स में बाँट लिया था। दक्षिण अफ्रीका में ब्रिटेन के गोरों का शासन था। वहाँ तीन प्रकार
ा रहते थे– दक्षिण अफ्रीका के मूल निवासी (बंटू एवं हब्शी), दूसरे गोरे अंग्रेज और तीसरे
ा, जिन्हें अंग्रेज या तो भारत से मजदूर बनाकर ले गए थे, या वहाँ व्यापार और वकालत
के लिए बसे थे। दक्षिण अफ्रीका के गोरे शुरू से ही वहाँ के काले अफ्रीकियों और
ों के साथ बुरा वर्ताव करते आ रहे थे। जिन दिनों गोखले भारत में शासन सुधारों के
यत्न कर रहे थे, उन दिनों गाँधीजी लन्दन से बैरिस्टरी पास करके वकालत जमाने के
से भारत पहुँचे थे। मगर यहाँ उनका धन्धा कुछ ठीक से न जम पाया और वह दक्षिण
ा के कुछ प्रसिद्ध व्यापारियों के निमन्त्रण पर वकालत करने के लिए वहाँ चले गए। वहाँ
देखा कि गोरे भारतीयों के साथ बहुत बुरा व्यवहार करते हैं। इससे उनको बहुत दुःख
ार उन्होंने वकालत का धन्धा छोड़कर गोरों के अन्याय और अत्याचारों के विरुद्ध लड़ाई
। 1896 में गाँधीजी को लगा कि भारतीय प्रवासियों पर दक्षिण अफ्रीका में जो जुल्म हो
उसके खिलाफ ठोस कारवाई करने के लिए जरूरी है कि भारतीय नेताओं का सहयोग
मर्थन प्राप्त किया जाए। उसी वर्ष वो भारत आकर गोखले तथा तिलक जैसे बड़े नेताओं
र्थन प्राप्त करने में कामयाब रहे। 1909 के लाहौर काँग्रेस अधिवेशन में गोखले ने दक्षिण
ा में बसे भारतीयों के बारे में एक प्रस्ताव रखा तथा दक्षिण अफ्रीका में महात्मा गाँधी द्वारा
यों की काफी प्रशंसा की। गोखले ने 25 फरवरी, 1910 को कौन्सिल में यह प्रस्ताव
ख रखा कि अभी तक नेटाल (दक्षिण अफ्रीका का एक नगर) भेजने के लिए भारतीय
की जो भर्ती की जाती रही है, उस पर रोक लगा देनी चाहिए। भारत की अंग्रेज सरकार
ा कि अगर हम इस मामले में दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों का पक्ष लेते हैं तो भारत की
हमसे खुश हो जाएगी। यह सोचकर उसने भी गोखले के प्रस्ताव का समर्थन किया।

इससे दक्षिण अफ्रीका की सरकार कुछ मुलायम पड़ी, क्योंकि वहाँ भारतीय मजदूरों के बिना गोरे न तो खेती कर सके थे, न उद्योग–धन्धे चला सकते थे और न खदानें ही खोद सकते थे। 11 फरवरी, 1911 को दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने भारतीयों को कुछ सुविधाएँ देने के लिए एक बिल प्रकाशित कराया, लेकिन भारतीयों को इससे संतोष न हुआ।

दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की हालत दिनों–दिन बिगड़ती जा रही थी। गाँधीजी चाहते थे कि गोखले खुद वहाँ जाकर सारी स्थिति को अपनी आँखों से देखें और उसका सही चित्र भारत की जनता, सरकार और ब्रिटेन की सरकार के सामने रखें, क्योंकि भारत और दक्षिण अफ्रीका दोनों देशों की सरकारें, ब्रिटेन की सरकार के अधीन थीं। 1911 में अपनी इंग्लैण्ड यात्रा के साथ–साथ गोखले ने दक्षिण अफ्रीका जाने का भी कार्य–क्रम बनाया। भारत मंत्री ने गोखले को उनकी दक्षिण अफ्रीका यात्रा में मदद तथा सुविधाएँ देने का वादा किया। 22 अक्टूबर, 1912 को गोखले जब केप टाउन पहुँचे तो दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार ने भी उनका स्वागत किया। वहाँ से जोहान्सबर्ग गए जहाँ गाँधीजी का सत्याग्रह आन्दोलन चल रहा था। यहाँ उनके सम्मान में एक विशाल स्वागत समारोह किया गया। इसकी अध्यक्षता नगर के गोरे मेयर ने स्वयं की। रंग–भेद नीति के बावजूद गोखले के सम्मान में जो भोज दिया गया उसमें काले और गोरे लोगों ने साथ–साथ भोजन किया। दक्षिण अफ्रीका में इस प्रकार के सहभोज का यह पहला और आखिरी अवसर था। उसके बाद तो वहाँ की गोरी सरकार ने जातीय–पृथक्करण कानून ही बना दिया और गोरों तथा कालों के मिलने–जुलने पर कानूनी रोक लगा दी। गोखले जी प्रिटोरिया पहुँचे और जनरल स्मट्स से भारतीयों की भलाई हेतु बातचीत की। गोरे अधिकारियों ने गोखले को वचन दिया कि भारतीयों से वसूल किया जाने वाला तीन पौंड का कर हटा लिया जाएगा और उनसे छीने अधिकार भी उन्हें वापिस दे दिए जाएँगे। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी कहा कि दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के बसने पर लगी सभी पाबंदियों को दूर कर दिया जाएगा। गोखले को गाँधीजी के आश्रम तालस्ताय फार्म में भी ठहरने का मौका लगा। दक्षिण अफ्रीका की यात्रा पूरा कर गोखले 17 नवम्बर को भारत रवाना हुए। अपनी यात्रा के दौरान गोखले ने गाँधीजी से भारत चलकर स्वाधीनता संग्राम का नेतृत्व करने के लिए भी कहा। गोखले की नजर में गाँधीजी इस काम के लिए हर दृष्टि से उपयुक्त व्यक्ति थे। उन्होंने गाँधीजी को भारतीय राजनीति और भारतीय नेताओं के बारे में बहुत विस्तार से बताया।

दक्षिण अफ्रीका की सरकार गोखले के साथ हुए समझौते को तो लागू नहीं कर पायी, और उसने वहाँ के सर्वोच्च न्यायालय ने यह फैसला और सुना दिया कि जो भारतीय भारत में विवाह करके दक्षिण अफ्रीका लौटेगा, उसकी पत्नी को वहाँ नहीं आने दिया जाएगा। गाँधीजी ने इस फैसले का डटकर विरोध किया। उन्होंने वहाँ के भारतीयों को संगठित करके एक व्यापक आन्दोलन चलाया। गोखले ने भारत से ही गाँधी के इस सत्याग्रह आन्दोलन को भरसक सहायता दी। उस समय भारत के अंग्रेज वायसराय लॉर्ड हार्डिंग ने भी दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार की कड़ी आलोचना की। काफी खींचातानी के बाद गाँधीजी और जनरल स्मट्स के बीच 21 जनवरी, 1914 को समझौता हो पाया। जस्टिस सोलोमन की सिफारिश पर वहाँ की सरकार ने एक कानून भी पास किया जिसके द्वारा भारत में हुए विवाहों को वैध मान लिया गया और तीन पौंड का कर समाप्त कर दिया गया। अब दक्षिण अफ्रीका में गाँधीजी का काम पूरा हो चुका था। वो गोखले की इच्छा के अनुसार अपने परिवार सहित जनवरी, 1915 में भारत लौट आए। जब वो यहाँ पहुँचे तो उनके गुरू गोखले अपने जीवन की आखिरी घड़ियाँ गिन रहे थे। गाँधी दक्षिण अफ्रीका के अपने फीनिक्स आश्रम के सहयोगियों को भी अपने साथ भारत ले आए थे। उसी तरह का आश्रम भारत में भी खोलने की इच्छा उन्होंने गोखले के सामने प्रकट की। गोखले ने गाँधीजी का यह विचार बहुत पसन्द किया और इस काम में उनकी हर तरह से सहायता देने का वचन दिया।

अपनी अफ्रीका यात्रा के दौरान ही गोखले ने गाँधी से आग्रह किया था कि वे भारत आकर देश का नेतृत्व करे और स्वराज्य की लड़ाई की बागडोर अपने हाथों में संभाले। अफ्रीका में ही उन्होंने

धीजी को भारतीय नेताओं के बारे में विस्तार से बताया था। इसी कारण गाँधीजी को भारत उन नेताओं से व्यवहार करने में दिक्कत नहीं हो रही थी। यद्यपि गोखले और तिलक की पास में कम बनती थी, लेकिन उन्होंने गाँधीजी से तिलक की और तिलक से गाँधीजी की शंसा की। जिसका नतीजा यह हुआ कि गोखले के निधन के बाद तिलक ने गाँधीजी को त्साहन दिया और तिलक को यह विश्वास हो गया कि मेरे बाद गाँधी ही भारत की आजादी ी लड़ाई का नेता बन सकता है। तिलक के इस विश्वास को गाँधीजी ने पूरा किया और तिलक स्वराज्य का जो महान मंत्र "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं उसे लेकर रहूँगा" था था, गाँधीजी ने उसे पूरा करके दिखाया। गाँधीजी ने स्वयं गोखले के ऋण को स्वीकार या है। वह उन्हें गुरू मानते थे। उन्होंने शांति बनाए रखते हुए असहयोग करना, चरित्र का ार्माण करना, देश की वस्तुओं का ही उपयोग, हिन्दू–मुस्लिम इत्यादि के बीच भेद–भाव दूर रना एवं छुआ–छूत की भावना को मिटाना और इसके साथ–साथ नगरों तथा ग्रामों को उनका सिन सौंपना और अपनी भूलों को स्वीकार करना, ये सब गुण गोखले से ही सीखे थे। इन णों को उन्होंने अंतिम साँस तक अपनाया।

.10 साराश

ोपालकृष्ण गोखले केवल 49 वर्ष जीवित रहे। लेकिन इतने थोडे समय में ही उन्होंने भारत । महान देन दी। यह ऐसी देन है जिसे भारत का इतिहास कभी नहीं भुला सकेगा। वह ार्वजनिक जीवन में जिस तेजी से आगे बढ़े और ऊँचे उठते चले गए, उसे एक चमत्कार ही ाना होगा। उनमें न जाने कैसा अद्भुत जादू था कि जो भी उनके सम्पर्क में आता उनके गुण ने लगता। गोखले अपना एक क्षण भी बेकार न खोते थे। वह देश सेवा के सिवाय दूसरे विषय ं बात नहीं करते थे। उन्हें अंतिम समय तक दो बातों की ही चिंता बनी रही – भारत की लामी और भारत की गरीबी। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में गोखले का सरकारी नेकनीयती ं से विश्वास डगमगाने लगा था तथापि उन्हें यह पक्का विश्वास बना रहा कि "राजनीतिक तन्त्रता के आन्दोलन को गति मिलेगी और 25 वर्षों में उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हो जाएगी। धीजी ने लिखा है कि उनकी एकमात्र इच्छा यह थी कि भारत फिर से वैसा ही गौरवपूर्ण ीवन बिता सके जैसा कि उसने गुलामी से पहले बिताया था। वो चाहते थे कि सर्वेंट्स ऑफ ेडया सोसाइटी फल–फूल कर देश सेवा के रास्ते पर आगे बढ़ती रहे।

.11 उपयोगी पुस्तकें

B.R. Nanda, Gokhale, New Delhi, Oxford University, 1977.

B.R. Nanda, Gokhale, Gandhi and Nehru, Allen and Urwin, 1974.

D.B. Mathur,Gokhale, A Political Biography, Bombay, 1966.

P. Sitaramayya, History of Indian National Congress, Padama [illegible]n, Bombay.

Tara Chand, History of the Freedom Movement in India, New Delhi, Publication Division, 1967.

U.S. Srinivasan Shastri, My Master Gokhale, 1946.

Vishnoo Bhagwan, Indian Political Thinker, Atma Ram & Sons, Delhi, 1983.

A Appadorai, Indian Political Thinking, Oxford University Press, 1971.

Gokhale, Speeches & Writings of Gokhale.

। पण्डित नन्दकुमार देव शर्मा : 'महात्मा गोखले' (राजनैतिक सन्यासी और निष्काम

कर्मयोगी), प्रयाग, 1974.

11. रामनारायण मिश्र : 'महादेव गोविन्द रानाडे', प्रयाग, 1934.

12. त्र्यम्बक रघुनाथ देवगिरीकर : 'गोपाल कृष्ण गोखले' (आधुनिक भारत के निर्माता), प्रकाशन विभाग, 1967.

13. पंडित हृदयनाथ कुँजरू : 'गोपाल कृष्ण गोखले' (व्यक्ति और व्रत), महाराष्ट्र परिचय-केन्द्र, नई देहली, 1966.

14. नेमिशरण मित्तल : 'गोपालकृष्ण गोखले' (भारत के अमर चरित्र) प्रकाशन विभाग, 1972.

15. डा0 उर्मिला शर्मा एवं डा0 एस0 के0 शर्मा : 'भारतीय राजनैतिक चिन्तन', एटलांटिक पब्लिशर्स, दिल्ली, 2001.

16. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा : 'भारतीय राजनैतिक चिन्तन', आगरा.

17. टी0 वी0 पर्वते : गोपाल कृष्ण गोखले.

3.12 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. गोखले के आर्थिक संबंधी विचार का मूल्यांकन करें।
2. गोखले के राजनीतिक पद्धति की सार्थकता का परीक्षण करें।
3. महात्मा गाँधी के राजनीतिक गुरू के रूप में गोखले का मूल्यांकन करें।

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. गोखले के विचारों में स्वशासन की अवधारणा पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
2. गोखले के राजनैतिक दर्शन पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
3. गोखले के राष्ट्र सेवा व्रत की अवधारणा का समझाऐं।

वास्तुनिष्ठ प्रश्न

1. केन्द्रीय विधान परिषद् में गोखले का चुनाव किस वर्ष हुआ–
   (a) 1901 (b) 1902
   (c) 1903 (d) 1904
2. 1905 में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का अध्यक्ष कौन था–
   (a) गोपालकृष्ण गोखले (b) महादेव गोविन्द रानाडे
   (c) फिरोजशाह मेहता (d) सुरेन्द्रनाथ बनर्जी
3. 12 जून, सन् 1905 को गोखले के द्वारा स्थापित संस्था का नाम था–
   (a) ब्रह्म समाज (b) मराठा समाज
   (c) प्रार्थना समाज (d) भारत सेवक समाज

सर्वोच्च विधान परिषद् में गोखले ने अपने प्रथम बजट भाषण कब प्रस्तुत किये थे–

(a) 1900 (b) 1901

(c) 1902 (d) 1903

.13 प्रश्नोत्तर

. b, 2. a, 3. d, 4. c

NOTES

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय

MAPS -06

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन

खंड
2

आदर्शवादी दृष्टिकोण

इकाई 4

लोकमान्य तिलक 5

इकाई 5

अरविन्द घोष 22

इकाई 6

रवीन्द्र नाथ टैगोर 32

खण्ड 2 का परिचय : आदर्शवादी दृष्टिकोण

उदारवादी दृष्टिकोण के विरूद्ध भारतीय राजनीतिक चिन्तन में एक ऐसे दृष्टिकोण का अभ्युदय हुआ जो प्रखर राष्ट्रवाद और 'स्वराज' के आदर्श का मुख्यता से समर्थन करता है। इस दृष्टिकोण के प्रतिपादकों का मत था कि प्रत्येक राज्य का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि उसे स्वराज प्राप्त हो। विजातीय शासन देश की जनता के हितों का रक्षक नहीं हो सकता है। राजनीति का सर्वोत्तम सिद्धान्त यह है कि लोगों को अपना शासन खुद चलाने का अधिकार हो। साम्राज्यवाद मानवीय स्वतंत्रता और गरिमा पर प्रहार है। ब्रिटिश साम्राज्य भारत में एक विकृति है। इसका अन्त करने के लिये आत्मिक एवं नैतिक श्रोतों का पुनर्जागरण अपेक्षित है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण का प्रमुखता से समर्थन करने वाले विचारकों की श्रृंखला में लोकमान्य तिलक, अरविन्द घोष और रवीन्द्र नाथ टैगोर के विचारों का गहनता से विश्लेष प्रस्तुत खण्ड में प्रस्तावित है।

काई 4 : लोकमान्य तिलक

काई की रूपरेखा

0 उद्देश्य
1 प्रस्तावना
2 जीवन परिचय
3 तिलक के राजनीतिक चिन्तन की दार्शनिक पृष्ठभूमि
4 स्वराज की अवधारणा
5 राष्ट्रीयता का विचार
6 समाज सुधार
7 राजनीतिक पद्धति
8 समीक्षा
9 सारांश
10 उपयोगी पुस्तकें
11 संबंधित प्रश्न
12 प्रश्नोत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- लोकमान्य तिलक के जीवन पर टिप्पणी कर सकेंगे।
- तिलक की स्वराज एवं राष्ट्रीयता की अवधारणा की विवेचना कर सकेंगे।
- समाज सुधार एवं राजनीतिक पद्धति पर तिलक के विचारों का वर्णन कर सकेंगे।
- तिलक के राजनीतिक विचारों की समीक्षा कर सकें।

4.1 प्रस्तावना

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक एक ऐसे कर्मयोगी थे जिन्होंने 19वीं सदी में भारत के राजनीतिक जीवन में छायी हताशा को अपने अप्रतिम साहस एवं तेजस्विता के बल पर सदा-सर्वदा के लिए समाप्त कर दिया। उनके असाधारण राजनीतिक कौशल एवं दूरदर्शिता ने राष्ट्रीय भावना का ऐसा ज्वार उत्पन्न कर दिया कि स्वराज और स्वदेशी के विचार घर-घर तक व्याप्त हो गए। तिलक की इस नयी राजनीति ने उदारवादी राजनीति को अप्रासंगिक बना दिया और ब्रिटिश साम्राज्यवाद को रक्षात्मक। तिलक के चमत्कारिक प्रभाव को प्रसिद्ध ब्रिटिश लेखक एवं पत्रकार हेनरी नेविन्सन ने अपनी पुस्तक 'दि न्यू स्पिरिट इन इंडिया' में इस प्रकार रेखांकित किया है—''उन्होंने मुझे एक ऐसे व्यक्ति के रूप में आकर्षित किया जो हर प्रकार की दुविधा एवं आधे अधूरे तौर-तरीकों से मुक्त है, जो संघर्षशील है और जिसे अपनी लेशमात्र चिन्ता नहीं है। तिलक को सभी वर्गों के लोगों की आत्मीयता प्राप्त है और वे अपनी जनता के धार्मिक विश्वासों और परम्पराओं का पूरा सम्मान करते हैं।'' ('I recognize in him the personal attraction that

extremists always have the freedom from heaitation and half-meaoures, the delight in conflict, the reckless disregard of self. When to this attraction his own people could add his personal and intimate aquaintance with all classes among them down to the poorest villagers and his steady maintenance of all that they hdd most dear in religious belief and customary observances, I Could not wonder at his influence among them') लोकमान्य तिलक की महत्ता इस बात में ही नहीं है कि अपने 40 वर्ष के सार्वजनिक जीवन में उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य से डटकर लोहा लिया वरन् इस दृष्टि से भी है कि उन्होंने भावी राष्ट्रीय आन्दोलन व राजनीति की भाव-भूमि तैयार की। डी०वी० तम्हान्कर के अनुसार—''महात्मा गाँधी और पंडित नेहरू ने स्वराज का जो भव्य प्रासाद निर्मित किया, उसकी मजबूत बुनियाद तिलक ने अपने खून-पसीने से रखी थी।''

4.2 जीवन परिचय

लोकमान्य तिलक का जन्म 23 जुलाई 1856 में बम्बई राज्य के रत्नागिरि जिले में हुआ था। उनके पिता गंगाधर तिलक गणित व संस्कृत के अच्छे विद्वान थे, अत: यह स्वाभाविक ही था कि किशोरावस्था तक आते-आते तिलक ने इन विषयों का समुचित ज्ञान प्राप्त कर लिया। तिलक एक मेधावी छात्र थे और स्वाध्याय में इनकी गहरी रुचि थी। पूना के डेकन कालेज से उन्होंने बी०ए० एवं एल०एल०बी० की परीक्षाएं पास की। अपनी शिक्षा पूरी करने के बाद उन्होंने निश्चय किया कि वे सरकारी सेवा में न जाकर देश की सेवा में अपना जीवन अर्पित करेंगे। तिलक व उनके कुछ मित्रों ने इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु 1 जनवरी 1880 में 'न्यू इंगलिश स्कूल' की स्थापना की। उनका विचार था कि भारत में शिक्षा देने के दायितव का वहन भारतीयों को ही करना चाहिए। जिन अन्य नवयुवकों ने तिलक के साथ यह दायित्व ग्रहण किया उनमें विष्णु शास्त्री चिपलूनकर, गोपाल राव अगारकर, गोपाल कृष्ण गोखले के नाम प्रमुख है। तिलक व उनके सहयोगियों का विचार था कि देश में जागृति उत्पन्न करने के लिए जन-साधारण को भी शिक्षित करने की आवश्यकता है, और यह कार्य समाचार पत्रों के प्रकाशन से ही हो सकता है। अत: शीघ्र ही उन्होंने मराठी भाषा में 'केसरी' एवं अंग्रेजी भाषा में 'मराठा' नामक समाचार-पत्रों का प्रकाशन प्रारंभ कर दिया। 1890 में तिलक ने वैचारिक मतभेदों के कारण अपने को 'डेकन एजुकेशन सोसाइटी' (जो कि 'न्यू इंग्लिश स्कूल' और 'फर्ग्यूसन कालेज' का संचालन करती थी) से पृथक कर लिया और अब वे 'केसरी' व 'मराठा' के प्रबन्धक व सम्पादक बन गए। उनके विचारोत्तेजक लेखों ने दोनों समाचार पत्रों को बहुत लोकप्रिय बना दिया। वस्तुत: इन अखबारों के द्वारा तिलक ने राष्ट्रीय जागरण का महान कार्य किया। उनके पैने एवं तर्कपूर्ण लेखों ने ब्रिटिश शासन को हिलाकर रख दिया। इस प्रकार 1880 से 1890-91 तक का समय उनके सार्वजनिक जीवन का प्रथम चरण माना जा सकता है जिसमें एक शिक्षक व पत्रकार के रूप में उन्होंने जन-जागरण का कार्य किया।

उनके सार्वजनिक जीवन का दूसरा चरण 1891 से 1898 तक माना जा सकता है। इस अवधि में दुर्भिक्ष एवं प्लेग ने महाराष्ट्र के राजनीतिक जीवन में काफी उथल पुथल पैदा कर दी थी। जनता के कष्टों के प्रति सरकार की घोर उदासीनता ने तिलक को बहुत व्यथित किया और अपने समाचार-पत्रों में उन्होंने सरकारी नीतियों पर कड़े प्रहार किए। तिलक के उग्र एवं स्पष्ट विचारों के कारण महाराष्ट्र का सार्वजनिक जीवन दो भागों में विभाजित हो गया। एक ओर गोखले, रानाडे एवं भंडारकर जैसे उदारवादी थे, तो दूसरी ओर तिलक। वस्तुत: तिलक की विलक्षण कार्य-शैली ने उदारवादी राजनीति को अप्रासंगिक सा बना दिया। इसी दौरान उन्होंने 'शिवा जी उत्सव' एवं 'गणेश उत्सव' को सार्वजनिक स्तर पर आयोजित करने की परम्परा का प्रारंभ कर न केवल

महाराष्ट्र में वरन सम्पूर्ण राष्ट्र में एक अदभुत जागृति उत्पन्न कर दी। उनकी बढ़ती लोकप्रियता सरकार सहन नहीं कर सकी और 1897 में उन पर देशद्रोह का आरोप लगाकर मुकदमा चलाया गया एवं जेल भेज दिया गया। तीसरा चरण 1898 से 1908 तक माना जा सकता है जिसमें तिलक अपने राजनीतिक जीवन के शिखर पर थे। तिलक व कुछ अन्य कांग्रेसी नेताओं जैसे बिपिनचन्द्र पाल, लाजपत राय आदि ने कांग्रेस को एक सशक्त संगठन बनाने का पुरजोर प्रयास किया, लार्ड कर्जन के अत्याचारों के विरुद्ध स्वराज, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा की माँग उठाकर राष्ट्रीय जीवन में नए प्राण फूँक दिए। तिलक का उद्घोष कि 'स्वराज मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा' देशभर में गूँजने लगा। तिलक ने नरमपंथियों की रीति-नीति का डटकर विरोध किया और उसका एक परिणाम 1907 में कांग्रेस का विभाजन था। 1908 में तिलक पर पुनः राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया एवं उन्हें देश निकाले की सजा हुई। इस मुकदमें में अपना बचाव प्रस्तुत करते हुए तिलक ने अविस्मरणीय भाषण दिया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा—"न्यायालय का फैसला जो भी हो, मैं निर्दोष हूँ। हमारा जीवन उच्चतर दैवीय शक्तियों के आधीन है, और संभवतः ईश्वर की यही इच्छा है कि स्वराज के लक्ष्य की पूर्ति के लिए मैं और कष्ट सहूँ, न कि मुक्त जीवन व्यतीत करूँ।" यहाँ पर उल्लेखनीय है कि मांडले जेल में अपने 6 वर्ष के यातनापूर्ण कारावास में तिलक ने 'गीता रहस्य' जैसे अप्रतिम ग्रंथ की रचना की। 1914 में मांडले जेल से रिहाई के बाद तिलक के सार्वजनिक जीवन का चौथा व अन्तिम चरण प्रारंभ होता है। 1916 में उन्होंने एनी बेसेन्ट के साथ मिलकर 'होमरूल' आन्दोलन प्रारंभ किया। 1916 में लखनऊ में हुए कांग्रेस-मुस्लिम लीग समझौते को सम्पन्न कराने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही। 1918-19 में लगभग 13 माह तक वह इंग्लैण्ड में रहे। यद्यपि उनकी इस यात्रा का प्रमुख उद्देश्य ब्रिटिश लेखक व पत्रकार वेलेन्टाइन शिरोल के विरुद्ध मानहानि का मुकदमा लड़ना था, पर इस यात्रा के दौरान उन्होंने भारत की स्वशासन की माँग को ब्रिटिश जनता व राजनीतिज्ञों के सामने बड़े प्रभावशाली तरीके से रखा।

स्वराज एवं राष्ट्रीयता का यह महान प्रतिपादक 1 अगस्त 1920 को महाप्रयाण कर गया। तिलक की मृत्यु के साथ भारतीय राजनीति के एक महान व घटनापूर्ण युग का अवसान हुआ।

4.3. तिलक के राजनीतिक चिन्तन की दार्शनिक पृष्ठभूमि

तिलक एक प्रखर राष्ट्रवादी एवं कुशल राजनीतिज्ञ ही नहीं थे, वे एक मनीषी भी थे। उनके राजनीतिक सिद्धान्तों की गहरी दार्शनिक जड़ें थी, भारत की धार्मिक एवं ऐतिहासिक धरोहर में उनका अटूट विश्वास था और यही उनके राजनीतिक एवं सामाजिक कार्यों को आधार प्रदान करती थी। वे सनातन धर्म के आदर्शों एवं परम्पराओं के संवाहक थे। श्रुति एवं स्मृतियाँ सनातन धर्म की आधारशिला हैं जिनमें प्रतिपादित ब्रह्म व जगत, पुर्नजन्म, कर्म सम्बन्धी सिद्धान्त युगों-युगों से भारतवासियों का सम्बल रहे हैं। तिलक के अनुसार धर्म वह शक्ति है जो ईश्वर व मनुष्य, मनुष्य व मनुष्य और मनुष्य व प्रकृति को जोड़ने का कार्य करती है। सनातन धर्म में प्रतिपादित आत्मिक-नैतिक सिद्धान्तों की बुनियाद पर भारत की राज-व्यवस्था, परिवार-व्यवस्था अर्थतंत्र, कला-साहित्य, ज्ञान-विज्ञान टिका हुआ है। तिलक ने अपने ग्रंथ 'गीता-रहस्य' में समकालीन पाश्चात्य दर्शन की मान्यताओं के ऊपर भारतीय धर्म दर्शन की श्रेष्ठता को बड़े तर्कपूर्ण तरीके से प्रस्तुत किया है। तिलक के अनुसार कर्म-अकर्म सम्बन्धी विवेचना करने के तीन मार्ग हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक। किसी भी कर्म के केवल बाह्य फल को देखकर नीति और अनीति का निर्णय करना 'आधिभौतिक सुखवाद है। इन सुखवादियों के तीन वर्ग हैं। पहला वर्ग स्वार्थ-सुखवादियों का है जो मानते है कि परलोक एवं परोपकार सब झूठ हैं। आध्यात्मिक शास्त्रों को तो चालाक लोगों ने पेट पालने के लिए लिखा है। इस संसार में स्वार्थ ही सत्य है और जिस उपाय से स्वार्थ सिद्ध हो सके अथवा जिससे अपने आधिभौतिक सुख की वृद्धि

शिवाजी मुस्लिम विरोधी नहीं थे वरन् औरंगजेब के दमनकारी शासन के विरोधी थे। उनके जीवन की घटनाओं से यह बात भली प्रकार स्पष्ट हो जाती है कि वह मुस्लिम महिलाओं के प्रति कितना आदर रखते थे। प्लेग व अकाल जैसी प्राकृतिक आपत्तियों के समय उन्होंने अपनी मुस्लिम प्रजा की हर संभव सहायता की थी।

देशभक्त मुसलमान तिलक का बहुत आदर करते थे और उनके तर्कों को स्वीकार करते थे। मोहम्मद अली जिन्ना, हसरत मोहानी जैसे मुस्लिम नेता तिलक के प्रबल समर्थक थे। 1897 में जब तिलक को राजद्रोह के आरोप में गिरफ्तार कर मुकदमा चलाया गया तो उनकी जमानत के लिए बंगाल की एक व्यापारिक संस्था 'हाजी अहमद एवं हाजी हुसैन' ने 7000 रु० सहायतार्थ भेजे। बंगाल से तिलक की सहायता से भेजी गयी यह सबसे बड़ी धनराशि थी। अपने पत्र में हाजी अहमद ने लिखा—'तिलक जाति व धर्म के पक्के हैं। उन्हें भारत की सेवा के लिए अभियुक्त बनाया जा रहा है और भारत हिन्दू व मुसलमान दोनों की मातृभूमि है।' तिलक पर हिन्दू पुनरुत्थानवादी होने का आरोप बार-बार लगता रहा। शिरोल जैसे ब्रिटिश पत्रकार व रजनीपामदत्त जैसे इतिहासकार ने लिखा कि तिलक एवं अरविंद घोष जैसे राजनेताओं द्वारा हिन्दू धर्म व संस्कृति को राष्ट्रीय जागरण का आधार बनाए जाने के कारण ही मुस्लिम समाज राष्ट्रीय आन्दोलन से कट गया। परन्तु यह तर्क कितने सतही हैं यह इसी से स्पष्ट है कि 1916 में कांग्रेस व मुस्लिम लीग में समझौता कराने में तिलक ने निर्णायक भूमिका निभायी थी। शौकत अली और हसरत मोहानी जैसे प्रमुख मुस्लिम नेता तिलक को अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। हसरत मोहानी के निम्न शब्द उल्लेखनीय हैं—"मैंने अपने राजनीतिक जीवन के प्रारंभ में ही तिलक को एक आदर्श नेता मान लिया था, वह अन्य किसी नेता से हर दृष्टि से महान एवं श्रेष्ठ थे। मैं बौद्धिक एवं व्यावहारिक रूप से सदैव उनका अन्ध अनुयायी रहा हूँ।"

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि तिलक ने भारत के आर्थिक शोषण को भी राष्ट्रवाद के संवर्धन का एक यंत्र बनाया। दादाभाई नौरोजी द्वारा प्रतिपादित 'दोहन सिद्धान्त' (Drain Theory) से सहमति व्यक्ति करते हुए तिलक ने कहा कि ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के बाद भारत का चहुँमुखी आर्थिक शोषण हुआ है। लगान की बेतहाशा वृद्धि ने कृषि को चौपट कर दिया, भारत की परम्परागत कला व शिल्प दयनीय स्थिति में पहुँच गए। सरकार युद्धों व ऐयाशी पर धन बरबाद कर रही है। इस प्रकार इस सरकार को भारत की सुख-समृद्धि से कोई लेना देना नहीं है। भारत के आर्थिक शोषण को उन्होंने एक सशक्त हथियार के रूप में इस्तेमाल किया व 'केसरी' और 'मराठा' में तथ्यपूर्ण और तर्कपूर्ण लेख लिखकर भारतवासियों को उनके आर्थिक शोषण से अवगत कराया। अत: प्रसिद्ध मार्क्सवादी चिन्तक मानवेन्द्र नाथ राय की यह टिप्पणी कि 'तिलक ने राष्ट्रीयता का जो सिद्धान्त अपनाया उसमें इस बात की अनदेखी की गयी कि आधुनिक युग में राष्ट्रीयता के आर्थिक आधारों की उपेक्षा नहीं की जा सकती', भ्रामक एवं पक्षपातपूर्ण ही मानी जाएगी। तिलक ने भारत के आर्थिक शोषण के मुद्दे को बड़े सशक्त तरीके से उठाया, पर उनका दृढ़ विचार था कि राष्ट्रीयता के वास्तविक स्रोत तो धार्मिक व सांस्कृतिक ही होते हैं।

राष्ट्रीयता के उन्नयन में राष्ट्रीय शिक्षा के महत्व से भी तिलक अवगत थे। जब तिलक ने अपने कुछ मित्रों के साथ 'डेकन एजुकेशन सोसाइटी' की स्थापना की थी तो उसका उद्देश्य नई पीढ़ी को आधुनिक सिद्धान्तों एवं विचारों से अवगत कराना था। परन्तु आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा के पक्षधर होते हुए भी तिलक यह स्वीकार नहीं कर सकते थे कि इस शिक्षा के प्रभाव से हम अपनी संस्कृति से ही कर जाए। अत: शिक्षा प्रणाली का प्रधान उद्देश्य हमें अपने इतिहास, अपने धर्म व संस्कृति से परिचित कराना होना चाहिए। राष्ट्रीय शिक्षा के अर्थ को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा 'राष्ट्रीय शिक्षा का अर्थ है हम अपने राष्ट्र को पहचाने व उससे अपने को जोड़े।' पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता से उन्होंने इन्कार नहीं किया वह ब्रिटिश शासन की ऐसी

शिक्षा नीति के प्रखर आलोचक थे जिसका परिणाम भारतीयों का अराष्ट्रीय बनाना हो। उन्होंने कहा कि समर्थ गुरु रामदास ने भारत में राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार-प्रसार करने के लिए अपने 1200 शिष्यों को महाराष्ट्र के कोने-कोने में भेजा था, और आज उसी प्रकार के प्रयास की आवश्यकता है। शिक्षा प्रणाली की सार्थकता इसमें है कि वह व्यक्ति को स्वधर्म का ज्ञान कराए, राजनीतिक चेतना उत्पन्न करे एवं आजीविका अर्जित करने की कला सिखाए।

तिलक ने एक संपादक के रूप में जन-शिक्षण का कार्य किया। 'केसरी' और 'मराठा' के माध्यम से तिलक ने महाराष्ट्र में राष्ट्रीय भावों के उन्नयन का निरन्तर प्रयास किया। तिलक के जीवनीकार नमान्हकर के अनुसार 'कुछ सौ नौजवानों के शिक्षक से तिलक सम्पूर्ण राष्ट्र के गुरु बन गए।' ('The opportunities denied him in the Fergusson College he found in the colums of kesari and Maratha and from a teacher of a four hundred youngmen he became the Guru of a whole nation') मराठी भाषा में प्रकाशित 'केसरी' के द्वारा वह आम जनता को राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक प्रश्नों से अवगत कराते थे और अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित 'मराठा' के द्वारा समाज के प्रबुद्ध वर्ग के सामने विभिन्न समस्याओं व प्रश्नों को विचार-मंथन के लिए रखते थे। दोनों ही समाचारपत्रों को बहुत लोकप्रियता मिली। तिलक ने प्रमाणित कर दिया कि समाचार पत्र राष्ट्रीय जागरण का प्रभावशाली माध्यम हो सकता है। एक सम्पादक व पत्रकार के रूप में तिलक ने राष्ट्रवाद के संवर्धन के क्षेत्र में अविस्मरणीय योगदान दिया।

4.6 समाज सुधार

19वीं सदी के अन्तिम दशकों में महाराष्ट्र के सार्वजनिक जीवन में समाज सुधार का मुद्दा बहुत महत्वपूर्ण बन गया था। विभिन्न सामाजिक बुराइयों जैसे अस्पृश्यता, बालविवाह, विधवाओं की स्थिति, स्त्री-शिक्षा आदि को लेकर महाराष्ट्र के सार्वजनिक जीवन में तीखी एवं गंभीर बहसें छिड़ी हुयी थी। रानाडे, गोखले, अगरकर एवं भंडारकर आदि राजनेता व विद्वान समाज सुधार के प्रबल पक्षधर थे। उनके विचार से सामाजिक बुराइयों का उन्मूलन सर्वोच्च प्राथमिकता होनी चाहिए। सामाजिक जीवन में व्याप्त विविध प्रकार की परतंत्रताओं के चलते भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए प्रयास करना पाखंडपूर्ण व निरर्थक होगा। ये सुधारवादी, समाज सुधार के इस कार्य में ब्रिटिश शासन से सहयोग लेना चाहिए थे। सरकार विभिन्न सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध कानून बनाए और सरकार के इन प्रयासों के पक्ष में नैतिक व सामाजिक समर्थन जुटाने में उदारवादी अपनी भूमिका का निर्वहन करें। तिलक व अन्य राष्ट्रवादी नेताओं को इन सुधारवादियों की कार्य प्रणाली पर गहरी आपत्ति थी। तिलक समाजसुधार के पक्षधर थे पर उसको पहली प्राथमिकता बनाने और सरकार के सहयोग को लेने के प्रश्न पर उनके उदारवादियों से तीव्र मतभेद थे। इस संदर्भ में दो घटनाएं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—पंडिता रमाबाई का प्रसंग और विवाह की आयु सम्बन्धी कानून (Age of Consent Bill).

स्त्री-शिक्षा सम्बन्धी विवाद का केन्द्र-बिन्दु पंडिता रमाबाई थी। वे संस्कृत की विद्वान और उच्चकोटि की वक्ता थी। बाद में उन्होंने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। वह अंग्रेजी भाषा एवं पश्चात्य दर्शन का अध्ययन करने इंग्लैण्ड गयी। इंग्लैण्ड में स्त्री-शिक्षा की उन्नत स्थिति से वह बहुत प्रभावित हुई, और भारत वापस आकर उन्होंने 1889 में बम्बई में 'शारदा सदन' नाम संस्था की स्थापना की। इस संस्था का उद्देश्य गरीब विधवाओं की देखभाल करना व उन्हें शिक्षित करना था। इस संस्था को विदेशी मिशनरियों से आर्थिक सहायता मिलती थी। रानाडे एवं तेलंग जैसे समाज सुधारक रमाबाई के प्रयासों के प्रशंसक थे, किन्तु तिलक को इस संस्था के असली उद्देश्यों को लेकर शुरू से ही शंका थी। पर्याप्त प्रमाण इकठ्ठा करके तिलक ने 'केसरी' में यह

दैदीव्यमान होता है। यदि एक बार यह स्वतंत्रता रूपी प्रकाश तिरोहित हो जाए तो राष्ट्र जड़ हो जाता है।' (" Even a speek of light has more lustre than a heavy rock. and once that vital spark is extinguished, a nation is reduced gust to vegetative life.") होमरूल आन्दोलन के दौरान नासिक में अपने एक भाषण में स्वराज की महत्ता की व्याख्या करते हुए तिलक ने कहा कि स्वतंत्रता का अधिकार किसी की कृपा का मोहताज नहीं है। ("The privelege of being free does not need to be granted by someone else. What is called Atma in religious philosophy is known as liberty in the seience of politics. Amta exists everywhere, it does not need to be reborn. Similarly love of liberty exists in every heart and I am only gwakening you to the consciousness of its existence.")

तिलक ने उदारवादी विचारकों जैसे रानाडे, फिरोजशाह मेहता, गोखले आदि के इस तर्क का भी प्रतिवाद किया कि भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना का उद्देश्य भारतीय जनता का कल्याण है, और अंग्रेजों ने भारत में एक कुशल शासन की स्थापना की है। तिलक ने कहा कि कोई देश किसी अन्य देश पर अपना शासन उसके कल्याण की भावना से स्थापित नहीं करता। साम्राज्यों की स्थापना शासक के राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए की जाती है। ब्रिटिश साम्राज्य भी भारतीयों के कल्याण के लिए स्थापित नहीं किया गया वरन् भारत का शोषण कर इंग्लैण्ड के हितों की पूर्ति ही उसका असली उद्देश्य है। जहाँ तक ब्रिटिश शासन के कुशल शासन होने का तर्क है, तिलक के अनुसार इस कुशलता का प्रयोजन ब्रिटिश साम्राज्य को सुरक्षित करना है। 1916 में बेलगांव में अपने एक भाषण में उन्होंने कहा—''हमसे कहा जाता है कि वर्तमान प्रणाली ठीक है लेकिन वे इस प्रणाली को कितना ही अच्छा कहें यह शासन हमारा नहीं है और हम इससे सन्तुष्ट नहीं हो सकते। राजनीति का सर्वोत्तम सिद्धान्त यह है कि लोगों को अपना शासन खुद चलाने का अधिकार हो।'' उन्होंने कहा कि एक अच्छी विदेशी सरकार से एक अकुशल स्वदेशी शासन अधिक वांछनीय है।

कुछ उदारवादियों ने यह तर्क भी दिया कि लार्ड मार्ले जैसे ब्रिटिश राजनेता भारत के प्रति गहरी सहानुभूति रखते हैं और उसे स्व-शासन की ओर ले जाना चाहते हैं। तिलक ने कहा कि भारत के हितैषी ये राजनेता ब्रिटिश शासन की नीतियों को प्रभावित करने या बदलने में सफल नहीं होंगे क्योंकि ''विश्व व्यापी ब्रिटिश साम्राज्य मार्ले या स्पेंसर के उदारवादी सिद्धान्तों के आधार पर संचालित नहीं हो रहा है।''

मांडले जेल से रिहाई के बाद तिलक ने स्वराज की माँग को फिर जोर शोर से उठाया और इस उद्देश्य के लिए एनी बीसेन्ट के साथ मिलकर 'होमरूल लीग' की स्थापना की। वस्तुत: तिलक ने न केवल स्वराज का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत किया वरन् स्वराज की प्राप्ति के लिए अनवरत संघर्ष भी किया। महात्मा गाँधी के शब्दों में—''स्वराज के दर्शन को अन्य किसी ने इतने सुसंगत एवं सशक्त रूप से प्रस्तुत नहीं किया।'' ('No man preached the gospel of Swaraj with the consistency and insistence of Lokmanya.')

4.5 राष्ट्रीयता का विचार

तिलक का यह दृढ़ विश्वास था कि राष्ट्र-भावना का अभाव भारत की पराधीनता एवं दुर्दशा का मूल कारण है। परन्तु तिलक ने राष्ट्रीयता को बुद्धिवादी दृष्टि से नहीं देखा। गोष्ठियों या अधिवेशनों में भारत की प्रशासनिक या आर्थिक दुरावस्था पर बहस करने या प्रस्ताव पारित करने या उसके

नए ब्रिटिश साम्राज्य को दोषी बता देने मात्र से राष्ट्रीयता का पल्लवन नहीं हो जाता यद्यपि देश की दुरावस्था पर विचार करना प्रत्येक भारतवासी का कर्तव्य है। तिलक के अनुसार राष्ट्रीयता ग्राह्य न होकर आन्तरिक है। यह एक अनुभूति, एक भाव और एक विचार है जो धर्म व संस्कृति की एकता से उद्‌भुत होता है। राष्ट्रीयता धर्म व परम्परा के शाश्वत प्रवाह में भागीदारी है, एक साझे इतिहास का अनुस्मरण है और ऐसे अवगत कराकर उसके विरुद्ध जागृति उत्पन्न करना। तिलक के इस कार्य के चमत्कारिक परिणाम हुए और 3 वर्ष के अन्दर न केवल महाराष्ट्र वरन् सम्पूर्ण देश में गणपति उत्सव बहुत उत्साह से मनाया जाने लगा।

राष्ट्रीय जागरण में ऐतिहासिक प्रतीकों का भी महत्वपूर्ण स्थान होता है। रामस कार्लाइल एवं मर्सन की भाँति तिलक भी मानते थे कि महापुरुष इतिहास के निर्माता होते हैं एवं उनके जीवन एवं कार्यों में आम जनता को प्रेरित करने की अपार शक्ति होती है। महापुरुषों का त्याग एवं बलिदान जनसाधारण को आदर्शों की ओर उन्मुख करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। राष्ट्रीय जीवन में आई जड़ता को खत्म करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। राष्ट्रीय जीवन में आई-जड़ता को खत्म करने में उनका पुर्नस्मरण महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। छत्रपति शिवा जी ऐसे ही महानायक थे जिनके प्रति महाराष्ट्र ही नहीं, सम्पूर्ण देश की जनता बड़ी श्रद्धा रखती थी। वे एक आदर्श शासक और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष के प्रतीक थे। तिलक ने शिवाजी के शौर्य और बलिदान में प्रेरणा का एक अक्षय स्रोत देखा, और 1895 में उन्होंने महाराष्ट्र में शिवा जी उत्सव आयोजित करने की परम्परा का सूत्रपात्र किया। प्रतिवर्ष आयोजित होने वाले इन महोत्सवों को अपार सफलता मिली। तिलक ने शिवाजी को राष्ट्रीय स्वाभिमान का प्रतीक बताया जिन्होंने औरंगजेब के अन्यायपूर्ण शासन से लोहा लिया। उन्हें यह आभास था कि शिवाजी महोत्सव मनाने से मुस्लिम समाज में कई गलतफहमियाँ पैदा हो सकती हैं। अत: उन्होंने मुस्लिम समाज से अनुरोध किया कि वे कुछ पाश्चात्य इतिहाकारों की इस व्याख्या कि शिवाजी मुस्लिम विरोधी थे, को कोई महत्व न दें। शिवाजी ने औरंगजेब का विरोध इसलिए नहीं किया कि वह मुस्लिम था, वरन् इसलिए कि वह एक निरंकुश शासक बन गया था और प्रजा की भावनाओं की उपेक्षा करता था। शिवाजी के आदर्श और उनकी उदात्त भावनाओं को आत्मसात करके ही भारतवासी विजातीय शासन से मुक्ति पा सकते है। उन्होंने कहा कि ब्रिटिश प्रेस मुसलमानों को भड़काने का काम कर रही है, परन्तु परिवर्तित परिस्थितियों में हिन्दू और मुसलमानों को संगठित होकर ब्रिटिश शासन का विरोध करना है। उन्हीं के शब्दों में "शिवाजी उत्सव मनाने का उद्देश्य मुसलमानों से अलगाव बढ़ाना या उन्हें परेशानी में डालना नहीं है। परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं और जहाँ तक देश की राजनीतिक परिस्थितियों का सम्बन्ध है, हिन्दू और मुसलमान एक ही नाव पर सवार हैं।" तिलक की अपील का मुस्लिम समाज पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा और मुसलमानों ने भी शिवाजी उत्सव में भाग लेना शुरु कर दिया। 1906 तक शिवाजी उत्सव भारत के अनेक प्रमुख नगरों जैसे बनारस, कलकत्ता, मद्रास व कराची आदि में आयोजित होने लगे थे।

गणपति उत्सव एवं शिवाजी उत्सव के माध्यम से तिलक ने भारतवासियों में असाधारण जागृति उत्पन्न कर दी थी। परन्तु उन्हें कटु आलोचनाओं का भी सामना करना पड़ा। उन पर उग्र हिन्दूवादी होने के आरोप लगे। ब्रिटिश सरकार के पैरोकार वेलेन्टाइन शिरोल और कुछ हिन्दू व मुस्लिम नेताओं ने उन पर मुस्लिम विरोधी होने का आरोप लगाया। सरकार ने महाराष्ट्र में हुए कुछ साम्प्रदायिक दंगों की जिम्मेदारी भी तिलक पर डाल दी। तिलक ने इस प्रकार के आरोपों को अज्ञानता व दुर्भावना से प्रेरित बताकर अस्वीकार कर दिया। इन उत्सवों को प्रारंभ करने के लिए उन्होंने मुख्य रूप से दो तर्क दिए—(1) इन उत्सवों का उद्देश्य हिन्दुओं में राष्ट्रीय जागरण कर उन्हें संगठित करना है। भारत में हिन्दू बहुसंख्या में है इसलिए विदेशी शासन का अन्त करने में उनकी निर्णायक भूमिका होगी। अत: उनको संगठित करना अति आवश्यक है और इस उद्देश्य की प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय है हिन्दुओं के धार्मिक व ऐतिहासिक प्रतीकों का उपयोग। (2)

हो सके, उसी को न्यायपूर्ण एवं श्रेष्ठ समझना चाहिए। किन्तु खुल्लम-खुल्ला या प्रकट स्वार्थ संसार में चल नहीं सकता क्योंकि यद्यपि प्रत्येक को आधिभौतिक सुख इष्ट होता है तथापि जब हमारा सुख अन्य लोगों के सुखोपभोग में बाधा डालता है तब टकराव उत्पन्न होता है। इसलिए कुछ आधिभौतिक सुखवादी विद्वान यह कहते हैं कि यद्यपि अपना स्वार्थ साधन ही हमारा उद्देश्य है तथापि सब लोगों को अपने ही समान रियायत दिए बिना सुख मिलना संभव नहीं है, इसलिए दूरदर्शिता इसमें होगी कि अपने सुख की प्राप्ति हेतु दूसरे के सुख की ओर भी ध्यान दिया जाए। यह आधिभौतिक सुखवादियों का दूसरा वर्ग है और इसमें पाश्चात्य विद्वान हाब्स व हेलवीटियस को शामिल किया जाता है। आधिभौतिक सुखवादियों का तीसरा वर्ग कहता है कि मनुष्य में स्वार्थ के साथ ही परमार्थ की जन्मजात प्रवृत्ति भी पायी जाती है : अत: जब यह सिद्ध हो गया कि परमार्थ केवल दूरदर्शी स्वार्थ नहीं है, तब स्वार्थ अथवा आत्म-सुख व परमार्थ अथवा पर-सुख दोनों पर दृष्टि रखते हुए कार्य-अकार्य का निर्णय करना चाहिए। सिजविक जैसे आधुनिक नीतिशास्त्री इस 'उच्च स्वार्थ' को सामान्य मनुष्य का मार्ग मानते है। तीनों ही मत यह मानते हैं कि स्वार्थ व परमार्थ दोनों सांसारिक सुखवाचक है और सांसारिक सुख से परे कुछ नहीं है।

तिलक के अनुसार इन तीनों वर्गों के विवेचन से आधिभौतिक पंथ पूरा नहीं हो जाता। इसके आगे का और सब आधिभौतिक पंथों में श्रेष्ठ पंथ वह है जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि एक ही मनुष्य के सुख के आधार पर नहीं, वरन् समस्त मानवजाति या उसके अधिसंख्य भाग के सुख-दुख के आधार पर कार्य-अकार्य का निर्णय किया जाना चाहिए। बेंथम, मिल आदि ने इसी को 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' कहा है। परन्तु केवल संख्या के आधार पर नीति का उचित निर्णय नहीं हो सकता, और इस बात का निश्चय करने के लिए कोई भी बाहरी साधन नहीं है कि अधिक लोगों का सुख किस बात में है। फिर इसमें कर्ता के मन के हेतु या भाव का कुछ भी विचार नहीं किया जाता है। तिलक का तर्क है कि यदि हम इस बात को साधारणत: मान भी लें कि मनुष्य का सब प्रयत्न सुख-प्राप्ति व दुख निवारण के लिए ही हुआ करता है, फिर भी जब तक इस बात का निर्णय न हो जाए कि मनुष्य का सुख किसमें हैं—सांसारित विषयोपभोग अथवा अन्य कहीं, तब तक कोई आधिभौतिक पक्ष ग्राह्य नहीं हो सकता।

तिलक ने कार्य-अकार्य का निर्धारण करने वाले आधुनिक आधिदेवत् वादियों के तर्क की भी समीक्षा की है। ये अनुभूतिवादी (Intuitionist) मानते हैं कि यदि स्वार्थ-परमार्थ के बीच विरोध हो जाए तो 'मनोदेवता' या अन्त:करण (Conscience) के मार्गदर्शन के आधार पर कार्य-अकार्य का निर्णय करना चाहिए। पश्चिमी देशों में इस मत का प्रसार मुख्यत: ईसाई धर्मोपदेशकों ने किया है। उनके मत में आधिभौतिक मत की अपेक्षा अन्त:करण की कसौटी कार्य-अकार्य, धर्म-अधर्म का निर्धारण करने में अधिक श्रेष्ठ एवं सुलभ है। तिलक ने सूक्ष्म विवेचना करते हुए इस मत को भी अपर्याप्त सिद्ध कर दिया है। जिनके मन शुद्ध एवं आत्म-निष्ठ हों वे यदि अपने अंत:करण की गवाही लें तो कोई अनुचित बात न होगी, परन्तु दुष्ट एवं पतित व्यक्तियों के लिए अन्त:करण के मार्गदर्शन का क्या अर्थ? तिलक के अनुसार सात्विक, तामसिक एवं राजसिक व्यक्तियों की सद्-असद् विवेचन करने की शक्ति एक सी नहीं होती। एक सत्पुरुष की बुद्धि शुद्ध व सात्विक होती है जबकि चोर की तामसिक।

तिलक मानते हैं कि कार्य-अकार्य का निर्णय करने हेतु अन्तत: आध्यात्मिक मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ है। शुद्ध कर्म करने के लिए शुद्ध बुद्धि का होना अति आवश्यक है। शुद्ध बुद्धि से क्या तात्पर्य है और बुद्धि को शुद्ध कैसे रखा जाए, इसका मार्गदर्शन न तो आधिभौतिक सुखवादी कर सकते हैं, और न ही आधिदेवतावादी। भारतीय धर्मशास्त्रों का मानना है कि जिस बुद्धि को आत्मा अथवा परमेश्वर के सर्वव्यापी यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं हुआ है, वह बुद्धि शुद्ध नहीं है। गीता में अध्यात्मशास्त्र का निरूपण यही बताने के लिए किया गया है कि आत्म-निष्ठ बुद्धि किसे कहना चाहिए? जिन्होंने पिंड ब्रह्मांड के नामरूपात्मक एवं नाशवान दृश्य स्वरूप से आच्छादित परम

व को जान लिया है, अपने आत्मा के अमर, श्रेष्ठ एवं सर्वव्यापी स्वरूप को पहचान लिया है, आत्मनिष्ठ बुद्धियुक्त सतपुरुष हैं। वे सर्वभूतहित के लिए सहज ही प्रवृत्त हो जाते हैं। मनुष्य की ही पूर्णावस्था सब नीति-नियमों का उद्गम स्थल है। इस व्यक्त स्वरूप के आगे गए बिना र्थात् अव्यक्त आत्मा का ज्ञान प्राप्त किए बिना ज्ञान-प्राप्ति नहीं हो सकती एवं बिना इस ज्ञान के र्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय एवं कर्तव्य का पालन नहीं हो सकता। स्वरूप ज्ञान से ही कर्तव्य-न संभव है। तिलक के अनुसार इसलिए गीता अध्यात्मशास्त्र भी है और कर्मयोग शास्त्र भी।

लक का पांडित्य विलक्षण था। भारतीय धर्मशास्त्रों पर उनकी असाधारण पकड़ थी। पाश्चात्य न्तन परम्परा से भी वह भलीभाँति परिचित थे। प्लेटो, अरस्तू, कांट, ग्रीन, बेंथम, मिल, पिनेहावर के साथ ही ईसाई धर्म-दर्शन की बारीकियों को वह भली प्रकार समझते थे। उनका ढ़ विश्वास था कि हमारे धर्मशास्त्र मानव जीवन का सर्वांगपूर्ण निरूपण प्रस्तुत करते हैं और इसलिए नीति अथवा राजनीति के सम्यक् स्वरूप को समझने के लिए हमें अन्यत्र भटकने की ावश्यकता नहीं है।

.4 स्वराज की अवधारणा

वराज का सिद्धान्त लोकमान्य तिलक के राजनीतिक चिन्तन का केन्द्रीय सिद्धान्त है। स्वराज एक ात्मिक सिद्धान्त भी है और एक राजनीतिक सिद्धान्त थी। तिलक को वैदिक धर्म-दर्शन का साधारण ज्ञान था, उन्हें भारत की आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक विरासत पर गर्व था। अत: यह वाभाविक था कि वह स्वराज एवं राष्ट्रीयता जैसे प्रश्नों पर व्यापक परिप्रेक्ष्य में विचार करते। तलक ने कहा कि मनुष्य एक आत्मावान प्राणी है और आत्मतत्व की उपलब्धि उसके जीवन का र्वोच्च पुरुषार्थ है। परमात्मा का अंश होने के कारण परमतत्व की ओर मनुष्य का सहज और वाभाविक आकर्षण होता है। साथ ही परमात्मा का अंश होने के कारण उसकी स्वतंत्रता वयंसिद्ध है क्योंकि ईश्वर परम स्वतंत्र है। उन्हीं के शब्दों में —"The divine instinct of freedom never aged.....Freedom is the very life of individual soul which vedanta declares to be not separate from God but identical with him. This freedom was a principle that could never perish." इस प्रकार स्वतंत्रता की चेतना जन्मजात है, ईश्वर-प्रदत्त एक वरदान है और मनुष्य के आत्मोन्नयन की एक अनिवार्य शर्त है। स्वराज के आत्मिक पक्ष को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा—'यह स्व में केन्द्रित एवं स्व पर निर्भर जीवन है। इस लोक में ही नहीं, परलोक में भी स्वराज है। यह मेरा विश्वास है कि परलोक में स्वराज उन लोगों को प्राप्त नहीं हो सकता जिन्होंने इस लोक में स्वराज का उपभोग न किया हो। ("It is a life centered in self and dependent upon self. There is Swarajya in this world as well as in the world hereafter. It is my conviction it is my thes's that Swarajya in the life to come cannot be the reward of a people who have not rejoyed it in this world.") तिलक के अनुसार आत्मिक नैतिक स्वराज की उपलब्धि के लिए राजनीतिक स्वराज की आवश्यकता है। स्वराज और स्वशासन में ही स्वधर्म की रक्षा संभव है क्योंकि जब तक राजा व प्रजा के जीवनादर्श एवं हित समान नहीं होंगे उनके कार्यों व प्रयासों में सामंजस्य नहीं हो सकता। विजातीय शासन प्रजा के आदर्शों, भावनाओं व हितों को ठीक-ठीक नहीं समझ सकता और जीवन मूल्यों के टकराव के कारण शासक व शासित में विरोध होना स्वाभाविक है। अत: प्रत्येक राज्य का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि उसे स्वराज प्राप्त हो। राजनीतिक स्वतंत्रता नैतिक-आत्मिक स्वतंत्रता की पूर्व शर्त है। यह एक प्राकृतिक अधिकार भी है और नैतिक अनिवार्यता भी। तिलक ने स्वतंत्रता ने पंचभूतों में 'तेजस्' तत्व के समान बताया और कहा 'एक भारी शिला की तुलना में एक प्रकाश-कण अधिक

रहस्योद्घाटन किया कि शारदा सदन में हिन्दू महिलाओं की सरलता व लाचारी का शोषण कर उन्हें ईसाई बनाने का कार्य किया जा रहा है। इस रहस्योद्घाटन की महाराष्ट्र में तीव्र प्रतिक्रिया हुई और रानाडे व भंडारकर जैसे पंडिता रमाबाई के प्रशंसकों ने भी शारदा-सदन की गतिविधियों की कड़ी निन्दा की।

1890 में पारसी समाज-सुधारक बेहरामजी मलबारी के सुझाव पर ब्रिटिश सरकार ने हिन्दू समाज में बाल-विवाह की विकृतियों को दूर करने के उद्देश्य से (Age of Consent Bill) प्रस्तावित किया। इसमें 12 वर्ष के पूर्व किसी बालक या बालिका के विवाह को अपराध माना गया। जहाँ उदारवादियों ने इस कानून का समर्थन किया, तिलक ने इसका घोर विरोध किया। तिलक बाल-विवाह के समर्थक नहीं थे पर उनका विश्वास था कि इस बुराई को कानून बनाकर समाप्त नहीं किया जा सकता। इसके लिए जनता को समझाने-बुझाने की आवश्यकता है। इस बिल पर उनकी सबसे बड़ी आपत्ति यह थी कि एक विदेशी सरकार हिन्दुओं के धार्मिक व सामाजिक मामलों में हस्तक्षेप कर रही है। उन्होंने कहा कि किसी विदेशी सरकार को लोगों की धार्मिक व सामाजिक मान्यताओं में हस्तक्षेप कर जनता की धार्मिक-स्वतंत्रता को प्रभावित करने का कोई अधिकार नहीं है। तिलक को अपने पक्ष में व्यापक जन समर्थन मिला, पर सरकार ने जन भावनाओं को नकारते हुए 1891 में इस विधेयक को पारित कर दिया। तिलक ने सरकार की हठधार्मिता का डटकर मुकाबला किया और पूना में एक बड़ी जनसभा आयोजित की गयी। इस सभा में तिलक ने बाल-विवाह की बुराई को दूर करने के लिए एक दस सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया जिसमें निम्न मुख्य प्रावधान किए गए—बालिकाओं की विवाह की आयु 16 वर्ष और बालकों की 20 वर्ष हो, 40 वर्ष से अधिक के पुरुषों के लिए पुर्नविवाह वर्जित हो, अथवा विशेष परिस्थितियों में वह किसी विधवा स्त्री से विवाह करे, किसी विधवा का मुंडन न किया जाए। इस प्रकार तिलक ने स्पष्ट कर दिए कि सुधार स्वत:स्फूर्त होने चाहिए, विदेशी शासन द्वारा आरोपित नहीं। आरोपित सुधार दीर्घजीवी नहीं होते।

यह स्पष्ट है कि तिलक पाश्चात्य बुद्धिवादी, इहलोकवादी दृष्टि से प्रेरित किसी सुधारवाद के प्रबल विरोधी थे। वे यथास्थितिवादी या रूढ़िवादी नहीं थे जैसा कि उनके आलोचकों ने प्रचारित किया। समाज सुधार सम्बन्धी उनका दृष्टिकोण निम्न मान्यताओं पर आधारित था—

1. श्री के०बी० गोडबोले के अनुसार हिन्दू समाज में प्रचलित कुरीतियों व विकृतियों से वह अनभिज्ञ नहीं थे और उनका निराकरण करने की उनकी तीव्र इच्छा भी थी। पर तिलक का यह निश्चित एवं दृढ़ विचार था कि भारत की स्वतंत्रता सर्वोच्च प्राथमिकता होनी चाहिए और स्वतंत्रता के उपरान्त समाज-सुधार पर विचार करना अधिक युक्त संगत होगा। उन्होंने कहा कि समाज-सुधार एक विवादास्पद विषय है, इसको लेकर अनेक मत हैं। अत: इस मुद्दे को उठाने से मतभेद व टकराव बढ़ सकता है। इस स्थिति में स्वतंत्रता के लिए एकजुट होकर किए जा रहे प्रयासों को धक्का लग सकता है। अत: भारत के परतंत्र रहते समाजसुधार का प्रश्न उठाना युक्ति संगत न होगा।

2. तिलक का दूसरा तर्क यह था कि समाजसुधार के नाम पर ब्रिटिश सरकार या पाश्चात्य जीवन-मूल्यों से प्रभावित उदारवादियों को भारतीय धर्म व परम्परा से खिलवाड़ की अनुमति नहीं दी जा सकती। भारतीय समाज-व्यवस्था धर्ममूलक है, यहाँ व्यक्ति की भूमिका व दायित्वों का निर्धारण उसके लोकोत्तर कल्याण को दृष्टिगत रखकर किया गया है केवल लौकिक व भौतिक कल्याण की दृष्टि से नहीं। भारत की सामाजिक व धार्मिक परम्पराओं को इहलोकवादी या बुद्धिवादी पाश्चात्य दृष्टि से देखना ठीक न होगा। तिलक ने कहा कि भारत में समाजसुधार का दायित्व सन्तों ने वहन किया है। कबीर, तुकाराम व नानक आदि सन्तो द्वारा ही सामाजिक-धार्मिक परम्पराओं की सम्यक् व्याख्या हो सकती है और कब, कहाँ

सुधार की आवश्यकता है, इसका निर्णय भी यही विभूतियाँ कर सकती हैं। समाजसुधार का अधिकार विदेशी सरकार या नौकरशाही या बुद्धिजीवियों को नहीं दिया जा सकता। जब उनके उदारवादी आलोचकों ने यह तर्क दिया कि मार्टिन लूथर ने ईसाई-धर्म में सुधार किए, तो तिलक ने उन्हें यह कहकर निरुत्तर कर दिया कि लूथर को सुधारों में इसलिए सफलता मिली क्योंकि वह ईसाईयत के मूल सिद्धान्तों में श्रद्धा रखता था। लूथर ने बाइबिल को अपमानित नहीं किया। क्या हमारे समाज सुधारक लूथर की तरह हिन्दू धर्मशास्त्रों के प्रति आदर भाव रखते हैं? ('Luther succeeded because he believed and respected the tenets of Christianity. He did not flout the Bible. Let our reforming friends follow the great Christian leader and respat the Hindu scriptures and they will see a miraculous change in the attitide of the people) तिलक का दृढ़ विश्वास था कि भारतीय समाज में परिवर्तन व सुधार का आधार हमारा इतिहास व संस्कृत होनी चाहिए। समाज सुधार की परिणति अपनी जड़ों से कट जाने में नहीं होनी चाहिए। ('A true rationalist desires to build on old foundations. Reform based upon utter disrespect for the ald does not appeal to him as construtive work. We donot want to anglize our institutions and so denationalize them in the name of social and political reforms'.)

तिलक का अन्य तर्क यह था कि समाज में परिवर्तन व सुधार की माँग उठाते समय हमें उसकी व्यावहारिकता पर भी विचार करना चाहिए। सुधार तभी सफल हो सकेंगे जब जनमत उन्हें स्वीकार करेगा। सुधारक को समाज को साथ लेकर चलना पड़ेगा। समाज का स्वरूप सावयविक है। वह दीर्घकालीन विकास का परिणाम होता है। परम्पराए व रीतिरिवाज जनजीवन के अंग होते हैं। यदि उनमें कोई विकृतियाँ आ गयी हैं, तो उन्हें धीरे-धीरे व जनता को विश्वास में लेकर ही दूर करना चाहिए। परिवर्तन व सुधार के नाम पर भारतीय समाज को खंडित करने या उसे पश्चिम की अनुकृति बनाने के वह तीव्र विरोधी थे।

संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि तिलक ने उन उचित सुधारों को अपने जीवन में उतारा का सुधारवादी प्रतिपादन कर रहे थे। उन्होंने अपनी पुत्रियों को शिक्षा हेतु स्कूल भेजा, व ाह 16 वर्ष की अवस्था में किया। अस्पृश्यता के वह तीव्र विरोधी थे और 1918 में छुआछूत आयोजित एक सम्मेलन में उन्होंने स्पष्ट घोषणा की—'यदि ईश्वर अस्पृश्यता को स्वीकार ता है, तो मैं ऐसे ईश्वर को ईश्वर नहीं मानता।' स्पष्ट है कि तिलक सुधारों के आधार और ति की समुचित विवेचना के बाद ही इस मार्ग पर बढ़ना उचित एवं फलदायक मानते थे।

7 राजनीतिक पद्धति

कमान्य तिलक ने भारतीय राजनीति को एक नवीन वैचारिक एवं सैद्धान्तिक आधार तो प्रदान या ही, उन्होंने एक नई राजनीतिक पद्धति का सूत्रपात भी किया। जिस प्रकार वह उदारवादी नीति के वैचारिक आधारों से असहमत एवं असन्तुष्ट थे, उसी प्रकार गोखले, फिरोजशाह ता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि की कार्य-पद्धति भी उन्हें स्वीकार्य न थी। 1905 में लार्ड कर्जन के समकाल में हुए बंगाल के विभाजन के बाद भारतीय राजनीति में एक गुणात्मक परिवर्तन आ ा। इस घटना ने स्पष्ट कर दिए कि ब्रिटिश सरकार के लिए भारतीय जनमत का कोई महत्व हीं है, और अपने साम्राज्यवादी हितों को साधने के लिए वह साम्प्रदायिक वैमनस्य को बढ़ाने में ा कोई संकोच नहीं करेगी। बंगाल के विभाजन के विरुद्ध सम्पूर्ण देश में तीव्र और उग्र

पर नेतृत्व व जनता को अपने लक्ष्य पर निरन्तर दृष्टि रखनी चाहिए। जब ब्रिटिश संसद ने 1918 में 'भारतीय सुधार अधिनियम' पारित किया और प्रथम महायुद्ध में भारतीयों से सहयोग माँगा, तो तिलक ने 'Responsive Co-operation' की नीति को अपनाने पर बल दिया। इसका आशय यह था कि ब्रिटिश साम्राज्य को हमारा सहयोग इस बात पर निर्भर करेगा कि वह भारत के लिए क्या करता है? उन्होंने सुधारों का स्वागत किया पर अन्य लक्ष्यों की पूर्ति होने के लिए संघर्ष करते रहने की आवश्यकता बताई।

4. तिलक भारतीय धर्मशास्त्रों व पाश्चात्य-दर्शन के मर्मज्ञ थे। अपनी तमाम राजनीतिक व्यवस्थाओं, राजनीतिक उत्पीड़न व जेल-प्रवास के बीच भी वह ज्ञान-साधना में रत् रहे। उन्होंने 'ओरियन', 'आर्कटिक होम इन वेदास', व 'गीता-रहस्य' जैसे ग्रंथों की रचना की व सांख्यकारिका पर एक टीका लिखी। मैक्स मूलर, मैकोबी एवं बेबर जैसे विद्वान उनकी प्रतिभा का लोहा मानते थे। भारत के पूर्व राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन का विचार है कि तिलक स्वभावत: एक विद्वान थे और विवशता वश ही एक राजनेता थे। ('The field of politics to which Mr. Tilak devoted the best years of his life was not the one for which he was made. He was by nature a scholar and only by necessity a politician'.)

4.9 सारांश

स्वराज के मंत्रदाता लोकमान्य तिलक का आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन में महत्वपूर्ण स्थान है। कांग्रेस के गरमपंथी दल के प्रमुख नेता के रूप में उन्होंने राष्ट्रीय जागरण में एक विशिष्ट भूमिका निभाई। कांग्रेस जोकि एक अभिजात्य वर्ग की संस्था के रूप में जानी जाती थी, को एक सशक्त जन-संगठन बनाने का श्रेय तिलक को जाता है। तिलक ने उदारवादी-नीतियों व कार्य-पद्धति को अस्वीकार कर दिया। उन्होंने भारत में प्रखर राष्ट्रवाद के युग का सूत्रपात किया और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत के धार्मिक व ऐतिहासिक प्रतीकों का सहारा लिया। 'गणेश पूजा' और 'शिवा जी उत्सव' के माध्यम से महाराष्ट्र और सम्पूर्ण भारत में राष्ट्रीय चेतना की वृद्धि करने में तिलक का उल्लेखनीय योगदान रहा। तिलक स्वराज के प्रबल पक्षधर थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना इंग्लैण्ड के राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए हुई थी न कि भारत के कल्याण के लिए। अत: राजनीतिक स्वराज हमारी सर्वोच्च प्राथमिकता होनी चाहिए क्योंकि इसके बिना भारतीय सभ्यता व संस्कृति की रक्षा नहीं हो सकती और न ही भारत का आर्थिक सामाजिक विकास। अन्य उग्रवादियों की भाँति तिलक संवैधानिक साधनों को अपनाने के घोर विरोधी थे। उन्होंने स्वदेशी व बहिष्कार के साधनों का समर्थन किया। उदारवादियों से उनका मतभेद राजनीतिक मुद्दों पर ही नहीं था, वह सामाजिक सुधार के प्रश्न पर उदारवादियों से भिन्न दृष्टिकोण रखते थे। तिलक ने राजनीतिक स्वतंत्रता को प्रधान माना। एक स्वतंत्र देश ही अपनी समाज-व्यवस्था की विकृतियों को ठीक से समझ सकता है व उनका उपचार कर सकता है। लोकमान्य तिलक बहुमुखी व्यक्तित्व के धनी थे। वह एक लोकप्रिय राजनेता भी थे एवं एक गंभीर विद्वान भी।

4.10 उपयोगी पुस्तकें

1. डा० बी०पी० वर्मा – आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन 1995

राम गोपाल - लोकमान्य तिलक

Shanta Sathe - Lokmanya Tilak

एल०शे०क्योनेर - 'दि लिगेसी ऑफ लोकमान्य : द थ्योलिटिकल फिलॉसफी ऑफ बाल गंगा तिलक, आक्सफोर्ड प्रेस, मुम्बई, 1956.

रिचर्ड ए. कैशमैन - मिथ ऑफ लोकमान्य तिलक एण्ड मास पॉलिटिक्स इन महाराष्ट्र, लंडन, 1975

एस. राधाकृष्णन - तिलक एण्ड एन ओरिएण्टलिस्ट, पब्लिस्ड इन एमिनेन्ट ओरिएण्टलिस्ट, नाटेसन एण्ड कम्पनी, मद्रास

11 सम्बन्धित प्रश्न

उत्तरीय प्रश्न

लोकमान्य तिलक के स्वराज सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।

क्या आप इस विचार से सहमत है कि तिलक राजनीतिक दृष्टि से उग्रवादी और सामाजिक दृष्टि से रूढ़िवादी थे?

तिलक की राजनीतिक पद्धति की समीक्षा कीजिए।

राष्ट्रीयता के संवर्धन पर तिलक के विचारों की व्याख्या कीजिए।

उत्तरीय प्रश्न

राष्ट्रीय शिक्षा पर तिलक के विचार लिखिए?

तिलक ने सामाजिक सुधारवाद का क्यों विरोध किया?

निष्क्रिय प्रतिरोध पर तिलक के विचार लिखिए।

तुनिष्ठ प्रश्न

समाज सुधार के प्रश्न पर तिलक के किससे मतभेद थे?

(अ) गोखले (ब) महात्मा गाँधी

(स) डा० अम्बेडकर (द) एनी बीसेन्ट

तिलक ने स्वराज की व्याख्या की है।

(अ) नैतिक राजनीतिक (ब) आर्थिक

(स) उदारवादी (द) मार्क्सवादी

निम्न में से कौन सा ग्रंथ तिलक द्वारा लिखा गया है?

(अ) एसे ऑन गीता (ब) गीता-रहस्य

(स) गीता-दर्शन (द) गीतावली

12 प्रश्नोत्तर

1. (अ) 2. (अ) 3. (ब)

sedition, they preach violence, they speak of murders with approval you hail the advent of bomb in India as if something has come to India for its good'.)

क्या तिलक हिंसा व आतंक की राजनीति के पक्षधर थे? तिलक के राजदर्शन में थोथी भावुकता के लिए कोई स्थान नहीं था। वह गीता में प्रतिपादित 'व्यावसात्मिका बुद्धि' (Prudence) को राजनीति का मूल तत्व मानते थे। वह यह स्वीकार करने को तैयार नहीं थे कि राजनीतिक जीवन पूर्ण अहिंसा के साथ चल सकता है या चलना चाहिए। वह शिवाजी द्वारा अफ़ज़ल खाँ के वध को उचित मानते थे और चाफेकर जैसे क्रान्तिकारियों के साहस व देशभक्ति के प्रशसंक थे। तिलक का स्पष्ट विचार था कि किसी कार्य के सम्पादन में भाव की श्रेष्ठता का महत्व है, उसके बाह्य कलेवर का नहीं। किसी कार्य को नैतिकता व श्रेष्ठता की कसौटी भी यही है। शिवा जी या चाफेकर जैसे लोग जब राष्ट्रभक्ति से प्रेरित होकर हिंसा का आश्रय लेते हैं तो उन्हें एक सामान्य हत्यारे की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। भगवान कृष्ण की प्रेरणा से अर्जुन ने धर्म की रक्षा के लिए अपने सगे सम्बन्धियों के विरुद्ध अस्त्र उठाया। स्वधर्म की रक्षा के लिए कभी हिंसात्मक साधन भी आवश्यक हो जाते हैं। ऐसी परिस्थितियों में हिंसा व क्रान्ति को अनुचित नहीं माना जा सकता। परन्तु तिलक का दृढ़ विश्वास था कि भारत की वर्तमान परिस्थितियों में हिंसा या आतंक का सहारा लेना उचित रणनीति नहीं होगी और न ही वह लाभकारी (Expedient) होगी। इस संदर्भ में उनका निम्न कथन बहुत महत्वपूर्ण है—"यह सत्य है कि जो हम चाहते हैं वह क्रान्तिकारी प्रतीत हो सकता है। हमारा यह आग्रह कि हम नौकरशाही द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त में पूर्ण परिवर्तन चाहते हैं, क्रान्तिकारी ही है। यह सत्य है कि ये क्रान्तिकारी परिवर्तन रक्त विहीन तरीकों से होने चाहिए, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि यदि खून नहीं बहेगा तो हमें कष्ट भी नहीं सहने होंगे। हमें काफी कष्ट उठाना पड़ेगा। बिना कष्ट उठाए आपको कुछ मिलने वाला नहीं है। आपकी क्रान्ति रक्त विहीन होनी चाहिए, पर इसका यह अर्थ नहीं कि आपको कष्ट न सहना पड़े या जेल न जाना पड़ें।" ('It is true that what we seek may seem like a revolution, it is a revolution in the seuse that it means a complete change in the theory of government in India as now put forward by the bureaucracy. It is true that this revolution must be a bloodless revolution - but that does not mean that you may not have to suffer or to go to gaol.')

तिलक ने कहा कि ब्रिटिश साम्राज्य बहुत शक्तिशाली है, नौकरशाही के पास सभी प्रकार की शक्तियाँ हैं जबकि भारत के लोग असंगठित एवं निहत्थे हैं। ऐसी दशा में क्रान्तिकारी मार्ग को चुनना व्यावहारिक व लाभकारी नहीं होगा। इस प्रकार वह हिंसा व क्रांन्ति को तत्कालीन परिस्थितियों में उचित साधन नहीं मानते थे। पर तिलक के हृदय में देश के लिए प्राणोत्सर्ग करने वाले क्रान्तिकारियों के लिए बहुत सम्मान था। श्यामजी कृष्ण वर्मा, दामोदर सावरकर, विनायक सावरकर जैसे क्रान्तिकारी तिलक का बहुत सम्मान करते थे। तिलक लेनिन या बाकुनिल की तरह क्रान्तिकारी नहीं थे और न ही उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त करने के लिए किसी क्रान्तिकारी योजना की परिकल्पना की।

4.8 समीक्षा

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन में तिलक एक प्रकाश-पुंज की भाँति हैं। वह एक असाधारण सिद्धान्तकार एवं रणनीतिकार थे और इसी कारण वह महाराष्ट्र में ही नहीं, सम्पूर्ण देश में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने में सफल हुए। तिलक के महत्व का विवेचन निम्न प्रकार से किया

लोकमान्य मिलक जान, कर्मठता एवं त्याग की प्रतिमूर्ति थे। उनमें अदम्य साहस एवं असाधारण दूरदर्शिता थी। उनका आत्म-संयम विरोधी को भी चमत्कृत कर देता था। ब्रिटिश लेखक नेविन्सन ने उनके विलक्षण गुणों का यह शब्द-चित्र प्रस्तुत किया है—'वह बहुत शान्त एवं संयमित हैं, और चाहे निजी बातचीत हो अथवा कोई सार्वजनिक सभा, अपने विचारों को छोटे लेकिन दृढ़ वाक्यों में व्यक्त करते हैं, वह वाकजाल से कतई अछूते हैं, अत्यन्त उत्तेजना के समय में भी नितान्त अविचलित रहते हैं उनके इस शान्त एवं संयत स्वभाव का रहस्य संभवत: यह है कि वह अपने भविष्य के प्रति पूर्णत: उदासीन हैं- ब्रिटिश सरकार द्वारा किए गए उत्पीड़न के बीच जब धन, प्रतिष्ठा, प्रभाव सभी कुछ दाँव पर लगा था, शायद ही कोई अन्य व्यक्ति धर्मशास्त्रों या आर्कटिक वृत्तों पर विचार करने का साहस जुटा पाएगा।' ('His general manner is very quiet and controlled, and both in conversation and public speaking he talks in brief, assured sentences, quite free from rhetoric, outwardly passionless even in the moments of hignest passion. His apparent calmness and self-command may partly arise from courageous indifference to his own future, partly from prolonged legal pratice at his own trials in the midst of direct presecution when money, reputation, influence and everything were at stake, few would have had the courage to spase a thought either for Sacred books or Arctic Circles,') तिलक ने जिस निस्पृष्टता एवं निष्ठा से स्वराज के लिए अनथक प्रयास किए उसका जन-मानस पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसीलिए अथाले ने लिखा है कि 'भारत में एक नए राष्ट्रवाद की नींव रखने में तिलक के भाषणों व लेखों से अधिक उनके जीवन व चरित्र का योगदान है।'

महात्मा गाँधी ने तिलक को 'आधुनिक भारत का निर्माता' बताया है। तिलक ने राष्ट्रीयता के नैतिक आत्मिक स्रोतों को प्रवाहमान बनाकर एक विशाल जन आन्दोलन खड़ा कर दिया। वे राजनीति को परिषदों व मंडपो से निकालकर जनता तक लाए। ब्रिटिश शासन के इस दावे कि कांग्रेस जनता की प्रतिनिधि नहीं है, को उन्होंने खोखला साबित कर दिया। प्रसिद्ध विद्वान एम०ए० बुच के अनुसार—'सुकरात की तरह तिलक राजनीति को स्वर्ग से धरती पर लाए, कौंसिल हाल या कांग्रेस के मंडप से सड़क या बाजार पर ले आए।' ('Like Socrates, Tilak brought political philosophy in India from heaven to earth, from the Council Hall or the Congress mandap to the street and the market'.)

तिलक एक कुशल रणनीतिकार थे। ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष करने में उन्होंने जिस राजनीतिक पद्धति को अपनाया उसमें ऐतिहासिक व धार्मिक प्रतीकों और स्वदेशी तथा बहिष्कार की नीति का इस प्रकार समावेश किया गया था कि एक विशाल जन-आन्दोलन खड़ा हो गया और ब्रिटिश नौकरशाही को पहली बार अपनी विवशता एवं दुर्बलता का एहसास हुआ। तिलक एक ऐसे आदर्शवादी थे जिनमें अपने लक्ष्य के प्रतिपूर्ण समर्पण था और उसकी प्राप्ति के लिए असीम धैर्य। वह भावुकता एवं कपोल-कल्पनाओं से दूर थे और मानते थे कि उतार-चढ़ाव, सफलता-असफलता राजनीतिक संघर्ष का अंग है। रणनीति में आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी स्वाभाविक व अपेक्षित है।

प्रतिक्रिया हुई और इस घटना ने उदारवादी राजनीति की सीमाओं को उजागर कर दिया। तिलक, अरविन्दघोष, लाजपतराय व विपिन चन्द्र पाल जैसे नेता उदारवादियों की 'राजनीतिक भिक्षावृत्ति' की नीति का मुखर विरोध करने लगे। उनके प्रभाव और प्रेरणा से पूरे देश में 'Militancy-not Mendicancy' का नारा गूँजने लगा। इस प्रकार कांग्रेस को नई पद्धति व नया दर्शन देने में तिलक ने निर्णायक भूमिका निभाई। पं० जवाहर लाल नेहरू ने अपनी पुस्तक 'The Discovery of India' में लिखा है कि बंगाल-विभाजन के बाद भारतीय राजनीति में जिस नए युग का सूत्रपात हुआ उसके असली प्रतीक लोकमान्य तिलक थे। ('The powerful agitation against the Partition of Bengal had thrown up inany able and aggressive leaders....but the real symbol of the new age was Bal Gangadhar Tilak from Maharasthra'.)

कांग्रेस के नरमपंथी गुट द्वारा संवैधानिक साधनों को अपनाने की रीति-नीति की तिलक ने कटु आलोचना की। 1907 में उन्होंने 'केसरी' में तीन लेख लिखकर संवैधानिक साधनों के खोखलेपन पर करारे प्रहार किए। उन्होंने कहा कि संवैधानिक साधनों द्वारा सरकार का विरोध करना समय की बरबादी ही है। संवैधानिक साधनों की वकालत करने वाले इस शब्द की उत्पत्ति या उसके प्रयोग से ही अनभिज्ञ हैं। जो शब्दावली ब्रिटिश राजनीति के संदर्भ में प्रयुक्त होती हो, उसे भारतीय परिस्थितियों में प्रयोग करने का प्रयास अज्ञानता ही कही जाएगी। इंग्लैण्ड में एक लोकतांत्रिक सरकार है जो संवैधानिक परम्पराओं के आधार पर संचालित होती है। यदि वहाँ सरकार निरंकुश हो जाए तो जनता को सरकार को बदल देने का संवैधानिक अधिकार प्राप्त है। क्या भारत ऐसी किसी संवैधानिक या लोकतांत्रिक व्यवस्था के आधार पर संचालित हो रहा है? भारत की सरकार तो ब्रिटिश संसद की कृति है और उसी के प्रति उत्तरदायी है। भारत की जनता के प्रति इस सरकार की कोई जवाबदेही नहीं है और न ही भारतीय जनता को सरकार को नियंत्रित या परिवर्तित करने की कोई शक्ति प्राप्त है। भारत में यदि कोई संविधान है तो भारतीय दण्ड संहिता (Indian Penal Code) है, और यह भी ब्रिटिश सरकार द्वारा अपने हितों की रक्षा की दृष्टि से बनाया गया है। अत: ब्रिटिश सरकार किसी राजनीतिक आन्दोलन को जब चाहे अवैधानिक घोषित कर सकती है, और ऐसे में तो भारतीय जनता के पास अपना विरोध प्रकट करने का कोई मार्ग ही नहीं रह जाता। अत: तिलक ने कहा कि भारत के राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं को आन्दोलन करते समय कानून की नहीं, न्याय, नैतिकता व औचित्य की चिन्ता करनी चाहिए। एक शक्तिशाली साम्राज्यवादी शासन का विरोध करने के लिए संवैधानिक या वैधानिक साधनों की वकालत करने वाले वस्तुत: भारत को राजनीतिक आत्महत्या के लिए प्रेरित कर रहे हैं।

इस प्रकार तिलक ने स्पष्ट कर दिया कि पुराने तौर-तरीकों से काम करने के दिन अब लद चुके है। तिलक व कांग्रेस के अन्य उग्रवादी नेता स्वदेशी और बहिष्कार (निष्क्रिय प्रतिरोध) रूपी नए अस्त्रों के द्वारा ब्रिटिश शासन के अन्याय व दमन से लड़ना चाहते थे। नरम पंथियों व गरमपंथियों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए तिलक ने कहा "नरमपंथी यह मानते हैं कि राजनीति दर्शन के सिद्धान्तों से संचालित हो सकती है लेकिन हमारा विचार है कि राजनीति एवं दर्शन दो बिल्कुल अलग चीजे हैं और उन्हें मिलाया नहीं जाना चाहिए।" तिलक के अनुसार ब्रिटिश शासन अनुनय-विनय की भाषा नहीं समझता, वरन् इसे वे हमारी दुर्बलता समझते हैं। अत: हमारी माँगों के प्रति उपेक्षा व उपहास का दृष्टिकोण रखते हैं। वस्तुत: निष्क्रिय प्रतिरोध जैसे उग्र साधनों का प्रयोग अपरिहार्य है। निष्क्रिय प्रतिरोध का अर्थ व महत्व स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा—'हमारे पास शस्त्र नहीं हैं व हमें उनकी आवश्यकता भी नहीं है। बहिष्कार के रूप में हमारे पास एक शक्तिशाली राजनीतिक अस्त्र है। हम जानते हैं कि भारत का सम्पूर्ण प्रशासन भारतीयों के सहयोग से ही चलता है। ब्रिटिश सरकार भारतीयों को उनकी शक्ति से अनभिज्ञ रखना चाहती है। अंग्रेज

ते हैं कि इस देश में उनकी संख्या तो मुट्ठी भर ही है। पर वह हमें यह विश्वास दिलाकर मूर्ख ाते रहे हैं कि वे शक्तिशाली हैं और भारतीय दुर्बल। ऐसी राजनीति से हम बहुत धोखा खा के हैं। कांग्रेस का उग्रवादी दल तो यह चाहता है कि लोग समझे कि उनका भविष्य उनके हाथ ही है। यदि हम स्वतंत्र होने का संकल्प कर लें तो स्वतंत्र हो जाएंगे, पर यदि इस संकल्प का भाव रहेगा तो हम हमेशा पराधीन ही रहेंगे। यदि तुम सक्रिय प्रतिरोध का मार्ग नहीं अपना करो तो क्या तुममें आत्म-निग्रह की इतनी शक्ति भी नहीं है कि विदेशी सरकार से कोई सहयोग करो? यही बहिष्कार है.. हम सरकार को न कर देंगे और न शासन करने में सहयोग करेंगे। युद्धों में उनके लिए अपना खून भी नहीं बहाएंगे, न्यायिक प्रशासन में हम उनसे सहयोग नहीं रेंगे वरन् हम अपने न्यायालय बनाएंगे। क्या तुम एक होकर ऐसा नहीं कर सकते? यदि हाँ, तो कल से ही स्वतंत्र हो।' इस प्रकार तिलक ने जनता से अनुरोध किया कि वह सरकार के थ राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक या न्यायिक किसी क्षेत्र में सहयोग न करे और देशी वस्तुओं व संस्थाओं को अपनाए। बहिष्कार व स्वदेशी रूपी यह दुधारी तलवार ब्रिटिश ज्य को पंगु बना देगी। स्वदेशी का सिद्धान्त भारत के आर्थिक व औद्योगिक विकास का मार्ग शस्त करेगा, लोगों में राजनीतिक व न्यायिक कार्यों को करने की क्षमता उत्पन्न करेगा, और ीय आदर्शों के अनुरूप शिक्षा प्रणाली स्थापित हो सकेगी। स्वदेशी बहिष्कार का सकारात्मक ा है, यह राष्ट्र के लिए प्रेम व त्याग का मार्ग है और राष्ट्रीय स्वाभिमान का प्रतीक है। तिलक ने हिष्कार को युद्ध का विकल्प बताया जो एक विदेशी राज्य को जर्जर करने में युद्ध की तरह भावशाली है—"The boycott is a substitute for war. As we cannot go war as did the Boers in South Africa, the next beat thing is to fuse to buy the British goods. This is the spirit behind the wadeshi and boycott movement" तिलक का दृढ़ विश्वास था कि निष्क्रिय तिरोध के द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य को अपनी भारत-विरोधी नीतियों को छोड़ने व स्वराज का मार्ग ास्त करने के लिए बाध्य किया जा सकता है।

ष्क्रिय प्रतिरोध की पद्धति बहुत लोकप्रिय हुई। बंगाल, महाराष्ट्र, पंजाब आदि देश के विभिन्न गों में विदेशी वस्तुओं व सरकारी संस्थाओं का बड़े पैमाने पर बहिष्कार होने लगा और लोग देशी अपनाने लगे। निष्क्रिय प्रतिरोध की जिस धारणा को थोरो व टालस्टाय जैसे दार्शनिकों ने तिपादित किया था, उसे मूर्तरूप देने का श्रेय तिलक को दिया जा सकता है। व्यावहारिक जनीति में निष्क्रिय प्रतिरोध को एक अत्यन्त कारगर साधन के रूप में सफलतापूर्वक प्रयुक्त कर लक ने अपने राजनीतिक कौशल व दूरदर्शिता को प्रमाणित कर दिया। कालान्तर में महात्मा धी ने इसे और परिष्कृत व परिमार्जित किया।

लक के विचारों व कार्य-पद्धति ने भारत में एक असाधारण जागृति उत्पन्न कर दी। ब्रिटिश ासन को पहली बार जनता के उग्र व व्यापक असन्तोष का सामना करना पड़ा। ब्रिटिश करशाही एवं प्रेस ने तिलक को अपनी दुर्भावनापूर्ण आलोचना का केन्द्र बनाया। तिलक पर शान्ति व अराजकता की राजनीति को प्रोत्साहित करने का आरोप लगाया गया। ब्रिटिश पत्रकार लेखक वेलेन्टाइन शिरोल ने तिलक को भारत में अशान्ति का जन्मदाता बताया और कहा कि होंने हत्या की राजनीति का माहौल बनाने का कार्य किया है। ('Tilak had been the rst to create the atmospher which breeds murders'). जॉन हॉवलैण्ड ने खा कि तिलक की हिंसा फैलाने वाले तत्वों से मिली भगत है। ('He has been bquatting with the doctrines of physical force') 1908 में तिलक पर जद्रोह सम्बन्धी मुकदमें में अपना निर्णय देते हुए जस्टिस डावर ने लिखा "आपके लेख जद्रोह से लबरेज़ हैं, वे हिंसा का समर्थन करते हैं, उनमें हत्याओं का समर्थन है और आप भारत हित बम के दौर की शुरूआत में देखते हैं।" ('Your articles are Seething with

इकाई 5 : अरविन्द घोष

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 जीवन परिचय
5.3 अरविन्द का दर्शन
5.4 इतिहास व समाज दर्शन
5.5 राष्ट्रवाद का सिद्धान्त
5.6 राज्य सम्बन्धी विचार
5.7 सारांश
5.8 उपयोगी पुस्तकें
5.9 सम्बन्धित प्रश्न
5.10 प्रश्नोत्तर

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त् आप :

- अरविन्द घोष के जीवन पर टिप्पणी कर सकेंगे।
- अरविन्द घोष के दर्शन, इतिहास दर्शन और राजनीतिक दर्शन के विविध पक्षों की विवेचना कर सकेंगे।
- श्री अरविन्द के राष्ट्रवाद संबंधी विचारों की विवेचना कर सकेंगे।
- अरविन्द के राज्य संबंधी विचारों को जान सकेंगे एवं उनका मूल्यांकन भी कर सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

सुप्रसिद्ध इतिहासकार डा० आर०सी० मजूमदार ने महर्षि अरविन्द घोष के विस्मयकारी जीवन का सार इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"भारत में एक बालक के रूप में, इंग्लैण्ड में एक युवक के रूप में, बड़ौदा में एक विद्वान व अध्यापक के रूप में, भारतीय स्वतंत्रता के सेनानी के रूप में चिन्तक, कवि, योगी व ऋषि श्री अरविन्द में एक लोकोत्तर आभा थी, वे एक अतुलनीय व्यक्ति थे।" ('As a child in India, a youth in England, a scholar and professor in Baroda, a fighter for his country's freedom, a thinker, poet, yogi and Rishi, Sri Aurobindo was a transcendent splendour, an incomparable phenomenon') नि:सन्देह अरविन्द घोष एक प्रकाश पुंज की भाँति पहले भारत के राजनीतिक व कालान्तर में आध्यात्मिक क्षितिज को आलोकित करते रहे। भारतीय राजनीति में अपनी सक्रियता के 4-5 वर्षों में ही उन्होंने अपनी प्रखर देशभक्ति व दूरदर्शिता से नई पीढ़ी को उत्साह व कर्मठता से भर दिया। राजनीतिक जीवन का परित्याग करने के बाद उन्होंने अपनी योग-साधना के बल पर भारत की आध्यात्मिक व सांस्कृतिक सम्पदा से विश्व को परिचित कराया।

5.2 जीवन परिचय

अरविन्द घोष का जन्म 15 अगस्त 1872 में कलकत्ता में हुआ था। उनके पिता कृष्णधन घोष

क प्रसिद्ध चिकित्सक थे और पूरी तरह से पाश्चात्य संस्कृति में रचे बसे थे। दार्जिलिंग में
म्भिक शिक्षा के बाद उन्हें और उनके दो बड़े भाइयों को आगे की शिक्षा के लिए इंग्लैण्ड
ा गया। उनके पिता ने इंग्लैण्ड में अपने पुत्रों के संरक्षक को स्पष्ट निर्देश दिया था कि बच्चों
कोई भारतीय प्रभाव न पड़ने पाए। अरविन्द अत्यन्त प्रतिभाशाली छात्र थे, और शीघ्र ही
होंने लेटिन, ग्रीक, फ्रेंच, जर्मन व अंग्रेजी भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। केम्ब्रिज में
ग्स कालेज से बी०ए० की परीक्षा पास करने के बाद वह आई०सी०एस० की परीक्षा में बैठे
र 18 वर्ष की अल्प आयु में उसे पास कर लिया। परन्तु अरविन्द का प्रशासनिक जीवन के
ति कोई आकर्षण न था, वह तो अपना जीवन भाषा व साहित्य की साधना व देश-सेवा में
र्पित करना चाहते थे। उनके परिवार-जनों का यह आग्रह था कि अरविन्द आई०सी०एस०
धिकारी ही बने। अरविंद ने बड़ी सूझबूझ से काम लिया और घुड़सवारी की परीक्षा जिसे पास
ना अनिवार्य था, में अपने को अयोग्य साबित कर दिया। इस प्रकार उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया
वह ब्रिटिश नौकरशाही का अंग नहीं बनना चाहते। छात्र-जीवन से ही उनकी आयरलैण्ड व
छ अन्य देशों के स्वतंत्रता संघर्षों में गहरी रूचि थी। भारत की पराधीनता उन्हें बहुत व्यथित
ती थी। समाचार पत्रों व पुस्तकों के माध्यम से वह भारतीय राजनीति पर पैनी नजर रखते थे।
ी समय उन्होंने संस्कृत व बंगला भाषाओं का अध्ययन प्रारंभ कर दिया था। जब बड़ौदा के
राजा इंग्लैण्ड गए और अरविंद से मिले, तो उनकी प्रतिभा व राष्ट्र प्रेम से बहुत प्रभावित हुए।
होंने अरविन्द से बड़ौदा राज्य की प्रशासनिक सेवा में उत्तरदायित्व सँभालने का आग्रह किया।
विन्द ने भारत लौटने का निर्णय किया व 1893 में जब उन्होंने बम्बई के बंदरगाह पर पैर रखा
वह बहुत भावुक हो उठे। उन्हें एक विलक्षण अनुभूति हुई। उन्होंने लिखा है—'मुझे अपार
न्ति मिली. मुझे आत्मिक अनुभव होने लगे, ऐसे अनुभव जिनके बारे में पहले कुछ जानता भी
था।' बड़ौदा राज्य की प्रशासनिक जिम्मेदारियों में उनका मन नहीं लगा, अत: उन्हें बड़ौदा
लेज में फ्रेंच भाषा के अध्यापन का दायित्व सौंपा गया।

त वापस आकर अरविन्द कांग्रेस की गतिविधियों को बड़ी सावधानी से देखने लगे।
रवादियों के कार्यक्रमों व पद्धति से उन्हें गहरी निराशा हुई। 1893 में 'इन्दु प्रकाश' में उन्होंने
अनाम लेख लिखे जिनमें कांग्रेस के नेतृत्व, उसकी नीतियाँ व कार्यों की कटु आलोचना की
। उन्होंने कहा—'कांग्रेस के लक्ष्य गलत हैं, इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए अपेक्षित ईमानदा
समर्पण का भी अभाव है, इसकी पद्धति दोषपूर्ण है और उसका नेतृत्व सही हाथों में नहीं है
मान में हमारा मार्गदर्शन करने की जिम्मेदारी जिन लोगों ने ले रखी है, वे यदि अन्धे नहीं तो
ने अवश्य हैं।' अरविन्द ने उदारवादी कांग्रेस की निम्न कारणों से आलोचना की—

> कांग्रेस के झंडे तले भिन्न-भिन्न धर्मों व जातियों के लोग इकट्ठे हो गए हैं परन्तु इसे राष्ट्रीय संगठन नहीं कहा जा सकता। कांग्रेस नवोदित मध्यमवर्ग की संस्था बन कर रह गई है और इसमें आम जनता की भागीदारी नहीं है।
>
> ब्रिटिश शासकों से भारत के हितों के लिए कार्य करने की अपेक्षा निर्मूल है। सरकार में बहुत संकीर्ण व व्यापारिक मानसिकता के लोग हैं जो केवल अपने हितों व स्वार्थों की परवाह करते हैं। ऐसे शासकों से प्रार्थना व याचना करना सम्मान जनक न होगा। भारतीय जनता को अपने पुरुषार्थ व अपनी एकता पर भरोसा करना सीखना चाहिए।

ोदा में अध्यापन कार्य करते हुए अरविन्द महाराष्ट्र व बंगाल के क्रान्तिकारियों के निकट
पर्क में आए। 1905 में बंगाल के विभाजन ने उन्हें उद्वेलित कर दिया और वह कलकत्ता चले
। उन्होंने एक बंगाली समाचार पत्र 'युगान्तर' प्रारंभ किया एवं विपिन चन्द्र पाल के साथ
तकर 'वंदे मातरम्' को शुरू किया। उनके प्रखर राष्ट्रवादी विचारों ने बंगाल में धूम मचा दी।
होंने कहा कि भारत का लक्ष्य पूर्ण स्वराज होना चाहिए। भारतवासियों को संवैधानिक या
नीतिक सुधारों की मांग में अपना समय बर्बाद नहीं करना चाहिए। अरविन्द ने बंगाल के

उग्रवादियों को संगठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। वे तिलक के राष्ट्रवादी विचारों के बड़े प्रशंसक थे। अरविन्द घोष की व्यापक लोकप्रियता एवं उग्र विचारों ने ब्रिटिश सरकार को काफी परेशान कर रखा था। सरकार उन्हें बहुत खतरनाक व्यक्ति मानने लगी थी व उनके विरुद्ध कार्यवादी करने के मौके की तलाश में थी। अन्ततः पहले 1907 में और फिर 1909 में मानिकटोला बम षड्यंत्र कांड में उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया एवं मुकदमा चलाया गया। देशबन्धु चितरंजनदास की कुशल पैरवी के फलस्वरूप वह इस बमकांड से बरी हो गए। इसके बाद अरविन्द घोष ने एक आश्चर्यजनक निर्णय किया और राजनीति से सन्यास ले लिया। वह पांडिचेरी चले गए और योग साधना में तल्लीन हो गए। वह लगभग 40 वर्ष तक पांडिचेरी में रहे और एक योगी व ऋषि के रूप में आध्यात्मिक प्रकाश विकीर्ण करते रहे। इस महान विभूति ने 1950 में महाप्रयाण किया। अरविन्द ने अनेक महान कृतियों की रचना की जिनमें 'सावित्री' 'दि लाइफ डिवाइन', 'दि सिन्थीसिस आफ योग', 'फाउन्डेशन्स आफ इंडियन कल्चर', 'ह्यूमन साइकिल' आदि शामिल है। फ्रांस के महान दार्शनिक रोमां रोलां के अनुसार अरविन्द में एशिया और यूरोप की प्रतिभा का सम्पूर्ण समन्वय दृष्टिगोचर होता है। ('He is the completest synthesis that has been realized to this day by the geniuses of Asia and geniuses of Europe').

5.3 अरविन्द का दर्शन

अरविन्द का तत्व-दर्शन मूलतः भारतीय है, यद्यपि कतिपय पाश्चात्य दार्शनिक मान्यताओं ने उन्हें प्रभावित किया। उनके तत्व-दर्शन के तीन मुख्य पक्ष हैं—सत् का स्वरूप (Nature of Reality), विकासवाद (Evolution) एवं समग्र योग (Integral Yoga)।

अरविन्द के अनुसार जीवन एवं जगत् ब्रह्म के व्यक्त स्वरूप हैं, उन्हें पूर्णतः आकस्मिक या मिथ्य नहीं माना जाना चाहिए। भौतिक जगत् ब्रह्म की प्रतिच्छाया है, अपने में साध्य नहीं है अतः मनुष्य का लक्ष्य भौतिक पार्थिव जीवन तक सीमित रहना नहीं हो सकता। इस भौतिक जगत से उच्चतर अन्य लोक भी हैं एवं मनुष्य की चेतना उनका अनुभव करने की शक्ति रखती है। इस सम्पूर्ण ब्रह्मांड का स्रोत व आश्रय ब्रह्म है जो कि शाश्वत है एवं अस्तित्व, ज्ञान एवं आनंद का सर्वोच्च केन्द्र है। भारतीय मनीषियों ने इसीलिए ब्रह्म को 'सच्चिदानंद' कहा है। ब्रह्म के इन तीन पक्षों—सत्-चित्-आनंद में सम्पूर्ण ब्रह्मांड समाहित है। ब्रह्म में सभी अर्न्तविरोधों, द्वन्द्वों व सापेक्षताओं का समाधान हो जाता है।

अरविन्द के अनुसार ब्रह्म ही सृष्टि में प्रविष्ट होकर (Involution) सृजन व विकास की प्रक्रिया प्रारंभ करता है। परम चेतना कण कण में व्याप्त है। इस परम चेतना का पदार्थ (Matter), जीवन (Life) और मन (Mind) में अवतरण (Descent) होता है। परम चेतना का अंश होने के कारण सम्पूर्ण जड़ चेतना जगत् अपने उद्गम या स्रोत की ओर अग्रसर होना चाहता है, और इस प्रक्रिया को अरविन्द विकास (Evolution) या उत्क्रान्ति (Ascent) कहते हैं। इस प्रकार विकास एक प्रकार से आत्मा की घर-वापसी (A Sort of homesickness of the spirit) है। इस ब्रह्मांड में मनुष्य की विशिष्ट स्थिति है क्योंकि उसमें भाव-शक्ति प्राण-शक्ति व मानसिक शक्ति विकसित रूप में विद्यमान हैं। मनुष्य मात्र भौतिक प्राणी नहीं है। अरविन्द के अनुसार मनुष्य के विकास की प्रक्रिया को मानसिक स्तर पर आकर ही नहीं रूक जाना है, वरन् अति मानसिक (Supra-mental) स्थिति को प्राप्त करना मनुष्य की नियति है। अरविन्द चेतना को मन से उठाकर अति-मन में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। मनुष्य को मानसिक स्तर की सिद्धियों व सम्पदाओं से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। अरविन्द के अनुसार दिव्य जीवन की उपलब्धि का आधार मन ही है। इसके उत्तरोत्तर विकास से मनुष्य

वृत्तियों व आवेशों को नियंत्रित कर विशुद्ध ज्ञान के प्रभाव से जीवन को संचालित कर सकेगा। अतिमानसिक अवस्था में आरोहरण के बाद मनुष्य साक्षी भी होता है और भोक्ता भी। सम्पूर्ण प्रकृति दिव्य ही उठती है, अवचेतन एवं अचेतन तक दिव्य ज्योति से उद्‌भासित हो उठते हैं। यहाँ पूर्णता प्रकट हो जाती है और मनुष्य को विश्व का ज्ञान करतलगत हो जाता है। मृत्यु, अज्ञान व अंधकार पर विजय का मार्ग खुल जाता है। इस प्रकार अतिमानसिक विकास प्राप्त करने के बाद परा एवं अपरा प्रकृति का भेद समाप्त हो जाता है एवं दिव्य प्रकृति, दिव्य मन तथा दिव्य जीवन की प्रतिष्ठता होती है।

अरविन्द के अनुसार मानवीय चेतना का यह आरोहण समग्र योग की पद्धति से संभव है। अरविन्द का विचार है कि मानव इतिहास में प्रकृति, समाज एवं जीवन की परिपूर्ण बनाने के अनेकों प्रयास होते रहे हैं, परन्तु व्यष्टि व समष्टि को परिपूर्ण बनाने का एकमात्र सम्यक् उपाय 'आध्यात्मिक क्रान्ति' (Spiritual Revolution) है। अपनी पुस्तक 'दि लाइफ डिवाइन' में उन्होंने लिखा है— 'आध्यात्मिकता बाह्य उपायों से समस्या का समाधान नहीं करती वरन् आन्तरिक परिवर्तन, चेतना व प्रकृति के परिवर्तन से ऐसा करना चाहती है। राजनीतिक, सामाजिक या अन्य यांत्रिक उपायों से जीवन की बुराइयों से नहीं निपटा जा सकता। केवल आध्यात्मिक परिवर्तन से, अर्थात् मनुष्य के कृत्रिम मानसिक स्तर से गहन आध्यात्मिक चेतना में आरोहण करने से ही वास्तविक व प्रभावी परिणाम निकल सकते है।' ('The solution of the problem which spirituality offers is not a solution by external means. Though these also have to be used but by an inner change, a transformation of the consciousncss and halire. Spirituality cannot be called upon to deal with life by a non-spiritual method or attempt to cuse its ills by other panaceas the political social or other mechanical remedies which the mind is constantly attempting and which have always failed only the spiritual change. an evolution of his being from the superficial mental towards the deeper spiritual consciousness, can make a real and effectirei difference'.)

इस प्रकार 'प्रतिमानव' (Super man) के विकास से ही नैतिक, राजनीतिक व सामाजिक जीवन में उन्नति हो सकती है। दिव्य-चेतना सम्पन्न ऐसे 'अतिमानव' पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य की स्थापना कर सकेंगे। अपनी पुस्तक 'The Synthesis of Yoga' में उन्होंने लिखा है—"The divinising of normal material life of man and of his great secular attempt of mental and moral self culture in the individual and the race by this integralisation of a widely perfect spiritual existance would thus be crown alike of our individual and of our common effort. Such a consummation being no other than the kingdom of heaven within reproduced in the kingdom of heaven without, would be also the true fulfilment of the great dream cherished in different terms by the world's religions') इस प्रकार अरविन्द के विकासवाद व समग्र-योग के सिद्धान्त धार्मिक व लौकिक के भेद को समाप्त कर देता है और दोनों को आध्यात्मिक धरातल पर ले जाकर एक उच्चतर एकता स्थापित करता है।

अरविन्द दर्शन के प्रसिद्ध विवेचक शिशिर कुमार मोइमा मानते है कि यद्यपि विकासवाद का सिद्धान्त पाश्चात्य चिन्तन में यूनानी युग से विद्यमान है, परन्तु अरविन्द का विकासवाद प्राचीन व आधुनिक विकासवादी मान्यताओं से काफी भिन्न है। अरविन्द हीगल की भाँति निरंतरता पर

आधारित विकास (Continuous Evolution) के पक्षधर नहीं हैं, वरन् फ्रेंच विचारक बर्गसां के आकस्मिकता व अनिश्चतता पर आधारित विकासवाद (Emergent Evolution) से उनकी धारणा काफी मिलती जुलती है। अरविन्द के अनुसार यद्यपि विकास की प्रक्रिया निरन्तर गतिशील रहती है, पर किन्हीं विशेष अवसरों पर दैवीय हस्तक्षेप ये यह नई ऊँचाइयाँ छूने लगती है। नए व उच्चतर सिद्धान्त एकाएक प्रकट हो जाते हैं जो प्रचलित सिद्धान्तों व मान्यताओं के स्वरूप में मौलिक परिवर्तन कर डालते हैं। मनुष्य के मन, प्राण व आत्मा एक दिव्य प्रकाश में आलोकित हो उठते हैं। इस प्रकार अरविन्द के अनुसार दैवीय सत्ता समय समय पर मनुष्य की सहायता के लिए हस्तक्षेप करती है जिससे मनुष्य के लिए उच्चतर सोपानों का आरोहण आसान हो जाता है। अरविन्द के विकासवादी सिद्धान्त के कुछ तत्व प्रसिद्ध दार्शनिक ए०एन० व्हाटहेड में भी देखे जा सकते हैं यद्यपि दोनों में एक मौलिक अन्तर है। व्हाइटहेड प्रकृतिवादी (Naturalistic) हैं और मानते हैं कि विकास की कुंजी प्राकृतिक प्रक्रियाओं के पास है जबकि अरविन्द आत्मवादी (Spiritualitic) हैं और विकास का स्रोत परम सत्ता को मानते हैं।

5.4 इतिहास व समाज दर्शन

अरविन्द का इतिहास दर्शन व राजदर्शन उनके तत्व दर्शन का एक अंग है। उन्हीं के शब्दों में—'मनुष्य सरकार व समाज रूपी यंत्रों के माध्यम से अपने पर्यावरण को परिपूर्ण बनाने का स्वप्न देखते हैं, परन्तु मानवीय आत्मा को पूर्ण बनाए बगैर बाह्य पर्यावरण को पूर्णत्व नहीं प्रदान किया जा सकता।' ('This erring race of human beings dreams always of perfecting their environment by the machinery of government and society, but it is only by the perfection of soul within that the outer environment can be perfceted). अरविंद के अनुसार राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओं का स्वरूप मनुष्य की चेतना के स्वरूप पर निर्भर करता है, इसलिए मानवीय चेतना जितनी विकसित होगी, राजनीतिक व सामाजिक जीवन उतना श्रेष्ठ होगा।

इतिहास में होने वाले परिवर्तन व घटनाएं मनुष्य के लिए सदा से एक रहस्य रही हैं। हम ऐतिहासिक व सामाजिक परिवर्तनों के कारणों व उनकी दिशा को जानने का निरन्तर प्रयास करते हैं। अरविन्द के अनुसार इतिहास के परिवर्तनों और उनकी दिशा की निर्धारित करने वाली शक्ति ईश्वरीय शक्ति है। मानवीय इतिहास ब्रह्म का उत्तरोत्तर प्रकटीकरण है। अपने इस सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए वह दो दृष्टन्त देते हैं—बंगाल में राष्ट्रवाद का उदय व 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति। उन्होंने कहा कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का वास्तविक सूत्रधार ईश्वर है। इस प्रकार अरविन्द जर्मन आदर्शवाद के आध्यात्मिक नियतिवाद (Spiritual Determinism) के विचार को स्वीकार करते हैं। 'भगवत्गीता' में भी कहा गया है कि इतिहास ईश्वरीय इच्छा का परिणाम है और महापुरुष ईश्वरीय विधान को क्रियान्वित करने वाले उपकरण।

अरविन्द ने मानवीय इतिहास में समय-समय पर विकसित होने वाली सभ्यता-संस्कृतियों को ईश्वरीय इच्छा की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ माना है। हर संस्कृति का अपना विशिष्ट सिद्धान्त व स्वरूप रहा है उसका विकास एक विशिष्ट दिशा में हुआ है और अपनी विशिष्टता से उसने अन्य संस्कृतियों को प्रभावित किया है। इस प्रकार एशिया व यूरोप की प्राचीन संस्कृतियों ने जीवन को बौद्धिक, नैतिक, सौन्दर्य परक व आध्यात्मिक दृष्टि से देखा न कि भौतिक-आर्थिक दृष्टि से। प्राचीन यूनान ने विवेक व सौन्दर्य के तत्व को, रोम ने नैतिक तत्व को और प्राचीन भारत ने आध्यात्मिक तत्व को जीवन का मूल तत्व माना। मध्ययुग में धार्मिक व पारलौकिक दृष्टिकोण की प्रधानता रही। आधुनिक युग व्यक्तिवादी व बुद्धिवादी दृष्टिकोण से जीवन की व्याख्या करता है,

सका रूझान भौतिकवादी व पदार्थवादी है। अरविन्द के अनुसार विभिन्न संस्कृतियाँ उत्थान एवं तन के चक्र से गुजरती रही है। इस परिवर्तन-चक्र के पहले चरण में ऋषि व मनीषी जीवन के ल आदर्शों व आस्थाओं का निर्धारण करते हैं जैसा कि प्राचीन भारत, चीन व यूनान में हुआ। सरे चरण में इन आदर्शों के आधार पर संस्थाओं व विचारों का ताना बना बुना जाता है। यह रिवक्वता व स्थिरता का दौर होता है। इसके बाद जड़ता व पतन का दोर आता है और आदर्श व स्थाएं अपने शुद्ध स्वरूप से भटक जाती है। मानव समाज की नियति एक दिव्य व आध्यात्मिक वस्था की ओर जाता है जहाँ आत्मिक, नैतिक व मानसिक शक्तियों का पूर्ण विकास हो केगा।

सिद्ध जर्मन दार्शनिक कार्ल लैम्प्रैक्ट की तरह अरविन्द ने संस्कृतियों के विकास के चार चरण ाए हैं—प्रतीकात्मक समाज (Symbolic Society), श्रेणीबद्ध समाज (Typal ociety), रूढ़िबद्ध समाज (Conventional Society) और बुद्धिवादी-व्यक्तिवादी माज (Rationalistic Individualistic Society). प्रतीकात्मक समाज में पराभौतिक ता को व्यक्त करने के लिए प्रतीकों का सहारा लिया जाता है। समाज के सिद्धान्त व सम्बन्ध हीं प्रतीकों पर आधारित होते हैं और इसलिए उन्हें बहुत पवित्रता के भाव से देखा जाता है। देक समाज इसी प्रकार का समाज था। अरविन्द के अनुसार आधुनिक मनुष्य इन प्रतीकों के र्थ को समझ नहीं पाता अत: भ्रामक व्याख्याएं की जाती हैं। दूसरा चरण श्रेणीबद्ध समाज का है समें नैतिक आदर्शों को मूर्तरूप देने के लिए वर्ण विभाजन किया जाता है। सभी वर्ण अपनी र्यादा में रहते हुए अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं। वर्ण-धर्म की यह व्यवस्था पारस्परिक ल्याण की भावना से संचालित होती है। कालान्तर में धर्म व नीति रूढ़ियों में विकृत हो जाती समाज कठोर जाति-बन्धनों में बंध जाता है, बाध्य आडम्बरों की वृद्धि होने लगती है। अत: वन की धारा जटिल पद-सोपानों में कैद हो जाती है जिसके परिणाम स्वरूप स्वार्थ, अन्याय व ूता का बोलबाला हो जाता है। इस चरण को अरविन्द ने रूढ़िबद्ध समाज कहा है। इस समाज विरूद्ध प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है। अन्तत: व्यक्ति रूढ़िबद्ध समाज की मान्यताओं को ार कर अपने तर्क व बुद्धि के द्वारा निर्णय करता है। धर्म, दर्शन, राजनीति आदि सभी की ीक्षा व समालोचना करना व्यक्ति अपना अधिकार मान लेता है। यही आधुनिक बुद्धिवादी व क्तिवादी समाज है। मनुष्य अपनी बौद्धिक व वैज्ञानिक क्षमता का प्रयोग करता हुआ जीवन का -निर्माण करता है। यूरोप में पुर्नजागरण काल से यह चरण प्रारंभ होता है और बाद में इसके ाव में पूर्वी सभ्यताएं भी आ गयी। परन्तु अरविन्द इस आधुनिक समाज व्यवस्था से सहमत ं है। इस व्यवस्था में व्यक्ति के भौतिक आर्थिक कल्याण को साध्य माना जाता है, जीवन के न आत्मिक नैतिक सत्यों को नकारा जाता है क्योंकि वे विज्ञान की वस्तुनिष्ठ पद्धतियों पर खरे ं उतरते। भौतिक सुख व उसके स्रोत विज्ञान की यह दासता मानवीय चेतना के विकास को ारूद्ध करती है। आधुनिक समाज की नैतिक, राजनीतिक, आर्थिक व शैक्षिक मान्यताओं पर र करते हुए अरविन्द ने कहा—"आधुनिक मनुष्य के लिए सभ्यता का अर्थ सुख है, नैतिकता अर्थ समाज में उच्च स्थान है, राजनीति का अर्थ व्यापार-वाणिज्य का विकास है, धर्म का ं कतिपय भावनाओं की सन्तुष्टि है। उसके लिए शिक्षा प्रतियोगी औद्योगिक समाज में ढलने क्षमता है, विज्ञान की उपयोगिता आविष्कार व सुख-सुविधा के लिए है। इस व्यापारिक युग सफल पूंजीपतियों व उद्योगपतियों को महापुरुष माना जाता है और वे ही समाज के वास्तविक तु अप्रकट शासक है।" ('His idea of civilization is comfort, his idea of orals social respectability, his idea of politics the encouragement industry, the opening of markets, exploration and trade lowing the flag, his idea of religion at best a pietistic formalism the satisfaction of certain critalistic emotions. He values ucation for its utility in fetting a man for success in a

competitive or it may be a socialised industrial existence, and science for useful inventions and knowledge, the comforts, conveniences, machinery of production regulation stimulues to production. The opulent plutocracy and the suceessful mammoth capitalict organiser of industry are the supermen of the commercial age and true, if offen occult rulers of its society.'

इस प्रकार अरविन्द व्यक्तिवादी, बुद्धिवादी, समाज की मान्यताओं के आलोचक हैं जिसने मनुष्य के जीवन को भोगपरक, एकांकी एवं नीरस बना दिया है। अरविन्द के अनुसार एक श्रेष्ठ समाज की रचना आदर्शों व मूल्यों से होती है और ये केवल पूर्वी सभ्यताओं विशेषकर भारत में ही प्राप्त हो सकते हैं। धर्म व अध्यात्म के आधार पर आदर्श मानवीय समाज की स्थापना संभव है। अरविन्द दिव्य जीवन को अंगीकार करने में ही मनुष्य का कल्याण देखते हैं। ऐसे आदर्श समाज में सभी संघर्षों व द्वन्द्वों का तिरोभाव हो जाता है और स्वतंत्रता, शक्ति व सौन्दर्य पर आधारित नवजीवन का प्रारंभ होता है। ऐसा समाज सिद्धान्तों से परिचालित होता है, कानूनों से नहीं, प्रेम व सहयोग पर आधारित होता है शक्ति व दमन पर नहीं। अरविन्द के अनुसार आधुनिक बुद्धिवादी (Rationalistic) दृष्टिकोण का परित्याग कर आत्मवादी (Subjectivism) दृष्टिकोण को स्वीकार करके ही मनुष्य की मानसिक शक्तियों व अनुभूतियों का विस्तार हो सकता है। आत्म-चेतना का विस्तार अहं व स्वार्थ का नाश करता है, और व्यक्ति को व्यक्ति से, समाजों को समाजों से संयुक्त कर सम्पूर्ण मानवता को सौहार्द व सामंजस्य से युक्त कर देता है। आत्मवादी दृष्टि मनुष्य व मानवता के उद्धार की कुंजी है। इन्हीं के शब्दों में—"Subgectivism is a road of return to lost knowledge. First deepening man's inner experience, restoring perhaps on an unprecedental scale insight and self- knowledge to the race, it must end by revolutionising his social and collective salf expression."

5.5 राष्ट्रवाद का सिद्धान्त

अरविन्द घोष राष्ट्रवाद के सशक्त प्रतिपादक थे। वस्तुत: उनके राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचार बंकिमचन्द्र चटर्जी, तिलक, दयानन्द सरस्वती एवं विपिन चन्द्र पाल जैसे मनीषियों के दृष्टिकोण को ही अभिव्यक्त करते हैं। प्रसिद्ध विद्वान एम०ए० बुच के अनुसार—'अरविन्द एक प्रखर आध्यात्मिक व धार्मिक राष्ट्रवाद के अति विशिष्ट प्रतिपादक थे। उनके लिए राष्ट्रवाद एक राजनीतिक या आर्थिक नारा न था, यह वस्तुत: भारत की प्राचीन संस्कृति को उसकी सम्पूर्ण शुद्धता व श्रेष्ठता में पुर्नजीवित करने की उनकी हार्दिक इच्छा की अभिव्यक्ति थी।' ('Aurobindo was the most typical representative of the new type of nationalism in its most intense metaphysical and religious form. Nationalism with him was not a political or economic cry, it was the innermost hunger of his whole soul for the rebirth in him and through him in the whole of India, of the ancient culture of Hindustan in its pristive purity and nobility? अरविन्द के लिए राष्ट्रवाद मात्र स्थान प्रेम नहीं है। वह भारत को एक भूखण्ड मात्र नहीं मानते, वरन वह एक विचार है, एक आध्यात्मिक-नैतिक सत्ता है। वह हमारे स्थूल व सूक्ष्म शरीर का अधिष्ठान है। राष्ट्र हमारी चेतना हमारे आदर्शों, हमारे पुरुषार्थ का स्रोत है। उन्होंने राष्ट्र को 'विराट पुरुष' की संज्ञा दी और असंख्य भारतवासी उसके विभिन्न अंग हैं। ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हमारी चेतना, हमारी अस्मिता व

ा पर प्रहार है। इसके फलस्वरूप हमारा आत्मिक, नैतिक, राजनीतिक, आर्थिक पराभव । पराधीनता ने एक आत्म-विस्मृति उत्पन्न कर दी और भारत अपने स्वरूप को नकार कर । साँचे में ढलने लगा। अरविन्द ने कहा कि भारत का यूरोपीय करण एक आत्मघाती होगा क्योंकि इससे उसकी विशिष्टता नष्ट हो जाएगी और यूरोप को अन्य प्राचीन संस्कृतियों ते हमारा नामोनिशान मिट जाएगा। 'भगवत्गीता' को उद्धृत करते हुए उन्होंने कहा कि र्म के पालन में मिट जाना परन्धर्म में प्रवृत्त होने से अधिक श्रेयस्कर है। स्वधर्म के पालन मृत्यु भी नव-जीवन का हेतु बनती है जबकि परधर्म का सफलतापूर्वक पालन वस्तुत: त्या का सफल प्रयास है। ('For death in one's own Dharma brings birth, success in an alien path means only successful de').

ार राष्ट्रीय स्वतंत्रता एक महान लक्ष्य बन जाता है और राष्ट्रवाद एक परम धर्म। अरविन्द ने ी राष्ट्रीयता एक साधना है, एक यज्ञ है, एक तपस्या है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए हमें गहन भावनों व समर्पण के साथ कार्य करना चाहिए। यह दुर्गा या काली की उपासना की भाँति वित्र व त्यागमय मार्ग है। राष्ट्रवाद का उद्देश्य राजनीतिक स्वतंत्रता है पर राजनीतिक ा स्वयं में साध्य नहीं है वरन अपने जातीय व राष्ट्रीय आदर्शों की पुर्नप्रतिष्ठा का एक साधन वाद की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा-'राष्ट्रवाद मात्र एक राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है, ह ईश्वर प्रदत्त धर्म है। राष्ट्रीयता वह विश्वास है जिसे आपको जीना पड़ेगा अगर आप ा बनना चाहते हैं तो आपको धार्मिक भावना से ऐसा करना पड़ेगा। याद रखिए कि आप के उपकरण हैं यह एक धर्म है जिसके माध्यम से हम अपने देशवासियों में ईश्वर का ार करने का प्रयास कर रहे हैं।' (Nationalism is not a mere political ramme. Nationalism is a religion that has come from God. ɔnalism is a creed which you shall have to live. If you are g to be a nationalist you must do it in the religious spirit. You remember that you are the instruments of God. It is a ion by which we are toying to realize God in the nation, in ellow countrymen') अरविन्द ने राष्ट्र को देवता के रूप में देखा व राजनेताओं व को आराधक के रूप में। बंकित चन्द्र चटर्जी की भाँति उन्होंने राजनीतिक सन्यासी बनने वश्यकता बताई ताकि समस्त सुखों व आकर्षणों से विरत होकर एकनिष्ठ भाव से राष्ट्र की ी जा सके।

द के अनुसार स्वराज की आवश्यकता मुख्यत: दो कारणों से है। प्रथम तो स्वतंत्रता राष्ट्र ा है अत: स्वराज्य अपने में साध्य है। दूसरे भारत को विश्वगुरू की भूमिका का निर्वहन क लिए स्वराज की आवश्यकता है। मानवजाति का आत्मिक उन्नयन करने के लिए भारत ाम व समर्थ है। वेदों में प्रतिपादित शाश्वत सिद्धान्तों के द्वारा विश्व की चेतना का उन्नयन भारत का ईश्वर-प्रदत्त कर्त्तव्य है। इस प्रकार भारत की स्वतंत्रता का एक उच्चतर लक्ष्य है ह है दिव्य जीवन को विश्व व्यापी बनाना। भारत की आध्यात्मिक सम्पदा से विश्व को कत करना, योग साधना से मनुष्य मात्र की मानसिक व आत्मिक शक्तियों को जागृत यह भारतीय राष्ट्रवाद का वृहत् व दूरगामी लक्ष्य है। इस प्रकार अरविन्द का राष्ट्रवाद , आक्रामक व आधिपत्यवादी नहीं है, वरन् वह अर्न्तराष्ट्रवाद का आधार है। अरविन्द के में राष्ट्रवाद व अर्न्तराष्ट्रवाद एक दूसरे के पूरक व सहायक हैं। आध्यात्मिक राष्ट्रवाद विश्व ध्यात्मिकीकरण का पवित्र साधन है।

स्वतंत्रता की उपलब्धि के लिए उचित साधनों को अपनाने की आवश्यकता है। वह ादी एवं संविधानवादी पद्धति के कट्टर आलोचक थे। परिषदों व सभाओं के विस्तार से

स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता। स्वतंत्रता के लिए त्याग, बलिदान व आत्म निग्रह का कठिन व कष्टकारी मार्ग चुनना पड़ेगा। अरविन्द ने कहा कि स्वतंत्रता राष्ट्र का प्राण है और इसकी प्राप्ति के लिए हर उपाय अपनाया जा सकता है। कब किस साधन व मार्ग को अपनाया जाए, यह परिस्थितियों पर निर्भर करेगा। उन्हें क्रान्तिकारी पद्धति से परहेज न था, वस्तुत: बंगाल व महाराष्ट्र के क्रान्तिकारियों से उनके निकट सम्बन्ध थे। बंगाल के विभाजन के बाद जब राष्ट्रवादी आन्दोलन तेज हुआ तो उन्होंने बहिष्कार व निष्क्रिय प्रतिरोध की पद्धति को अपनाने पर जोर दिया। राजनीति से सन्यास लेने के बाद वह योग-साधना से भारतीय स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त करने का प्रयास करने लगे। पद्धति के विषय में उनके निम्न विचार महत्वपूर्ण व उद्धरणीय हैं—"It is the nature of pressuse which determines the nature of resistance. Where the need for immediate liberty is urgent and it is a present question of national life or death on the instant, revolt is the only course. But where the oppression is legal and subtle in its methods and respects life liberty and property and there is still breathing time, the circumstances demand that we should make the experiment of a method of resolute but peaceful resistance."

5.6 राज्य सम्बन्धी विचार

अरविन्द के अनुसार, बाध्य जीवन की आवश्यकताएं एवं आत्मिक नैतिक खोज मनुष्य को समूहों में रहने के लिए प्रेरित करती है। सामूहिक जीवन की प्रथम अभिव्यक्तियाँ परिवार, कुल एवं ग्राम हैं। कालान्तर में छोटे एवं बड़े राज्यों व साम्राज्यों का भी उदय होता हैं जिनके द्वारा मनुष्य आत्म निर्भर एवं परिपूर्ण जीवन की ओर उन्मुख होता है।

राज्य जीवन, विकास और आत्म-कल्याण का साधन है। परन्तु व्यक्ति व राज्य के परस्पर विरोधी दावे संघर्ष को भी जन्म देते हैं। व्यक्ति में स्वतंत्रता की स्वाभाविक इच्छा होती है जबकि राज्य विधियों से नियंत्रित व्यवस्था होती है। पर यदि व्यक्ति व राज्य धर्म की मर्यादा में रहें तो उनके हितों व कार्यों में कोई विरोध उत्पन्न नहीं हो सकता। अरविन्द के अनुसार राज्य आवश्यक है पर वह साध्य नहीं है। मानव के कतिपय उद्देश्यों व लक्ष्यों की पूर्ति में वह सहायक हो सकता है, पर अन्तत: व्यक्ति को अपने विभिन्न लक्ष्यों को अपनी आत्मिक मानसिक शक्तियों को विकसित करके ही प्राप्त करना होता है।

अरविन्द राज्य के बढ़ते हस्तक्षेप के विरोधी थे। वे प्राचीन भारतीय राज्य की अवधारणा के प्रशंसक थे जिसमें राज्य को धर्म-रक्षक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। सभी संस्थाएं-परिवार, जाति, आर्थिक संघ, ग्राम, नगर आदि अपने धर्म में बंधे थे और धर्म की इस मर्यादा को स्वत: स्फूर्त तरीके से निभाते थे। इससे राज्य को अनावश्यक हस्तक्षेप करने का अवसर ही नहीं मिलता था। राज्य का दायित्व स्व-धर्म पालन की बाह्य परिस्थितियों की व्यवस्था करना मात्र था अथवा जब कोई स्वधर्म से विरत होता था, तो उसे रोकना व दण्डित करना इसका दायित्व था। इस प्रकार एक श्रेष्ठ राज्य सीमित व मर्यादित राज्य है, इसमें मनुष्य स्वधर्म पालन के द्वारा आत्मोन्नयन की ओर प्रवृत्त होता है।

अरविन्द विश्व-राज्य (world-state) के प्रतिपादक थे। विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों व भाषाओं पर आधारित राष्ट्र यदि अपने अहं को नियंत्रित कर लें, अपनी शक्ति व क्षमताओं का सृजनात्मक प्रयोग प्रारंभ कर दें और भौतिकवादी व अर्थवादी जीवन-दृष्टि का परित्याग कर दे, तो उनके बीच

मंजस्य व शान्ति असंभव नहीं है, और इस स्थिति में विश्व-राज्य का उदय हो सकता है।

.7 सारांश

रतीय राजदर्शन में अरविन्द का एक विशिष्ट स्थान है। वे प्राचीन भारतीय आदर्शों व मूल्यों के प्रतिम प्रवक्ता थे और उनकी यह आस्था उनके तत्वदर्शन, इतिहास दर्शन व राजदर्शन में स्पष्ट प से प्रतिविम्बित होती है। वे राष्ट्रवाद के प्रबल प्रतिपादक थे, पर उनका राष्ट्रवाद नाजी या सीवादी अहंकार व शक्तिलिप्सा का प्रतीक न था। वे राष्ट्रीयता को मानवीय एकता व विश्व-ज्य के मार्ग का एक [illegible] मानते है। अरविन्द ने विविध भूमिकाओं में भारत व विश्व का र्गदर्शन किया।

.8 उपयोगी पुस्तकें

- आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन; डा०वी०पी० वर्मा, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन, आगरा, 1995
- Sri Aurobindo;(Ed) V.C. Joshi
- The prophet of Indian Nationalism; Dr. Karan Singh, Bhartiya Vidya Bhavans, Mumbai, 1970.
- जी. एन. शर्मा (संपा.) : द विजन ऑफ श्री अरविन्दो, दीप्ति पब्लिकेशन्स, श्री अरविन्दो आश्रम, पांडिचेरी, 1973
- के. पी. करुनाकरण : इण्डियन पॉलिटिक्स ऑफ दादा भाई नैरोजी टू गांधी, गीतांजली प्रकाशन, नई दिल्ली, 1975.

.9 सम्बन्धित प्रश्न

र्घ उत्तरीय प्रश्न

- अरविन्द के राष्ट्रवाद का विवेचन कीजिए।
- अरविन्द के समाज सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।

घु उत्तरीय प्रश्न

- उदारवादी राजनीति की अरविन्द की समीक्षा का उल्लेख कीजिए।
- मानव एकता पर अरविन्द के विचार स्पष्ट कीजिए।
- अरविन्द के विकासवाद का वर्णन कीजिए।

स्तु निष्ठ प्रश्न

- अरविन्द घोष का जन्म कहाँ हुआ था?

  (अ) दार्जिलिंग (ब) शिमला

  (स) कलकत्ता (द) दुर्गापुर

2. किसने कहा है कि अरविन्द एक प्रखर आध्यत्मिक व धार्मिक राष्ट्रवाद के अति विशिष्ट प्रतिपादक थे?

(अ) एम.ए. बुच (ब) कार्ल लैम्फैक्ट

(स) आर. सी. मजूमदार (द) कर्ण सिंह

5.10 प्रश्नोत्तर

1. (स) 2. (अ)

6 : रवीन्द्र नाथ टैगोर

ा
द्देश्य
स्तावना
तिहास दर्शन
गोर का जीवन दर्शन
ाज्य एवं समाज
ाष्ट्रीयता
न्तर्राष्ट्रवाद
ब्रिटिश शासन के प्रति दृष्टिकोण
ूल्यांकन
ारांश
उपयोगी पुस्तकें
सम्बन्धित प्रश्न
श्नोत्तर

उद्देश्य

ई के अध्ययन के बाद आप :

गुरुदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर के इतिहास-दर्शन, राज्य व समाज सम्बन्धी अवधारणाओं, राष्ट्रवाद एवं अर्न्तराष्ट्रवाद सम्बन्धी विचारों की विवेचना कर सकेंगे।

टैगोर का ब्रिटिश शासन के प्रति दृष्टिकोण का उल्लेख कर सकेंगे।

टैगोर के सामाजिक-राजनीतिक विचारों का मूल्यांकन कर सकेंगे।

प्रस्तावना

रवीन्द्र नाथ टैगोर (1861-1941) आधुनिक भारत के एक महत्वपूर्ण दार्शनिक, कवि एवं ास्त्री थे। उनके विभिन्न उपन्यासों, नाटकों, कविताओं और निबन्धों से एक विशिष्ट ाक एवं राजनीतिक चिन्तन उभर कर आता है। टैगोर जैसा शिक्षा-शास्त्री अपनी स्था में स्कूल-कालेज की औपचारिक शिक्षा के प्रति तीव्र वितृष्णा से युक्त था। टैगोर के ाक शिक्षक उनके पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर थे जिनके सानिध्य में रहकर रवीन्द्र नाथ से ा व पाश्चात्य दर्शन तथा साहित्य का गहरा ज्ञान प्राप्त किया। उत्तरी बंगाल में अपनी री का प्रबन्ध देखने के लिए उन्हें प्राय: गाँव जाना पड़ता था जिससे उन्हें आम जनता की प्रकार की समस्याओं को निकट से देखने का अवसर मिला। इनके संवेदनशील मन पर की तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक परिस्थितियों का गहरा प्रभाव पड़ा ो अभिव्यक्ति उनकी प्रारंभिक कविताओं में हुई है। टैगोर को उपनिषदों, बुद्ध की शिक्षाओं, के वैष्णव कवियों, कबीर के रहस्यवाद और पश्चिमी उदारवाद ने काफी प्रभावित किया। पिता ब्रह्म-समाज के एक प्रमुख नेता थे और ब्रह्म-समाज की उदारवादी एवं सुधारवादी ाओं ने रवीन्द्रनाथ पर स्थायी प्रभाव छोड़ा। उन्होंने लिखा है कि उनके परिवार में काफी क खुलापन था और उनके पिता ने अनेक सामाजिक व धार्मिक मान्यताओं को मानने से

इंकार कर दिया। ('We in our home sought freedom of power in our language, freedom of imagination in our literature, freedom of soul in our religious creeds and that of mind in our social environment').

बंगाल के वैष्णव कवियों जैसे चंडीदास, विद्यापति, जयदेव व चैतन्य आदि के मानववादी दृष्टिकोण का टैगोर परिवार पर गहरा प्रभाव पड़ा था। राजा राम मोहनराय के धार्मिक व सामाजिक सुधारवाद ने भी उन्हें काफी आकर्षित किया। बंगला भाषा व साहित्य को नया कलेवर प्रदान करने वाले प्रखर राष्ट्रवादी साहित्यकार बंकिम चन्द्र की रचनाओं ने रवीन्द्रनाथ की साहित्यिक एवं राजनीतिक दृष्टि को संवारने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस प्रकार टैगोर का चिन्तन एवं कृतित्व 19वीं सदी के साहित्यिक व सामाजिक पुर्नजागरण की पृष्ठभूमि में विकसित हुआ।

टैगोर के राजनीतिक व सामाजिक दर्शन को उत्प्रेरित करने वाली घटना 1905 का बंगाल का विभाजन था। टैगोर ब्रिटिश साम्राज्य की राजनीतिक व आर्थिक नीतियों के कटु आलोचक थे क्योंकि वे नीतियाँ भारत को परजीवी बना रहीं थीं। यद्यपि वे मूलत: एक कवि थे, पर सामाजिक व राजनीतिक प्रश्नों के प्रति उदासीन न थे। वस्तुत: राष्ट्र के प्रति अपने दायित्व का एहसास और भारत की राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक दुर्दशा उनके संवेदन शील हृदय को निरन्तर स्पर्श करती थी। वे राजनीतिक व सामाजिक जीवन में सक्रिय रहते थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशनों में उनकी गहरी रूचि रहती थी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर कड़े प्रहार करने में वह कोई संकोच नहीं करते। भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन के साथ उनका गहरा आत्मिक जुड़ाव था, यद्यपि आवश्यकता पड़ने पर वह गाँधी जी व कांग्रेस के साथ अपनी असहमति को व्यक्त करने में पीछे नहीं रहते। राजनीति के साथ अपने सम्बन्ध की बड़ी मार्मिक व्याख्या उन्होंने 1921 में सी०एफ० एन्ड्रूयज को लिखे एक पत्र में की—"Political controversies occasionally overtake me like a sudden fit of ague, without giving sufficient notice and they leave suddenly leaving behind a feeling of malaise. Politics are so wholly against my nature, and yet belonging to an unfortunate country, born to an abnormal situation, we find it so difficult to avoid their outbursts."

टैगोर का विचार था कि भारत का राजनीतिक कल्याण उसकी आत्मा के जागरण पर निर्भर है। 1904 में अपने एक लेख में उन्होंने कहा कि पहले विदेशियों से नहीं, पहले अपनी निष्क्रियता, उदासीनता व अकर्मण्यता से मुक्त होना चाहिए। स्वशासन याचना या प्रार्थना से नहीं, त्याग व कर्मठता से प्राप्त होता है। वह क्रान्तिकारियों के साहस के प्रशंसक थे, पर हिंसा व क्रान्ति को भारत की मुक्ति का मार्ग नहीं मानते थे। उनका कहना था कि विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करने मात्र से स्वराज नहीं आ जाएगा। किसी राष्ट्र को स्वराज तब मिलता है जब राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में चेतना व उत्साह व्याप्त हो। भारतीय राजनीति में गाँधी जी के प्रवेश को उन्होंने एक महत्वपूर्ण घटना माना क्योंकि गाँधी जी सत्य व अहिंसा के द्वारा भारत की सुप्त आत्मा को जागृत करना चाहते थे। सी०एफ० एन्ड्रूयज के शब्दों में ''टैगोर का आत्म-शक्ति में दृढ़ विश्वास है और उनके जीवन दर्शन व काव्य में यह सर्वत्र देखा जा सकता है।'' इस आत्म-शक्ति के जागरण से राजनीति में व्याप्त शक्ति-लिप्सा, संकीर्णता व अन्धनिष्ठा का शमन होगा और मानववादी आदर्शों की प्रतिष्ठा होगी। भारत के इसी आत्मिक नैतिक जागरण के संकल्प ने उन्हें 'शान्ति निकेतन जैसी विश्वप्रसिद्ध संस्था की स्थापना की ओर प्रेरित किया। रवीन्द्रनाथ एक महान राष्ट्रवादी थे पर आक्रामक व संकीर्ण राष्ट्रवाद के वह कटु आलोचक भी थे।

र कभी किसी राजनीतिक विचारधारा के अन्ध अनुयायी नहीं रहे, न ही वह किसी राजनीतिक ावाजी में पड़े। इस प्रकार की राजनीतिक संकीर्णता के वह सदा ही आलोचक रहे हैं। वह तो सार्वभौमिक राजनीतिक आदर्शों के उपासक हैं जो व्यक्ति समाज और विश्व को शान्ति व भाव की ओर अग्रसर कर सके व राजनीतिक प्रणाली को शक्ति, अन्याय व शोषण के चंगुल मुक्त कर सके। उनका यह आशावाद 1940 की निम्न रचना में झलकता है जब विश्व द्वितीय ायुद्ध की आग में झुलस रहा था—

'At the feast of power today
the cannibals are quarelling
over human sacrifice,
today the face of earth
is smeared with glory red.
But time comes
When out of this orgy of devastation
heroic peace will emerge victorious
Let flames lick up everything unholy
every euil, every weakness
and burn them into ashes.
I shall stand fism facing all
nor shall I doubt ever!"

2 इतिहास दर्शन

ोन्द्र नाथ टैगोर ने इतिहास में द्वंदात्मक विकास के सिद्धान्त को स्वीकार किया है, परन्तु वह र्क्स के भौतिकवादी दृष्टिकोण को नकार देते हैं। टैगोर के अनुसार समाज के विकास व रिवर्तन में भौगोलिक परिस्थितियों, भौतिक-आर्थिक कारकों, आत्मिक-नैतिक आदर्शों आदि नेकानेक शक्तियों का योगदान होता है। साथ ही यह भी एक ऐतिहासिक सत्य है कि ाभी ाज एक ही प्रकार से विकसित नहीं होते और उनके विकास को प्रभावित करने वाले कारक भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं।

ोर ने कहा कि उन्नयन एवं समन्वय के दौर स्वत:स्फूर्त नहीं होते। इतिहास की धारा को व्यतर लक्ष्यों की ओर मोड़ने में विवेकशील नेतृत्व की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यदि ा नेतृत्व नहीं होगा तो घटनाओं का प्रवाह गलत दिशा में भी मुड़ सकता है और समाज पतन गर्त में गिर सकता है। टैगोर का विचार है कि जब मानव का दृष्टिकोण एवं उसके क्रिया-लाप नितान्त उपयोगितावादी दृष्टिकोण से निर्देशित होने लगते हैं, तब मनुष्य की रचनात्मक क्तियों का ह्रास हो जाता है। समाज में जड़ता व अज्ञानता का प्रवेश हो जाता है और मानवीय म्बन्ध कृत्रिम, रूढ़िग्रस्त एवं भावना-शून्य होने लगते हैं। टैगोर के अनुसार एक श्रेष्ठ सभ्यता ात्मिक नैतिक आदर्शों की सर्वोच्चता में विश्वास रखती है, इसमें मानवीय सम्बन्धों का आधार म, करूणा व सेवा-भाव होता है और इन उच्च आदर्शों के साँचे में मनुष्य को ढालने का प्रयास किया जाता है। भारतीय संस्कृति में भी एक ऐसी जीवन की परिकल्पना की गई है जहाँ मनुष्य ा ब्रह्मांड से अपनी अभिन्नता का ज्ञान रखते हुए समस्त जड़-चेतन जगत में अपना ही तिबिम्ब देखता है और आत्म-साक्षात्कार के लिए प्रयास करता है। ('The highest urpose of this world is not merely living in it, knowing it and

making use of it but realising ourselve in it through expansion of sympathy; not alienating ourselve from it and dominating it but comprehending and uniting it with ourselves in perfect union.').

अपने प्रसिद्ध निबन्धों 'The currents of History in India' में टैगोर ने भारतीय इतिहास की आन्तरिक प्रवृत्तियों का विवेचन प्रस्तुत किया है। वह अंग्रेज इतिहासकारों के इस तर्क से सहमत नहीं हैं कि भारत का इतिहास राजाओं व सम्राटों के युद्धों, संघर्षों व षडयंत्रों का इतिहास है। उनका विचार था कि किसी सभ्यता का मुख्य दायित्व अपने अर्न्तविरोधों व संघर्षों का समाधान करना है। जहाँ मनुष्य अपने मतभेदों व संघर्षों का समन्वय द्वारा समाधान कर लेता है, टकराव को सद्भाव से जीत लेता है, वह सभ्यता सुरक्षित रहती है व उन्नति करती है। परन्तु जब सद्भाव व समन्वय की शक्तियों पर टकराव व संघर्ष को प्रवृत्तियाँ भारी पड़ने लगती हैं तो सभ्यताएं जड़ व कठोर होकर टूटने-बिखरने लगती है। इसी संश्लेषणवादी दृष्टिकोण (Synthetic Approach) के आधार पर टैगोर ने भारतीय इतिहास की व्याख्या की है।

टैगोर का विचार है कि भारतीय सभ्यता भी समन्वय का परिणाम है। वैदिक सभ्यता आर्य-संस्कृति का परिणाम थी जिसमें लौकिक एवं लोकोत्तर दोनों पक्षों को समुचित महत्व दिया गया है। कालान्तर में यह बुद्धिवादी आर्य-संस्कृति भावनावादी अनार्य या द्रविड़ संस्कृति के सम्पर्क में आयी और इस प्रकार ज्ञान एवं भक्ति का अनूठा समन्वय सामने आया। आगे भी इस आर्य-संस्कृति ने शक एवं यवन आदि गैर-आर्य संस्कृतियों को अपने में समाहित किया। टैगोर का विचार है कि इस ब्राह्मण प्रधान संस्कृति को बौद्ध एवं जैन धर्मों से कड़ी चुनौती मिली और इन धर्मों ने समाज की जड़ता, उसके आडम्बरों व ऊँच-नीच के विचारों के प्रभाव को कम करने में बड़ी भूमिका निभाई। परन्तु गुप्त-काल में यह ब्राह्मण प्रधान संस्कृति पुर्नप्रतिष्ठित हो गई और परम्परागत धर्म व सामाजिक व्यवस्था एक बार फिर स्थापित हो गई। यह हिन्दू धर्म की जीवन्तता व विशालता ही थी कि धीरे-धीरे बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म में समाहित हो गया व बुद्ध का विष्णु का एक अवतार माना गया। टैगोर के अनुसार भारतीय इतिहास को एक महत्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म ने अपने अपने आधिपत्य के दौर में एक दूसरे का दमन व उत्पीड़न नहीं किया। उनके मतभेद वैचारिक धरातल पर ही रहे जहाँ तर्क-वितर्क के द्वारा अपने सिद्धान्तों का पक्षपोषण करने व विरोधी सिद्धान्त को खंडित करने का प्रयास होता था। भारत में मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद ही धार्मिक दमन व उत्पीडन का दौर शुरू हुआ।

टैगोर का विचार है कि भारतीय सभ्यता के धर्म-मूलक होने के कारण यहाँ उस प्रकार की सर्वाधिकारवादी व्यवस्थाएं कभी स्थापित न होने पायीं जैसी कि हम आधुनिक यूरोप में देखते हैं। धर्म व धार्मिक मान्यताओं एवं कर्मकांडों ने प्रजा को इतना प्रबुद्ध एवं स्वायत्तशाली बना दिया कि कोई राजा सर्वाधिकारवादी होने का सफल प्रयास न कर सका। परन्तु धर्म यदि एक महती शक्ति के रूप में भारतीय समाज को जीवन और आदर्श प्रदान करता रहा है, तो धर्म के विकृत उपयोग से उत्पन्न बुराइयाँ जैसे कर्मकांड को साध्य मान लेना, मनुष्यों के बीच भेद एवं टकराव उत्पन्न करना आदि ने भारतीय समाज को जड़ एवं पतनशील भी बनाया। टैगोर के अनुसार राजपूतकाल में जो राजनीतिक व सामाजिक विद्वेष एवं विश्रंखलन दिखाई पड़ता है। वह इसी का परिणाम था। इस्लाम के आगमन ने इन प्रवृत्तियों को और दृढ़ बनाया। इस दौर में नानक, कबीर, चैतन्य एवं तुकाराम आदि सन्तों ने धर्म के शुद्ध प्रकाश को पुनः प्रज्ज्वलित किया। समाज की विकृतियों पर प्रहार करते हुए इन सन्तों ने सनातन मानवीय मूल्यों को पुर्नप्रतिष्ठित किया और एक बार फिर भारतीय इतिहास में समन्वय एवं सद्भाव की शक्तियों ने समाज को दिशा प्रदान की। इस प्रकार इन सन्तों के सुधारवाद ने हिन्दू समाज को उसकी जड़ता एवं दुर्बलता से मुक्ति दिलाई। टैगोर ने कहा कि जब ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के बाद भारतीय संस्कृति एवं पाश्चात्य जीवन मूल्यों में टकराव उत्पन्न हुआ तब ब्रह्मसमाज एवं आर्य समाज जैसे सुधारवादी आन्दोलनों ने समन्वय की धारा को पुर्नप्रवाहित किया।

इस प्रकार समन्वय एवं संश्लेषण के माध्यम से भारतीय सभ्यता अन्धकारपूर्ण युगों को पार करती हुई निरन्तर उच्चतर सत्यों की ओर उन्मुख होती रही है। परम्परा, तर्क और अनुभव के माध्यम से धार्मिक आदर्शों का द्वन्द्वात्मक विकास निरन्तर चलता रहा है। ('There is thus the dialectic of raligious advance through tradition, logic and life') जीवन एवं विचार की यह अर्न्तक्रिया भारतीय सभ्यता को सत्य का साक्षात्कार कराने में निरन्तर सहायक रही है। ('We rise from life to thought and return from thought to life in a progressive enrichment which is the attainment of ever higher levels of reality.') भारतीय चेतना पृथकतावादी नहीं वरन् एकता व संश्लेषण की पक्षधर रही है। मानवीय एकता इसका मूलमंत्र रही है। भारतीय दर्शन में आत्मोन्नयन को परम साध्य माना गया है न कि आधुनिक पाश्चात्य जगत की तरह भौतिक शक्ति को।

टैगोर का विचार है कि हर राष्ट्र की अपनी विशिष्ट प्रकृति होती है। पूर्वी सभ्यताओं जिनमें भारत का प्रमुख स्थान है, का अपना एक विशिष्ट जीवन दर्शन रहा है। लेकिन इसका यह आशय नहीं कि पश्चिमी सभ्यता द्वारा प्रतिपादित सत्यों से हम मुँह मोड़ लें। पश्चिम की वैज्ञानिक उपलब्धियाँ, जोखिमों से खेलने की उनकी प्रवृत्ति, जीवन के प्रति उनका अदम्य उत्साह टैगोर को बहुत प्रभावित करते थे। परन्तु उनका यह भी विचार था कि पूर्वी एवं पश्चिमी सभ्यताओं का मिलन इतिहास के एक ऐसे मोड़ पर हुआ जब एशिया की आत्मा सुप्तावस्था में थी। पश्चिम ने एशिया की इस दुर्बलता का लाभ उठाते हुए उसको भौतिक एवं मानसिक गुलामी में जकड़ दिया। इस प्रकार जड़ता से ग्रस्त पूर्वी सभ्यताओं एवं शक्ति व दंभ की प्रतीक पश्चिमी सभ्यता का आमना सामना दोनों के लिए समस्या कारक सिद्ध हुआ। टैगोर ने कहा कि कटुता के इस दौर से निकलने की आवश्यकता है ताकि दोनों सभ्यताएं शाश्वत मानवीय मूल्यों को आगे बढ़ाते हुए सहयोग व सामंजस्य के एक नए दौर में प्रवेश कर सकें। इस सम्मिलन को चरितार्थ होते देखना टैगोर की हार्दिक अभिलाषा थी—"Where the streams of ideals that flow from the East and from the West mingle their murmur in some profound harmony of meaning, it delighto my soul."

6.3 टैगोर का जीवन-दर्शन

टैगोर एक आदर्शवादी मानवतावादी विचारक थे जिनके लिए विचार एवं आदर्श ही जीवन के मूल सत्य थे। हीगल की तरह उन्होंने माना कि जीवन, विचार, प्रकृति सभी निरन्तर विकासशील एवं परिवर्तनशील है। जीवन विभिन्न रूपों को ग्रहण करते और छोड़ते हुए आगे बढ़ता रहता है क्योंकि सत्य गतिशील है, न कि स्थिर। द्वन्दात्मक विकास की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं—"मनुष्य इतिहास के विभिन्न पड़ावों को पार करता हुआ अपनी आत्मा के उच्चतम विकास के लिए प्रभावशील है, और उसकी आत्मा उसकी विभिन्न भौतिक वस्तुओं से, इसके विभिन्न कार्यों से, उसके विभिन्न सिद्धान्तों से उच्चतर है, उसकी आत्मा के विकास को मृत्यु भी बाधित नहीं कर सकती।" ('All man is marching from epoch to epoch towards the fullest realization of his soul-the soul which is greater than the things man accumnlates, the deeds he accomplishes the theories he builds, the soul whose enward course is never checked by death or dissolution') जिस प्रकार एक पुष्प को फल बनने की प्रक्रिया में अपनी पंखुड़ियों को एक-एक कर छोड़ना होता है, उसी प्रकार आत्मोपलब्धि की इस प्रक्रिया में भौतिकता का क्रमशः क्षरण होता है। ('The flower sheds all its petals and finds the fruit').

यह स्पष्ट है कि टैगोर द्वन्दात्मक प्रक्रिया को मार्क्स की तरह भौतिकवादी नहीं मानते। प्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक मारित्यां की तरह वह मनुष्य का व्यक्तित्ववादी (Personalist) सिद्धान्त प्रतिपादित

करते हैं। मनुष्य पदार्थ जगत् से भी सम्बद्ध है और उसका सम्बन्ध सत्य, सौन्दर्य एवं श्रेष्ठता से भी है। परन्तु पदार्थ जगत गौण है एवं सत्य, सौन्दर्य व श्रेष्ठता का जगत् (The world of Personality) प्रधान है। मनुष्य की आर्थिक, भौतिक आवश्यकताओं की संतुष्टि आवश्यक है। पदार्थ जगत के सदस्य के रूप में हमारी अनेक प्रकार की इच्छाएं व वासनाएं होती हैं परन्तु भौतिकता व उपयोगिता का जीवन कभी मनुष्य को सम्यक् आनन्द व पूर्ण सन्तुष्टि प्रदान नहीं कर सकता। अत: मनुष्य को इससे परे जाकर आत्मिक नैतिक धरातल पर जीवन का अर्थ समझना चाहिए। टैगोर के अनुसार जब तक मनुष्य अपने अहं, अपनी वासनाओं एवं उपयोगितावादी दृष्टिकोण में जकड़ा है वह सत्य, स्वतंत्रता व आनन्द की ओर प्रवृत्त नहीं हो सकता। अंडे में पल रहे चूजे की तरह संकीर्णता की दीवारों में कैद रहना मनुष्य की नियति नहीं है। ('The chick Knows when it breaks thorugh the self centreel isolation of its egg that hord shell which covered it so long was not really a part of its life. That shell is a death thing, it has no grouth, it affords no glimpse whatever of the vast beyond that lies outside it.') मनुष्य को इस संकीर्ण 'स्व' से उबरकर सार्वभौमिक 'स्व' के साथ एकाकार होना चाहिए क्योंकि मनुष्य एक आत्मावान एवं बुद्धिशील प्राणी है, और अपने को समष्टि के अंग के रूप में देखकर ही वह सत्य, आनन्द एवं स्वतंत्र की उपलब्धि कर सकता है। अपने संकीर्ण स्थूल अस्तित्व से बाहर आकर प्रकृति एवं समाज के साथ अपनी अर्न्तनिर्भरता को समझना एवं तदनुसार अपने दायित्वों का निर्वहन करना ही सच्ची स्वतंत्रता है। टैगोर के अनुसार घोर व्यक्तिवाद मानववाद का शत्रु है और यह हमारी चेतना की विद्रूप कर देता है। टैगोर मनुष्य को मात्र आर्थिक भौतिक प्राणी मानने की मार्क्सवादी मान्यता को कतई स्वीकार नहीं करते क्योंकि यह मनुष्य की रचनात्मक शक्तियों को कुंठित करने वाला विचार है। उनके शब्दों में—"Man is not a mere living money-bag jumping from profit to profit and breaking the backbone of human races in its financial leap-frog. The one question above all others that has to be answered by our civilization is not what they have and in what quantity but what they exprers and how."

6.4 राज्य और समाज

रवीन्द्र नाथ के राजनीतिक चिन्तन का एक महत्वपूर्ण पक्ष समाज एवं राज्य में स्पष्ट अन्तर करना है। भारतीय इतिहास की अपनी समीक्षा में उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला की भारतीय चिन्तन सदैव ही राज्य-विरोधी (anti-state) रहा है, पर इसे अराजकतावादी (Non-state) नहीं कहा जा सकता। इसको स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि हिन्दू राजदर्शन में राज्य को नकारा नहीं गया क्योंकि राज्य के अभाव में 'मत्स्य-न्याय' की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी एवं शक्तिशाली दुर्बलों को पीड़ित व प्रताड़ित करेंगे। अत: राज्य की आवश्यकता स्वत: सिद्ध है। परन्तु हिन्दू राजदर्शन व्यक्ति को नियंत्रित व निर्देशित करने का दायित्व सौंपने में राज्य की अपेक्षा समाज को अधिक महत्व प्रदान करता है। व्यक्ति को नैतिक, सुसंस्कृत व अनुशासित बनाने एवं मानव-मानव में सामंजस्य उत्पन्न करने में धार्मिक सामाजिक संस्थाओं की निर्णायक भूमिका है। अत: हिन्दू राजदर्शन राज्य को बहुत शक्ति सम्पन्न नहीं बनाता, वरन् शक्तियों व दायित्वों का विकेन्द्रीकरण करते हुए सामाजिक संगठनों को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करता है। प्राचीन भारत में राज्य के गिने चुने दायित्व थे जैसे बाध्य आक्रमणों से रक्षा, कानून को लागू करना व न्याय करना। व्यक्ति के भौतिक व नैतिक कल्याण के कार्यों को करने की जिम्मेदारी मुख्यत: समाज पर थी। टैगोर के अनुसार इसी कारण भारतीय जीवन प्रणाली राजनीतिक शक्ति के परिवर्तनों से लगभग अप्रभावित

। व सामाजिक जीवन अक्षुण्ण रूप से चलता रहा है। अपने प्रसिद्ध लेख 'स्वदेशी समाज' में त एवं पश्चिम के राज्य सम्बन्धी दृष्टिकोण का अन्तर स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा--''हमारी क्त वहाँ पर नहीं है जहाँ यूरोप शक्तिशाली है। हमें आत्मरक्षा के लिए उसी दिशा में नहीं जाना हिए जिधर यूरोप जा रहा है। यूरोप में शक्ति का स्रोत राज्य है। राज्य ने सभी कल्याणकारी र्यों को करने की जिम्मेदारी ले रखी है। इसलिए यूरोप के लिए अपनी सभ्यता को आन्तरिक खराव और बाध्य आक्रमणों से बचाने का सर्वोत्तम मार्ग राज्य को शक्तिशाली एवं सक्रिय ाना है। परन्तु हमारे देश में कल्याण का स्रोत समाज को माना गया है। धर्म के आवरण में ाज आत्म-रक्षा का हेतु माना गया है। भारत ने कभी राज्य की ओर नहीं देखा, उसकी दृष्टि ाज की ओर ही रही है। इसलिए भारत में स्वतंत्रता का वास्तविक स्रोत समाज है।''

रतीय सामाजिक व्यवस्था आत्मिक-नैतिक आदर्शों पर आधारित मानवीय सम्बन्धों का ताना-ना है। राज्य को मानवीय जीवन के एक संगठनकर्त्ता के रूप में देखा गया, उसे सदैव साधन ना गया, न कि साध्य। जन-शक्ति के माध्यम से जन कल्याण भारतीय राजदर्शन का मूलमंत्र ा है। स्पष्टत: टैगोर राजनीतिक शक्ति के परिसीमन को उन्हीं कारणों से आवश्यक मानते हैं न कारणों से बर्ट्रेन्ड रसेल शक्ति-दर्शन की आलोचना करते हैं। वस्तुत: शक्ति का यह नियंत्रण परिसीमन तभी संभव है जब सामाजिक संस्थाएं एवं परम्पराएं दृढ़ता से स्थापित हों और व्यक्ति बहुमुखी कल्याण के लिए स्वायत्त रूप से प्रयत्नशील हों। राजनीतिक शक्ति की निरंकुशता का तिकार करने का सर्वोत्तम उपाय वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में आत्मनिर्भरता एवं त्मनियंत्रण की अभिवृद्धि करना है। टैगोर राज्य अथवा किसी एक वर्ग की शक्ति के असीमित स्तार को मानवीय सृजनात्मकता एवं स्वातंत्र्य के लिए बहुत बड़ा खतरा मानते हैं। इस प्रकार ोर समाज की पुर्नप्रतिष्ठा एवं पुर्ननिर्माण के दार्शनिक हैं। उनका समाज-दर्शन निम्न सिद्धान्तों आधारित है—

स ूर्ण समाज को सृजनात्मक आदर्शों से प्रेरित होना चाहिए।

समाज के किसी एक वर्ग का शक्ति पर एकाधिकार नहीं होना चाहिए।

व्यक्तियों को अपने नैतिक भौतिक कल्याण की जिम्मेदारी स्वयं वहन करनी चाहिए और पारस्परिक प्रेम व सहयोग के आधार पर समाज का संचालन करना चाहिए। टैगोर के अनुसार यदि व्यक्ति अपने संकीर्ण स्वार्थों से ऊपर उठकर समाज में अपने दायित्वों का वहन करे तो सरकार की भूमिका न्यूनतम रह जाएगी।

ोर के उक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि वह जनतंत्र एवं जन-शक्ति के प्रबल पक्षधर हैं, परन्तु नकी लोकतंत्र की अपनी विशिष्ट धारणा है। प्रसिद्ध ब्रिटिश साहित्यकार जार्ज बर्नाड शॉ की ह टैगोर भी जनता के और जनता के लिए शासन के तो पक्षधर हैं पर वह जनता द्वारा शासन विचार से सहमत नहीं हैं। अपने 'नव-कुलीनतंत्र' (New Aristocracy) के विचार का तिपादन करते हुए वह कहते हैं कि जीवन के इस सत्य से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता कि कुछ ागों में बौद्धिक एवं नैतिक क्षमताएं विशेष रूप से विकसित होती हैं और ऐसे सृजनशील एवं ादर्शी लोग ही जनकल्याण के सच्चे नियामक हो सकते हैं। सच्चा लोकतंत्र तो तब स्थापित होगा ब जनसाधारण को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में ऐसे निस्पृह एवं विवेकशील लोगों का मार्गदर्शन ले। टैगोर को दलीय राजनीति और इस पर गठित संसदों की जनहित करने की सामर्थ्य को कर काफी शंकाएं थीं। उनका यह भी विश्वास था कि जब तक मनुष्य की महत्वाकांक्षा, ालच आदि वासनाएं नियंत्रित नहीं होती न वह समष्टि हित के चिन्तन की भावना से अनुप्राणित हीं होता, सच्चा लोकतंत्र स्थापित नहीं हो सकता। 'वर्गीय हित' जैसी मार्क्सवादी धारणाएं द्समाज की स्थापना में बाधक हैं क्योंकि ये मनुष्य को उसके सार्वभौमिक स्वरूप में नहीं

देखती और संघर्ष व टकराव को जीवन का मूलतत्व मानती है। टैगोर के राजदर्शन के प्रमुख विवेचक डा० सचिन सेन के अनुसार—"टैगोर का समाज-दर्शन मनुष्य में आत्म-चेतना (Self Consciousness) जागृत करने पर बल देता है न कि वर्ग-चेतना।'

इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि टैगोर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना को इस कारण भी पतनकारी मानते थे क्योंकि ब्रिटिश शासन के दौरान राज्य की शक्तियों में असाधारण वृद्धि हुयी एवं समाज की स्वायत्तता व भूमिका का तेजी से ह्रास हुआ। तिलक आदि अन्य आदर्शवादियों की भाँति वह मानते थे कि ब्रिटिश राज में भारत की सांस्कृतिक व सामाजिक व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। एक विजातीय शासन भारत का उद्धार नहीं कर सकता, इसके लिए तो एक कुशल राष्ट्रीय नेतृत्व की आवश्यकता है।

6.5 राष्ट्रीयता

राष्ट्र-राज्य (Nation-state) और राष्ट्रवाद (Nationalism) के विचार आधुनिक राजसिद्धान्त की मूल मान्यताएं हैं, परन्तु टैगोर राष्ट्रवाद की इस आधुनिक पाश्चात्य अवधारणा को नकारात्मक मानते हैं। उन्होंने राष्ट्रवाद को साम्राज्यवाद एवं सैन्यवाद का अग्रज माना और स्पष्ट कहा कि संघर्ष एवं विजय की प्रवृत्तियों का मूल स्रोत राष्ट्रवाद ही है। ('The truth is that the spirit of conflict and conquest is at the origin and in the centre of the western nationalism') 1916-17 में 'Nationalism in the west' शीर्षक से दिए गए अपने व्याख्यानों में टैगोर ने पाश्चात्य 'राष्ट्र-राज्य' की अवधारणा का विवेचन करते हुए विचारोत्तेजक टिप्पणियाँ की। उन्होंने कहा कि राष्ट्र-राज्य लोगों का ऐसा राजनीतिक व आर्थिक एकीकरण है जिसका उद्देश्य समाज की कीमत पर राज्य की मशीनरी को शक्तिशाली बनाना है। जहाँ पहले राज्य की एक सीमित भूमिका होती थी, आधुनिक राज्य लोगों के भय व लालच की प्रवृत्तियों का लाभ उठाकर निरन्तर अपना विस्तार करता जा रहा है। राज्य को इतना शक्ति-सम्पन्न बनाने में औद्योगिकीकरण एवं पूँजीपति वर्ग की धनलिप्सा ने विशेष भूमिका निभाई है। आधुनिक राष्ट्र-राज्यों ने समाज की भूमिका को हड़पकर दूसरे देशों व संस्कृतियों को निशाना बनाया। अपने राजनीतिक व आर्थिक स्वार्थों को पूरा करने के लिए ये इतने उग्र व आक्रामक हो जाते हैं कि अन्य राज्यों व संस्कृतियों को अपना गुलाम बनाने या नष्ट करने में कोई संकोच नहीं करते। टैगोर के अनुसार राष्ट्र के विचार ने मनुष्य-जाति को संवेदना-शून्य बना दिया है—'The idea of nation is one of the most powerful anaesthetics that man has invented. Under its influence the whole people can carryout its systematic programme of the most virulent self-seeking without being in the least aware of its moral perversion–infact, feeling dangerously resentful if it is pointed out' टैगोर के अनुसार राष्ट्रवाद अहं एवं दंभ का प्रवर्तक रहा है, शक्तिशाली राज्य अन्य देशों के अस्तित्व के अधिकार को ही स्वीकार नहीं करना चाहते।

टैगोर ने कहा कि राष्ट्रीयता का विचार मानवीय सभ्यता एवं सृजनशीलता का विघातक है। राज्यों द्वारा अपनी राजनीतिक, आर्थिक व सैनिक शक्ति का अधिकाधिक विस्तार करने की इच्छा उन्हें उच्चतर मानवीय मूल्यों के प्रति उदासीन बना देती है। राष्ट्रवाद का नशा लोगों के मन मस्तिष्क को इतना संकीर्ण बना देता है और उन्हें इतना उत्तेजित कर देता है कि वे अपने को समष्टि के अंग के रूप में नहीं, वरन् उसके स्वामी के रूप में देखते हैं। मनुष्य शक्ति और आधिपत्य के उपकरण बन कर रह जाते हैं, विवेक का स्थान उन्माद ले लेता है। टैगोर के शब्दों में—'The individuat thinks even when he feels, but the same individual when he feels with the crowd does not reason at all. His moral sense becomes blurred. This supercession of higher humanity in

'd minds is productive of enormous strength. For the crowd
l is essentially primitive, its forces are elemental. The Nation
rever watching to take advantage of this enormous power of
ness" टैगोर के अनुसार केवल अपने 'स्व' तक सीमित रहने वाला व्यक्ति या राष्ट्र
: अपनी आत्म-हत्या की ओर ही प्रवृत्त होता है। हमारा देश प्रेम विश्वबन्धुत्व में बाधक
ना चाहिए। एक बार उन्होंने कहा—'मैं भारत से प्रेम करता हूँ परन्तु मेरा भारत भौगोलिक
हीं है। यह एक विचार है। इसलिए मैं देशभक्त नहीं हूँ, मैं अपने साथियों को विश्वभर में
। रहूँगा।' ('I love India, but my India is an Idea and not a
graphical expression. Therefore I am not a patriot-I shall ever
my compatriots all over the world.')

ा सम्बन्धी टैगोर के इन विचारों को भारत के अनेक विचारकों एवं राजनेताओं ने स्वीकार
किया। देशबन्धु चितरंजन दास ने कहा कि टैगोर ने राष्ट्रवाद के शुद्ध एवं विकृत स्वरूप में
अन्तर नहीं किया है। राष्ट्रवाद एक महान शक्ति भी है जो पराधीन जनता को स्वतंत्रता के
रित करती है। एशिया व अफ्रीका के तमाम देश राष्ट्रवादी आन्दोलनों के परिणामस्वरूप ही
य साम्राज्यवाद से मुक्ति पा सके। स्वतंत्रता व्यक्ति व राज्य का नैसर्गिक अधिकार है। और
ता का यह फल राष्ट्रीयता की ऊष्मा से परिपक्व होता है। हीगेल, फिक्टे व मैजिनी जैसे
त्य विद्वानों ने राष्ट्रीयता को संकीर्णता से मुक्त करने वाली शक्ति माना है क्योंकि राष्ट्रभक्ति
बिना व्यक्ति को संकीर्ण निष्ठाओं और क्षुद्र स्वार्थों से परे ले जाती है। फिर एक स्वाधीन राष्ट्र
य सभ्यताओं व संस्कृतियों से सही अर्थ में लाभान्वित हो सकता है। राष्ट्रीयता का सहज व
विकास अन्तर्राष्ट्रीयता में ही परिणत होता है। राष्ट्रीयता के बिना अन्तर्राष्ट्रीयता वस्तुतः पर
ा एवं दासता ही है।

के अनुसार यूरोप व भारत में संगठन तथा एकता के आधार अलग अलग हैं। 'नेशन' शब्द
किट होने वाली एकता भारत में नहीं रही है, यहाँ एकता व संगठन के दूसरे आधार माने
यूरोप में सरकार एवं राजनीतिक शक्ति एकता का स्रोत रहा है जबकि भारत में समाज।
य सभ्यता हमेशा विविधता में एकता व संगठन स्थापित करने पर बल देती रही है।
त्य इतिहासकारों का यह तर्क कि भारत में नस्ल, जाति, भाषा एवं धर्म की इतनी विभिन्नता
भारतीय सामाजिक जीवन में संगठन व सद्भाव का अभाव रहा है, असत्य व भ्रामक है।
के अनुसार भारतीय समाज की संरचना में विविध नस्लों व मानसिक प्रवृत्ति के लोगों यथा
द्रविड़, ग्रीक, पर्शियन, पश्चिम व मध्य एशिया के मुसलमानों आदि ने योगदान किया और
फलस्वरूप एक विशिष्ट संस्कृति का जन्म हुआ जिसमें एक अन्तर्निहित एकता व शक्ति है।
को राष्ट्र की यूरोपीय अवधारणा को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। भारत में
ता एक स्वतःस्फूर्त सामाजिक व सांस्कृतिक चेतना का प्रतिफलन है।

अन्तर्राष्ट्रवाद

का मानववाद उनकी कृतियों में बार-बार निरूपित हुआ है। टैगोर के अनुसार मनुष्य 'एक
ीन मार्ग का पथिक' ('Wayfarer of an endless road') है। अपने को विभिन्न
की संकीर्णताओं और सीमाओं से मुक्त करते जाना उसके जीवन का लक्ष्य है। मनुष्य को
वरुप में देखते हैं, वह मानवमात्र की सेवा द्वारा ईश्वर को प्राप्त कर सकता है। मानववाद ही
म धर्म है। टैगोर वेदान्त दर्शन से बहुत प्रभावित थे जिसमें सम्पूर्ण चर-अचर जगत में ईश्वर
तिबिम्ब देखा गया है। टैगोर का विचार है कि निर्धन व असहाय मनुष्यों के आँसू पोंछ कर
शान्ति व आनन्द की सृष्टि कर सकते हैं। अपनी एक रचना में उन्होंने लिखा—

'A poet of the world am I

its varied voices and tunes

would find repose in my flute'.

टैगोर के अनुसार यह संसार सम्बन्धों की एक विशाल श्रंखला हैं और इन विभिन्न सम्बन्धों का सम्यक् निर्वहन मनुष्य का धर्म है। यही उसके उन्नयन का मार्ग है। यदि हम अपने दायित्वों के प्रति उदासीन हो जाएंगे तो हमारी चेतना का विकास अवरूद्ध हो जाएगा। अपनी प्रसिद्ध कृति 'दि रिलीजन ऑफ मैन' में उन्होंने लिखा कि हम अपने सच्चे स्वरूप को विभिन्न मानवीय सम्बन्धों के द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। ("Man misses himself when isolated. he finds his own larger and truer self in his wide human relationships. His multi-cellular body is born and it dies, his multi-personal humanity is immortal") टैगोर पूर्वी व पाश्चात्य सभ्यताओं के सम्मिलन के प्रति बहुत आशावान थे क्योंकि उनका विचार था कि 'मानवीय आत्मा का विकास क्रम व्यक्ति से समुदाय, समुदाय से ब्रह्मांड और ब्रह्मांड से अनन्त की ओर उन्मुख है।' उनके अर्न्तराष्ट्रवाद के दार्शनिक आधार निम्नवत हैं—

1. प्रत्येक राष्ट्र विराट मानवता का एक अंग है, और इसलिए हर एक को अपने अपने ढंग से मानवता को समृद्ध करना चाहिए। यदि कोई देश या नस्ल या जाति अपने को समष्टि से पृथक् करके देखती है तो वह निर्जीव व निष्प्राण मांसपिंड मात्र है। उसकी सृजनात्मक शक्तियाँ समाप्त होती जाएगी।

2. राष्ट्रीय या प्रजातीय या धार्मिक संकीर्णता भय, सन्देह व दु:ख का हेतु होती है। यह जीवन की सम्पूर्णता का निषेध है अत: इसमें शान्ति व आनन्द संभव नहीं है। राष्ट्रों को अपने हित-अहित का निर्धारण सम्पूर्ण मानवता के संदर्भ में करना चाहिए। अंग व शरीर दोनों को एक दूसरे का ध्यान रखना चाहिए, अन्यथा दोनों की हानि होगी। टैगोर ने कहा 'यदि रात्रि में केवल मेरा दीपक जल रहा है और अन्य सब बुझे हुए हैं, तो उसका प्रकाश मेरे लिए भी पर्याप्त नहीं होगा।' ('If in the night only my lamp is lit and the rest of the world is dark, the lamp has no o real illumination for me').

3. टैगोर के अनुसार अर्न्तराष्ट्रीयता की अभिवृद्धि इसलिए भी अवरूद्ध हो जाती है क्योंकि राजनीतिज्ञ लोग राष्ट्रीय हित व राष्ट्रीय अहंकार के आधार पर समस्याओं पर विचार करते हैं। यदि शासक वैश्विक दृष्टिकोण के आधार पर कार्य करें, युद्ध व अशान्ति से बचा जा सकता है।

इस प्रकार टैगोर अर्न्तराष्ट्रीयता के प्रबल पक्षधर हैं। अपनी शैक्षिक संस्था 'शान्ति निकेतन' के द्वारा वह नई पीढ़ी को सार्वभौमिकतावाद की ओर अग्रसर करना चाहते थे। विश्व शान्ति के प्रति अपने इस समर्पण के कारण वह मार्क्सवाद और फाँसीवाद जैसी विचारधाराओं को स्वीकार नहीं कर सकते थे। मार्क्स का उग्र वर्गवाद और फाँसीवाद चिन्तन का उग्र राष्ट्रवाद समाज व विश्व में हिंसा व संघर्ष को ही बढ़ावा देगा, ऐसा उनका विश्वास था।

6.7 ब्रिटिश शासन के प्रति दृष्टिकोण

टैगोर भारत में ब्रिटिश राज के कटु आलोचक थे और ब्रिटिश शासन की उनकी आलोचना कई अवसरों पर इतनी निर्मम थी कि उग्रवादी भी पीछे छूट जाते थे। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना को वह एक नितान्त नया अनुभव मानते थे। उन्होंने कहा कि भारत पर मुगल राज्य की स्थापना का इतना गहर असर नहीं हुआ जितना कि ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना का। मुस्लिम

यक अन्ततः पूर्वी सभ्यता के ही प्रतिनिधि थे। ब्रिटिश शासन की स्थापना के फलस्वरूप भारत श्चमी विचारों व जीवन प्रणाली के निकट सम्पर्क में आया। ब्रिटिश लोगों ने भारतीय जनता के थ उस प्रकार घुलना-मिलना पसंद नहीं किया जिस प्रकार मुस्लिम शासकों के समय हुआ। रिणामस्वरूप ब्रिटिश शासन ज्यादा दंगपूर्ण, केन्द्रीयकृत व शोषणकारी सिद्ध हुआ। टैगोर जहाँ क ओर अंग्रेजों के स्वतंत्रता प्रेम व साहस के प्रशंसक थे, वहीं वह भारत में ब्रिटिश शासन के त्या-कलापों के कटु आलोचक थे। उनहोंने 'महान अंग्रेज' (Great Englishman) और ुद्र अंग्रेज' (Small Englishman) के बीच भेद किया और कहा कि भारत पर इन्हीं क्षुद्र, पारी मनोवृत्ति वाले एवं दंभी अंग्रेजों का शासन है जो मानवीय संवेदना और सहानुभूति को ांजलि देकर भारत पर शासन करते हैं और इसलिए जो भारत को समझने में कोई रूचि नहीं ते। ब्रिटिश उदारवाद के आधारभूत सिद्धान्तों जिनके प्रति टैगोर के मन में बहुत आदर था, का ई प्रभाव ब्रिटिश शासन की नीतियों पर परलक्षित नहीं होता। उन्होंने कहा कि ब्रिटिश शासन क ऐसी क्रूर महामारी है जिसने हमारे नैतिक जीवन को क्षत-विक्षत कर दिया है। ('The itish empire is a crual epidemic of evil that is sweeping over the man world of the present age, and eating into its moral vitality') शासन यंत्रवत् परिचालित होता है, अपने आर्थिक-भौतिक हितों के लिए सक्रिय रहता है र इनकी सुरक्षा के लिए कानून-व्यवस्था की मशीनरी को चुस्त-दुरस्त रखना इसकी सर्वोच्च मिकता है। ('Mere administration is unproductive, it is not creative, i a living thing. It is a steam roller formidable in its weight and wer, having its uses but it doesnot help the soil to become tile') अपने एक लेख 'दि इंग्लिशमैन एंड दि इंडियन' में भारतवासियों के प्रति अंग्रेजों के कोण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा—"अंग्रेज में हमारा भला करने की इच्छा हो सकती है वह दयाशील नहीं है, वह दूसरे की रक्षा करना चाहता है पर उसमें प्रेम का अभाव है, उसमें य करने की भावना हो सकती है पर वह दूसरे को सम्मान नहीं देता, वह बीज बोने में तो ूसी नहीं दिखाता, पर भूमि पर पानी नहीं डालना चाहता। क्या यह सार्वभौमिक सत्य नहीं है जब तक हम दूसरे के प्रति समझदारी व सहानुभूति नहीं दिखाएंगे, वह हमारे प्रति कृतज्ञ नहीं ा? अंग्रेज ने अपने को उपयोगी तो बनाया पर प्रिय नहीं।" ('In a word, the glishman has made himself useful but not dear to us. He gvies medicine but does not make it tasteful, but atleast when we feel miting tendency, he speaksout fiercely and with anger.') ब्रिटिश कार एक मालाहीन मशीन है जो अपने साम्राज्यवादी हितों को साधने के लिए किसी भी सीमा आ सकती है। ब्रिटिश सरकार की संवेदना शून्य रीति-नीति का एक ज्वलंत प्रमाण अमृतसर 'जालियाँवाला बाग' का हत्याकांड था जिसने टैगोर को हिला कर रख दिया, और विरोध रूप उन्होंने नाइटहुड' की उपाधि वापस कर दी। ब्रिटिश शासन की उनकी आलोचना निम्न ि पर आधारित थी—

इंग्लैण्ड का शासन ऐसा विदेशी-राज्य है जिसमें भारत व भारतवासियों को समझने का कभी प्रयास नहीं किया गया। वे भारत के प्रति अपमानजनक दृष्टिकोण रखते हैं, और यहाँ की लूट से अपने को सम्पन्न व शक्तिशाली बनाने का प्रयास करते हैं।

इंग्लैण्ड ने भारत में कृषि, वाणिज्य एवं उद्योगधन्धों को विकसित करने और उन्हें आधुनिक बनाने का कोई प्रयास नहीं किया।

ब्रिटिश शासन इस अर्थ में एक विडम्बना है कि जो हमारे शासक हैं वे हमारे स्वाभाविक

नेता नहीं हैं और जो हमारे स्वाभाविक नेता हैं, उन्हें शासन से दूर रखा जाता है। फलस्वरूप जनता व सरकार के बीच की खाई बढ़ गयी है जिससे देश में निराशा और उदासीनता का माहौल उत्पन्न हो गया है।

4. ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद भारत पूर्वी सभ्यताओं जिनसे उसके प्राचीन और घनिष्ठ सम्बन्ध रहे हैं, से अलग-थलग पड़ गया और पश्चिमी देशों पर उसकी निर्भरता बहुत बढ़ गयी। भारत जो सांस्कृतिक, राजनीतिक व आर्थिक दृष्टि से पूर्वी सभ्यताओं का सिरमौर था, पश्चिम का दास बनने को विवश हो गया।

इस विदेशी शासन के प्रति भारतवासियों का दृष्टिकोण क्या हो? टैगोर ने कहा कि इस दुरावस्था का अन्त करने के लिए भारतीयों को अपनी नैतिक-आत्मिक शक्ति जागृत करना होगा। भारत का उद्धार न तो प्रार्थना और याचना के मार्ग पर चलने में है और न हिंसा व आतंक के। उत्तेजक और भावनात्मक भाषणों से कोई वास्तविक लाभ नहीं होगा। भारतीयों को धैर्य एवं साहस के साथ अपने को संगठित करने की चेष्टा करना चाहिए। कांग्रेस के उदारवादी व उग्रवादी खेमों की कार्य-प्रणाली से अपनी असहमति प्रकट करते हुए उन्होंने कहा—"नरम पंथियों व गरम पंथियों में यह अन्तर है कि नरमपंथी सरकार से हाथ जोड़कर भीख माँगते हैं व गरमपंथी गुस्से में आँखे लाल करके। नरमपंथी मालिक की मेज के पास खड़े होकर पूँछ हिलाते है और गरमपंथी केवल भौंकते हैं। नरमपंथी अपने को बुद्धिमान मानते हैं और गरमपंथी बहुत वीर। पर अंग्रेजों के लात एवं घूंसे दोनों की पीठ पर बराबरी से पड़ते हैं, मालिक की मेंज की जूंठन भी दोनों पर बराबरी से गिरती है और उसके बंटवारे को लेकर दोनों लड़ने लगते हैं। देश के हित का काम करने के लिए उनके पास समय नहीं है।" ('The moderates of our country beg from them with folded hands and the extremists beg with eyes red with anger. The former wag their tail before the master's table and the latter only bark. The moderates think that they are wise and the extremists think that they are very heroic. But lo! the cuffs from the British fists and the kicks from the British boots fall equally on the back of both. The crumbs from their master's tables, to, fall equally on both, and they get busy fighting among themselves over the division of crumbs. Thus they donot have the time to attend to the work of our country's welfare.')

टैगोर अहिंसात्मक असहयोग की पद्धति को प्रभावी व श्रेष्ठ मानते थे, पर उनका विचार था कि राजनीतिक जीवन में इस प्रणाली का सफल प्रयोग तभी संभव है जब भारतवासी दिल और दिमाग से एक हो जाएं और अपने में त्याग व बलिदान की सामर्थ्य पैदा कर लें। वे गाँधीवादी कार्य-पद्धति को इसी कोटि में रखते थे और उसके प्रशंसक थे। उनके कई नाटकों जैसे 'मुक्तिधारा', 'प्रायश्चित' आदि में आत्म-शक्ति पर आधारित असहयोग को कारगर राजनीतिक पद्धति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। टैगोर के अनुसार अन्याय व शोषण के विरुद्ध संघर्ष में प्रेरणादायी नेतृत्व की महत्वपूर्ण भूमिका है, परन्तु उनका यह भी विश्वास था कि नेतृत्व का अन्धानुकरण या व्यक्ति पूजा जनता को मानसिक और भावनात्मक रूप से दुर्बल बनाती है। वह विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के दर्शन से भी सहमत नहीं थे क्योंकि प्रथम, तो यह जोर-जबरदस्ती पर आधारित था और इसलिए मानव की गरिमा व स्वतंत्रता पर प्रहार है, और दूसरा इस प्रकार के नकारात्मक विचार मनुष्य को अन्ततः संकीर्ण व उन्मादी ही बनाते हैं।

ोर का यह दृढ़ विश्वास था कि किसी देश का अभ्युदय 'आन्तरिक स्वराज' की स्थापना से संभव है। हमारे वाह्य प्रयासों की सफलता व प्रभाविकता इस वात पर निर्भर करती है कि ारी आन्तरिक क्षमताएं कितनी विकसित और लक्ष्योन्मुखी हैं। उन्होंने कहा— 'The story of man's progress is the history of this extension of Swaraj rough the dominance of self-thinking, self confidence and self spect.'

8 मूल्यांकन

धुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन में रवीन्द्र नाथ टैगोर की विशिष्टता इस वात में निहित है साहित्य-साधना के प्रति समर्पित रहते हुए भी वह राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय सतर पर विद्यमान नीतिक व सामाजिक समस्याओं पर पैनी दृष्टि रखते थे और विचारपूर्ण एवं बेबाक टिप्पणियाँ ते थे। बंगाल का विभाजन, असहयोग आन्दोलन, रूस की साम्यवादी क्रान्ति, यूरोप में सीवाद का उदय, हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न, गाँधी की नेतृत्व शैली, पाश्चात्य सभ्यता का स्वरूप, ीयता आदि समय-समय पर उठने वाले प्रश्नों व मुद्रों के माध्यम से टैगोर ने एक सुसंगत नीतिक चिन्तन प्रस्तुत किया। वे एक व्यवस्थित राजनीतिक विचारक न थे, और न ही उनका सी दल या विचारधारा से सम्बन्ध था। परन्तु उनके विवेचन के पीछे एक निश्चित व संगत जीवन-दृष्टि विद्यमान है जो उनके विचारों को अत्यन्त प्रणवान व प्रभावशाली बना देती उनके राजनीतिक विचारों में एक कवि की संवेदनशीलता और एक समीक्षक की वेवाकी ट रूप से झलकती है। यद्यपि राजनीति उनका क्षेत्र नहीं था, तथापि वह अपने राजनीतिक वेत्व के प्रति उदासीन न थे। अपने विचारों के कारण उन्हें प्राय: देश और विदेश में उपेक्षा र आलोचना झेलनी पड़ी, परन्तु टैगोर इस सवसे अप्रभावित रहते हुए अपने आदर्शों व ाओं के संदर्भ में राजनीतिक और सामाजिक जीवन का विश्लेषण करते रहे।

र राज्य और राजनीति को सीमित महत्व ही प्रदान करते हैं। राज्य की शक्ति व कार्यक्षेत्र के न्तर विस्तार से वह उसी प्रकार सशंकित और व्यथित थे जिस प्रकार महात्मा गाँधी। टैगोर का ास था कि मनुष्य का कल्याण राज्य जैसी वाह्य व अमूर्त संस्था से संभव नहीं, इस दायित्व निर्वहन तो सामाजिक व सांस्कृतिक संस्थाएं ही कर सकती हैं। टैगोर शक्ति, प्रतिस्पर्धा एवं योगिता की राजनीति के कटु आलोचक थे। वह मार्क्स के वर्गवादी एवं क्रान्तिकारी दृष्टिकोण मानवता के लिए हितकारी नहीं मानते थे। वे एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था के पैरोकार थे आत्मिक और नैतिक आदर्शों को चरितार्थ कर सके। इस प्रकार टैगोर का राजदर्शन बीसवीं ी की उन विचारधाराओं व अवधारणाओं के विरुद्ध प्रतिक्रिया है जो महज राजनीतिक व र्थिक कार्यक्रमों के आधार पर मनुष्य का सम्पूर्ण कल्याण करना चाहती है। यह स्पष्ट है कि र आधुनिक राज्य, राजनीति और विचारधाराओं के प्रस्थान-बिन्दुओं को भ्रामक मानते हैं र सार्वभौमिक मानदण्डों की आवश्यकता को अनुरेखित करते हैं।

9 सारांश

न्द्र नाथ टैगोर एक यशस्वी कवि एवं साहित्यकार थे। जिस दौर में उनका लेखन व चिन्तन ा, वह भारत के राजनीतिक इतिहास का एक निर्णायक दौर था। अत: समसामयिक नीतिक प्रश्नों से टैगोर भी अछूते न रह सके और उन्होंने राजनीतिक एवं सामाजिक प्रश्नों व स्याओं पर समय-समय पर अपने विचार प्रकट किए। टैगोर का दृष्टिकोण आत्मवादी एवं वतावादी है। उनका विचार है कि राजनीतिक जीवन की समस्याओं व संघर्षों का जन्म

इसलिए होता है क्योंकि हम समष्टि की उपेक्षा कर अपने 'स्व' को परिभाषित करते हैं। यह संकीर्ण 'स्व' हमें अन्याय, शोषण, लालच, शक्ति लिप्सा की ओर प्रवृत्त करता है। टैगोर मनुष्य को 'वर्गीय', राष्ट्रीय, जातीय दृष्टि से देखने के इसीलिए विरोधी हैं क्योंकि यह दृष्टिकोण हिंसा व अशान्ति का जनक है। टैगोर का विचार है कि यदि मनुष्य सार्वभौमिक नैतिक मानदण्डों से परिचालित हो तो शान्ति एवं सद्भाव पर आधारित सामाजिक व्यवस्था की रचना हो सकती है। इस प्रकार सम्यक् राष्ट्रवाद व अर्न्तराष्ट्रवाद में कोई विरोध नहीं है। मनुष्य की अर्न्तनिर्भरता, उसकी आत्मिक खोज इसे निरन्तर वृहत् संदर्भों की ओर प्रेरित करती है।

अपने मानवतावादी दृष्टिकोण के कारण टैगोर साम्राज्यवाद को पूर्णत: अस्वीकार कर देते हैं क्योंकि यह मानवीय स्वतंत्रता व गरिमा पर प्रहार है। वे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना को एक विकृति मानते हैं और उसका अन्त करने के लिए आत्मिक एवं नैतिक शक्ति-स्रोतों के पुर्नजागरण पर बल देते हैं। टैगोर के अनुसार भारत की प्राचीन संस्कृति व जीवनादर्श उसके पुर्ननिर्माण के आधार होने चाहिए, यद्यपि पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान को आवश्यकतानुसार स्वीकार करने में उन्हें कोई संकोच नहीं था। आधुनिक सभ्यता के मंत्रवाद, भौतिकवाद, राज्यवाद से उन्हें तीव्र वितृष्णा थी क्योंकि इनके कलुषित प्रभाव से मनुष्य सृजनशीलता और स्वायत्तता के जीवन से दूर हो रहा है। जिसके फलस्वरूप उसके जीवन में शान्ति व आनन्द का अभाव पैदा हो गया है।

6.10 उपयोगी पुस्तकें

1. आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन—डॉ० वी०पी० वर्मा, लक्ष्मी नारायन अग्रवाल, आगरा, 1995
2. V. Lensy : Rabindra Nath Tagore, George Allen and Urbin Ltd., London, 1939.
3. Dr. Tarak Nath Das : Rabindra Nath Tagore, His Relisions, Social and Political Ideas, Saraswati Library, Calcutta, 1932.
4. Edward Thompson : Rabindra Nath Tagore, Association Press, Calcutta, 1928.
5. Sochin Sen : Political Philosophy of Rabindra Nath, Asher & Co., Cacutta, 1929.
6. Ernest Rhys : Rabindra Nath Tagore, Macmillans Co., London, 1915.

6.11 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

1. टैगोर की राष्ट्रवाद की समालोचना का विवेचन कीजिए।
2. राज्य और समाज पर टैगोर के विचारों का वर्णन कीजिए।

टैगोर के मानवाद पर एक निबन्ध लिखिए।

घु उत्तरीय प्रश्न :

ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति टैगोर के दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिए।

क्या टैगोर गाँधी की तरह एक अराजकतावादी विचारक हैं?

स्तुनिष्ठ प्रश्न :

निम्न में से किस विचार को टैगोर ने अस्वीकार किया है?

(अ) मानववाद (स) राष्ट्र-राज्य

(ब) आत्मवाद (द) समन्वय वाद

टैगोर कीं रचना का नाम बताइए?

(अ) गीता रहस्य (स) नोट्स ऑन हिस्ट्री

(ब) रिलीजन ऑफ मैन (द) सावित्री

›.12 प्रश्नोत्तर

1. (स) 2. (ब)

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय

MAPS -06
आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन

खंड
3

समाजवादी एवं साम्यवादी चिन्तन

इकाई 7

एम० एन० राय 5

इकाई 8

नरेन्द्र देव 23

इकाई 9

डा० राम मनोहर लोहिया 37

इकाई 10

जय प्रकाश नारायण 51

ब्रण्ड 3 का परिचय : समाजवादी एवं साम्यवादी चिन्तन

ह खण्ड आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन पाठ्यक्रम का तीसरा खण्ड है। इस खण्ड का ोर्षक 'समाजवादी एवं साम्यवादी चिन्तन' है और यह खण्ड भारत में साम्यवादी एवं समाजवादी ाचारधाराओं के उद्भव एवं विकास तथा इनसे सम्बन्धित प्रमुख विचारकों के वैचारिक योगदान पर काश डालता है।

स खण्ड में कुल चार इकाईयाँ हैं, जो चार विचारकों से सम्बन्धित हैं। प्रथम इकाई साम्यवादी ाचारधारा एवं इसके व्यावहारिक उपादानों के सन्दर्भ में एम० एन० राय के विचारों के महत्त्व को ष्टिगत रखते हुए, भारत में इसके योगदानों पर केन्द्रीत है। इस इकाई में एम०एन० राय के मार्क्सवाद ; प्रति आरम्भिक झुकाव एवं बाद में इससे दूर होते हुए, एक नवीन राजनीतिक सोच की ओर उनके झान पर सम्यक् प्रकाश डालती है। इस दौर में उनके द्वारा मार्क्सवादी कट्टरता एवं पूँजीवादी दारवाद दोनों ही विचारधारों के प्रति उनकी अस्वकृति और उनके नवीन दर्शन नव मानवतावाद में रिचित करायेगी।

सरी, तीसरी एवं चौथी इकाईयाँ आपको भारत में समाजवादी विचारधारा में क्रमशः आचार्य नरेन्द्र व, डा० राम मनोहर लोहिया एवं जय प्रकाश नारायण के योगदानों से परिचित कराती है। ये इकाई ारत में समाजवादी आन्दोलन की उत्पत्ति एवं विकास के बारे में तो परिचित करायेगी ही, साथ ही पर्युक्त विचारकों के समाजवाद सम्बन्धी मूल बातों एवं इनके विचारों से भी आपको परिचित ारायेगी, जिन तथ्यों एवं परिस्थितियों ने उपर्युक्त विचारकों को समाजवादी चिन्तन की दिशा में ाग्रसर होने के लिए प्रेरित किया।

काई 7 : एम० एन० राय

रेखा

) उद्देश्य

l प्रस्तावना

: भारत में साम्यवादी आन्दोलन का उद्भव एवं विकास

३ एम०एन० राय—राजनीतिक विचार

7.3.1 राय के 'संक्रमणशील भारत' के विषय में विचार

7.3.2 राय एवं कर्मिटार्न तथा उपनिवेशवाद

7.3.3 एम०एन० राय एवं गाँधीवाद

7.3.4 वैज्ञानिक राजनीति—भौतिकवाद का प्रभाव

7.3.5 राय एक रोमांटिक क्रातिकारी के रूप में

7.3.6 राय एवं मार्क्सवाद—पक्ष एवं विपक्ष में तर्क

7.3.7 नवीन मानवतावाद

7.3.8 दलविहीन प्रजातंत्र पर बल

। मूल्याकंन

; सरांश

› उपयोगी पुस्तकें

' संबंधित प्रश्न

३ प्रश्नोत्तर

0 उद्देश्य

इकाई के अध्ययन से आप :

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में साम्यवादियों की भूमिका एवं प्रभाव के साथ ही सावधानी विचारधाराओं के उदभाव एवं विकास पर टिप्पणी कर सकेंगे।

भारतीय राजनीति में मार्क्सवाद को प्रवेश दिलाने वाले अग्रणी नेताओं में एम०एन० राय के विषय में उनके राजनीतिक विचारों का विवेचन कर सकेंगे।

एम०एन० राय विचारों गाँधीवाद, मार्क्सवाद एवं नवीन मानवतावादी विचारों के सम्यक् विश्लेषण के साथ ही उनके संक्रमणशील भारत, भौतिकवाद एवं वैज्ञानिक राजनीति, कार्मिटार्न एवं उपनिवेशवाद, रोमांटिक क्रान्तिकारी आदि का उल्लेख कर सकेंगे।

एम०एन० राय के राजनीतिक विचारों के मूल आधार नव मानवता वाद एवं दल विहीन प्रजातंत्र के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

राय के विचारों का तत्कालीन भारतीय राजनीति पर पड़ने वाले प्रमाणों का मूल्यांकन कर सकेंगे।

1 प्रस्तावना

नवेन्द्र नाथ राय (1886-1954) भारत में साम्यवादी चिन्तन के एक प्रखर प्रेणता के रूप में

जाने जाते हैं। वे भारत में साम्यवाद के न केवल सैद्धान्तिक व्याख्याकार वरन् इसके प्रचार-प्रसार की दृष्टि से भी इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है। उनका बचपन का नाम नरेन्द्र भट्टाचार्य था और वे अपने विद्यार्थी जीवन से ही क्रान्तिकारी बन गए थे। प्रारम्भ में उन पर स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ एवं स्वामी दयानन्द का प्रभाव पड़ा, साथ ही राष्ट्रवादी नेताओं विपिन चन्द्रपाल, अरविन्द घोष तथा सुरेन्द्र नाथ बनर्जी के विचारों के प्रति भी उनके मन में बड़ा उत्साह था। 1905 में बंग-भंग एवं स्वदेशी आन्दोलन के कारण प्रचण्ड उथल-पुथल मची थी जिसके कारण युवा वर्ग संवैधानिक आन्दोलन के द्वारा साम्राज्यवाद के विरुद्ध आन्दोलन के प्रति विमुख हो रहा था और क्रान्तिकारी परिवर्तन की माँग जोर पकड़ रही थी। ऐसे में युवा नरेन्द्र भट्टाचार्य ने छदम नाम धारण कर मानवेन्द्र नाथ राय के नाम उग्र राष्ट्रवाद से प्रभावित होकर भूमिगत आन्दोलन के लिए बम बनाने और बैंक लूटने में शिखत की। 1910 में उन्हें हावड़ा-शिवपुर षड़यन्त्र के आरोप में नौ माह का कारावास का दण्ड मिला। 1915 में कलकत्ता की एक राजनीति डकैती के सम्बन्ध में उन्हें पुनः गिरफ्तार कर लिया गया।

जेल से छूटने के पश्चात् क्रान्तिकारी आन्दोलन में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ गयी। इस दौरान उन पर नवीन मुखर्जी के क्रान्तिकारी विचारों का व्यापक प्रभाव रहा और उन्हीं के निर्देश पर वे प्रथम विश्व युद्ध के दौरान भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन की सहायता के लिए हथियारों का सौदा करने के लिए जर्मनी भेजा गया। वे जावा, फिलीपींस, कोरिया एवं मेचूरिया होते हुए अमेरिका पहुँचे जहाँ लाला लाजपत राय के सम्पर्क में आये। साथ ही वे अमेरिका के वामपंथियों, समाजवादियों और श्रमिक संघवादियों के सम्पर्क में आकर उनका भारतीय क्रान्तिकारी से वामपन्थी विचारो की ओर झुकाव बढ़ा। मैक्सिको में सोवियत कम्युनिष्ट पार्टी के सदस्य एम० बोटोदिन से मुलाकात के बाद वे साम्यवादी-सामाजिक क्रान्ति के जरिए भारतीय जनमुक्ति के प्रति प्रतिबद्ध हुए। मैक्सिको में ही उन्होंने सोवियत संघ से बाहर सर्वप्रथम एक साम्यवादी दल का गठन किया। बोल्शेविक क्रान्ति के पश्चात् ऐसा माना जाता है कि लेनिन के बुलाने पर वे रूस पहुँचे और औपनिवेशिक समस्याओं पर बोल्शेविक पार्टी के सलाहकार बन गए। परन्तु राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक मुद्दों पर अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी संघ के द्वितीय कांग्रेस में लेनिन से गम्भीर मतभेद हो गया। इस समय वे ट्रास्की, स्टालीन, जिनोवीय क्रामेनेव के सम्पर्क में आये। इस दौर में लेनिन की अवधारणा का आलोचनात्मक मूल्यांकन करते हुए उन्होंने वैकलिनक दस्तावेज प्रस्तुत किया जिसे कांग्रेस ने थोडे संशोधन के बाद स्वीकार कर लिया। 1922 में राय बर्लिन गये, जहाँ वे लेनिन के भारत सम्बन्धी दो कार्यक्रमों को क्रियान्वित करना चाहते थे। पहला, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ मिलकर अंग्रेजी साम्राज्यवादी को उखाड़ फेंकना तथा दूसरा, कांग्रेस के नेतृत्व को चुनौती देना और उसके स्थान पर साम्यवादी दल को प्रोत्साहित करना।

1926 के अन्त में उन्हें कार्मिटार्न के प्रतिनिधि मण्डल जिसमें वोटोडि तथा दवुखनर के साथ चीन भेजा गया। इस बीच रॉय एवं कार्मिटार्न के मतभेद बढ़ते गये और तृतीय इण्टरनेशनल रूसी एकाधिकार को चुनौती देने तथा अन्य मुद्दों पर मतभेद के कारण उन्हें कार्मिटार्न एवं भारतीय साम्यवादी दल दोनों से निष्काषित कर दिया गया। 1930 में राय भारत वापिस आने के बाद कानपुर षडयन्त्र केस में 6 वर्ष के लिए जेल में रहे। कारागार से छूटने के पश्चात वे अपने कार्यक्रमों को सफल बनाने हेतु कांग्रेस में शामिल हुए। इस दौरान उन्होंने गाँधीवादी अहिंसा को देश के पूँजीवादी शोषण को छिपाने का प्रच्छन्न बौद्धिक साधन माना। 1939 में उन्होंने कांग्रेस के ही भीतर 'लीग ऑफ रेडिकल कांग्रेस मेन' संगठन बनाया। परन्तु कांग्रेस के नेताओं से व्यापक मतभेद एवं 1940 में कांग्रेस सभापति के चुनाव में मौलाना अब्दुल कलाम आजाद से पराजित होने के बाद उनका कांग्रेस से मोहभंग हो गया और उन्होंने पार्टी छोड़ दी। 21 दिसम्बर 1943 को उन्होंने रेडिकल डेमोक्रैटिक पार्टी की स्थापना की, परन्तु 1946 में चुनावों पार्टी की करारी शिकस्त के बाद उन्होंने 1947 में अपने इस दल को भंग कर दिया और अपने नवीन दर्शन नव

मानवतावाद या मौलिक मानवतावाद (Radical Humanism) को पूर्णता देने में लग गये जिससे एक नव सांस्कृतिक राजनीतिक आन्दोलन की शुरूआत की जा सके।

7.2 भारत में साम्यवादी आन्दोलन का उद्भव एवं विकास

सन् 1917 की रूसी बोल्शेविक क्रान्ति (अक्टूबर क्रान्ति) के पश्चात भारत में भी समतायुक्त शोषणविहीन समाज की स्थापना हेतु साम्यवाद की पगध्वनि सुनायी पड़ने लगी। दलित एवं कमजोर वर्ग लेनिन को मसीहा एवं मास्को को स्वर्ग समझने लगा। भारतीय साहित्यकारों एवं कवियों की रचनाओं में साम्यवाद के प्रति रूझान स्पष्ट रूप से झलकती है जिसमें सुब्रमण्यस भारती, रवीन्द्र नाथ टैगोर, बल्लधोल, इकबाल, निराला एवं पन्त ऐसे ही कवि एवं साहित्यकार थे जिन्होंने अक्टूबर क्रान्ति से प्रेरणा प्राप्त की। राजनीतिक नेताओं में मानवेन्द्र नाथ राय लाला हरदयाल, सोहन सिंह, सन्तोष सिंह, रतन सिंह, गुरुमुख सिंह, वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय, भूपेन्द्र दत्त, नवीन गुप्त, प्रापद अमृर्त डांडो एवं रजनी पाम दत्त आदि साम्यवाद से प्रेरणा प्राप्त करने वालों में प्रमुख भारतीय थे जिन्होंने भारत में साम्यवाद का पथप्रदर्शन किया। मानवेन्द्र नाथ राय भारतीय साम्यवाद के उन्नयाकों में से थे जिनके ओजस्वी रचनाओं से प्रेरित होकर अनेक भारतीय युवाओं ने मार्क्सवाद से प्रेरणा ग्रहण की।

भारतीय साम्यवादी दल की स्थापना: भारत में उत्तर प्रदेश के सत्यभक्त के प्रयासों से 1924 के आसपास हुयी। यद्यपि कि साम्यवादी दल की स्थापना 1920 में ताशकन्द के सैनिक स्कूल में हुई, ऐसी मान्यता मुजफ्फर अहमद की है, जबकि डेविड ड्रेहे का विचार है कि साम्यवादी दल की स्थापना 1921 में ताशकन्द में हुयी। अपनी स्थापना के प्रारम्भिक वर्षों में साम्यवादी दल मुख्यत: श्रमिक संघों के क्रियाकलापों से ही जुड़ा रहा और इसका कार्य क्षेत्र बम्बई, अहमदाबाद, कानपुर, मद्रास जैसे नगरीय औद्योगिक क्षेत्र ही रहे। परन्तु 1930 के बाद के दशक में उसने किसान संगठनों एवं शहरी बुद्धिजीवियों को भी अपने प्रभाव क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया। इस दौर में अपनी नई चेतना और क्रान्तिकारी नारों से घबड़ाकर अनेक साम्यवादियों एवं राष्ट्रवादी नेताओं को मेरठ षडयंत्र केस में गिरफ्तार कर लिया गया और भारतीय काम्युनिष्ठ पार्टी की गतिविधियों पर रोक लगाने हेतु 1934 में इस सरकार द्वारा गैरकानूनी दल घोषित कर दिया गया। इस दौर में साम्यवादी आन्दोलन ने राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम को अपना सम्बन्ध रखा और अनेक साम्यवादी कांग्रेस पार्टी में सम्मिलित हो गये विशेष रूप से 1928 में कमिंटर्न से निष्कासित होने के बाद के बाद एम०एन० राय इनमें मुख्य थे। परन्तु शीघ्र ही साम्यवादियों की वैचारिक कटूता के कारण इनका कांग्रेसी नेताओं से तीव्र मतभेद हो गया। सन् 1939 में दोहरी सदस्यता के मुद्दे पर इनको कांग्रेस से निकाल दिया गया क्योंकि साम्यवादी एक साथ कांग्रेस एवं भारतीय काम्युनिष्ट पार्टी के सदस्य नहीं रह स्कते थे। इस दौरान द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने और रूस द्वारा मित्र शक्तियों अमरीका, ब्रिटेन को साथ देने से परिस्थितियाँ भी बिल्कुल बदल गयी और साम्यवादी इसे जिसे उन्होंने प्रारम्भ में (रूस के इसमें शामिल होने से पूर्व) साम्राज्यवादी युद्ध) की संज्ञा दी थी अब फासीवाद एवं नाजीवाद की निरंकुशता के विरुद्ध युद्ध की संज्ञा देने लगे। इसी आधार पर 9 अगस्त, 1942 के कांग्रेस के अंग्रेजो के लिए 'भारत छोड़ो आन्दोलन' के प्रस्ताव को फासीवाद का समर्थन मानकर विरोध किया। भारतीय काम्युनिष्ट पार्टी पर से क्षेत्रिय सरकार ने भी प्रतिबन्ध उठा लिए। जिससे इस दल के सदस्यों की संख्या में बृद्धि हुयी, परन्तु इस दल की साख धीरे-धीरे भारतीय जनमानस में घटने लगी।

जब 1947 में सत्ता का भारतीयों को हस्तांरण हुआ तो साम्यवादियों ने कहा कि यह वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं है, वरन् एक साम्राज्यवादी देश के चंगुल से छूटकर देशीय पूँजीपतियों के हाथों में सत्ता आ गयी है। जिससे जनसाधारण की स्थिति में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं हो सकता।

काम्युनिष्ट पार्टी के नेतृत्व में सशत्र उग्रवादी आन्दोलन तत्कालीन निजाम के हैदराबाद राज्य के अन्तर्गत तेलगम्स क्षेत्र में 1946 से विद्रोह कर रहे थे। साम्यवादी पार्टी ने 1948 में अपने कलकत्ता अधिवेशन में सामन्तवाद, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद पर करने इसके साथ-साथ वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्ति की दृष्टि से सशस्त्र संघर्ष जारी रखने की नीति का अनुमोदन किया। जिसके कारण तत्कालीन सरकार को कठोर कार्यवाही करनी पड़ी जिससे इस हिंसात्मक आन्दोलन एवं कार्यवाहियों पर रोक लगयी जा सके। सरकार की कार्यवाही एवं स्वतंत्र भारत की राजनीति अपने दल के अलग-थलग पड़ जाने के भय से अप्रैल 1951 में भारतीय काम्युनिष्ट दल ने एक नया कार्यक्रम अपना लिया। इसमें राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के सहयोग से श्रमिक वर्ग के नेतृत्व में सामन्तवाद विरोधी और साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक व्यापक मोर्चा खड़ा करने पर बल दिया और समाजवाद की स्थापना के लिए संसदीय प्रणाली को स्वीकार किया। 1952 के प्रथम आम चुनाव में हिस्सा लेकर यह दल मुख्य विपक्षी दल बना। 1957 में केरल विधानसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त कर, काम्युनिष्ट पार्टी अपनी सरकार बनाने में सफल हुयी। सन् 1958 में अमृतसर सम्मेलन के दौरान क्रांतिकारी उग्रवादी वामपंथियों एवं सुधारवादी वामपंथियों के बीच खुले विवाद के कारण इनमें व्यापक मतभेद पैदा हो गया। जहां क्रान्तिकारी वामपंथी संविधानिक मार्ग का विरोध करते हुए चीन मॉडल के जनवादी लोकतंत्र की स्थापना पर बल देते रहे, वहीं सुधारवादी वामपंथी कांग्रेस और अन्य बुर्जुआ दलों के साथ एकता और संघर्ष की नीति का अनुसरण करते हुए, समाजवाद की स्थापना के लिए संसदीय प्रणाली पर बल दिया। इस प्रकार की विवाद की स्थिति में केन्द्रीय सरकार ने 1959 में केरल की काम्युनिष्ट सरकार को भंग कर दिया जिससे संविधानिक मार्ग में इनका विश्वास डगमगा गया। उन्हें यह तथ्य अब स्पष्ट हो गया कि यदि वे केन्द्र की नीतियों के अनुकूल कार्य नहीं किया तो काम्युनिष्ट सरकार भंग करके उसमें इसी प्रकार की अस्थिरता पैदा की जा सकती है। इस दौरान 1960 में जब चीन ने भारत पर आक्रमण कर दिया तो राष्ट्रीय एवं साम्यवादी राजनीति बहुत प्रभावित हुयी। चीन सोवियत मतभेदों से विश्व के प्राय: सभी भागों में साम्यवादी आन्दोलन पहले से ही विभाजित था। इसी के परिणामस्वरूप 1964 में भारतीय काम्युनिष्ट पार्टी में फूट पड़ गयी। साम्यवादी दल दो भागों में भारतीय काम्युनिष्ट पार्टी और सी०पी०एम० में विभाजित हो गया एवं अलग-अलग गुटों के रूप में चुनाव में भागीदारी करते रहे। वामपंथी दलों में दो दल क्रान्तिकारी समाजवादी पार्टी और फारवर्ड ब्लाक भी उभरे और बंगाल में उपर्युक्त दोनों दलों ने साथ सत्ता में भागीदारी निभा रहे हैं। वर्तमान में तो साम्यवादी दलों ने केन्द्र में कांग्रेस के नेतृत्व में सं०प्र०ग० की गठबन्धन सरकार को अपना समर्थन दिया जो सरकार की स्थापना की दृष्टि से बाह्य होते हुए भी उसकी नीतियां को प्रभावित करने में सफल हुयी है।

1.3 एम०एन० राय : राजनीतिक विचार

एम०एन० राय न केवल राजनीतिक कार्यकर्ता थे अपितु एक विचारक लेखक एवं सैद्धान्तिक व्याख्याकार भी थे। उनके चिन्तन का प्रारम्भिक दौर उप विचारों से सम्बन्धित है जब वे कट्टर मार्क्सवादी थे जबकि दूसरा भाग उन विचारों से सम्बन्ध रखता है जब वे मार्क्सवाद के विरोधी बन गए और अपनी विचार यात्रा के अन्तिम दौर में उन्होंने नव मानवतावाद की स्थापना की और व्यक्ति की स्वतन्त्रता गरिमा एवं सृजनात्मक विकास पर बल दिया। इस तरह राय ने चिन्तन इतिहास को विद्वानों के तीन काल-खण्डों में विभाजित किया—प्रथम अवधि का आरम्भ 1901 से माना जा सकता है जबकि राय बंगाल के आतंकवादी आन्दोलन से सम्बद्ध थें। विचारों की दृष्टि से समय राय एक राष्ट्रीय अराजकतावादी थे अथवा स्वयं राय के शब्दों में एक रोमान्टिक क्रान्तिवादी (Romantic Revalutionist) थे। दूसरी अवधि 1917 से आरम्भ हुई जब वे एक रूढ़िवादी, मार्क्सवादी बन गए थे। 1930-1946 की इस अवधि में उन्होंने मार्क्सवादी के विस्तृत

में भी अनेक बार अपनी स्थिति में परिवर्तन किया। अन्तिम काल 1946 में प्रारम्भ हुआ। वे नव मानवतावाद की स्थापना की दृष्टि से अपने विचारों पर बल देने लगे।

.1 राय के 'संक्रमणशील भारत' के विषय में विचार

ने समकालीन भारत का समाजशास्त्रीय अध्ययन 1922 में अपनी पुस्तक 'इण्डिया इन शन' में प्रस्तुत किया। भारतीय समाज की उनकी समझ अन्य व्याख्याओं से बिल्कुल विलग उन्होंने संक्रमण के दौर से गुजर रहे भारत की प्रस्तावित समाधानों को स्वीकार नहीं किया उदारवादियों, राष्ट्रवादियों और उग्रराष्ट्रवादियों की व्याख्या से अलग उन्होंने मार्क्सवादी ख्या में उन्होंने यह भविष्यवाणी की कि भावी भारतीय राष्ट्र का विनिर्माण भारतीय समाज में त प्रगतिशील शक्तियों द्वारा किया जायेगा, जो पुरानी पतनशील सामाजिक आर्थिक व्यवस्था देन रही है। अपनी पुस्तक में राय ने वर्तमान संक्रमण के लिए तीन कारण उत्तरदायी माने -भारतीय पूँजीपति वर्ग का उदय, कृषक जनता का दरिद्रीकरण एवं नगरीय सर्वहारा की नता। पूर्व में प्रचलित इस मान्यता का भी उन्होंने खण्डन किया कि विदेशी पूँजीपति ही तीय जनता के शोषण है वरन् भारतीय पूँजीपतिवर्ग को भी भारतीय जनता के शोषक के रूप चित्रित किया। इनके शोषण से मुक्ति के लिए उन्होंने वृहद उद्योगों की स्थापना पर बल दिया सके सर्वहारावर्ग राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के साथ मिलकर जुझारू जन आन्दोलन चलायेगा, सका विरोध देशी पूँजीपति वर्ग विदेशी पूँजीपतिवर्ग के साथ मिलकर करेगा। अतएव भारतीय तन्त्रता प्राप्ति का उत्तरदायित्व अग्निपरीक्षा किसानों एवं मजदूरों को करना पड़ेगा जो सचेत रूप संगठित होंगे और वर्ग संघर्ष के आधार पर जनयुद्ध करेंगे।

3.2 एम०एन० राय एवं गाँधीवादी समाजवाद

नी दूसरी पुस्तक ''इण्डियाज प्राबलम्स एण्ड देअर सोल्पुशन्स'', जो 1928 के अन्त में शित हुई में राय ने पूर्णत: मार्क्सवादी दृष्टिकोण से गाँधीवादी सामाजिक विचारधारा को ययुगीन एवं पुरातनपंथी ठहराया। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि असहयोग आन्दोलन यम वर्गीय विचारधारा से अनुप्रेरित है, इसमें कोई क्रान्तिकारी कार्यक्रम नहीं है। उन्होंने विनय अवज्ञा के नाम ''जुझारू सामूहिक कार्यवाही'' की सलाह दी। ऐसे जुझारू कार्यक्रमों के चालन के लिए उन्होंने क्रान्तिकारी लोकदल के निर्माण पर बल दिया जो देश की विद्यमान नीतिक-आर्थिक व्यवस्था के विरूद्ध जाग्रत सन्तोष को और अधिक तीव्र बनावे, जिसके लिए मूहिक हड़तालें तथा प्रदर्शन किये जाएं। 1922 में गया कांग्रेस से पहले राय ने भारतीय राष्ट्रीय ग्रेस के लिए एक कार्यक्रम मसौदा भेजा जिसमें निम्न मुद्दों पर गम्भीरतापूर्वक विचार की वश्यकता पर बल दिया—

1) जमींदारी का उन्मूलन।

2) लगान/भूमिका घटकर न्यूनतम करना।

3) खेती-बाड़ी के लिए राजकीय सहायता।

4) अप्रत्यक्ष करों का उन्मूलन एवं क्रमिक आयकर।

5) सार्वजनिक उपयोग के उपक्रमों का राष्ट्रीकरण करना।

6) राजकीय सहायता से आधुनिक उद्योगों का विकास।

7) न्यूनतम मजदूरी का दर एवं दिन में आठ घण्टे को काम से सम्बन्धित कानून बनाना।

8) अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा।

9) राज्य एवं धर्म का पृथक्करण करना।

(10) स्थायी सेना के स्थान पर एक राष्ट्रीय लोक सेना का गठन करना आदि।

1923 में राय ने "वन इयर ऑफ नॉन कोआपरेशन" नामक पुस्तक में महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व को ऋषितुल्य मानते हुए उनकी तुलना सन्त टॉमस ए विनास, सावीनरांता आदि से की उन्होंने गाँधीजी 4 रचनात्मक योगदान की सराहना की : (1) राजनीतिक लक्ष्यों के लिए सामूहिक कार्यावाही का प्रयोग (2) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का एकीकरण (3) अहिंसा के माध्यम से सरकारी दमन से राष्ट्रीय शक्तियों को मुक्त करना और (4) असहयोग करों को न चुकाने तथा सविनय अवज्ञा के तरीकों का प्रयोग। किन्तु राय ने अपनी इसी पुस्तक में गाँधीवाद की अनेक कृतियों पर भी प्रकाश डाला है : (1) गाँधीवाद में जनसमर्थन प्राप्त करने हेतु आर्थिक कार्यक्रमों का अभाव है। (2) राजनीतिक कार्यवाही में तत्वशास्त्रीय सिद्धान्तों को समाविष्ट करने से राजनीतिक कार्यवाही की प्रचण्डता मनोगत भावनाओं एवं अन्त:करण की बलि बेदी चढ़ गया है। (3) चरखे के प्रतिक्रियावादी अर्थशास्त्र का खण्डन तथा (4) राय ने गाँधी की दुलमुल नीतियों की आलोचना की। उनका मानना था कि गाँधीवाद क्रान्तिवाद नहीं है बल्कि निस्तेज सुधारवाद है।" एक साम्यवादी होने के कारण सर्वहारा को राष्ट्रीय मुक्ति की शक्तियों का अग्रानीक माना और 1926 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'द फ्यूचर ऑफ इण्डियन पर लिटिम्स में उन्होंने एक जनवादी पार्टी की कल्पना की थी जो सर्वहारा दल की स्थानापन्न नहीं वरन् पूरक होगी। उनका स्पष्ट कहना था कि भारतीय राजनीति पर भविष्य में बहुत समय तक विद्यार्थी, निम्न बुद्धिजीवी, दस्तकार छोटा व्यापारी, किसान आदि वर्गों के स्वार्थों का अधिपत्य रहेगा।" इसलिए वे चाहते थे कि जमींदारों तथा पूँजीपतियों को छोड़कर जन-समुदाय को राष्ट्रवाद का आधार बनाना चाहिए। मानवेन्द्र नाथ राय की गॉधी से असहमति जग जाहिर है। उनमें अनेक खूबियों को देखते हुए भी वे उनके सिद्धान्तों को 'निस्तेज सुधारवाद' की संज्ञा प्रदान की। यहाँ तक कि अपने मोमायर्स में जो 1948 में उन्होंने लिखी लेनिन से अपने संवाद का जिक्र किया है जिसमें लेनिन भारत की की परिस्थितियों में गॉधी का एक जननायक के रूप में देखते है, परन्तु राय उनसे सहमत न थे एवं गॉधी में तत्त्वशास्त्रीय सिद्धान्तों को समाविष्ट करने एवं व्यावहारिक एवं रचनात्मक आर्थिक कार्यक्रमों के अभाव के कारण गॉधी की सफलता के संबंध में संदेह प्रकट करते है (सेम्वायर्स, 1948 पृ० 379)। परन्तु जीवन के संध्याकाल में आते-आते उन्होंने भी गॉधी की राजनीतिक कार्य शैली के प्रति अपने प्रगाढ़तम प्रेम एवं विश्वास को प्रकट किया। 1960 में प्रकाशित 'पालिटिक्स, पवर एवं पार्टीज' के पृ० 81-82 पर उन्होंने स्पष्ट रूप से राजनीति में परिवर्तन का उद्घोष किया तथा सत्य एवं अहिंसा को राजनीति के उच्चतम मानदण्ड के रूप में स्वीकृति प्रदान करते हुए अपने नवमानव के सृजन में नैतिकता के महत्त्व को स्वीकृति प्रदान की। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि नेतृत्व का विकास व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास के द्वारा ही संभव है। उन्होंने यह स्वीकार किया कि मानवतावादी राजनीति का विकास गॉधीवादी मार्ग से ही संभव है हिंसा से तो सिा ही पैदा होती है अतएव मानव समाज को संभाव्य विनाश से बचाने के लिए गॉधीवादी मार्ग ही अवशिष्ट मार्ग है।

7.3.3 कर्मिटर्न कम्युनिष्ट इण्टरनेशनल और उपनिवेशवाद

राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्नों का सन्तोषप्रद हल सोवियत कम्युनिष्ट पार्टी एवं कर्मिटर्न के लिए निरन्तर चिन्ता का विषय रहा। उपनिवेशों की कम्युनिष्ट पार्टीयों के लिए मुख्य मुद्दा अपनी रणनीति को कर्मिटर्न के निर्देशों के अनुरूप अपने पेशों में लागू करने का रहा क्योंकि भिन्न-भिन्न देशों का सामाजिक आर्थिक राजनीतिक सांस्कृतिक परिवेश भिन्न था। जिसके अनुरूप रणनीति को तय करने में प्राय: स्थानीय कम्युनिष्ट पार्टियों एवं कर्मिटर्न के वस्तुगत मूलयांकन में भिन्नता होती थी। भारत एवं चीन जैसे विभिन्न देशों की कम्युनिष्ट पार्टियों मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुरूप ही अपने अपने समाजों का मूल्यांकन किया, किन्तु उनके अपने समाजों में भौतिक शक्तियों एवं तथ्यों के ही भिन्न-भिन्न आयाम थे इसलिए उनके मूल्यांकन पर कर्मिटर्न से मतभेद सतह पर आये।

की पिछड़ी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के चलते वहाँ पूँजीवादी उत्पादन पद्धति से सम्बद्ध वर्गों
संरचना और वर्ग संघर्ष का स्वरूप, पाश्चात्य पूँजीवादी समाजों से बिल्कुल भिन्न किया था
एवं इन प्रश्नों का समाधान भारतीय कम्युनिष्ट पार्टी द्वारा उन्हीं मार्क्सवादी मानकों पर खोजना
कर्मिटर्न निर्देशित कर रहा था, एक टेढ़ी खीर प्रतीत हो रहा था। औपनिवेशक शासन एवं
ती पूँजी के वर्चस्व के कारण यहाँ की अर्थव्यवस्था भी विकृत थी और साथ ही कर्मिटर्न के
इन समाजों की पर्याप्त जानकारी के प्रभाव के कारण कम्युनिष्ट आन्दोलन की गति भारत जैसे
में मन्द रही। धीरे-धीरे इन देशों के राजनीतिक आन्दोलनों ने कर्मिटर्न की यूरोप केन्द्रित
इास की समझ को चुनौती देना शुरू किया।

र्गवाद के सम्बन्ध में बुर्जुआ क्रान्ति में बुर्जुआवर्ग एवं सर्वहारा की भूमिका को लेकर भी
द की स्थिति रही। जहाँ वलासिकी (बुर्जुदर्श) बुर्जुआ क्रान्ति में बुर्जुआ वर्ग सफलतापूर्वक
त का नेतृत्व करता है और उसकी परिणति तक ले जाता है। वहीं बुर्जुआ क्रान्ति के एक और
रूप पर चर्चा चल रही थी जिसे ''दूसरा रास्ता का स्वरूप कहा गया। इसमें बुर्जुआ क्रान्ति का
व एवं इस पर अपना वर्चस्व स्थापित कर पाने में बुर्जुआ वर्ग इसका अर्थ होता है इस कारण
आ क्रान्ति के नेतृत्व का दायित्व सर्वहारा वर्ग के कन्धों पर होता है। भारतीय कम्युनिष्टों की
ा बुर्जुआ वर्ग के वर्चस्व के इर्द गिर्द ही घूमती रही। कर्मिटर्न की दूसरी कांग्रेस में
ानिवेशिक समाजों के मूल्यांकन के आधार पर अपनिवेशवाद पर पेश दस्तावेज में भी
ानिवेशिक बुर्जुआ वर्ग क्रान्ति के नेतृत्व में समर्थ बताया गया था। लेनिन ने यह तर्क रखा कि
पिछड़े औपनिवेशिक समाजों में पूँजीवाद का विकास भले ही न हुआ हो फिर भी यहाँ का
आ वर्ग जर्मनी आदि यूरोपिय देशों की पिछड़ी अर्थव्यवस्था के बुर्जुआ वर्ग की तरह
क्रियावादी नहीं है। इस कारण इन पिछड़े एवं औपनिवेशिक देशों में कम्युनिष्टों को अपना
स्तित्व बचाये रखने के लिए वहाँ के बुर्जुआ वर्ग से अस्थाई समझौता कर लेना चाहिए। साथ
इन समाजों के साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन में किसानों के महत्वपूर्ण भूमिका से भीं मुँह
ं मोड़ा जा सकता।

० एन० राय के तर्क इससे भिन्न थे। उन्होंने कांग्रेस में पेश किए गये अपने वैयक्ति दस्तावेज में
ट्रीय आन्दोलनों के साथ कर्मिटर्न और कम्युनिष्ट पार्टियों द्वारा सहयोग के विचार का विरोध
ते हुए यह तर्क प्रस्तुत किया कि इन औपनिवेशिक देशों में कम्युनिष्ट पार्टियों को राष्ट्रीय
न्दोलनों से अलग रहकर मजदूरों एवं कृषकों के संगठन को विकसित करने पर ध्यान केन्द्रीत
ना चाहिए। क्योंकि इन औपनिवेशिक समाजों की पिछड़ी औपनिवेशिक पूँजीवादी व्यवस्था ने
मजोर बुर्जुआ वर्ग और सशक्त सर्वहारा वर्ग पैदा किया, जो कि क्रान्ति का नेतृत्व करने में
क्षम है। राय द्वारा लेनिन का मत से सर्वहारा वर्ग की ताकत का साम्राज्यवादी विरोधी आन्दोलन
सम्बन्ध में अतिरंजित विश्वास एवं देशी बुर्जुआवर्ग और कृषकों की भूमिका को भी इस
दर्भ में नगण्य समझा गया और भारत में मजदूर वर्ग के नेतृत्व में साम्राज्यवाद विरोधी क्रान्ति
नेतृत्व पर बल दिया गया। सघन बहस के बाद राय के संशोधित दस्तावेज को कांग्रेस ने
एक दस्तावेज' के रूप में स्वीकार किया।

न्तु आगे चलकर स्टालिन के नेतृत्व में कर्मिटर्न के कड़े अनुशासन के तहत राय का इसमें
साह मन्द पड़ने लगा। विश्वक्रान्ति के आसार भी धुंधले पड़ने के कारण कर्मिटर्न सोवियत
म्युनिष्ट पार्टी की प्रतिनिधि बनता जा रहा था। राय ने तृतीय साम्यवादी अन्तराष्ट्रीय में नेतृत्व के
सी एकाधिकार का विरोध किया। 1928 में कर्मिटर्न की छठीं कांग्रेस ने उन्हें निष्कषित कर
या। इस दौरान उनके अनौपनिवेशक (decolovization) के विचारों की आलोचना की गयी।
य ने माना था कि औपनिवेशिक शासन औद्योगीकरण में बाधक नहीं था, वरन यह साम्राज्यवाद
बदलते चरित्र का द्योतक था, इसमें मुनाफेरा एक हिस्सा, देशी पूँजीपतियों को भी प्राप्त होता
।

7.3.4 वैज्ञानिक राजनीति एवं भौतिकवादी प्रभाव

मानवेन्द्र नाथ राय पूर्ण भौतिकवादी थे। उनका राजनीतिक दर्शन पूर्णतया वैज्ञानिक चिन्तन पर आधारित है। उन्होंने अध्यात्मकवाद के स्थान पर भौतिकवाद तथा समाजवाद को विशेष महत्त्व दिया। राय का मानना था कि अध्यात्मवाद एवं धर्म मानव के वैज्ञानिक चिन्तन के मार्ग के मुख्य बाधक है। उनकी दृष्टि में भौतिकवाद प्रकृति के यथार्थ ज्ञान का प्रतिनिधित्व करता है तथा प्रकृति से मानव कातदात्म्य स्थापित करता है। उनके चिन्तन का आधार दिदरों के इस विचार में आलोकित थे कि मानवीय शक्ति बन्धन मुक्त है तथा व्यक्ति को अपने अस्तित्व के रक्षा की पूर्ण स्वतन्त्रता है। वहीं लेनिन इन विचारों से भी सहमत थे कि विज्ञान एवं दर्शन की प्रगति ने भौतिकवादी सिद्धान्त की पुष्टि की है। उनका यह भी मानना था कि नील बोहरका परमाणु सिद्धान्त, ओ०डी० ब्रोग्ली का प्रकाश सिद्धान्त, श्रोडिंगर शतरंग यांत्रिकी सिद्धान्तों ने भी भौतिकवादी सिद्धान्तों की मूल प्रस्तावनाओं का खण्डन नहीं किये। उन्होंने अपनी रचना 'साइन्स एण्ड ढिकलासफी में आइन्साराद्वेन, मैक्सप्लांक, प्रोडिंगर, डिराक आदि भौतिक शास्त्रियों के उन्वेषणों एवं उनके निष्कर्षों की व्याख्या करने का प्रयत्न किया। परन्तु वे भौतिकवादी होते हुए भी 'द माक्सियन वे' में द्वन्द्वात्मक पद्धति की आलोचना करते हुए कहा कि द्वन्दवाद सत्ता के रहस्यं का उद्घाटन नहीं कर सकते। राय बुद्धिवादी थे। वे बर्गसाँ के सृजनात्मक विकास एवं शापेनहॉऊर और हार्डमन में संकल्पवाद के दर्शन के आलोचक थे। उन्होंने वास्तव में न्याय एवं वैशषिक दर्शन का भौतिकवादी पद्धति से निर्वचन करने का प्रयत्न किया। उनका यह मत है कि इन दर्शनों में आस्तिक तत्त्वों का समावेशन करने का प्रयास वास्तव में उन पर बाह्य लेप मात्र है।

भौतिकवाद से अनेक भ्रान्तियों के जुड़े होने के कारण राय डर्से भौतीयकीय यथाथेवाद' नाम देना चाहते थे। इसी आधार पर उन्होंने वेदान्ती प्रत्यवाद की कटु आलोचना की और बौद्धदर्शन के समाजशास्त्र का वौद्धिक निर्वचन करते हुए इसे परोपजीवी वर्ग (ब्राह्मण वर्ग) की विलासिता के विरूद्ध विद्रोह का शंखनाद माना। रूसी क्रान्ति की ऐतिहासिक वस्तुगत विश्लेषण प्रस्तुत किया। वे राजनीति में नैतिकता से कोई स्थान नहीं देना चाहते थे, फिर भी उन्हें मैकियावेली का अनुनामी मानना उचित न होगा। वे धार्मिक कट्टरता के विरोधी थे परन्तु सत्यवादी थे, उन्होंने मैकियावेली के विपरीत अपने भौतिकवादी दर्शन में मानव की कोमल भावनाओं को बनाये रखा, वे आर्थिक मानव के स्थान पर नैतिक मानव के प्रतिष्ठापित करने पर बल देते हैं। उनका भौतिकवाद आदर्शवादी ज्ञानशास्त्र से विहीन नहीं है।

राय ने 1940–1947 में मार्क्सवाद से उग्रवाद (आमूल परिवर्तनवाद) में और 1947–1954 में उग्रवाद से अविकल वैज्ञानिक मानववाद में संक्रमण किया। उन्होंने 1947 में अपनी पुस्तक 'सांईटिफिक पालिटिक्स' (वैज्ञानिक राजनीति) में स्वयं इस संक्रमण को स्वीकार किया है। उनका स्पष्ट मत है कि धर्म ने मानव मष्तिष्क को लम्बे समय तक नियंत्रित किया और अपने आडम्बरों में फंसाये रखा। यद्यपि उन्होंने बौद्ध, ईसाई तथा इस्लाम धर्म को सामाजिक परिवर्तन लाने के प्रयासों का श्रेय दिया, परन्तु आगे चलकर इन धर्मों के अनुनायियों ने भी अपने भक्तों के धार्मिक विश्वास अज्ञानता तथा निर्धनता का लाभ उठाकर उनका शोषण किया। उनका मानना था कि आर्थिक क्रियाकलाप इन धार्मिक सम्प्रदायों के अंग बन गये और उनके पास अत्यधिक मात्रा में जमीन तथा धन सम्पदा इकट्ठी होने से ये अत्यधिक वैभवशाली बन गये। उनके आर्थिक वैभव के समक्ष साधारण मानव को झुकना पड़ा जिसका सबसे बुरा परिणाम यह हुआ कि मानव मष्तिष्क तथा चिन्तन की स्वतन्त्रता पर धार्मिक एकाधिकार हो गया।

राय का मत है कि भौतिकवाद के बढ़ते हुए प्रभाव ने इस धार्मिक एकाधिकार को चुनौती दी और उसे सीमित किया। मानववाद के उदय ने ईश्वर को चुनौती दी तथा पुनर्जागरण और धार्मिक सुधार युग ने धार्मिक विश्वास को झकझोर दिया और मानव को इन धार्मिक बन्धनों से मुक्त होने

ा मार्ग प्रशस्त किया। इसमें विज्ञान से भी सहायता मिली और इसने ब्रह्माण्ड के विषय में नवीन चार प्रस्तुत किए तथा विज्ञान की विभिन्न शाखाओं ने ज्ञान की असीमित वृद्धि की। व्यक्ति पर धार्मिक बन्धन शिथिन होने से सामाजिक व्यवहार में परिवर्तन आना तथा अध्यात्मवाद द्वारा त्पन्न निराशवाद तर्कहीनता से व्यक्ति मुक्त होने लगा।

ाय ने वैज्ञानिक राजनीतिकी सम्भावनाओं को स्वीकार किया। उनका स्पष्ट मत था कि राजनीति क स्पष्ट जीवन-दर्शन द्वारा निर्दिष्ट होनी चाहिए। उनकी वैज्ञानिक राजनीति की सोच हाब्स थवा स्थिनोजा की वैज्ञानिक राजनीति से भिन्न था। इन दोनों पाश्चात्य विचारकों ने वैज्ञानिक द्धति पर बल दिया। हाब्स ने माना कि एक ऐसे राजनीति विज्ञान की रचना सम्भव है जो ंश्रिकी के सिद्धान्तों पर आधारित हो, वहीं स्थिनोजा मानव के मनोवेगों के नियमों के अध्ययन में विकी पद्धति को समाविष्ट करने पर जोर देता है। इन दोनों ही विचारकों के वैज्ञानिक राजनीति का आधार रेजिकीशास्त्र था। उसके विपरीत राय वैज्ञानिक राजनीति की अपनी प्रस्थापनाओं के सामाजिक आधारों पर अधिक बल देते हैं। इससे उनका तत्पर्य राजनीतिक प्रस्थापनाओं की उस व्यवस्था से है जो परस्पर विरोधी विचारधाराओं का अनुसरण करने वालों की वर्ग प्रकृति की स्वीकृति पर आधारित हो। वे तत्त्वशास्त्रीय एवं रहस्यवादी परिकल्पनाओं के विरोधी थे, परन्तु समन्वभात्मक विज्ञान की आवश्यकताओं को स्वीकार करते हैं। अत: उनका मानना है कि वैज्ञानिक राजनीति भौतिकवादी ब्रह्माण्डीय आधार पर ही निर्मित होती है।

7.3.5 राय एक रोमांटिक क्रान्तिकारी के रूप में

एम० एन० राय अपने चिन्तन के प्रारम्भिक काल में एक रोमांटिक क्रान्तिकारी कहे जा सकते है उन पर आनन्दमठ और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का विशेष प्रभाव रहा तथा अन्य आतंकवादियों के समान ही उनका भी यह विश्वास था कि अंग्रेजों को भारतीयों के हाथ में सत्ता सौंपने के लिए आतंकवादी उपाय सर्वाधिक उपर्युक्त है पाप है जिससे उन्हें ब्राध्य किया जा सकता है। थोडे से उत्साही साहसी लोग भी क्रान्तिकारी उपायों से शास्त्रों के बल पर ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर सकते हैं, जो ब्रिटिश सन्ताकी चूलें हिलादे और वे यहाँ से हटने पर मजबूर हो जायें। राय इस दृष्टि से भगवतगीता को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि महाभारत में कृष्ण ने अर्जुन को सलाह दी कि उसे अपने बन्धु-बान्धवों एवं सगे सम्बन्धियों के विरुद्ध भी हथियार उठाने में हिचक नहीं करनी चाहिए और नैतिकता की परम्परागत नियमों को तिलाँजलि दे देनी चाहिए। राय ने इसी आदर्श को भारत के लिए अनुकरणीय माना और कहा कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए क्रान्तिकारी हिंसात्मक उपायों को अपनना हेय नहीं है। तत्कालीन आतंकवाद राय के इस विचारों से प्रभावित हुए। फिर भी यह क्रान्तिकारी आन्दोलन बुद्धिजीवियों एवं मध्यममार्गियों को प्रभावित कर सका। बुद्धिजीवियों का मानना कि इस आन्दोलन में सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रमों का अध्ययन है जबकि मध्यममार्गियों ने इसकी आलोचना हिंसात्मक उपायों के आधार पर की। वास्तव में उनकी सोच सैद्धिन्तक दृष्टि केवल रोमांटिक थी जबकि व्यवहार में केवल चन्द्र आया।

7.3.6 राय एवं मार्क्सवाद : समीक्षा

राय ने अपनी विचार यात्रा के अनेक वर्ष एक कट्टर मार्क्सवादी के रूप में व्यतीत किए। उन्होंने मार्क्स के व्यक्तित्व की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उनका मानना था कि वह सामाजिक अन्याय एवं शोषण का अन्यतम आलोचक था और इस रूप में वह महान यहूदी पैगम्बरों की परम्परा में था। बर्डीपायीन गैहरालिस सोम्बार्ट एवं हाशमन की भाँति राय की भी यही मान्यता थी कि मार्क्स ने सामाजिक न्याय का जो आवेगपूर्ण नैतिक समर्थन किया है, वह यहूदी पैगम्बरों की विरासत था। राय ने इस दृष्टि से मार्क्स को तत्वत: एक मानववादी एवं स्वतन्त्रता का पुजारी माना है। इसीलिए वे मार्क्सवाद को आर्थिक नियतिवाद की कट्टरता से मुक्त करके उसके मानववादी, स्वतंत्र्यवादी

तथा नैतिक सार की पुर्नस्थापना करना चाहते थे।

राय का मार्क्सवाद के प्रति मोह सर्वदा एक-सा नहीं रहा बल्कि समय के साथ उसमें परिवर्तन होता गया। उनकी दार्यनिक एवं समाजशास्त्रीय रचनाओं से यह स्पष्ट है कि उन्होंने मार्क्सवाद से अपना सम्बन्ध शनैःशनै विच्छिन्न कर लिया था। उन्होंने सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियाँ से मार्क्सवादी की आलोचना की और अपनी दृष्टि से उसकी व्याख्या प्रस्तुत की है, जो निम्नवत है :

(1) राय मार्क्स के भौतिकवाद से सहमत न थे वरन उसे अवैज्ञानिक एवं कट्टरपंथी सिद्धान्त कहते है क्योंकि मार्क्सवाद ज्ञान को अनुभवजन्य मानता है और मनुष्य के मानस के सृजनात्मक विकास की भूमिका को अस्वीकार करता है। राय ने मार्क्स की इसलिए आलोचना की कि उन्होंने मानव की स्वतन्त्रता को अस्वीकार किया और व्यक्ति के मूल्य तथा महत्त्व को समुचित स्थान अपने चिन्तन में नहीं प्रदान करता है।

(2) राय ने मार्क्स के द्वन्दवाद की आलोचना करते हुए कहते है यह मानव की प्रगति को मार्ग में अतिबाधक है। राय बर्डीयायीव के इस मत से सहमत हैं कि द्वन्दात्मक पद्धति ने मार्क्सवाद में प्रत्ययवादी तत्त्व समाविष्ट कर दिए है। उनका स्पष्ट मत है कि वाद और विवाद द्वारा आगे बढ़ना तार्किक विवाद का लक्षण है। उन्होंने कहा कि यह कहना हास्पास्पद है कि द्रव्य और उत्पादन की शक्तियों की गति भी द्वन्द्वात्मक होती है। राय के शब्दों में मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद खेल नाम के लिए भौतिकवादी है। चूँकि उसका मूल तत्त्व द्वन्द्ववाद है, इसलिए तत्त्वता वह एक प्रत्ययवादी दर्शन है।'' उन्होंन बल देकर कहा कि मनोगत प्रत्ययवादी तर्कशास्त्र की प्रक्रिया को सम्पूर्ण वस्तुगत सत्ता की गति की प्रक्रिया मानना एक निराधार विस्तार है।

(3) राय ने मार्क्स द्वारा इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की भी आलोचना की। उनका कहा है कि इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या इसलिए दोषपूर्ण है कि वह सामाजिक प्रक्रिया में मानसिक क्रिया को कम स्थान देती है। मार्क्स ने मानवता, वैचारिक सुधारवाद तथा पूर्वगामी आर्थिक सिद्धान्तों को तिलांजलि देकर इसकी व्याख्या केवल भौतिकवादी वस्तुवाद के आधार पर करता है। मार्क्स ने अपनी व्याख्या में इतिहास एवं सामाजिक आर्थिक तत्त्वों को ही स्थान दिया है जबकि इतिहास का न केवल आर्थिक आधार ही होता है वरन् उसके विकास की पीछे सामाजिक, विचारात्मक, दार्शनिक मान्यताएं भी अपनी भूमिका निभाती हैं। एंजित्स की भाँति राय भी सामाजिक परिवर्तन के लिए आर्थिक एवं भौतिक तत्त्वों के स्थान पर सांस्कृतिक एवं मानववादी तत्त्वों की स्थापना पर बल देते हैं।

(4) मार्क्स का यह कथन भी सत्य से परे लगता है कि मध्यम वर्ग का अन्त हो जाएगा और समाज में केवल दो वर्ग पूँजीपति (बुर्जुआ) तथा निर्धन (सर्वहारा) ही होंगे जिनके हितों में परस्पर टकराहट ही समान के विकास का आधार होगा। राय मार्क्स के इन दो कथनों की कड़ी आलोचना की कि समाज से मध्यम वर्ग का अन्त हो जाएगा और केवल दो वर्ग ही रहेंगे जिनके हित परस्पर इतने विरोधी है कि ये कभी एक न हो सकेंगे और वर्ग संघर्ष के माध्यम होने से क्रान्ति की सम्भावना अत्यधिक बलवती होगी। राय का स्पष्ट मत था कि आज मध्यम वर्ग का महत्त्व विश्व में पहले से अधिक बढ़ा है और इस वर्ग की अवहेलना किसी भी सिद्धान्त के स्थापित्व पर प्रश्न चिह्न खड़ा करता है। दूसरी ओर उनका यह भी मानना है कि इतिहास में विभिन्न सामाजिक वर्ग रहे है, इसमें सन्देह नहीं समाज में सामाजिक विद्वेष एवं संघर्ष की शक्तियों के अतिरिक्त सहयोग के बन्धन भी क्रियाशील रहे हैं। उनका स्पष्ट मत है कि आधुनिक समाज परस्पर विरोधी और व्युवीकृत

क्षेत्रों में विभक्त नहीं हुआ है जैसा कि मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी।

राय ने मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की भी आलोचना की और सर्वहारा क्रान्ति को अपूर्ण माना। उनका मानना है कि कतिपय मुट्ठीभर लोग जो कि सर्वहारा का प्रतिनिधित्व करने का दम्भ करते हैं कोई क्रान्ति नहीं ला सकते। आज के युग की विशाल राजकीय सेनाओं के समक्ष उनकी शक्ति नगण्य होगी। राय के अनुसार मध्यम वर्ग सर्वहारा वर्ग से कम पिछड़ा नहीं है। वास्तव में मध्यम वर्ग को अधिक प्रगतिशील एवं चेतनशील बनाने की आवश्यकता है। राय मध्यमवर्ग को ही समाज का नेतृत्व सौंपने के पक्षधर थे। मार्क्स की अवधारणा के विपरीत राय मध्यम वर्ग को ही क्रान्तिकारी कार्यों का सूत्रधार मानते हैं।

राय के अनुसार मार्क्सवाद का नीति विषयक आधार दुर्बल है क्योंकि यह सापेक्षतावादी एवं कट्टरपंथी है और मनोवैज्ञानिक कसौटी पर खरा नहीं उतरता। मार्क्सवादी चिन्तन व्यक्ति को अपेक्षित स्वतन्त्रता प्रदान नहीं करता। मार्क्स ने मानव की उपेक्षा कर इतिहास के क्रम को माँग एवं पूर्ति के आर्थिक नियमों से बाँधने का प्रयत्न किया है। इसमें व्यक्ति को केवल इस बात की स्वतन्त्रता है कि वह ऐतिहासिक आवश्यकता को समझे और स्वयं को उसके समक्ष समर्पित कर देवे। राय के अनुसार स्वतन्त्रता की यह धारणा तो गुलामी की धारणा है जिस पर चलने से समाज 'स्वेच्छापूर्ण गुलामों' का समूह बन जायेगा। मार्क्स की आधारनीति के विपरीत राय ने ऐसी मानवतावादी आधारनीति का प्रतिवादन किया जो मनुष्य की सर्वोपारिता को महत्त्व देती है और स्वतन्त्रता तथा न्याय के मूल्यों में विश्वास करती है। राय ने मार्क्स की अवधारणा जो वर्ग संघर्श को नैतिक आचरण की कसौटी मानती है को अस्वीकार किया और इस धारणा को मान्यता दी कि नैतिक मूल्यों में कुछ स्थायी तत्त्व भी हैं।

राय ने भी मार्क्स की भाँति सामाजिक परिवर्तन आवश्यक माना है परन्तु उनके द्वारा सुझाये गये परिवर्तन के मार्ग हिंसा को अस्वीकार करते हैं। वे शातिपूर्ण तरीके से राजनीतिक एवं सामाजिक स्थितियों को सुधारना उचित समझते हैं। उनके अनुसार राजनीतिक परिवर्तन का एक मात्र उपाय हिंसात्मक तरीका ही नहीं है वरन् उनका मानना है कि राजनीतिक सुधार के लिए शासन के विवेक एवं नैतिकता को जागृत किया जाये।

राय को मार्क्स द्वारा प्रतिपादित क्रान्ति सम्बन्धी अवधारणा भी त्रुटिपूर्ण प्रतीत होती है। कार्ल मैनहाईम की भाँति राय भी स्वीकार करते हैं कि क्रान्तियों में संकल्पमूलक काल्पनिकता (रोमांसवाद) का पुट भी रहता है। क्रान्तियाँ प्राय: तीव्रता की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए सामूहिक संवेगों की अभिव्यक्ति हुआ करती है। राय ने विश्व के पुर्ननिर्माण करने में मनुष्यों के प्रयत्नों को क्रान्तिकारी सफलता का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना है। अतएव क्रान्तिकारी काल्पनिकता द्वन्द्वात्मक नियतिवाद के एकदम विपरीत है। राय ने मार्क्स के इतिहासशास्त्र में अन्तर्विरोध पाया, एक ओर जहाँ मार्क्स ने इतिहास एवं ब्रह्माण्ड को एक नियत (निर्धारित) प्रक्रिया माना तो दूसरी ओर वह इस हेतुवादी (प्रयोत्रनवादी) अवधारणा का प्रतिपादन करता है कि इतिहास की उस प्रक्रिया के परिवर्तन में क्रान्तिकारी संकल्प स्वतन्त्र होता है। इसलिए राय ने माना है कि भौतिक नियतवाद एवं क्रान्तिवादी प्रयोनवादी दोनों का समन्वय नहीं किया जा सकता।

ले ही अपने जीवन के द्वितीयार्ध में मार्क्स की मूल प्रस्थापनाओं की आलोचना करने लगे, ी अपने प्रारम्भिक एवं अन्तिम मानवतादी व्यवस्था में भी मार्क्सवाद की कुछ प्रस्तावनाओं ीकार करते रहे। प्रथम, वे लेनिन के इस मत से लगभग पूर्णत: सहमत थे कि आधुनिक ी के अनुसन्धानों ने भौतिकवाद का खण्डन नहीं किया, बल्कि उसको और अधिक गम्भीर

बना दिया और यह घोषणा किया कि आधुनिक भौतिकीय अनुसन्धान अनुयवजन्य जगत की भौतिकता को सिद्ध करते है। दूसरे, यद्यपि राय ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के तत्त्वशास्त्र का खण्डन किया, किन्तु वे संवदेनात्मक ज्ञानशास्त्र पर दृढ़ रहे। वे सम्पूर्ण ज्ञान का स्त्रोत भौतिक तत्त्वों को मानते है फिर भी उन्होंने एंगिल्स एवं लेनिन जैसे परवर्ती मार्क्सवादियों की तुलना में प्रत्यात्मक चिन्तन को प्राथमिकता देते है, इस दृष्टि से उन पर हीगल का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। तीसरे, राय ने मार्क्स के सिद्धान्त के उस अंश को स्वीकार किया जो चिन्तन और कीन की एकता पर बल देता है किन्तु किसी योजना के प्रभावकारी होने के लिए आवश्यक है कि यह विद्यमान वस्तुस्थिति पर आधारित हो। इस प्रकार उनका मानना था कि चिन्तन और वस्तुस्थिति में एक रूपता का होना आवश्यक है।

7.3.7 नवीन मानवतावाद

राय अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में (1947-1954) क्रान्तिकारी मानवतावाद पर बल देने लगे थे। उन्होंने 'न्यूवहयूमनिज्म' नामक ग्रन्थ की रचना की और अपने 1931 में स्थापित 'स्वतन्त्र भारत' नामक साप्ताहिक पत्रिका का नाम 1949 में संशोधित करके 'रेडिकल मनिष्ट' रखा। राय ने अपने मानवतावाद को नवीन इसलिए कहा क्योंकि वे यह सिद्ध करना चाहते थे कि उनका मानवतावाद पूर्ववर्ती और समकालीन सभी विचारकों द्वारा प्रतिपादित मानववाद से भिन्न है। मानववादी तत्त्व पाश्चात्य चिन्तन के अनेक सम्प्रदायों एवं चिन्तकों में देखने को मिलते हैं। प्रोटेगोटस, मोर, बुकनी और हर्डर में मानववादी प्रवृत्तियाँ विद्यमान थी। यूनान व स्टोईम्स तथा इपीक्यूत्मिन्स विचारकों से लेकर आधुनिक युग में मानववाद यथार्थवाद अस्तित्ववाद एवं मार्क्सवाद के रूप में प्रकट हुआ। भारत में चार्वाक और बौद्ध विशेन में मानववाद के स्पष्ट लक्षण मिलते है। यूरोप में पुनर्जागरण के बाद मानववादी चिन्तन ने वैज्ञानिकता ग्रहण की है जिससे ईश्वर की सत्ता के स्थान पर गमन की सत्ता स्थापित हुई है। मानव केन्द्रिन्न विचारों ने बल पकड़ा और मानव रूपी ईश्वर की अराधना होने लगी। मार्क्स ने व्यक्तिवादी चिन्तन के मुक्तिवादी सिद्धान्तों को पूँजीवादी कल्पना मानकर उसका खण्डन किया। राय ने मार्क्स के इस रवैये को दुर्भाग्यपूर्ण बताया और कहा कि इससे प्रकट होता है कि मार्क्स को नैतिक आदर्शों के ऐतिहासिक विकास का समुचित ज्ञान न था। राय का मानना था कि आधुनिक सामता जिस नैतिक तथा सांस्कृतिक संकट से गुजर रही है उसके देखते हुए मानववादी मूल्यों की पुर्नस्थापना करना अत्यन्त आवश्यक है।

राजनीति के नए प्रारूप का राय का सिद्धान्त अध्यात्मकवाद राष्ट्रवाद साम्यवाद की विचारधाराओं का निषेध करता है और भौतिकवाद की हिमायत, इसकी पद्धति यान्त्रिक है। उनके अनुसार भौतिकवाद की संभव दर्शन है क्योंकि कि यह प्रकृति के वास्तविक अस्तित्व की जानकारी देता है। अपने नवीन मानवतावाद को वे भौतिकशास्त्र, समाजविज्ञानों कार्यविज्ञान तथा ज्ञान की अन्य शाखाओं में हुए अनुसन्धानों पर आधारित करते है। यद्यपि वे मानवतावादी व्यक्ति को किसी अति मानवीय और अतिप्राकृतिक सत्ता के अधीन करने की से नहीं बच पाये। परन्तु प्राचीन मानववाद की धर्म प्रधानता को वे अस्वीकार करते है और मनुष्य को किसी बाह्य, हस्यमय, एवं अतिप्राकृतिक सत्ता के अधीन करने का विरोध करते हैं। उनके अनुसार नव-मानवतावाद मनुष्य को सर्वोच्च इस लिए मानता है कि उसके अनुसार इतिहास मनुष्य के क्रियाकलापों का लेखा जोखा है और समता को इस बात का अधिकार नहीं है कि वह एक विशाल शक्ति के रूप में अपने आपको व्यक्ति के ऊपर थोप देवे।

नैतिकता, आजादी एवं विवेकपरता इस नए मानवतावाद के मूल आधार है। राय के अनुसार मनुष्य अपने वातावरण का अधीनस्थ है किन्तु उसका विवेक उसे प्राकृतिक घटनाओं को बेहतर एवं तार्किक व्याख्या करने को बाध्य करता है। विवेकशील प्राणी के रूप में मनुष्य भौतिक अस्तित्व के लिए संघर्ष करता है। यह संघर्ष एक ओर जहाँ मनुष्य की भौतिक आवश्यताओं को

रा करने का संघर्ष है तो दूसरी तरफ यह स्वतन्त्रता का संघर्ष है। उनके अनुसार मनुष्य अपने ाग्य का निर्माता है और उसमें इतनी क्षमता है कि वह संसार को आज के बजाय अधिक श्रेष्ठ ौर सुन्दर बना दे। राय यह मानकर चलते है कि मनुष्य स्वभाव से ही विवेकपूर्ण और नैतिक । अत: एक उन्मुक्त और न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के निर्माण में समर्थ है।

ाय के मानवतावादी चिन्तन पर रुचि-सत, बेन्थम तथा शैफ्टसबरी का प्रभाव स्पष्ट रूप से लकता है। इसका मानवतावाद विवेक और लौकिक आत्मा पर आधारित था। वे आध्यात्मिक ात्मानुभूति में विश्वास नहीं करते थे क्योंकि वे भौतिकवाद में विश्वास करते थे। उनका मनुष्य की बौद्धिक और क्रियात्मक शक्ति की उत्कृष्टता में विश्वास था। उनका मानना था कि ध्यात्मवाद मे अन्धविश्वास था क्योंकि इसमें तर्क का अभाव पाया जाता है। जब तक हम त्येक बात को तर्क एवं विवेक की कसौटी पर नहीं कसेंगे तब तक हमारे चिन्तन में वैज्ञानिकता हीं आ सकती। राय का विश्वास था कि "व्यक्ति के जीवन और उसके व्यक्तित्व में तर्क और विवेक सार्वभौमिक समन्वय की प्रतिध्वनि है।"

ाय ने नैतिकता को मानवीय विकास का आधार माना, परन्तु उसका आधार मध्यमत्यवाद नहीं ा। उसका मानना था कि नैतिकता कोई अतिमानवीय तथा बाह्य वस्तु न होकर एक अन्तरिक क्ति है जिसका पालन मनुष्य ईश्वरीय या प्राकृतिक भय के कारण नहीं वरन् समाज कल्याण की ावना से करता है। उन्होंने यह विश्वास व्यक्त किया कि भौतिकता के अभाव में हम मनुष्य की कल्पना नहीं कर सकते। नैतिकता और बुद्धिवादिता यदि नहीं है तो हम एक मनुष्य को मनुष्य हीं रह सकते। इसलिए उनका आग्रदधा कि हमारा उद्देश्य समाज को एक नैतिक आधार पर संगठित करना होना चाहिए क्योंकि समाज का आधार जितना नैतिकतावाद और बुद्धिवादी होगा यक्तित्व के विकास पर लगे हुए प्रतिबन्ध उतने ही शिथिल हो जाएंगे और उसे उतनी ही अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकेगी। इस प्रकार मनुष्य बुद्धिवादी एवं वैज्ञानिक साधनों के प्रयोग द्वारा अपनी समस्याओं का समुचित निराकरण कर एक स्वतंत्र और उन्मुक्त वातावरण में मानव सभ्यता का विकास कर सकेंगे।

ाय ने व्यक्ति को समाज का मूल आधार बताया और समाज को व्यक्ति की सृष्टि माना। उनका ानना था कि व्यक्तियों ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समाज को बनाया है। अत: सभी प्रकार की सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं का निर्धारता इस रूप में किया जाना चाहिए कि उनसे व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अधिकाधिक सम्बल मिले। वैयक्तिक स्वतन्त्रता को उन्होंने ानववाद का आधार माना और स्पष्ट रूप से कहा कि राज्य को व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित करने वाला कोई कार्य नहीं करना चाहिए। स्वन्त्रता से उनका मतलब 'व्यक्ति की सभी मानवीय ुमाताओं पर से किसी भी तरह के नियंत्रण की समाप्ति' है। मनुष्य की स्वतन्त्रता उनके चिन्तन का केन्द्र बिन्दु है, व्यक्ति को इससे वचित करने वाली सभी विचारधाराओं की उन्होंने आलोचना की। वे व्यक्ति की संप्रभुता पर आधारित नए समाज की रचना करना चाहते थे।

ाचीन मानवतावाद का दृष्टिकोण विश्वराज्यवादी है। उनके समाज दर्शन में राष्ट्रवाद अन्तिम वस्था नहीं है। उनका मानना था कि राष्ट्रवाद का आधार जातिगत विद्वेष है और जिस सीमा तक यह सामाजिक समस्याओं की उपेक्षा करता है, वहाँ तक प्रतिक्रियावादी है। इसलिए राष्ट्रवाद की पेक्षा विश्वबन्धुत्व की आवश्यकता है। अरविन्द टैगोर तथा गाँधी की भाँति राय भी मानवजाति क सहकारिता मूलक संघ में विश्वास करते हैं वे एक अच्छे समाज तथा स्वतंत्र विश्व के आदर्श को साक्षाकृत करने की बुनियादी शर्त नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से मुक्त व्यक्तियों की विरादरी को मानते हैं। उनकी दृष्टि में आध्यात्मिक मुक्ति सामाजिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता की परिहार्य शर्त है। इस प्रकार राय के विचार रॉबर्ट ऑवेन, सेंट साईमन तथा कार्ल ग्रविन सदृश र्मन समाजवादियों की धारणाओं से मिलते जुलते हैं। ये विचारक मानसिक प्रबुद्धिकरण को ामाजिक पुर्ननिर्माण की भूमिका मानते थे। राय ने भी इस बात पर बल दिया कि राजनीतिक एवं

सामाजिक पुर्ननिर्माण की आवश्यक शर्त यह है कि मनुष्य का बौद्धिक पुनर्जागरण हो जिसमें वह नवीन अविकल्प मानववाद के दर्शन को हृदयगम कर सके। स्वतन्त्रता की क्षमता व्यक्ति में मूलत: अर्न्तनिहीत होती है। स्वतन्त्रता का साकार होना इस बात पर निर्भर होता है कि मनुष्य को अपनी सृजनात्मक शक्तियों की चेतना हो।

7.3.8 दलविहीन प्रजातंत्र

दलीय राजनीति के अनुभवों के आधार पर राय ने सत्ता केन्द्रीत राजनीति की कटु आलोचना की। उनका कहना था कि "राजनीति का अस्तित्व संगठित सामाजिक जीवन के अस्तित्व जितना ही पुराना है—इसलिए राजनीति और राजनीतिक दलों का संबंध स्वयं सिद्ध नहीं है।" उन्होंने राजनीतिक दलों के बिना राजनीतिक गतिविधियों की संभावनाओं से इन्कार नहीं किया। उन्होंने जहाँ एक ओर साम्यवादी लोकतन्त्र की आलोचना की वहीं दूसरी ओर पूँजीवादी लोकतंत्र को भी अनुकरणीय नहीं माना क्योंकि इन दोनों के द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का ह्रास होता है। उन्होंने कहा कि वर्तमान सामाजिक ढाँचा ही ऐसा है कि जिसमें व्यक्ति स्वतन्त्रता का समुचित उपयोग नहीं कर पाता। राज्य भी एक ऐसा संगठन है जिसने बाध्यकारी संस्था का रूप ग्रहण कर लिया है। उन्होंने उदारवादी लोकतंत्र को ऐसे दिखावे का लोकतन्त्र माना जिसमें समूची शक्तियों का केन्द्रीकरण हो गया है और सत्ता कतिपय राजनीतिक दलों के हाथों में सिमट कर रह गयी है।

राय का मानना था कि दलीय व्यवस्था लोगों के प्रतिनिधित्व का उपयुक्त माध्यम नहीं है। उन्होंने व्यक्तियों के नैतिक पतन का मूल कारण दल प्रणाली को माना और इसको समाप्त करने की पुरजोर वकालत की। राय ने कहा कि सच्चे लोकतंत्र की स्थापना के लिए उसे दलविहीन बनाना होगा और सार्वजनिक मामलों के प्रशासन में जनसाधारण को अधिकाधिक भागीदारी देनी होगी। राय ने इस प्रकार के लोकतन्त्र को 'संगठित लोकतन्त्र' कहा। उनका स्पष्ट मत था कि दलीय शासन का मतलब लोगों के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाले एक अल्पसंख्यक समूह का शासन है। वोट देने का अधिकार एक औपचारिकता मात्र बन कर रह गया है। निर्वाचित सरकारें सिर्फ सत्ताधारी दलों का ही प्रतिनिधित्व करती है। और बड़ी से बड़ी पार्टी के सदस्यों की संख्या जनसंख्या का एक छोटा सा हिस्सा मात्र होता है। उनके विचार से दलीय व्यवस्था लोगों की अपेक्षा नेताओं के हितों की रक्षा करती है। जिसके बेईमानी और भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है।

संसदीय लोकतन्त्र की कमियों को दूर करने के लिए, उन्होंने नागरिकों की भागीदारी से संगठित लोकतन्त्र का विचार रखा। लोकतन्त्र के इस प्रारूप को सफल बनाने के लिए नई आर्थिक व्यवस्था की भी जरूरत पर उन्होंने बल दिया। उनके अनुसार, राज्य के कार्य चैतन्य लोगों के स्वतन्त्र एवं स्वैच्छिक संगठन करेंगे। यद्यपि यह समास्या का आंशिक समाधान है। परामर्शदाता की हैसियत से राज्य लोगों द्वारा बनायी गयी नीतियों की देख-रेख करने के साथ प्रशासनिक उत्तरदायित्व भी निभाएगा। इसमें सर्वोच्च सत्ता शिखर पर बैठा हुआ कोई शक्ति सम्पन्न व्यक्ति आदेश नहीं देगा बल्कि शक्ति जनता की स्थायी समितियों के हाथों में होगी। स्थानीय समितियों में हिस्सेदारी से लोगों में अपने संप्रभु अधिकारों के प्रति जागरूकता पैदा होगी। इस प्रकार सच्चे राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का उदय होगा जिससे राज्य व्यक्ति और समाज के सम्पूर्ण जीवन पर छाया नहीं रहेगा, वरन् उसका मुख्य कार्य देश के सामाजिक जीवन में सामंजस्य स्थापित करना ही रह जाएगा।

राय ने नई सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में आर्थिक विकेन्द्रीकरण का विचार प्रस्तुत किया जिसकी निम्न तीन प्रमुख विशिष्टताएं हैं :

(1) सहकारी अर्थव्यवस्था

(2) नियोजित विकास

राय पूँजीवाद और राज्य-नियंत्रित समाजवाद देशों की आलोचना की। उन्होंने व्यापक जन सहभागिता और विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्तों पर आधारित एक नई अर्थव्यवस्था का प्रारूप तैयार किया। गाँव, क्षेत्र, जिला और राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक गतिविधियों के संचालन की जिम्मेदारी बहुउद्देशी सहकारी समितियां की होगी। इसी प्रकार योजना की शुरूआत पर जनसाधारण के स्तर पे की जानी चाहिए उनका यह भी मानना था कि विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल करते समय आर्थिक विकास एवं स्वतन्त्रता की चाहत के बीच तालमेल स्थापित करने पर होना चाहिए।

इस तरह, मार्क्सवाद से क्रान्तिकारी मानवतावाद, तक की राय की वैचारिक यात्रा वास्तव में "सर्वहारावर्ग की तानाशाही" से दलविहीन लोकतन्त्र" की राजनीतिक व्यवस्था की यात्रा है। जिसमें उन्होंने इस मान्यता का सूत्रपात किया कि क्रान्ति का उदय सदा क्रान्तिकारी विचारों द्वारा ही होता है और राजनीतिक क्रान्ति के लिए दार्शनिक क्रान्ति एक पूर्ण शर्त है। संगठित लोकतन्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार समाज का पुर्नगठन इस तरह किया जाना चाहिए जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं के मार्ग को प्रशस्त करते हुए जनसाधारण को विकास एवं समृद्धि के मार्ग पर ले जाए। इस प्रकार क्रान्ति का सत्ता संघर्ष या हिंसा से कोई लेना-देना नहीं है वरन् क्रान्ति का उद्देश्य व्यक्तियों को दृष्टिकोण में आमूल-मूल परिवर्तन करना है और साथ ही दार्शनिक पुर्ननिर्माण करना भी।

7.4 मूल्यांकन

एम०एन० राय का आधुनिक भारत के दर्शन और राजनीति के लेखकों में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे ऐसे पहले राजनीतिक चिन्तक थें। जिन्होंने समकालीन बौद्धिक परम्पराओं को निरस्त करके औपनिवेशिक शासन की नई व्याख्या की। उन्होंने मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य में भारतीय समाज की व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया। एक मार्क्सवादी के रूप में अपने चिन्तन को गति प्रदान करने के बाद शनैःशनैः वे इसकी प्रस्थापनाओं से पूर होते गये और अविकल मानवतावाद की ओर झुके।

उनके द्वारा प्रतिपादित नवमानवतावाद राजनीतिक चिन्तन की अनुपम देन है। भव्य मानवतावादी के रूप में वे जीवन में मूल्यों को प्रथम स्थान देने पर बल देते हैं। उन्होंने स्वतन्त्रता की शाश्वत धारणा को व्यक्ति के जीवन में सर्वोच्च स्थान देते हैं। उनकी यह स्पष्ट धारणा है कि राजनीति एवं समाज का आधार मूल्य होने चाहिए। इसी प्रकार राय ने धर्मविहीन नैतिकता द्वारा समाज में फैली हिंसा, धार्मिक अन्धविश्वास तथा धर्माचार्यों की साम्प्रदायिकता से मुक्ति दिलाने के सतत प्रयास का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है जिससे एक सभ्य एवं नैतिक समाज का सृजन किया जा सके।

इसके बावजूद, उन्हें भारतीय इतिहास का त्रासद व्यक्तित्व कहा जाता है। डा० वी०पी० वर्मा ने राय की आलोचना करते हुए लिखा है कि 'उनकी प्रतिभाध्वसात्मक थी, न कि रचनात्मक। राय ने राष्ट्रवाद को एक सड़ा-गला आदर्श माना तो गाँधीवाद को मध्ययुगीन एवं आदिम कहकर उसकी भर्त्सना की। राष्ट्रीय कांग्रेस को उन्होंने फासीवादी संगठन एवं 'भारत छोडो आन्दोलन' को ब्रिटिश हुकमत द्वारा कुचल देने की उनकी अपील राय के ध्वंसात्मक रूप को प्रकट करता है।

वास्तव में राय के चिन्तन में पायी जाने वाली कठिनाईयाँ उनकी विचार प्रणाली में ही अर्न्तनिहीत थी। अपने क्रान्तिकारी मानवतावादी चरण में अपनी पुरानी मार्क्सवादी आस्थाओं, से ही वे दूर

होते गये। इस दौर में उन्होंने संसद, चुनाव दलीय पद्धति जैसी उदारवादी विचारों एवं संस्थाओं की आलोचना करने लगे। अपने नये दर्शन की संरचना में वे एक स्वप्न दृष्टि की भाँति ऐसी व्यवस्था की कल्पना करने लगे जिसमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण शिक्षा और सहयोग की भावना के जरिये व्यक्तियों में परस्पर सामंजस्य पैदा किया जा सकता है। वे भारत की सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण करते हैं परन्तु इन समस्याओं के समाधान का कोई व्यावहारिक दर्शन प्रस्तुत न कर सके। अपने आदर्श एवं नैतिक समाज का वे ऐसा खारा प्रस्तुत करते है जिसमें तार्किक निरन्तरता का अभाव स्पष्ट रूप से झलकता है।

फिर भी राय के चिन्तन में उपरोक्त कमियों के होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनका आद्यतन भारत के राजनीतिक चिन्तन में उनका कोई योगदान ही न था। वरन् उनका राजनीतिक दर्शन उनकी बदलती हुयी मनोस्थिति का दर्पण है। धर्म, राज्य तथा समाज तीनों के अवांछित बन्धनों से व्यक्ति को मुक्ति दिलाना ही उनके चिन्तन का मुख्य धेय है। इस दृष्टि से तत्कालीन भारत के विद्वानों में उनके अग्रगण्य महत्त्व को कम करके आँकना एक भारी भूल होगी, उनके द्वारा कल्पित सृजनात्मक मात्रा एवं साम्य समाज के निर्माण के उनके प्रयासों की अनदेखी होगी और मानव मात्र को एक ऐसे विकल्प से वंचित करना होगा जिसमें वह भारी भव्य समाज को निर्माण कर सके।

7.5 सारांश

मानवेन्द्र नाथ राय भारत में साम्यवादी चिन्तन के एक प्रखर प्रणेता एवं सैद्धान्तिक व्याख्याकार के रूप में जाने जाते हैं। उनकी पुस्तकें 'मेटरियालिज्म' तथा 'रीजन, रोमोटिसिल्य एण्ड रिवोल्युशन' एवं 'न्यू ह्यूमनिज्म' भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक अमूल्य निधि के रूप में स्थान रखती हैं।'

राय का राजनीतिक चिन्तन उनकी बदलती हुई मनोस्थिति का दर्पण है। एक कट्टर साम्यव के रूप में अपनी विचार-यात्रा प्रारम्भ करके वे मार्क्स द्वारा स्थापित प्रस्थापनाओं से शनैः-शनैः दूर होते चले गये। फिर भी वे क्रान्तिकारी न होकर एक विचारक, सशक्त लेखक तथा साम्यवादी नेता थे। मैक्सिकों में उन्होंने सर्वप्रथम एक साम्यवादी दल की स्थापना की। उनकी प्रतिभा से प्रयाचित होकर लेनिन ने उन्हें औपनिवेशिक मामलों पर बोल्शेविक दल का सलाहकार बना लिया, परन्तु साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय संघ की द्वितीय कांग्रेस के अवसर पर उनका लेनिन से मतभेद हो गया। 1922 में बर्लिन पहुँच कर उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता का क्या कार्यक्रम बनाया। वे कांग्रेस के नेतृत्व एवं आन्दोलन की दशा से असहमति थे तथा वैज्ञानिक राजनीतिक के समर्थक थे। उसी दृष्टि से 1942 के 'भारत छोड़ो आन्दोलन' का समर्थन नहीं किया क्योंकि उनका मानना था कि यह आन्दोलन कांग्रेस के औद्योगिक और पूँजीवादी संरक्षकों द्वारा संगठित था। वे उसे भारतीय राष्ट्रवादियों का फाँसीवादी प्रयत्न कहकर निन्दा करते थे। इसी दृष्टि से वे गाँधीवाद के प्रति भी सहमत न थे। उनके विचार में गाँधीवाद जनसमूह की प्रवृत्तियों, जनता की निरक्षरता तथा संकीर्ण कट्टरता को उभारने की एक कुटिल चाल थी। अपने जीवन के अन्तिम दशक में अपने 'नवीन दर्शन' की पूर्णता देने में लग गये जो कि 'मौलिक मानववाद' (Radical Humanitns) के नाम से विख्यात है। धर्म, राज्य एवं समाज तीनों के अवांछित बन्धनों से व्यक्ति को मुक्ति दिलाना ही उनके चिन्तन का अन्तिम लक्ष्य है।

7.6 उपयोगी पुस्तकें

1. एम०एन० राय : 'इण्डिया इन ट्रान्जीशन', 1922।

एम०एन० राय : 'वन ईयर ऑफ नॉन कोऑपरेशन, 1923।

एम०एन० राय : द फ्यूचर आफ इण्डियन पालिटिक्स, 1926।

एम०एन० राय : शडियाज प्राब्लम एण्ड इट्स सोल्युशन्स 1922।

एम०एन० राय : न्यू ह्यूमनिज्य, 1947।

जी०डी० ओबरस्ट्रीट एम० विंडामिवर : कम्युनिज्य इन इण्डिया, बम्बई, 1960।

जे०पी० हैघकाम्स : कम्युनिज्म एंड नेशनलिज्म इन इण्डिया, प्रिंसरन, 1971।

के०एम० पानिनकर (स०) : नेशनल एण्ड सेफ्ट मूवमेण्ट इन इण्डिया, विकास 1980।

विपिन चन्द्र (सं०) : इण्डियन लेफ्ट—क्रिटिकल अप्रेजंस, विकास, 1983।

पैथम थॉमस और डायश कैनेथ एल० : मार्डन इण्डियन पोलिटिकल थॉट,सेज पब्लिकेशन

जे०सी० जौहरी : द ग्रेट रैडिकल ह्यूमनिष्ट

जे०बी०एच० वाडिया : एम०एन० राय

बी०बी० कार्निक : बायोग्राफी ऑफ एम०एन० राय

बी०पी० वर्मा : फिलोसॉफिकल ह्यूमनिज्म एण्ड कन्टेम्परोरी इण्डिया

आर०के० अवस्थी : साइन्टिफिक ह्यूमनिज्य सोभ्यो-इकोनामिक आईडियल ऑफ एम०एन० राय।

वी०पी० वर्मा : माडर्न पोलिटिकल थॉट, आगरा, 1980।

सम्बन्धित प्रश्न

उत्तरीय प्रश्न

भारत में साम्यवादी आन्दोलन के उद्भव एवं विकास के सम्बन्ध में विवेचना कीजिये।

उपनिवेशवाद के मुद्दे पर कार्मिटर्न के साथ एम०एन० राय के मतभेदों पर प्रकाश डालिए।

राय के नव मानवतावाद पर एक लेख लिखिए।

उत्तरीय प्रश्न

संक्रमण कालीन भारत के बारे में राय के विचारों पर टिप्पणी लिखिये।

राय द्वारा मार्क्सवाद के विपक्ष में दिये गये विचारों का उल्लेख कीजिये।

फ्यूचर ऑफ इण्डियन पालिटिक्स के बारे राय के विचारों का संक्षिप्त विवेचन कीजिये।

नेष्ठ प्रश्न

भारतीय समाज का मार्क्सवादी विश्लेषण प्रस्तुत करने वाले प्रमुख मुख्य व्याख्याकार थे—

(अ) मानवेन्द्र नाथ राय (ब) आचार्य नरेन्द्र देव

(स) अरविन्द घोष (द) स्वामी रामतीर्थ

एम० एन० राय को कार्मिटर्न एवं भारतीय साम्यवादी दल दोनों से किस वर्ष निष्कासित

किया गया?

(अ) 1927 में (ब) 1928 में

(स) 1929 में (द) 1930 में

3. राय द्वारा रैडिकल डेमोक्रैटिक पार्टी की स्थापना किस वर्ष हुयी?

(अ) दिसम्बर 1942 में (ब) नवम्बर 1943 में

(स) दिसम्बर 1943 में (द) अक्टूबर 1942 में

4. भारतीय साम्यवादी दल की भारत में स्थापना 1924 में किसके प्रयासों से हुयी?

(अ) मुजफ्फर अहमद (ब) एम०एन० राय

(स) भूपेन्द्र दत्ता (द) सत्यभक्त

5. 'भारत छोड़ो आन्दोलन' के प्रस्ताव को फासीवाद का समर्थन मानकर किसने विरोध किया?

(अ) एम०एन० राय ने (ब) आचार्य नरेन्द्र देव ने

(स) नेहरू ने (द) लाल हरदयाल ने

6. एम०एन० राय अपने चिन्तन के प्रारम्भिक काल में एक थे—

(अ) उत्कट मार्क्सवादी (ब) रोमांटिक क्रान्तिकारी

(स) नव मानवतावादी (द) उदारवादी

7. 'इण्डियाज प्राब्लमस' एण्ड देयर सोल्युशन्स' का प्रकाशन वर्ष है—

(अ) 1922 (ब) 1921

(स) 1923 (द) 1926

8. 'वन इयर ऑफ नानकोआपरेशन' के रचयित थे—

(अ) महात्मा गाँधी (ब) विनोबा भावे

(स) रजनी पॉमदत्त (द) एम०एन० राय

9. मानव के स्वतन्त्रता एवं सृजनात्मकता पर बल दिया था—

(अ) मानवेन्द्र नाथ राय (ब) लॉक

(स) ह्यूगो ग्रोशस (द) गोपाल कृष्ण गोखले

10. 'वैज्ञानिक राजनीति' की 1923 में रचना की थी—

(अ) दादा भाई नौरोजी ने (ब) मार्क्स ने

(स) एंजेल्स ने (द) एम०एन० राय ने

7.8 प्रश्नोत्तर

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. (अ) 2. (ब) 3. (स) 4. (द) 5. (अ)

6. (ब) 7. (स) 8. (द) 9. (अ) 10. (द)

काई 8 : नरेन्द्र देव

रेखा

उद्देश्य
प्रस्तावना
भारत में समाजवादी आन्दोलन का उद्भव एवं विकास
आचार्य नरेन्द्र देव राजनीतिक एवं सामाजिक विचार
8.3.1 नरेन्द्र देव एवं मार्क्सवाद
(क) द्वन्द्ववाद
(ख) वर्ग संघर्ष
(ग) समाजवादी नैतिकता
8.3.2 समाजवादी कार्यक्रम एवं नरेन्द्र देव
8.3.3 समाजवाद एवं लोकतन्त्र
8.3.4 राष्ट्रीय स्वतन्त्रता
8.3.5 कृषकवाद एवं नरेन्द्र देव
8.3.6 गाँधीवाद एवं नरेन्द्र देव
8.3.7 साम्प्रदायकि एकता एवं सौहार्द्र
8.3.8 अन्तर्राष्ट्रीयतावाद एवं नरेन्द्र देव
मूल्यांकन
सारांश
उपयोगी पुस्तकें
सम्बन्धित प्रश्न
प्रश्नोत्तर

) उद्देश्य

इकाई को पढ़ने के बाद आप :

भारत में समाजवादी आन्दोलन के लिए वास्तविक परिस्थितियों एवं इसके विकास के सन्दर्भ में टिप्पणी कर सकेंगे।

आचार्य नरेन्द्र देव जी पर मार्क्सवादी विचारों के प्रभाव एवं तत्सम्बन्धी विविध परिवर्तनों के विषय में विश्लेषण कर सकेंगे।

आचार्य नरेन्द्र देव जी के समाजवादी एवं राजनीतिक कार्यक्रमों के सम्बन्ध में उनके विचारों की विवेचना कर सकेंगे, एवं उनके लोकतंत्र एवं राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संबंधी विचारों के विषय में विश्लेषण कर सकेंगे।

नरेन्द्र देव जी द्वारा कृषकवाद, धर्म एवं राजनीति तथा राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रवाद पर विचारों की विवेचना कर सकेंगे।

भारतीय राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के काल में समाजवादी गतिविधियों की चर्चा एवं आचार्य जी के योगदानों का मूल्यांकन कर सकेंगे।

1 प्रस्तावना

ाजवाद मुख्यत: उन सिद्धान्तों पर बल देता है जो एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहता है समें मनुष्य को जीवन के हर क्षेत्र में समानता मिले—सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि।

यह एक ऐसे समान समाज का लक्ष्य रखता है जिसमें सामाजिक क्षेत्र में जन्म, जाति, वर्ग अथवा धर्म के आधार पर भेदभाव न हो, आर्थिक क्षेत्र में किसी एक वर्ग या सामाजिक गुट द्वारा दूसरे का शोषण न हो, कृषि और उद्योगों के उत्पादन के साधनों पर समाज या राज्य का नियंत्रण हो अथवा उनके समाजीकरण या राष्ट्रीकरण, चल संपत्ति अथवा सेवाओं का समान बँटवारा और सहकारी समितियों की स्थापना की जाए एवं राजनीतिक प्रक्रिया में सभी को समान रूप से भाग लेने का अधिकार होना। मताधिकार चुनाव में खड़े होने का अधिकार हो, अपने विचारों के प्रगटीकरण का अधिकार प्राप्त हो।

भारत में समाजवादी चिन्तन लगभग पूर्णत: बीसवीं शताब्दी की घटना है। इस दौर में समाजवादियों ने हमारे देश के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में एक अहम भूमिका निभायी है। तीसरे एवं चौथे दशकों के दौरान वे ही ऐसे लोग थे जिनका सम्बन्ध नेतृत्व तथा नीचे स्तर (आम जन) दोनों के ही साथ रहा। भारत में जनराजनीति का प्रारम्भ गाँधी ने असहयोग आन्दोलन का आह्वान देकर प्रारम्भ किया, जिससे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का आधार विस्तृत हुआ और समाजवादी विचारों वाले नवयुवक नरेन्द्र देव, अच्युत पटवर्धन, जय प्रकाश नारायण, जवाहर लाल आदि इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। समाजवादी ग्रामीण एवं शहरी राजनीति में सामाजिक समूहों को गतिमान करने में पूरी तरह सक्रिय हो गए। जिसके कारण राष्ट्रीय आन्दोलन में नेतृत्व केवल मध्यमवर्ग के हाथों में न रहा वरन् इसका स्वरूप जन आन्दोलन का हो गया। इसके परिणामस्वरूप ही राष्ट्रीय नेतृत्व को 1929 में लाहौर (अधिवेशन) में पूर्ण स्वराज्य की घोषणा करने पर बाध्य होना पड़ा। यह कांग्रेस के ही प्रगतिशील एवं समाजवादी विचारों वाले नेहरू एवं नरेन्द्र देव का ही प्रभाव था जिससे इस दौर में समाजवादी विचारों को गति मिली। आचार्य नरेन्द्र देव का एक समाजवादी सिद्धान्तकार के रूप में एवं एक कमर्ठ तथा व्यावहारिक राष्ट्रवादी के रूप में बड़ी ख्याति मिली। इस इकाई में आचार्य नरेन्द्र देव जी के समाजवादी राजनीतिक विचारों के सम्बन्ध में आप परिचित होंगे।

8.2 भारत में समाजवादी आन्दोलन का उद्भव एवं विकास

भारत में समाजवादी विचारों के बीज तो हमारे प्राचीन आर्यग्रन्थों में ही पड़ चुके थे। ऋणवेद एवं बौद्ध साहित्य में मानव एकता, भातृत्व और आध्यात्मिक समानता सम्बन्धी लोकोप्रकारी सिद्धान्तों के स्पष्ट दिग्दर्शन होते है। किन्तु आधुनिक भारत में समाजवाद का विकास मुख्यत: बीसवीं शती में हुआ जिस पर पाश्चात्य जगत का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है क्योंकि परिचालन में यह उन्नीसवीं शताब्दी में ही फैल चुका था। भारत में समाजवाद का सामाजिक और आर्थिक पुर्नरचना का दर्शन पश्चिमी विचारों के प्रभाव के फलस्वरूप विकसित हुआ। समाजवादी विचारधारा का विकास साम्राज्यवादी शोषण के असहनीय होने के परिणामस्वरूप हुआ। इस भू-व्यवस्था में अनेक मध्यस्थ उपस्थित थे, जो सामन्तों एवं जमींदारों के रूप में श्रेणीबद्ध थे जिनके शोषण के शिकार गरीब किसान और भूमिहीन मजदूर थे। जमींदारों द्वारा इनका शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक शोषणा होता था। इन मध्यस्थों के साथ ही साहूकारों के कर्ज तले गरीब कृषक वर्ग दबा था। साहूकार, जमींदार एवं ब्रिटिश सत्ता मिलकर इनका शोषण करते थे। इन कृषकों एवं गरीब वर्ग पर अत्याचार करते थे। जिससे तत्कालीन मध्यम वर्ग एवं बुद्धिजीवियों ने इन शोषणकर्त्ताओं के विरुद्ध इन्हें खड़ा करने में बहुत योगदान दिया। उन्होंने राष्ट्रवाद की भावना पर जोर दिया और अपने लेखों, पत्रों एवं विचारों से इन्हें संगठित करने का प्रयास भी करते रहे। लेकिन आमतौर पर बिना किसी बुद्धिजीवि वर्ग के नेतृत्व के, किसानों ने जमींदारों और साम्राज्यवादी शोषण के विरुद्ध डिस्क्रिट रूप से ही अपनी आवाज बुलन्द की।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता न सिर्फ ब्रिटिश राज के विरुद्ध थे, बल्कि वे भारत की

ता के पश्चात इसकी सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक पुनरंचना भी करना चाहते थे। नरेन्द्र देव
ावित पुनर्रचना में समाजवादी विचारों की स्पष्ट झलक दिखाई पड़ती है। यद्यपि कि
ात ढंग से समाजवादी विचारों का विकास भारत में 1920 से ही आरम्भ हुआ, लेकिन
र्व भी अनेक विद्वान राजनीतिक नेताओं ने भी भारत की सामाजिक-आर्थिक पुनर्रचना पर
या था। 1893 में अरविन्द ने नई रोशनी, पुराने के लिए शीर्षक के सात लेख, 'इन्दु
में प्रकाशित किए, जिनमें उन्होंने कांग्रेस की मध्यमवर्गीय मनोवृत्ति की आलोचना की थी
र्वहारा' की दशा सुधारने का आग्रह किया था। तिलक ने 1908 के मध्य में 'केसरी' में
ख लिखे थे जिसमें रूसी शून्यवाद का उल्लेख किया। सम्भवत: लाला लाजपत राय प्रथम
लेखक थे जिन्होंने समाजवाद तथा कामगारों पर लिखा और अपनी पुस्तक 'फ्यूचर ऑफ
न पालिटिक्स' में बोल्शेविकवाद के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण नहीं अपनाया। उन्होंने
भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन का सभापतित्व किया। एम०एन० राय ने
23 तक कांग्रेस में मध्यमवर्गीय आधिपत्य की आलोचना की। यह इस कारण क्योंकि वे
ं साम्यवाद की स्थापना करने के इच्छुक थे। तृतीय दशक के प्रारम्भिक वर्षों में वीरेन्द्र
ाय ने भी साम्यवाद में गहरी रूचि प्रदर्शित की। 1917 की रुसीनुमति ने भारत में
ादी एवं मार्क्सवादी विचारों को काफी हद तक प्रेरित किया। हाँलाकि सी०आर० दास
से अधिक प्रभावित नहीं थे, फिर भी उन्होंने इसका उल्लेख गया कांग्रेस (1917) में
उन्होंने भारत में मजदूर संघ के आन्दोलन के विकास में सहयोग किया। 1926 में जवाहर
हरू एवं मोती लाल जी ने सोवियत संघ की यात्रा की और वहाँ कि नवीन आर्थिक नीति
जवादी गणतंत्र की उपलब्धियों से प्रभावित थे, फिर भी मार्क्सवाद का मूल रूप में ही
ं उपर्युक्त के विषय पर उनको गहरा मतभेद था। जवाहर लाल नेहरू, सुभाष चन्द्र बोस,
नरेन्द्र देव, जय प्रकाश नारायण, रामभनोहर लोहिया, अच्युत परवर्धन युसुफ मेहर और
मेहता भारत में समाजवादी धारा के कुछ मुख्य विचारक हैं।

समाजवादी दल के गठन के पूर्व मजदूर गुटों का दमन हुआ था। कामगार वर्ग के नेताओं
ाकर पेशावर षडयन्त्र काण्ड (1922-23), कानपुर षड़यन्त्र (1924) और मेरठ षडयन्त्र
) के विरुद्ध दर्जनों मुकादमें दायर कर दिये गये जिससे रोष पैदा हुआ और समाजवादी
ने जोर पकड़ा। 1924 में भारतीय काम्युनिष्ट पार्टी का गठन एवं आगे चलकर कांग्रेस
ादी दलों का गठन हुआ। भारतीय काम्युनिष्ट पार्टी वर्ग संघर्ष एवं क्रान्ति द्वारा समाजवादी
की स्थापना में विश्वास रखती थी। लेकिन समाजवादी दल राज्य के हस्तक्षेप से शनैःशनैः
न चाहते थे।

ादी विचारों ने एक संगठित रूप मई 1934 में लिया जब पटना में इसका प्रथम अधिवेशन
नरेन्द्र देव की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। यद्यपि इसके पूर्व 1931 में बिहार समाजवादी
ा 1934 में बम्बई समाजवादी गुट कायम हुए। क्योंकि सविनय अवज्ञा आन्दोलन को
त सफलता हासिल नहीं होने से समाजवादियों ने कांग्रेस के भीतर ही इन्होंने अपना अलग
ाया। इसका उद्देश्य था भारत को साम्राज्यवादी शोषण से मुक्ति दिलाकर पूर्ण स्वराज और
माजवादी समाज की स्थापना करना। इन समाजवादियों द्वारा जिन मुद्दों को गम्भीरता पूर्वक
का आग्रह कि उनमें गरीब जनता को अधिकार मुख्य उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, बिना किसी
जे के समान्तवाद एवं जमींदारी उन्मूलन, भूमिका वितरण एवं सहकारी तथा सामूहिक कृषि
इस दल की स्थापना में आचार्य नरेन्द्र देव के साथ ही जय प्रकाश नारायण, अच्युत
ा, युसुफ मेहरअली तथा अशोक मेहता प्रमुख रहे। यद्यपि नेहरू भी समाजवादी थे परन्तु
स समाजवादी दल में शामिल नहीं हुए। 1942 के 'भारत छोड़ो आन्दोलन' की सफलता
ए से समाजवादियों ने कड़ी मेहनत की और इसमें मुख्य भूमिका निभाई। मार्च 1948 के
अधिवेशन में समाजवादियों ने कांग्रेस छोड़ देने का फैसला किया और एक अलग दल

भारतीय समाजवादी दल की स्थापना की। 1949 के पटना अधिवेशन में समाजवादी दल ने लोकतांत्रिक तरीकों तथा रचनात्मक ढंग से सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं को सुलझाने का पक्ष लिया। 1952 के आम चुनावों के बाद समाजवादी दल और जे०बी० कृपलानी ने नेतृत्व में संगठित कृषक मजदूर दल के गठबन्धन से सितम्बर 1952 में प्रजा समाजवादी दल का गठन हुआ।

भारत में समाजवादी चिन्तन का विकास जिस सन्दर्भ में हुआ वह यूरोपीय समाजवाद के सन्दर्भ में दो बातों से भिन्न था। पहला, भारत समाजवाद का विकास क्रूर विदेशी साम्राज्यवाद के बन्धनों से राजनीतिक मुक्ति की एक विचारधारा के रूप में विकसित हुआ न कि सामाजिक आर्थिक पुनर्निमाण की एक योजना के रूप में 1947 से पूर्व भारत की मूल समस्या इसकी राजनीतिक स्वतन्त्रता थी, जिसका कोई भी लोकप्रियदल उपेक्षा नहीं कर सकता था। दूसरे, भारत में सामन्तों एवं जमींदारों के शोषण से खेतिहर मजदूरों के उद्धार की सिद्धान्त एवं योजना प्रस्तुत करना भारतीय समाजवादियों की प्राथमिकता थी जबकि यूरोप में सामन्तवाद का उन्मूलन प्राय: अठ्ठारहवीं शती तक हो चुका था। किन्तु भारत में सामन्तवाद बीसवीं सदी के मध्य तक फलते-फूलते रहने के कारण इसके उन्मूलन दायित्व समाजवादी विचारकों को वहन करना पड़ा। जबकि यूरोप में इस सामन्ती अभिजात्यवर्गीय विशेषाधिकारों पर प्रहार करने का काम पूँजीवादी लोकतन्त्र और पूंजीवादी उदारवादियों के नेतृत्व में किया गया था।

8.3 आचार्य नरेन्द्र देव एक समाजवादी चिन्तक के रूप में

आचार्य नरेन्द्र देव (1889-1956) आधुनिक भारतीय समाजवादी विचारधारा मूल प्रवर्तक का जन्म उत्तर प्रदेश के सीतापुर जिले में हुआ था। लेकिन पेशे से वकील पिता के फैजाबाद आ जाने के कारण उनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा वहीं हुयी। उन्होंने गीता, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया, बाद में उच्च शिक्षा प्रयाग विश्वविद्यालय से प्राप्त किया और राजनीति में सक्रिय हुए। जब 1907 में कांग्रेस में फूट पड़ी तो वे उग्रदल की ओर आकर्षित हुए। अरविन्द, लाला हरदयाल, लोक मान्य तिलक, लाला लाजपत राय आदि के विचारों ने उन्हें बहुत आकृष्ट किया। 1916 में कांग्रेस की एकता होने के पश्चात वे उसमें शामिल हो गए। इस दौरान एम०ए० एवं विधि की परीक्षा उत्तीर्ण करने के साथ ही बौद्ध साहित्य का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। काशी विद्यापीठ में अध्यापन के साथ ही वे लखनऊ एवं काशी हिन्दु विश्वविद्यालय के कुलपति भी रहे। इस बीच वे महात्मा गाँधी एवं नेहरू के सम्पर्क में आये। 1934 में कांग्रेस समाजवादी दल के उद्घाटन सम्मेलन का सभापतित्व उन्होंने किया। देश के राष्ट्रीय आन्दोलन में उन्होंने अनेक बार जेल-यात्रायें की। उनके बहुत से साथी समाजवादी आन्दोलन से विमुख हो गये किंन्तु वे समाजवादी दल से विमुख नहीं हुए। एक समाजवादी चिन्तक के रूप में ''सेशलिज्म एण्ड नेशनल रिवोल्युशन'' राष्ट्रीयता और समाजवाद आदि उनकी महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

8.3.1 नरेन्द्र देव एवं मार्क्सवाद संबंधी विचार

आचार्य नरेन्द्र देव कार्लमार्क्स के चिन्तन से प्रभावित थे। उनके मतानुसार समाजवाद का उद्देश्य वर्गविहीन समाज की स्थापना करना है। समाजवाद वर्तमान समाज को इस प्रकार संगठित करना चाहता है कि वर्तमान समाज परस्पर विरोधी स्वार्थों वाले शोषित, पीड़ित एवं पीड़क वर्गों का अन्त हो जाय। आचार्य नेरन्द्र देव के लिए समाजवाद न केवल एक सामाजिक या राजनीतिक विचारधारा है अपितु एक आन्दोलन, कार्यक्रम, आदर्श सामाजिक या राजनीतिक व्यवस्था एवं जीवन पद्धति सब कुछ है। उनका मानना था कि असली समाजवाद तब स्थापित होगा जब शोषणमुक्त समाज की स्थापना हो जाय, क्योंकि उसी स्थिति में स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व

ावना का व्यक्ति उपयोग कर सकता है। विचारधारा की दृष्टि से वे मार्क्सवादी थे, यद्यपि ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के दर्शन की विशद व्याख्या नहीं की, फिर भी उन्होंने उसके न्य सिद्धान्तों का विवेचन किया।

द्वन्द्ववाद

मार्क्स की भाँति आचार्य नरेन्द्र देव भी समाज परिवर्तन की प्रक्रिया में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद र्ग संघर्ष की धारणा को स्वीकार करते हैं। उनका मत था कि समाजवाद का अन्तिम लक्ष्य वेलीन समाज की स्थापना करना है। समाजवाद का उद्देश्य यह नहीं है कि समाज में क एकरूपता स्थापित हो जायेगी। समाजवाद का आदर्श प्रत्येक व्यक्ति की यकतानुसार उसके उपयोग की वस्तुओं का प्रबन्ध करना है। आचार्य जी ने भी सामाजिक स में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को स्वीकार करते है, किन्तु उसका अधानुकरण नहीं करते न ही संशोधन करते हैं, अपितु मार्क्सवाद के आलोचकों के समक्ष और पैना बनाते हैं। उनका था कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित भौतिकवादी सिद्धान्त को मनुष्यों के इतिहास के विकासक्रम लित समझा गया ओर मार्क्स को पूर्णतया भौतिकवादी चिन्तक मान लिया गया। उनकी यह ता भ्रमपूर्ण है कि मार्क्स ने एक मात्र भौतिक पदार्थ की उच्चता को स्वीकारा है और यह त किया है कि भौतिक पदार्थ ही इतिहास का नियोक्ता है और निर्माता भी। वास्तव में ं ने इतिहास के विकास क्रम में भौतिक पदार्थ तथा मानव मष्तिष्क की क्षमता (चेतना) को ही स्वीकारा हैं। उसने मानव को ऐसा सक्रियकर्ता माना है जो चेतन अवस्था में रहकर ास की कायापलट कर देता है क्योंकि चेतना को वह विकासमान पदार्थ का एक गुण मानता हने का तात्पर्य यही है कि इतिहास के निर्माण में आर्थिक कारक महत्त्वपूर्ण भूमिका तो ते हैं परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे ही सर्वेसर्वा है। आचार्य नरेन्द्र देव और स्पष्ट करते लेखते हैं कि मार्क्स हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर खींचता है कि कोई भी विचार इतिहास ारा को तभी परिवर्तित कर सकता है जबकि वह तथ्यपरक हो 'वस्तु' (Thing) में न ात हो जाये। क्योंकि मानव यर्थाथ स्थिति से न तो स्वतन्त्र होकर कोई कार्य करता है और न थार्थ स्थिति अपने आप कुछ उत्पन्न करने में समर्थ होती है, परिणामत: मनुष्य की सक्रियता क अनिवार्य कारक है।''

वर्ग-संघर्ष

ं ने वर्गविहीन समाज की स्थापना वर्ग संघर्ष के द्वारा ही संभव माना है। उनका यह कथन ामाजिक विकास का इतिहास वर्ग संघर्ष के द्वारा ही प्रगति के पथ पर अग्रसर होता रहा है। ृष्टि से ऐतिहासिक विकास क्रम में आदिमकाल, सुल्तानकाल, सामान्तवाद एवं पूँजीवादी में अर्न्तनिहीत विसंगतियाँ के कारण समाज वर्गों में विभाजित होता रहा। वर्तमान पूँजीवाद स्था में पूँजीपति तथा श्रमिक दो आधारभूत वर्ग है जिनमें एक शोषक तथा दूसरा शोषित वर्ग नके मध्य संपर्क जारी रहता है जो उत्पादन के साधनों के स्वामित्व को लेकर होता है। जब समाजवादी व्यवस्था वर्ग रहित समाज की स्थापना की बात करता है तो उसका अभिप्राय आर्थिक वर्गों से होता है। समाजवादियों पर प्राय: यह रोपण किया जाता है कि वे हटात् वर्ग ं की सृष्टि करते हैं और नफरत का बीजारोपण समाज में करते है। वास्तव में समाजवादी संघर्ष को व्यवस्था परिवर्तन के माध्यम बनाते हैं और इसे बनाये रखना उद्देश्य नहीं है के पूँजीवादी लोग इसे अपने अस्तित्व के लिए बनाये रखना चाहते हैं। वस्तुत: वर्ग संघर्ष ासिक विकासक्रम का अविरत नियम है। समाजवादी इसे समाप्त करके वर्गविहीन एवं विहीन शोषणमुक्त समाज की स्थापना करना चाहते हैं। वे श्रमिकों को कुछ सुविधाएं प्रदान देने की पूँजीवादी चाल से संतुष्ट नहीं होते। वे इस पूँजीवादी व्यवस्था को वर्ग व्यवस्था को ूल से समाप्त करने हेतु कृत संकल्प है। आचार्य नरेन्द्र देव का स्पष्ट मत है कि हमारे सामने

जो काम है उसे हम तभी पूरा कर सकते हैं। जब हम समाजवाद के उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों को समझ लें तथा परिस्थितियों के सही ज्ञान के लिए हम मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक पद्धति को हृदयगंम करे और उसे अपने क्रियाकलापों का आधार बनाने का प्रयत्न करे। जो वैज्ञानिक समाजवाद का आश्रय लेना चाहिए और यूरोपीय समाजवाद अथवा सामाजिक सुधारवाद से बचना चाहिए। आज जो सामाजिक व्यवस्था विद्यमान है उसका क्रान्तिकारी रूपान्तर ही परिस्थितियों की आवश्यकता को पूरा कर सकता है। उससे कम किसी चीज से काम नहीं चल सकता।'' (नरेन्द्र देव, सोशलिज्य एण्ड नेशनल रिलेत्पुशन, पृ० 148, बम्बई)।

ग-समाजवादी नैतिकता

आचार्य नरेन्द्र देव मुख्य रूप से सांस्कृतिक मार्क्सवादी थे, वह भारतीय परम्परा से अत्यधिक प्रभावित हुए। वे आलोचकों की इस धारणा को मिथ्या बताते हैं कि समाजवाद एक नैतिकता रहित व्यवस्था है। उन्होंने मार्क्सवाद को मानवतावादी अवधारणा के रूप में स्वीकारा। उनका कहना था स्वयं मार्क्स ने पीड़ित मानवता के लिए अपार कष्ट सहे, भूखे रहकर जीवन व्यतीत किया और शोषण रहित उच्च मानवीय आदर्श का प्रतिपादन किया। इसीलिए आचार्य नरेन्द्र देव के समाजवादी विचार मानवतावादी हैं। साथ ही उन्होंने भारतीय संस्कृति एवं विचारधारा (Concept) का सार आस्तिकता को भी स्वीकार नहीं किया। उनका स्पष्ट मत था कि विश्व के संचालन में नैतिक नियमों की उपेक्षा संभव नहीं है। इन नियमों की प्रकृति मानवतावादी है। आचार्य जी ने मार्क्सवाद की व्याख्या भारतीय सन्दर्भो में करते हुए इसे कोरा भौतिकवादी नहीं रहने दिया और उसमें मानवीय नैतिकता की धारणा को भी समाहित करने का प्रयास किया। उन्होंने कहा कि मार्क्सवाद कोरा हिंसा, घृणा तथा नैतिकताविहीन नहीं है, अपितु इसका झुकाव मानवतावाद है। समाजवाद की लड़ाई में श्रमिक वर्ग नैतिकता का परित्याग नहीं करता अपितु उससे नैतिक उत्कर्ष की अपेक्षा करती है। यह सम्पन्न शोषकवर्ग के अत्याचार एवं शोषण से मुक्ति दिलाने का सिद्धान्त कार्यक्रम तथा आन्दोलन है अत: इसका आधार मानवतावादी है।

आचार्य नरेन्द्र देव ने स्पष्ट रूप में कहा कि मार्क्सवादियों को चाहिए कि मानव को मानव बनाने के लिए धर्मों के लोकतांत्रिक तत्त्वों को लाए जिससे लोगों में सामूहिक जागरूकता पैदा की जा सके। इस दृष्टि से बुद्ध द्वारा दिये गये उपदेश प्रेम की अहिंसा से वे बहुत प्रभावित हुए और अनेक वर्षों तक उन्होंने बुद्ध के 'युद्ध धर्म दर्शन' का गहन अध्ययन किया और कहा कि यह पुस्तक ऐतिहासिक महत्त्व की है। आचार्य जी को धार्मिक परम्परा की गहरी समझ थी परन्तु उन्होंने धर्म एवं राजनीति के मेल का घोर विरोध किया।

8.3.2 समाजवादी कार्यक्रम एवं नरेन्द्र देव

आचार्य नरेन्द्र देव राष्ट्रीय कांग्रेस के अन्तर्गत समाजवादियों एवं साम्राज्यवादियों के लिए राजनीतिक मंच की स्थापना पर बल देते थे। उनका विचार था कि कांग्रेस एक ऐसा मंच है। जिसमें नये परिवर्तन की आवश्यकता है। उनके अनुसार कांग्रेस दल के भीतर विस्तृत जगह है जो दूसरे विभिन्न सैद्धान्तिक समूहों को अपने अन्दर समायोजित कर सकती है। इसलिए किसी दूसरे राजनीतिक दल की स्थापना की आवयश्यकता नहीं है। साथ ही उनका यह भी मानना था कि राष्ट्रीय आन्दोलन में समाजवाद का सिद्धान्त एक अहम् भूमिका अदा करेगा और कांग्रेस समाजवादी दल कांग्रेस के अन्दर एक दबाव समूह के रूप कार्य करेगा इसके लक्ष्य को समाजवादी कार्यक्रमों की ओर उन्मुख करेगा। परन्तु इन कार्यक्रमों की उपलब्धि के लिए क्रान्ति का आधार पूर्णत: मार्क्सवादी नहीं था। वे वर्ग संघर्ष के समर्थक अवश्य थे परन्तु सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की अवधारणा से उनका मतभेद था। साथ ही उन्हें क्रान्ति के निमित्त लेनिनवादी दलीय नेतृत्व के अधीन बोल्शेनिक तरीके से संशस्त्र क्रान्ति से भी परहेज था। उनका विश्वास थ

क अनुकूल परिस्थितियों में भी क्रान्ति तभी संभव है जब क्रान्तिकारी भावनाओं से अनुप्राणित नसमूह नेतृत्व के लिए क्रान्तिकारी सामाजिक आदर्शों और सिद्धान्तों में दक्ष लोगों के संगठन में गठित हो। उन्होंने दलीय अधियनायक वाद नहीं अपितु लोकतांत्रिक समाजवाद पर बल दिया। नका स्पष्ट मत था कि लोकतंत्र समाजवाद के बिना जीवित नहीं रह सकता तथा समाजवाद ोकतंत्र के बिना अधूरा। मानव स्वतन्त्रता समाजवादी ढाँचे वाले समाज को प्राप्त करने का एक ाधार है।

माजवादी दल द्वारा दिये गये समाजवादी कार्यक्रमों से उनके दृष्टिकोण का स्पष्ट भाव होता है। थम, राष्ट्रीयकरण के लिए बड़ी पूँजी का होना आवश्यक है लेकिन निजी सम्पत्ति की समाप्ति हीं। दूसरे, उन्होंने ग्रामीण भारत में जमींदारी प्रथा के उन्मूलन पर अधिक जोर दिया भूमि सुधार ना चाहिये जिससे छोटे ग्रामीण किसानों को भूमि मिलेगी। इस प्रकार उन्होंने छोटे किसानों के ामित्व एवं लघु औद्योगिक पूँजी के विकास पर भी बल दिया। इस प्रकार उन्होंने भारत में एक केन्द्रित प्रजातांत्रिक राज्य की स्थापना पर बल दिया। उनके अनुसार—"राज्य हर खेतिहर को भिन्न प्रकार से सहायतां देगा तथा इस विकेन्द्रित समाजवादी राज्य में सामान्य मतपत्र के आधार र चुनी हुयी पंचायतें ही ग्रामों में राज्य की शक्ति की प्रमुख नियंता होगी।"

.3.3 समाजवाद एवं लोकतंत्र

ाचार्य नरेन्द्र देव जनतांत्रिक व्यवस्था में विश्वास करते थे। उन्होंने मार्क्सवादी वर्ग संघर्ष एवं ाम्यवादी कार्यक्रमों की सराहना की, परन्तु उनका साम्यवादी एकदलीय एकाधिकार एवं श्रमिक धवादियों की संगठित अराजकतावादी व्यवस्था के प्रति अरुचि थी। वे लोकतंत्र को सर्वोत्तम ासन पद्धति के साथ-साथ सर्वोत्तम जीवन विधि भी मानते थे। वे सर्वसाधारण को सर्वाधिक हत्त्व देते थे। उनका बहुजन समाज के प्रति सदैव आस्था बनी रही एवं जनमत का उन्होंने सदैव ध्यान रखा। उनके मतानुसार किसी भी संगठन का महत्त्व उसके उच्चस्थ नेताओं द्वारा नहीं अपितु गठन के साधारण कार्यकर्त्ताओं द्वारा आँका जाता है। परन्तु उनकी लोकतंत्र की अवधारण जीवादी लोकतंत्र से सर्वथा भिन्न थी। उन्होंने कहा कि आज पूँजीवादी लोकतंत्र की स्थापना से निया में आजादी की बात कही जा रही है जबकि इसमें श्रमजीवियों की आजादी सुनिश्चित नहीं ो जा सकती वरन् इसमें तो सामान्यजन का जीवन सामन्ती युग से भी कठिन एवं दूभर हो गया । इसकी सबसे बड़ी बिडम्बना तो यह है कि इसमें शोषक एवं शोथित दोनों ही कानून की दृष्टि समान होते है परन्तु विजयी अन्ततोगत्वा पूँजीवादी ही होता है। इसमें धार्मिक और निर्धन दोनों ो समान न्याय देने का दम्भ मात्र होता है व्यावहरत: निर्धन का शोषण ही होता है।

ाचार्य नरेन्द्र देव ने भारत की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों को वर्ग-संघर्ष ा दृष्टिकोण से समझाने का प्रयास किया। वे कोरे सुधारवाद या संविधानवाद से समाजवाद तथा नतंत्र की स्थापना में विश्वास नहीं करते थे वरन् उनका मानना था कि जनता के विस्तृत तथा ापक हित के आधार पर निर्मित सामाजिक सिद्धान्त ही हमारा पथप्रदर्शन कर सकता है। जन ागरण तथा जनक्रान्ति की नीति ही समाज के समुचित विकास का साधन बन सकती है। अत: नका विश्वास था कि जनसमुदाय को क्रियाशील बनाकर ही वास्तविक लोकतंत्र के लिए तैयार किया जा सकता है जिसका एक भाग उपाय किसी लोक कल्याणकारी आर्थिक विचारधारा को ीकार करके राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का व्यापक सामाजीकरण करने से था।

ाचार्य नरेन्द्र देव ने जनतंत्र की स्थापना हेतु सार्वभौमिक शिक्षा व्यवस्था को अनिवार्य समझते । साथ ही सहकारी आन्दोलनों को बढ़ावा देने पर जोर देते थे। उनके अनुसार कुशल शासन वस्था या उच्च विकृति के राष्ट्रीय नेतृत्व से ही जनतन्त्र की स्थापना की आशा नहीं की जा कती। अपितु इसके लिये तो समाज में फैली विषमता को दूर करना होगा, जनशक्ति में

विश्वास, जनता में गैर सरकारी संगठनों तथा समूहों को अधिक अवसर देने, सामाजिक कल्याण के लिये समानता के आधार पर लोगों को संगठित करके ही जनतंत्र के विकास के लिए आवश्यक वातावरण निर्माण किया जा सकता है। उन्होंने लोकतांत्रिक आदर्शों एवं मूल्यों के व्यापक प्रचार-प्रसार पर बल दिया एवं उसे केवल राजनीतिक क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं करना चाहते थे, अपितु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिष्ठित करना चाहते थे यहाँ तक कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी लोकतांत्रिक संगठित ढाँचे का समर्थन किया।

8.3.4 राष्ट्रीय स्वतन्त्रता

आचार्य नरेन्द्र देव ने कांग्रेस द्वारा संचालित राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में समाजवादियों को भागीदारी कांग्रेस के अन्तर्गत रहकर ही करने पर जोर दिया। यही कारण था कि कांग्रेस समाजवादीदल उनके नेतृत्व में कांग्रेस के अन्दर रहकर क्रियाशील रहा। उनका स्पष्ट मत था कि स्वतन्त्रता आन्दोलन वर्ग संघर्ष का द्योतक है जिसमें एक वर्ग पूँजीवादी साम्राज्यवादी शोषकों का और दूसरा वर्ग भारत को शोषित मनता था, अतएव आवश्यक था कि राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को अधिक व्यापक बनाया जाय। जो केवल मुठ्ठीभर बुद्धिजीवियों द्वारा ही नहीं वरन् सम्पूर्ण जनसाधारण का आन्दोलन है, उनकी भागीदारी से ही यह अधिक पैना होगा। इसी कारण उन्होंने किसानों तथा मजदूरों के संगठनों के निर्माण और उन्हें कांग्रेस का समर्थन करने के लिए प्रेरित किया क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्यवाद देशी नरेशों, सामन्तों, पूँजीपतियों जमींदारों और नौकरशाही की सहायता से मजबूत बनने के लिए तत्पर था और आमजन के शोषण में संविप्त भी। अत: शोषित जनता को संगठित कर साम्राज्यवादियों के कुत्सित इरादों को ध्वस्त करने में सभी का सहयोग अपेक्षित है।

यद्यपि आचार्य जी गाँधी जी से अत्यधिक प्रभावित थे। किन्तु सदैव अहिंसात्मक तरीकों को ही उचित नहीं मानते थे। श्रमिक संगठनों का निर्माण करना, उनमें क्रान्तिकारी भावना को तीव्र करना तथा उनके द्वारा हड़तालों एवं अमहड़तालों का आह्वान करना आदि तरीकों से वे सहमत दिखायी पड़ते है। इस दृष्टि से उन पर जार्ज सोरेल के 'आम हड़ताल' के श्रम संधवादी सिद्धान्त का स्पष्ट प्रभाव दिखायी पड़ता है। वे आम हड़ताल को भावनात्मक विचारधारात्मक और राजनीतिक दृष्टियों से लाभदायक मानते थे। उनके अनुसार आम हड़ताल को दो परिणाम होंगे, प्रथम तो देश की अर्थव्यवस्था ठप्प हो जायेगी और विदेशी देश छोड़ने को मजबूर हो जायेंगे और दूसरे जनता में अभूतपूर्व एवं प्रचण्ड शक्ति का उदय होगा जो सामाजिक क्रान्ति की भूमिका का कार्य करेगी। (डा० वी०पी० वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, पृ० 533)। इस प्रकार उनकी मान्यता थी कि श्रमिक वर्ग अपने राजनीतिक प्रभाव का प्रयोग करके निम्न मध्यम वर्ग को हड़ताल की क्रान्तिकारी सम्भावनाओं से परिचित कराके उन्हें भी राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम हेतु प्रेरित करते हैं।

आचार्य नरेन्द्र देव ने राष्ट्रीय एकता के लिए राष्ट्रीयता को आवश्यक तत्त्व माना। उनका स्पष्ट मत था कि उग्र राष्ट्रवाद विनाशकारी युद्धों का जनक है, जबकि समाजवादी राष्ट्रवाद मानवीय स्वाधीनता का पोषक है। उनकी सहकारिता में आस्था थी। उनका मानना था कि समाजवाद में एक साथ समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृत्व के सिद्धान्तों की स्वीकृति है, जिसमें केवल राष्ट्रीय मुक्ति पर ही नहीं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर सहयोग, शान्ति और सुरक्षा का पोषण होता है। इस प्रकार उन्होंने समाजवाद को राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन से जोड़कर मानव मात्र की स्वतन्त्रता की प्रेरणा प्रदान की।

8.3.5 कृषक आन्दोलन एवं समाजवाद

नरेन्द्र देव भारत में कृषकों की दीन-हीन दशा से अत्यधिक प्रभावित थे। वे कृषकों एवं खेतिहर

जदूरों पुनर्निर्माण एवं उनको आर्थिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए किसान सभाओं के संगठित ए जाने के पक्षधर थे। उनका आग्रह था कि सभी प्रकार के किसानों की शक्तियों को एक जुट या जाये। ग्राम विकास के लिए साक्षरता अभियान का उन्होंने समर्थन किया। उनका मानना था क कृषकों में जन-जागरूकता लाने के लिए शिक्षा एक आवश्यक साधन है। उनका मानना था क भारत में इन किसानों एवं खेतिहर मजदूरों की समस्यायें अत्यन्त विकराल है क्योंकि इनका हरा शोषण हो रहा है एक तरफ ये जमींदारों एवं सामान्तों के आतंक एवं शोषण के शिकार है । दूसरी तरफ साम्राज्यवादी परम्पराओं एवं किसान विरोधी नीतियों से ये भारी दुर्दशा के शिकार । इस भयंकर गरीबी एवं शोषण से मुक्ति के लिए एक क्रान्तिकारी योजना की आवश्यकता है। स्टालिन के इन विचारों पूर्णत: सहमत दिखते हैं कि किसानों के विशाल समुदाय को माजवादी विचारधाराओं से द्वन्द्वप्राणित करना आवश्यक है। बहुसंक्लप किसानों को देश के माजवादी पुनर्निर्माण की योजना से सम्बद्ध करने के लिए सहकारी समितियों को संगठित करना ौर उन्हें सुदृढ़ बनाना आवश्यक है। उनकी प्रस्तावित कृषक पुनर्निमाण की योजना के तहत पूर्व ाणों को समाप्त कर सस्ते दर पर नये ऋण देना, भूमि व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने के लए कृषकों एवं राज्य के बीच के बिचौलियों का उन्मूलन, ऐसी सरकारी नीतियों पर बल जिससे हात एवं नगरों के बीच हानिकर संघर्ष न पैदा हो जाए तथा गाँवों में सहकारी व्यवस्था कायम करके लोकतांत्रिक ग्राम सरकार की स्थापना की जाय। किन्तु नरेन्द्र देव राष्ट्रीय समस्याओं को किसानों के वर्गगत दृष्टिकोण से देखने के लिए तैयार न थे। उन्होंने समाजवादियों को कृषकवाद क खतरों से आग्राह किया कि इस दृष्टिकोण की सबसे बड़ी कमी वह है कि इसके अन्तर्गत हर समस्या को एक संकीण और तंगदीली कृषक वर्ग के हितों से जोड़कर देखा जाता है। यह मान्यता इस आदर्श से उद्भूत होती है कि हमारी राज्य व्यवस्था की तरह यहाँ का आर्थिक विकास करने पर भी कृषक जीवन के रंगों से पूरित होगा। इन लोगों का विश्वास एक ऐसे 'कृषक जनतन्त्र' में केन्द्रीत है जो किसानों के स्वामित्व की जनतांत्रिक व्यवस्था होगी। वास्तव में यह देखा जाय तो यह विचारधारा उस मध्यम वर्ग की विचारधारा है जो कि 'पैटी बुर्जुआ' अर्थशास्त्र की मान्यता को आधार मानता है तथा आधुनिक विचारों से प्रभावित बना रहता है। उनके अनुसार यह विचारधारा मध्यम कृषक वर्ग की विचारधारा है, अत: हमें अपनी योजना में भूमिहीन कृषकों को भी दृष्टिगत रखना होगा तभी लोकतांत्रिक ग्राम सरकार की स्थापना होगी।

8.3.6 गाँधीवाद एवं आचार्य नरेन्द्र देव

आचार्य नरेन्द्र देव गाँधी से प्रभावित होते हुए भी उनके वर्ग सहयोग की अवधारणा को स्वीकार नहीं करते। वे राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन में गाँधी एवं कांग्रेस के नेतृत्व के अन्तर्गत समाजवादी आन्दोलन के चलाये जाने पर बल देते हैं। नरेन्द्र देव पूँजीपति वर्ग तथा सर्वहारा के अतिरिक्त मध्यम वर्ग, संक्रमण वर्ग एवं मिश्रित वर्ग की उपस्थिति भी मानते थे। उन्होंने स्पष्ट तौर पर कहा कि देश में समाज के विभिन्न वर्गों के बीच जिम्मेदारी की प्रक्रिया अधिकाधिक द्रुतगति से कार्य कर रही है, नये वर्गों का निर्माण हो रहा है और दो बहुसंख्यक जनसमुदाय से अलग हो रहे हैं। हमारा कर्त्तव्य है कि उस एकता के लिए जिसका कोई आधार नहीं है, विलाप करना छोड़ दें और उन तरीकों को दृढ़ निकाले जिनको राष्ट्रीय संघर्ष, जो प्रधानत: तब तक मध्यवर्ग का आन्दोलन रहा है, अधिक तीव्र बनाया जा सके। (नरेन्द्र देव, सोशलिज्म एवं नेशनल रिशेल्युशन, पृ० 6-7)। इस प्रकार नरेन्द्र देव ने भारत की सामाजिक आर्थिक समस्याओं को वर्ग संघर्ष के दृष्टिकोण से हल करने पर बल दिया।

नरेन्द्र देव नैतिक समाजवादी थे। उन्हें नैतिक मूल्यों की प्राथमिकता में विश्वास था। वे समाजवाद को एक सांस्कृतिक आन्दोलन भी मानते थे, इसीलिए उन्होंने समाजवाद के मानववादी आधार पर बल दिया। उन्होंने हिन्दू तथा बौद्ध चिन्तन का गम्भीर अध्ययन किया था, जिसके फलस्वरूप

मूल्यों की प्रक्रिया में उनकी आस्था गहरी हो गयी थी। उन्होंने सत्य की व्यवहारवादी कसौटी को स्वीकार करने से स्पष्टत: इन्कार कर दिया था। उनकी दृष्टि में सत्य प्राथमिक और बुनियादी चीज थी किन्तु इसके बावजूद वे गाँधीजी के अहिंसा सिद्धान्त को समग्र रूप में मानने को कदापि तैयार न थे।

8.3.7 साम्प्रदायिक एकता एवं सौहार्द्र : धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद

नरेन्द्र देव जी धर्म एवं राजनीति में मेल के घोर विरोधी थे। वे भारतीय धर्म को सनातन उदार एवं विशाल धर्म मानते थे। साथ ही, वे सभी धर्मों को सम्प्रदाय विशेष भी मानते थे। उनका कहना था कि सम्प्रदाय विशेष धर्म में उदारता के साथ एक प्रकार की संकीर्णता भी हैं। अपने सम्प्रदाय को ही श्रेष्ठ एवं स्मर्थ तथा मोक्ष का एक भाग अधिकारी समझना उचित नहीं है। अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति का एक ही मार्ग मानना उनके प्रवर्तक शास्त्र और पैगम्बर आदि ने बताया, अपने आप को कुंठित करना है। साम्प्रदायिक संकुचितता पर बल देना है, जबकि भारतीय धर्म उनसे भिन्न है इसका न तो कोई आदि प्रवर्तन है न केवल ऐसे अनुष्ठान या कृत्य विशेष है जिनके हम लक्षण बता सकें। इसका अपना कोई एकमात्र पवित्र ग्रन्थ भी नहीं है, अपितु यह सनातन एवं उदार है किसी सम्प्रदाय से इसका टकराव नहीं वरन् सभी के प्रति साहिष्णुता है। यद्यपि वे उसे सनातन धर्म के नाम से नहीं पुकारना चाहते थे क्योंकि सनातन धर्म भी तो एक सम्प्रदाय विशेष के रूप में प्रयुक्त होता है। इसीलिए वे इसे भारतीय धर्म के नाम से पुकारते है। उनका मानना है कि भारत की अधिकांश जनसंख्या इसी धर्म को मानती है। इसमें विशालता एवं उदारता है क्योंकि जहाँ अन्य सम्प्रदाय चरम लक्ष्य की प्राप्ति उस सम्प्रदाय विशेष के आदर्शों के आधार पर स्वीकार करते है और अन्य मतों को हेय समझते हैं जबकि भारतीय धर्म में यह विश्वास व्यक्त किया गया है कि अपने-अपने धर्म में रहकर स्पष्ट लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। स्पष्ट है कि यह दृष्टिकोण साम्प्रदायिक नहीं है। इसीलिए उन्होंने कहा कि शान्ति रक्षा के लिए तथा युद्ध रोकने के लिए भारतीय धर्म की महत्ता है। इससे राष्ट्र-राष्ट्र के बीच् सौहार्द्र और सहयोग स्थापित करने में सहायता मिलेगी। इस उदान्त भाव की आज विशेष आवश्यकता है।

आचार्य जी ने राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के दौरान साम्प्रदायिक समस्या के समाधान के लिए अलग पाकिस्तान राष्ट्र के निर्माण की माँग का विरोध किया। परन्तु जब विभाजन हो ही गया तो इसे उन्होंने साम्प्रदायिक समस्या का समाधान नहीं स्वीकार किया। अपितु इसको उन्होंने साम्प्रदायिक घृणा, भय एवं सन्देह के सिद्धान्तों का जाल बताया और आगाह किया कि यदि इस धारणा का विकास होता रहा तो वयुता की अवस्था में पहुँचने में मनुष्य को तनिक देरी न लगेगी। नरेन्द्र देव ने धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवाद में विश्वास अभिव्यक्त किया और कहा कि समाज के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन परिवर्तनशील है और साथ ही इसके सांस्कृतिक मूल्य भी बदलते रहते हैं। प्राचीन काल में जब समाज धर्म आत्लावित था तब भी संस्कृति के निर्माण में उसका हाथ था, किन्तु धर्म के अतिरिक्त अनेक अन्य कारण भी सांस्कृतिक परिवेश का निर्माण करते हैं। यद्यपि कि आज धर्म एवं मजहब का प्रभाव कम हुआ है। इसका स्थान राष्ट्रीयता आदि ले रहा है जिसकी भावना मजहब या सम्प्रदाय विशेष से निश्चय ही ऊपर है। यदि ऐसा न होता तो देश में रहने वाले विविध धर्मों के अनुनायी उसे कैसे अपनाते। अतएव उन्होंने एक संगठित राष्ट्रीय राज्य के लिए प्रतिबद्धता प्रकट की, किन्तु आगाह भी किया कि मात्र सेना और नौकरशाही के सहयोग पर आधारित राज्य फासीवाद की राह पकड़ लेंगे। वास्तविक राष्ट्रीय राज्य का आधार सामाजिक सौहार्द्र, भ्रातृत्व परस्पर प्रेम और सदिच्छा होनी चाहिए। उन्होंने स्पष्ट किया कि भारत जैसे विशाल राजय में अनेक जातियाँ, धर्म एवं सम्प्रदाय तथा संस्कृतियाँ है, अतएव हिन्दू या मुस्लिम सम्प्रदाय के आधार पर राष्ट्रीय राज्य की स्थापना संभव नहीं है। साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता एवं भाषावाद तथा आर्थिक दृष्टि से वर्ग भेद को मिटाकर ही स्वस्थ समाज की स्थापना संभव है।

8.3.8 अन्तर्राष्ट्रीयतावाद एवं आचार्य नरेन्द्र देव

सामान्यतया उग्र राष्ट्रवाद को अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के मार्ग का रोडा माना जाता है। नरेन्द्र देव पर प्रारम्भिक दौर में तिलक तथा अरविन्द के अतिवादी राष्ट्रवाद का स्पष्ट प्रभाव रहा, किन्तु आगे चलकर उन्होंने एक संगठित राष्ट्रीय राज्य के लिए प्रतिबद्धता जतायी उन्होंने आगाह किया कि यदि हमने उग्र राष्ट्रवाद का परिपोषण किया तो प्रभुता की अवस्था में पहुँचने में मनुष्य को तनिक भी देर न लगेगी, मात्र सेना एवं नौकरशाही के सहयोग पर आधारित राज्य मुसोलीनी एवं हिटलर के फासीवादी राज्य की नकल बनकर रह जायेगा, वही हिन्दू राज्य की संकल्पना पर आधारित राज्य से पुरातनपंथी प्रतिक्रियावाद की उत्पत्ति होने की आशंका व्यक्त की। उनके वास्तविक राष्ट्रीय राज्य की तो उदार राष्ट्रीयतावाद की थी जिसमें सामाजिक सौहार्द्र भ्रातृत्व एवं परस्पर प्रेम का संचारण होगा। इस दृष्टि से वे मैजीनी की राष्ट्रवादी अवधारणा से प्रभावित थे। उन्होंने संकुचित राष्ट्रवाद के प्रति सतर्क रहने की सलाह दी। दूसरी तरफ उनके समाजवादी विचारों का मानवतावादी दृष्टिकोण भी उन्हें संकुचित राष्ट्रवाद से अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की दियाा में ले जाता है।

आचार्य नरेन्द्र देव राष्ट्रों के मध्य शान्ति, पारस्परिक सहयोग, सद्भावना तथा सुरक्षा पर बल देते थे। वे युद्ध को अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान नहीं मानते थे, वरन् युद्धों को वे अवैध घोषित करने की वकालत करते हैं। उन्होंने संयुक्त राष्ट्रसंघ के विश्वशान्ति के लिए उपयोगी माना, किन्तु उन्हें इस बात की आशंका थी कि नव साम्राज्यवादी शक्तियों का उदय अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों को जन्म दे सकता है और विश्वशान्ति के लिए एक बड़ा खतरा है। इस कारण उन्होंने अमेरिकी नव साम्राज्यवाद और रूसी साम्यवादी नीतियाँ–दोनों को ही प्रजातंत्र के स्वस्थ विकास एवं प्रसार के लिए घातक मानते थे। वे भारत के तटस्थता एवं गुट निरपेक्षता की नीति से सहमत थे, परन्तु भारत को राष्ट्रमण्डल की सदस्यता ग्रहण करने के प्रश्न को बुद्धिमानी नहीं माना। उनका कहना था कि भारत ब्रिटेन के साथ दिपक्षीय आधार पर आर्थिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक आदि समझौते तो कर सकता है परन्तु उसके किसी परिवार में सम्मिलित होना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि ब्रिटेन की नीतियाँ पूंजीवादी एवं साम्राज्यवादी हैं। उनका स्पष्ट मत था कि भारत की समस्यायें आज शुद्ध राष्ट्रीय न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय रूप ग्रहण कर चुकी है। अतएव भारत को अन्य राष्ट्रों के साथ मिलकर समानता के आधार पर ही इन चुनौतियों का सामना किया जा सकता है तभी हम अपने राष्ट्र में और विश्व में स्थायी शान्ति और सुरक्षा की स्थापना की आशा कर सकते हैं। उनकी राष्ट्रवाद की संकल्पना अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सहयोग की दिशा में बाधा नहीं अपितु परस्पर सौहार्द्र एवं सदिच्छा का समावेश करती है और एक ऐसे वैश्विक समाज की ओर में ले जाती है जिसका आधार मानवतावाद होगा।

8.4 मूल्यांकन

आचार्य नरेन्द्र देव का आधुनिक भारतीय समाजवादी चिन्तन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने अपने चिन्तन एवं वर्ग से पल्लवित, पुष्पित एवं कार्यान्वित करने का प्रयास किया। अपनी महत्त्वपूर्ण कृति 'सोशलिज्म एवं नेशनल रिवोल्पुशन' के माध्यम से समाजवादी विचारों एवं राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के आधार के विस्तार हेतु ऐसे अकारण तर्क प्रस्तुत किये जो भारतीय राजनीतिक चिन्तन के विकास एवं उसके विस्तर पर अमिट छाप छोड़ गये। यद्यपि उनके लेखन के सन्दर्भ में अनेक आलोचकों का यह एकतरफा आरोप है कि उनके विचार मौलिक एवं व्यापक नहीं हैं, फिर भी उन्होंने भारतीय मुक्ति संघर्ष के आधार को विस्तार प्रदान किया। सामूहिक क्रिया को आन्दोलित करने के लिए उन्होंने एक आर्थिक विचारधारा की आवश्यकता पर बल दिया, जो

इतिहास के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है। इस दृष्टि से वे मार्क्स के भौतिकतावाद से भी प्रभावित थे परन्तु वे मार्क्स को एक मानवतावादी बनाकर ही ग्रहण करना चाहते थे। यही कारण है कि वी०पी० वर्मा ने उन्हें 'एक नैतिक समाजवादी' के रूप देखा। उनके शब्दों में "उन्हें नैतिक मूल्यों की प्राथमिकता में विश्वास था। वे समाजवाद को एक सांस्कृतिक आन्दोलन भी मानते थे, इसीलिए उन्होंने समाजवाद के मानववादी आधार पर बल दिया।"

डा० आर०ए० प्रसाद उन्हें जहाँ 'मानवतावादी समाजवादी' कहते हैं वहीं डा०वी०पी० वर्मा उन्हें 'नैतिकवाद' की संज्ञा देते हैं। डा० वर्मा यह भी लिखते है कि उनकी रचनाएं बहुत मौलिक तथा गम्भीर नहीं है, किन्तु ये ओजपूर्ण तथा प्रसाद गुण सम्पन्न हैं।' परन्तु यह प्रश्न तो आज समाज विज्ञान के क्षेत्र में स्थापित लगभग सभी विचारकों पर लागू होता है कि समाज विज्ञान का कोई भी विचारक अपने विचारों में पूर्ण मौलिकता का दावा कर सकता है? पहले तो समाज विज्ञान का विषय क्षेत्र ही अनिश्चित है क्योंकि इसका विषय वस्तु मानव स्वयं अनिश्चिताओं का पुंज है। अतएव इससे एक भौतिकवादी वैज्ञानिक एवं तथ्यपूर्ण परिणाम की अपेक्षा रखना बालू से तेल निकालने के समान सत्य की परिकल्पना करना है। तो फिर अकेले आचार्य नरेन्द्र देव के विचारों की मौलिकता पर प्रश्नचिह्न खड़ा करना एक निरर्थक प्रलाय ही है।

वस्तुतः नरेन्द्र देव जी की रचनाओं का व्यावहारिक उद्देश्य है क्योंकि उन्होंने जो लिखा था उसके मूल में समाजवादी आन्दोलन को बल प्रदान करने का स्पष्ट मन्तव्य निहित था। यह भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि आचार्य जी का मार्क्सवादी आग्रह अपने जीवन की अन्तिम समय तक अविचल बना रहा, वे मार्क्सवादी आग्रह के अन्य उपासक एवं अटल उपदेशक बने रहे। अन्यथा हमारे समक्ष एम०एन० राय, मीनू मसानी अन्यूत पटवर्धन जैसे विद्वानों के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं जिन्होंने शुरूआत तो कट्टर मार्क्सवादी के रूप में किया और अन्त उसकी मान्यताओं में संशोधन या समाजवादी दल के परित्याग अथवा राजनीति से ही सन्यास ग्रहण करके किया। आचार्य नरेन्द्र देव जी अन्त तक अपने विचारों में अटल एवं भारत में समाजवाद के ध्वज की ऊँचा रखे रहे। उन्हें समाजवादी आन्दोलन का मेरूदण्ड कहना समीचीन होगा।

8.5 सारांश

आचार्य नरेन्द्र देव एक उच्चकोटि के शिक्षाशास्त्री, आधुनिक भारतीय समाजवादी चिन्तन के अप्रतिम पुरोधा, मानवता के पुजारी तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से परस्पर शान्ति सहयोग एवं समानता के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने अपने चिन्तन और कर्म से इसे पल्लवित, पुष्पित एवं कार्यान्वित करने का प्रयास किया। उन्होंने धार्मिक संकुचितता एवं साम्प्रदायिकता का विरोध किया और मानव धर्म के पालन का सन्देश दिया। समाजवाद को भारतीय परिप्रेक्ष्य में समझा और उसका विश्लेषण प्रस्तुत किया। साथ ही किसान आन्दोलनों को गति प्रदान किया। वे भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के महान सेनानी एवं अग्रगण्य नेता थे। उन्होंने तिलक की भाँति विद्वता एवं राजनीति, गाँधी के परम्परायें नेता के चरित्र और राजनीति को परस्पर पूरक बताया। वे मार्क्स लेनिन और गाँधी की उस परम्परा के उत्तराधिकारी थे जो यह मानती थी कि चिन्तन और विचार के बिना राजनीति अंधी है।

आचार्य नरेन्द्र देव के विचार मार्क्सवाद से प्रभावित थे, भले ही इस रूप में हम यह कह सकते हैं कि वे मौलिक न थे उन्होंने समाजवादी चिन्तन को विकसित करने में अपने देश के परिवेश एवं व्यावहारिक परिस्थितियों पर विशेष बल दिया। उन्होंने मार्क्स के वर्ग-सिद्धान्त को स्वीकार किया तथापि लेनिन की इस मान्यता से असहमत थे कि सशस्त्र दल द्वारा शक्ति पर अधिकार कर लिया जाना चाहिए।

नरेन्द्र देव अपने चिन्तन से भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को व्यापक वैचारिक आधार दिया। उन्होंने समाजवादी आन्दोलन को भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ जोड़ा और इस बात पर बल दिया कि इस आन्दोलन के समाजवादी शक्तियों को अलग नहीं किया जाना चाहिए बल्कि राष्ट्रीय आन्दोलन के आधार को व्यापक बनाया जाना चाहिए एवं इसमें किसानों, मजदूरों, निम्न मध्यम श्रेणी के नवयुवकों की आर्थिक माँगों को राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ जोड़ा जाना चाहिए। नरेन्द्र देव ने राष्ट्रीयता और समाजवाद में स्पष्ट सम्बन्ध स्थापित किया तथा दोनों के समन्वय पर जोर दिया।

आचार्य नरेन्द्र देव ने समाजवाद के मानवतावादी आधारों पर जोर दियां। वे फ्रांस में हरिंग के इस मत से सहमत थे कि मार्क्स आधुनिक युग का प्रोमिथिपुस था, मानववादी उत्साह से अनुप्रेरित था एवं शोषित तथा संतप्त मानवता की मुक्ति के लिए हर संकट सहन करने को उद्यत था। नरेन्द्र देव का मानना था कि मानवतावादी की प्रतिबद्धताओं ने मार्क्सवाद को एक गतिशील क्रान्तिकारी दर्शन बना दिया एवं करोड़ों लोगों में आशा की ज्योति जगायी। आचार्य जी ने कहा कि मार्क्सवाद के क्रियान्वयन द्वारा ही नवीन समाज का निर्माण संभव है। फिर भी उन्होंने मानवीय मूल्यों की स्थापना में नैतिक मूल्यों को अवहेलना नहीं की, यह निष्कर्ष उनके राजनीतिक विचारों के अलावा शिक्षा, धर्म, धर्मनिरपेक्षता आदि विचारों से संबंधित करके स्पष्ट रूप से निंकाला जा सकता है।

8.6 उपयोगी पुस्तकें

1. आर०के० प्रसाद, सोशलिस्ट थॉट इन माडर्न इण्डिया, मेरठ, 1974।
2. रघुकुल तिलक, आचार्य नरेन्द्र देव—ऐज आई न्यू हिम : विजिलस 57, बम्बई।
3. सी०बी० त्रिपाठी, रिमिनेन्सेज ऑफ आचार्य नरेन्द्र देव : जनता, लेख 1957, बम्बई।
4. नरेन्द्र देव : सोशलिज्य एण्ड नेशनल रिवोल्यूशन, बम्बई, 1946।
5. नरेन्द्र देव : राष्ट्रीयता और समाजवाद, बनारस, 2006।
6. डा० वी०पी० वर्मा : आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, पटना, 1987।
7. डा० मुकुट बिहारी लाल, नरेन्द्र देव
8. डा० प्रभाकर माचवे एवं एस० एन० दफ्तनार : आधुनिक भारत के विचारक, विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1978।
9. थॉमस पैन्थम एवं के०एल० उापच, माडर्न इण्डियन पोलिटिकल थॉट, सेज पब्लिकेशन्स दिल्ली, 1956।

8.7 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. आचार्य नरेन्द्र देव के राजनैतिक विचारों की विवेचना कीजिए।
2. 'आचार्य नरेन्द्र देव के समाजवाद का आधार जनतन्त्र और मानवतावाद है।' इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. नरेन्द्र देव जी के मार्क्सवाद संबंधी विचारों को समझाएँ।
2. भारत में समाजवादी आन्दोलन के महत्त्व पर प्रकाश डाले।
3. 'साम्प्रदायिकता एवं सौहार्द्र' पर नरेन्द्र देव के विचार लिखें।
4. 'अर्न्तराष्ट्रीयतावाद' पर आचार्य नरेन्द्र देव के विचार दीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. भारत में समाजवादी चिन्तन का विकास माना जाता है—

   (अ) बीसवीं शती में (ब) उन्नीसवीं शती में

   (स) अठ्ठरहवीं शती में (द) इनमें से किसी में नहीं

2. 1893 में श्री अरविन्द ने 'नई रोशनी, पुराने के लिए' शीर्षक के सात लेख प्रकाशित हुए थे—

   (अ) केसरी में (ब) मराठा में

   (स) इन्द्र प्रकाश में (द) सावित्री में

3. कांग्रेस समाज़वादी दल का प्रथम अधिवेशन निम्न में कहाँ हुआ था?

   (अ) बम्बई में (ब) कलकत्ता में

   (स) लाहौर में (द) पटना में

4. निम्न में कौन जोड़ा उपर्युक्त नहीं है—

   (अ) सोशलिज्म एवं नेशनल रिवोल्युशन-नरेन्द्र देव

   (ब) व्हाई सोशलिज्म-लोहिया

   (स) इण्डिया इन ट्रांजीशन-एम०एन० राय

   (द) द इण्डियन स्ट्रगल-सुभाष चन्द्र बोस

5. नरेन्द्र देव आमहड़ताल सम्बन्धी अपने विचारों में निम्न में किस विचारक से प्रभावित थे?

   (अ) जार्ज सोरोल (ब) नील्से

   (स) काटस्की (द) राल्स

8.8 प्रश्नोत्तर

1. (अ) 2. (स) 3. (द) 4. (ब) 5. (अ)

ाई 9 : डा० राम मनोहर लोहिया

रेखा

उद्देश्य

प्रस्तावना

डा० लोहिया का व्यक्तित्व एवं चिन्तन : एक परिचय

डा० राम मनोहर लोहिया के सामाजिक एवं राजनीतिक विचार

9.3.1 लोहिया का इतिहास का सिद्धान्त

9.3.2 पूँजीवाद एवं समाजवाद

9.3.3 लोहिया के समाजवाद की अवधारणा : सप्त क्रान्ति एवं एशियन समाजवाद की अवधारणा

9.3.4 राज्य व्यवस्था सम्बन्धी विचार

9.3.5 लोहिया की राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता सम्बन्धी विचार

9.3.6 अवसर वादित एवं क्रान्ति

9.3.7 लोहिया का नया समाजवाद

9.3.8 भारतीय संस्कृति और लोहिया

9.3.9 विश्व संसद के समर्थक

मूल्यांकन

सारांश

उपयोगी पुस्तकें

सम्बन्धित प्रश्न

प्रश्नोत्तर

0 उद्देश्य

इकाई में समाजवादी चिन्तक डा० राम मनोहर लोहिया के विचारों से आपको परिचित कराना अतएव इसके अध्ययन के उपरान्त आप :

- डा० लोहिया के व्यक्तित्व एवं चिन्तन पर टिप्पणी कर सकेंगे।
- इतिहास के अन्य सिद्धान्तों के सन्दर्भ में उनके इतिहास चक्र के सिद्धान्त, पूँजीवाद और साम्यवाद सम्बन्धी उनके विचारों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- एशियाई समाजवाद सम्बन्धी लोहिया की अवधारणा की विवेचना कर सकेंगे।
- राज्य व्यवस्था एवं विकेन्द्रीकरण सम्बन्धी उनके विचारों की विवेचना कर सकेंगे।
- लोहिया के राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता विषयक विचारों की विवेचना कर सकेंगे।
- उनके कार्यक्रम एवं सिद्धान्तों का उल्लेख कर सकेंगे।
- नवीन समाजवाद सम्बन्धी उनकी अवधारणा की विवचेना कर सकेंगे।
- भारतीय संस्कृति सम्बन्धी उनके विचार की विवेचना कर सकेंगे।
- विश्व संसद पर उनके विचारों का उल्लेख कर सकेंगे।
- लोहिया के विचारों का मूल्यांकन कर सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

डा० राम मनोहर लोहिया भारतीय राजनीतिक चिन्तन के एक प्रमुख राजनेता एवं समाजवादी आन्दोलन के सम्भवत: सर्वाधिक मौलिक चिन्तक थे। परन्तु विडम्बना इस बात की है। कि ऐसे प्रखर विद्वान एवं चिन्तक के विषय में आप में से अधिकांश ने अन्य चिन्तकों के मुकाबले कम जानकारी रखते हैं। ऐसा संभवत: उनके सत्ता के चकाचौंध से दूर रहने एवं स्वभावत: स्थापित राजनेताओं के विचारों से विद्रोहात्मक वैभिन्यता रखने एवं मौलिक सोच के कारण हुआ हो। एक ओर वे मार्क्स से प्रभावित थे परन्तु भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप ही भारत में समाजवाद लाना चाहते थे न कि सर्वहारा अधिनायकत्व द्वारा। वे सच्चे गाँधीवादी थे और गाँधीवाद को समाजवादी चिन्तन में प्रमुखता भी देने की सलाह देते हैं परन्तु उनके सत्य एवं अहिंसा संबंधी विचारों को स्वप्निल दृष्टि ही समझते थे। परन्तु सत्याग्रह का इनका व्यावहारिक एवं मौलिक देन देश के स्वाधीनता संग्राम में उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की परन्तु कांग्रेस एवं साम्यवादियों से समान दूरी बनाये रखने पर ही विशेष बल दिया। उन्होंने इतिहास की नवीन व्याख्या की और राज्य के व्यवस्था संबंधी अपनी अवधारणा को चौखाम्भा सिद्धान्त पर आधारित कर एक विकेन्द्रित व्यवस्था की वकालत की। भारतीय समाजवाद पर यूरोपीय अथवा पश्चिमी प्रभावों को अस्वीकार कर एशियायी समाजवाद की अवधारणा प्रस्तुत किया। भारत में समाजवाद की स्थापना की दृष्टि से उन्होंने अपने सप्तक्रान्ति संबंधी विचारों पर बल दिया और नवीन समाजवाद की अपनी अवधारणा में उन्होंने जनता के बीच की दूरी दूर करने और उनके विश्वास जीतने के कार्यक्रम एवं सिद्धान्त प्रस्तुत किये।

9.2 डा० राममनोहर लोहिया का व्यक्तित्व एवं चिन्तन : एक परिचय

डा० राम मनोहर लोहिया का जन्म 1910 में हुआ था। वे स्वतन्त्रता संग्राम आन्दोलन के संग्रदूत और भारत में समाजवादी आन्दोलन के पथ-प्रदर्शक थे। उन्हें समाजवादी विचारों के उग्र एवं धुरन्धर प्रचारकों में रखा जाता है जो साम्यवाद से प्रभावित होते हुए भी सोवियत रूस का पिछलग्गू राष्ट्र बनने को कतई तैयार न थे। वे गाँधीवादी समाजवाद के समर्थक थे और गाँधीवाद को समाजवादी चिन्तन में प्रमुखता देने का प्रयास भी किया। वे प्रारम्भ में कांग्रेस पार्टी से जुड़े रहे। 1952 में कांग्रेस समाजवादी दल के अध्यक्ष रहे और उन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप 1953 में एशियाई समाजवादी सम्मेलन का आयोजन किया। इसी वर्ष डा० लोहिया ने इम्बीडिस्टैण्ट थ्योरी (Equidistant Theory) नामक पुस्तक की रचना की और समाजवादियों को कांग्रेस तथा साम्यवादियों से समान दूरी बनाये रखने पर बल दिया एवं कांग्रेस दल से अलग होकर 1955 में भारतीय सोशलिस्ट पार्टी का गठन किया। कुछ समय बाद दोनों दलों प्रजा सोशलिस्ट एवं भारतीय सोशलिस्ट पार्टी मिलकर संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के रूप में संगठित हुए और वे उसके अध्यक्ष बने। उन्हें नेहरू की गुट निरपेक्षता की नीति पसन्द नहीं थी अतएव उन्होंने भारतीय विदेश नीति की कटु आलोचना की। उनका स्पष्ट मत था कि भारत को सच्चे मित्रों की खोज करनी चाहिए। 1967 में उन्होंने कांग्रेस के विकल्प के रूप में मिली-जुली सरकारों के निर्माण का विचार दिया जिसके परिणामस्वरूप कई राज्यों में साझा सरकारें अस्तित्व में आयी। लोहिया हिन्दी के पक्के समर्थक थे और हिन्दी को अंग्रेजी का स्थान दिलाने हेतु व्यग्र थे। उनका यह तर्क था कि जब तक भारत में प्रशासन चलाने वाले अंग्रेजी भाषा का इस्तेमाल करते रहेंगे, तब एक वास्तविक प्रजातंत्र की स्थापना संभव नहीं होगी। 1967 में उनका देहावसान हुआ।

लोहिया का राजनीतिक चिन्तन व्यापक विषयों से जुड़े प्रश्नों का हल खोजने का एक उत्कट प्रयास था जिसमें अन्य स्थापित विचारधाराओं का सांगोपांग विश्लेषण के बाद ही वे उसकी स्वीकार्यता अथवा अस्वीकार्यता पर बल देते थे। उनके अनुसार कोई विचारधारा समग्ररूप स्वीकार्य नहीं हो सकती क्योंकि उसमें वैचारिक द्विधात्मकता या विरोध बना रहता है। संभवत:

हो कारण है कि अनेक पुस्तकें लिखने के बाद भी किसी पुस्तक को पूर्ण करने में उनकी रुचि थी। आजीवन एक दृसन्तुष्ट खोजी विचारक की भाँति निरन्तर ऐसे सत्य की खोज करने रहे जससे एक सम्पूर्ण विचारधारा जिससे समतायुक्त शोषण विहीन समाज की स्थापना संभव हो। स दृष्टि से ही उनकी रचनाएँ ''इतिहास का चक्र'' (1955), ''मार्क्स, गाँधी एवं समाजवाद 1963)'', ''जाति प्रणाली'' (1973), 'राजनीति में अन्तराल' (1965) एवं 'हिमालयन लण्डर' आदि प्रमुख है।

.3 डा० राम मनोहर लोहिया के सामाजिक एवं राजनीतिक विचार

ा० लोहिया एक राजनीतिक ही नहीं अपितु इतिहासकार, समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री, दार्शनिक वं महान लेखक थे। जीवन का संभवत: ऐसा कोई ही पहलू रहा हो जिस पर उनकी लेखनी न ली हो। वे एक अच्छे पत्रकार भी थे। अंग्रेजी में मैनकाईण्ड तथा हिन्दी में जन नामक पत्रों का न्होंने सम्पादन किया। वे समाजवादी थे एवं भारतीय संस्कृति से उन्हें अगाध प्रेम था। अपनी माजवादी अवधारणा में वे युरोपीय समाजवाद की सीमाओं के अधिक करीब थे और भारत में नतांत्रिक मूल्यों पर अधिक बल दिया। उनके प्रमुख सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों का नुशीलन इस प्रकार है :

.3.1 डा० लोहिया की इतिहास संबंधी अवधारणा

ा० लोहिया ने इतिहास सम्बन्धी सिद्धान्त की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की। लोहिया मार्क्स के तिहास के सिद्धान्त के आलोचक थे। अपनी पुस्तक 'इतिहास का चक्र' में उन्होंने मार्क्स के सिद्धान्त के विरुद्ध तर्क देते हैं कि मार्क्स का सिद्धान्त योरोपीय इतिहास को ही मानवता का तिहास मानता है। इसके स्थान पर उन्होंने इतिहास के दर्शन का अपना ही वैकल्पिक सिद्धान्त वकसित किया। इस दृष्टि से तीन प्रमुख सिद्धान्तों को इतिहास की गतिशीलता के लिए उत्तरदायी ाना। पहले सिद्धान्त का सम्बन्ध शक्ति एवं समृद्धि में एक दूसरे की तुलना में श्रेष्ठता पाने के लिए वभिन्न समाजों के मध्य स्पर्धा से है। उनका मत था कि इतिहास की गति चक्र के रूप में घूमती ही है और एक सरल रेखा की भाँति आगे नहीं बढ़ती। देशों का उत्थान एवं पतन होता रहता है। सकी चक्रवत गति के कारण एक देश जो उन्नति के शिखर पर है वह पतन के गर्त में गिर सकता है और एक समय ऐसा भी आ सकता है जब पतन के गर्त में गिरा हुआ देश पुन: उन्नति करने लगे। समूचे इतिहास पर दृष्टि डालने पर आप पायेंगे कि शान्ति और समृद्धि का केन्द्र विश्व क एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में बदलता रहता है। लोहिया का यह विचार प्रसिद्ध यूनानी चिन्तक अरस्तू के 'चक्र सिद्धान्त' का स्मरण दिलाता है।

ूसरा सिद्धान्त किसी भी समाज के अन्तरिक सामाजिक गठन पर प्रकाश डालता है। समूह के अन्दर वर्ग जाति का संघर्ष चलता रहता है। प्रत्येक समाज में दो प्रकार के सामाजिक विभाजन बराबर बदलते रहते हैं जिसमें एक प्रकार सामाजिक परिवर्तन एवं गतिशीलता पर बल देते है तो ूसरा प्रकार इसका विरोध करता है। लोगों को उन्नति या अवनति की स्थिति में ले जानेवाला कार है 'वर्ग'। दूसरा है 'जाति' जो व्यक्ति को उसी अवस्था में रखता है, जिसमें वह पैदा होता है। इसलिए हर समाज वर्ग एवं जाति के मध्य घूमता रहता है। लोहिया ने इन शब्दों का प्रयोग चलित अर्थों से भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया। उनके सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु यह है कि 'बाध्य एवं आन्तरिक परिवर्तन साथ-साथ होते रहते हैं। जो समाज विश्व के केन्द्र में है, उसमें वर्गगत वेभाजन अवश्य आता है और जो समाज बाध्य संघर्ष में हार जाता है उसमें जाति प्रणाली पनपने लगती है। क्योंकि समाज में वितरण के लिए पर्याप्त वस्तुएँ नहीं होती। इस प्रकार अन्य समाजों की तुलना में यह समाज शक्ति का केन्द्र नहीं रह जाता। यह केन्द्र बदल कर किसी अन्य राष्ट्र में पहुँच जाता है। इतिहास चक्र इसी प्रकार घूमता रहता है।

रन यह उपस्थित होता है कि क्या इतिहास का चक्र इसी प्रकार घूमता रहेगा? डा० लोहिया ने

पूर्व के दोनों सिद्धान्तों से विलग एक तीसरे सिद्धान्त में स्वीकार किया कि अन्तहीन नहीं है अपितु मानव एकता या 'मानव की निकटता' के लिए कार्य करता है और इतिहास की गति को प्रभावित करता है। मानव इतिहास में हम पाते है कि उसके जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में जैसे, तकनीकी, भाषा, विचार, धर्म संस्कृति आदि ने मानवता को परस्पर निकट लाने का काम किया है। यह सिद्धान्त विभिन्न राष्ट्रों और एक राष्ट्र के भीतर दोनों क्षेत्रों में क्रियाशील रहता है। अभी तक मानवता की यह निकटता वाध्य शक्तियों मानव की स्वतंत्र इच्छा शक्ति के परिणामस्वरूप हुई है। किन्तु लोहिया के अनुसार आज हम ''मानव जाति की सजग निकटता'' के चरण में पहुँच गए हैं, जहाँ मानवता सजग प्रयासों के कारण एक हो सकती है जो कि मानवीय प्रगति का अगला चरण होगा। ऐसा चरण ही इतिहास के चक्र को रोकने में हमें समर्थ बना सकता है।

स्पष्टतत: डा० राम मनोहर लोहिया की ऐतिहासिक धारणा ऐतिहासिक विकास की धारणा से भिन्न थी। डा० लोहिया ने इतिहास के चक्रीय सिद्धान्त के समर्थकों मेसोटोकिन को स्पेंगलर और नार्थोय की तुलना में ऊँचा स्थान दिया है।

9.3.2 पूँजीवाद एवं साम्यवाद

लोहिया ने इतिहास के सिद्धान्तों को समसामाजिक स्थिति में लागू किये जाने हेतु आधुनिक सभ्यता के दो रूपों—पूँजीवाद और साम्यवाद के अपने विश्लेषण में दिया है। पिछली चार शताब्दियों से यूरोप (अमरीका सहित) पूरे विश्व का केन्द्र रहा है। आधुनिक यूरोपीय समाज में उत्पादन के क्षेत्र में क्रान्तिकारी तकनीकी के प्रयोग, रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करने के प्रयास और अधिकाधिक सामाजिक समानता पाने के प्रयास में सफल रहा है। अपनी रचना ''मार्क्सावर अर्थव्यवस्था'' में लोहिया ने पूँजीवादी उत्सर्ग की मार्क्सवादी सिद्धान्त की आलोचना करते हुए इस प्रणाली की ऐतिहासिक भूल को समझाने का प्रयास किया है। इस संबंध में उनका मुख्य तर्क इस विवेचना पर आधारित है कि मार्क्सवाद पूँजीवाद के विकास का वर्णन केवल यूरोपीय समाजों के विकास के सन्दर्भ में करता है। लोहिया का तर्क है कि पूँजीवाद अपने आरम्भ से ही बाहरी साधनों पर निर्भर रहा है। ये बाहरी साधन उसे उपनिवेशों से प्राप्त हुए है। वे मार्क्स के इस विचार से सहमत थे कि पूँजीवाद का आधार पूँजीपतियों द्वारा कर्मचारियों का शोषण रहा है, किन्तु उसने इस तथ्य की अवहेलना की कि ये दोनों ही उपनिवेशों के अधिक शोषण के साझेदार रहे है। इस रूप में पूँजीवाद एवं उपनिवेशवाद दोनों का जनन एक साथ हुआ था। 'पूंजीवाद एवं उपनिवेशवाद'' का जुड़वा जन्म उनके सिद्धान्त का मुख्य विषय है।

इस मान्यता से लोहिया इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि गैर यूरोपीय समाज पूँजीवाद का विकास नहीं कर सकते क्योंकि वे अपने लिए उपनिवेश नहीं पैदा कर सकते है। अतएव भारत जैसे राष्ट्र यूरोप के पूँजीवादी विकास की नकल भी नहीं कर सकते। इस आधार पर उन्होंने गैर यूरोपीय विश्व में पूँजीवाद के पनपने की सम्भावना से इन्कार तो नहीं करते हैं, अपितु यूरोप और अमरीका की प्रणाली के आधार पर उसके विकास पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं। उनका तर्क है कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उपनिवेशों की संख्या में निरन्तर कमी आती जा रही है और इस स्थिति ने पूँजीवादी प्रणाली के अस्तित्व के लिए गम्भीर चुनौती खड़ी कर दी है।

अब प्रश्न उठता है कि पूँजीवाद का विकल्प क्या है? लोहिया की राय में साम्यवाद ही इसका विकल्प हो सकता है। परन्तु साम्यवाद में अर्न्तनिहीत कमियों की ओर भी वे संकेत करते हैं। उनका मानना है कि वस्तुत: दोनों ही आधुनिक सभ्यता के दो चेहरे हैं, दोनों ही भारी पूँजीकरण केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था और वृहत् तकनीक पर निर्भर करते हैं। साम्यवाद तकनीक (टेकवाल जी) को स्वीकार करते हुए भी स्वामित्व के स्वरूप में परिवर्तन चाहता है। अतएव अपने वर्तमान स्वरूप में साम्यवाद एवं पूँजीवाद दोनों ही भारत जैसे गैर पश्चिमी देशों के लिए समान रूप से असंगत है। उनका स्पष्ट मत था कि पूँजीवाद एवं साम्यवाद, दोनों ही आधुनिक सभ्यता के संकट से नहीं बच सकते। उनका मानना था कि यह संकट उभर चुका है क्योंकि तकनीकी का विकास अब अपने चरम पर है अतएव यह सभ्यता अब और अधिक क्रान्तिकारी तकनीक पैदा नहीं कर

ी। परिणामस्वरूप भौगोलिक दृष्टि से यह और अधिक नहीं फैल सकती और शनैःशनैः
ी प्रमुखता विश्व में खोजी जाएगी। आधुनिक सभ्यता के संकट को इन समाजों में आये
क और आत्मिक पतन में भी देखा जा सकता है। वर्तमान में व्यक्ति एक यंत्र का पुर्जा मात्र
र रह गया है। इस कारण लोहिया ने माना कि इतिहास के चक्र के लिये एक और धक्का
प्रशस्त हो गया है। चक्का आ गया है—अन्याय एवं शोषण से मुक्त विश्व के रचना का,
में इन दोनों की विभीषिकाओं का निराकरण हो।

.3 लोहिया के समाजवाद की अवधारणा

या ने समाजवादी समाज का लक्ष्य अन्याय एवं शोषणहीनता मानता है। उनका मानना था कि
ा में विभिन्न प्रकार के अन्याय विद्यमान हैं जिसके मूल में आर्थिक विषमता है। इसलिए
जवादी क्रान्ति का लक्ष्य आर्थिक असमानता को मिटाना है ऐसा अधिकांश समाजवादियों का
ा है। परन्तु लोहिया परम्परागत समाजवादी दृष्टिकोण से असहमत थे और इसे उत्पन्न संकीर्ण
मानते थे। उन्होंने समाजवादी क्रान्ति के लिए सात पहलुओं पर बल दिया, जिसमें हरेक के
स्वतन्त्र क्रान्ति की आवश्यकता पर बल दिया क्योंकि एक की सफलता से स्वतःशेष सभी
लता का मिलना संदिग्ध रहता है। ये 'सप्त क्रान्तियाँ' हैं—

- आर्थिक अन्याय के विरुद्ध क्रान्ति
- जाति प्रथा के विरुद्ध क्रान्ति
- लिंग भेद के विरुद्ध क्रान्ति
- साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रवादी क्रान्ति
- रंगभेद के विरुद्ध क्रान्ति
- समूहबद्धता के विरुद्ध व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की क्रान्ति
- अहिंसक अवज्ञा की कार्यविधि क्रान्ति

ी क्रान्ति के संबंध में लोहिया का मानना था कि गरीबी का खात्मा हो तथा अमीरों एवं
ीनों के बीच की खाई को मिटाकर ही अधिक समानता लाई जाए जिससे अन्याय मुक्त
ज की स्थापना की जाये। अगली दो क्रान्तियों का संबंध सामाजिक विषमता को दूर करने से
जिसके लिए समाज से जाति एवं लिंग भेद का दूर होना आवश्यक है। जैसा कि हमने पूर्व में
ा कि लोहिया के लिए जाति का अर्थ है किसी स्थिर श्रेणीबद्ध व्यवस्था से। इस अर्थ में भारत
ाति कोई अनोखी चीज नहीं है, यद्यपि यह भारत की सर्वाधिक विभत्स प्रथा है। जाति प्रथा
भीषण प्रकार की दुराचक्र है जिसका अर्थ है अनेक लोगों के लिए अवसरों की सीमितता
सके उनकी क्षमता भी सीमित हो जाती है। यह प्रक्रिया किसी भी सभ्यता के प्रबुद्ध जीवन पर
र करती है और उसे नष्ट करती है। यही कारण है कि वे जाति व्यवस्था के कट्टर विरोधी थे
इसे मिटाने के लिए कृत संकल्प भी। साथ ही उन्होंने भारत में नारियों के प्रति अन्याय
के प्रति असमान व्यवहार का खुलकर विरोध किया। उन्होंने स्पष्टतः कहा कि लिंग भेद अन्य
ी प्रकार के अन्यायों का आधार है। यह प्रश्न मात्र नारियों को आर्थिक एवं रोजगार के अवसर
लब्ध कराने तक ही सीमित नहीं है अपितु यह प्रश्न मूलतः हमारी सभ्यता एवं संस्कृति से
ा है, जिसके जड़े हमारी सभ्यता में काफी गहरी जमी हुयी है। नारियों को हीन एवं पुरुषों के
ावले कमजोर मानने तथा घर की चौखट के भीतर रहकर घरेलू कार्यों तक सीमित रहने से
ामाजिक सन्तुलन बिगड़ेगा और समाज असन्तुलित हो जायेगा। उन्होंने स्पष्टतः कहा नारियों में
क्षमता धैर्य एवं परिस्थितियों के अनुरूप ढाल लेने की निर्भरता हमें व्यापक दृष्टिकोण की सोच
हैं। अतएव जाति एवं लिंगभेद को दूर करके उन्हें समान अवसर देने से ही समाज में
वर्तन नहीं आयेगा, भेद नहीं समाप्त होगा अपितु सैकड़ों वर्षों से अन्याय के शिकार लोगों को
छ समय तक अवसरों में प्राथमिकता दे कर कोई व्यक्ति के समान स्तर पर आ सकें तभी नवीन

 समाज का निर्माण संभव होगा।

चौथी क्रान्ति से उनका तात्पर्य था राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति। इसके लिये उन्होंने स्वतन्त्र संघर्ष पर बल दिया। उनका कहना था कि भारत तथा तीसरी दुनिया के अनेक देशों में क्रान्ति लाने के लिए आवश्यक है कि साम्राज्यवाद का विरोध किया जाये। यद्यपि कि अनेक देशों में यह क्रान्ति पहले हो गई है, किन्तु आर्थिक साम्राज्यवाद सक्रिय है तथा उसके विरुद्ध संघर्ष आवश्यक है। लोहिया ने पाँचवी क्रान्ति के द्वारा रंगभेद के मिटाये जाने पर भी बल दिया। उनका मानना था कि श्वेत-अश्वेत की रंग भेदी अवधारणा अन्याय पर आधारित है अतएव इसे मिटाये बिना सामाजिक राजनीतिक समानता की कल्पना करना दिवास्वप्न होगा। उनका मत था कि यह एक सौन्दर्य बोध सम्बन्धी क्रान्ति भी है क्योंकि रंगभेद सौन्दर्य के समसामयिक मानदंडो में अश्वेत लोगों के विरुद्ध पूर्णतया पूर्णग्रह पैदा करता है जिसे मिटाना आवश्यक है।

छठीं क्रान्ति का लक्ष्य प्रत्येक व्यक्ति को अपने कुछ क्षेत्रों में गोपनीयता पाने का अधिकार है। राज्य, समाज या अन्य कोई समूह इन क्षेत्रों का उल्लंघन नहीं कर सकते। लोहिया के उपर्युक्त विचार जे०एस० मिल आदि जैसे उदारवादियों की भाँति व्यक्ति को समूहों की निरंकुशता में अपनी अलग पहचान बनाये रखने की जिम्मेदारी उसके व्यक्तित्व का निर्बाध विकास संभव हो से मिलते हैं। अन्तिम क्रान्ति से उनका तात्पर्य सविनय अवज्ञा एवं सत्याग्रह के मार्ग के अवलम्बन से थे। क्योंकि हिंसक मार्ग को अनेक बार आजमाया जा चुका है जिसके परिणाम से विश्व परिचित है—अराजकता एवं रक्तपात का तांडव। गाँधीजी के सविनय अवज्ञा से निश्चय ही अराजकता नहीं आती और समाज की जड़ता टूटती है। परन्तु गाँधी के दर्शन के अधनिक कारण भी वे नहीं करना चाहते थे।

लोहिया पाश्चात्य देशों के प्रचलित परम्परागत समाजवाद को अनुपयुक्त समझते थे जिसे वे एक मृत एवं मरणासन्न व्यवस्था मानते थे क्योंकि उसके अन्तर्गत भारी औद्योगीकरण उग्रवादी राष्ट्रीयता, अधिनायकवाद, केन्द्रीकरण तथा उग्र वाम पन्थिता जैसी प्रवृत्तियाँ पैदा होती हैं। इसके कारण एशियाई देशों में साम्प्रदायिकता और अभिमान बढ़ने की संभावना हो सकती है। उन्होंने एशिया की समस्याओं को एशियाई तरीके से हल करने पर बल दिया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि एशिया के समाजवादियों को मौलिक चिन्तन तथा अभिक्रम का अभ्यास डालना चाहिए। उन्हें अपनी नीतियाँ उस सभ्यता के संदर्भ में विरूपित करनी हैं जो शताब्दियों पुराने निरंकुशतावाद तथा सामन्तवाद के कूड़े-करकट में से उभरने का प्रयत्न कर रही है।

डा० लोहिया का पूर्ण विश्वास था कि यूरोप का मशीनरी समानवाद एशिया के देशों के लिए उपयुक्त नहीं, क्योंकि यहाँ गरीबी अधिक है। वे कहते थे कि परम्परागत आर्थिक विकेन्द्रीकरण से एशिया की गरीबी दूर नहीं हो सकती। उन्हें बड़ी मशीनों का सहारा छोड़ गाँधी के बताये मार्ग का अनुसरण करते हुए कुटीर उद्योगों एवं छोटी-छोटी मशीनों का प्रयोग करना चाहिए इससे धन भी कम व्यय होगा और बेकारी भी दूर होगी। साथ ही वे कृषकों को गहन खेती के बारे में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करने पर बल देते थे तथा उन्हें सहकारी कृषि के लिए प्रोत्साहित करते थे। भूमिका साम्यवादी पुर्नविभाजन केवल एक मजाक ही नहीं, अपितु एक निरर्थक क्रूरता भी है अतएव भूमि के समाजवादी पुनर्विभाजन के साथ शक्ति का विकेन्द्रीकरण करने से अच्छे परिणाम निकलने की बात पर बल देते थे और उनका मानना था कि इससे जीवन यापन का नया तरीका भी प्राप्त होगा और इन देशों में समता मूलक समाज की स्थापना हो सकेगी।

डा० लोहिया पश्चिमी समाजवाद को संवैधानिक एवं विकासवादी बताते थे और एशिया की दृष्टि से अनुपयोगी भी। वे मार्क्सवाद से पूर्णतया सहमत थे पर वे तत्कालीन साम्यवादियों पर विश्वास नहीं करते थे क्योंकि उन्होंने सदैव आर्थिक दरिद्रता को अस्त्र बनाकर राज्य के विरुद्ध कराकर या उस पर अनुचित दबाव डालने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार एशिया समाजवाद के मुख्य उद्देश्य हैं—प्रशासन का प्रजातन्त्रीकरण, छोटी मशीनों की थोड़ी पूंजी लगाकर उपभोग, सम्पत्ति

ामाजीकरण तथा अधिकाधिक आर्थिक एवं राजनीतिक सामाजिकरण और इन उद्देश्यों की को जो तरीका उन्होंने सुझाया वह है गाँधीवादी जन-आन्दोलन का। वे हिंसा से चिढ़ते थे ा साम्यवादियों का हिंसा एवं वर्ग संघर्ष की अवधारणा उन्हें मनैतिक प्रतीत होती थी।

4 राज्य व्यवस्था सम्बन्धी विचार : चौखम्भा राज्य की परिकल्पना

ोहिया के राजनीतिक विचार उनके समाजवादी लक्ष्य को प्राप्त करने के साधन के रूप में ाते है। उन्होंने स्पष्टता कहा कि राजनीतिक व्यवस्था स्वयं साध्य नहीं है अपितु समाजवाद ापना के लिए उन्होंने राज्य व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ राजनीतिक साधनों का सुझाव वे न तो राज्य घोर उपासक, न अराजकतावादी और न ही वे मार्क्सवादी राज्यविहीन समाज ापना के स्वप्न दृष्टि थे, अपितु उनकी धारणा का राज्य गाँधीवादी जनतांत्रिक व्यवस्था है शोषण एवं अन्याय को किसी भी रूप में सहन नहीं किया जायेगा और व्यक्ति को वेक जनतांत्रिक स्वतन्त्रता एवं अधिकार प्राप्त होंगे। अन्याय के विरुद्ध व्यक्ति सत्याग्रह तथा य अवज्ञा के साधन अपनायेगा। इस प्रकार इस राज्य व्यवस्था में शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा के कल्याण कार्यक्रमों के लिए शासन से सुविधाएँ प्राप्त की जाएंगी।

संगठन के सम्बन्ध में डा० लोहिया ने चर्तुस्तरीय व्यवस्था (चौखम्भा राज्य) की व्यवस्था न दिया है। इसमें केन्द्रीकरण एवं विकेन्द्रीकरण की परस्पर विरोधी धारणाओं को समन्वित क कार्यमूलक संघवाद की स्थापना होगी। इस व्यवस्था में निम्न स्तर पर ग्राम, उसके ऊपर । उसके ऊपर राज्य या प्रान्त तथा सबसे ऊपर वे द्वीप सरकार की इकाईयाँ होगी। नीचे की ओं का संचालन केन्द्रीय नौकरशाही द्वारा संचालित नहीं किया जायेगा अपितु गाँव, मण्डल गरों की व्यवस्था पंचायतों के माध्यम से चलाया जायेगा। उन्होंने जिले में कल्कटर या धिकारी के पद को समाप्त कर देने का सुझाव दिया क्योंकि वे इसे राजनीतिक शक्ति के करण की बदनाम संस्था मानते थे जो साम्राज्यवाद की प्रतीक रूप में है। इनके चौखम्भा की निम्न विशेषताएं परिलसित होती है :

सम्पूर्ण बजट का एक चौथाई भाग ग्राम, मण्डल एवं नगरों की पंचायतों के माध्यम से लोक कल्याणकारी कार्यों में व्यय किया जायेगा।

आन्तरिक कानून-व्यवस्था बनाये रखने हेतु पुलिस इन पंचायतों के अधीन रहकर कार्य करेगी।

जिलाधिकारी का पद समाप्त कर दिया जायेगा तथा उसके सम्पूर्ण कार्य जिले की विभिन्न संस्थाओं एवं पंचायतों के माध्यम से किया जायेगा।

कृषि, उद्योग तथा अन्य प्रकार की सम्पत्तियों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जायेगा और इसके संचालन का उत्तरदायित्व ग्राम-मण्डल एवं नगर पंचायतों के जिम्मे रहेगा।

छोटी मशीनों के अधिकाधिक उपयोग द्वारा आर्थिक विकेन्द्रीकरण तथा साथ ही राजनीतिक एवं प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण की दिशा में प्रयास किया जायेगा।

ोहिया का मत था कि अभी तक उदारवादी तथा साम्यवादी दुनिया केवल दो स्तरीय राज्य में ही अवगत है जिसे केन्द्र एवं राज्यों में बाँटी रहती है इस दृष्टि से संवैधानिक सिद्धान्तों र्माण तथा उसके व्यावारिक स्वरूप को निखारने के निरन्तर प्रयास किये जा रहे हैं। किन्तु डा० लोहिया के अनुसार प्रजातंत्र सामान्य व्यक्ति को केवल तभी स्फूर्ति प्रदान कर सकता कि वे सिद्धान्त चार स्तरीय राज्य का गठन करें जिससे विषमता, पराधीनता, शोषण एवं को मिटाया जा सके, तभी प्रजातंत्र की आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं की पूर्ति हो है। डा० लोहिया ने आगे चलकर इसमें पाँचवें स्तम्भ के रूप में विश्वराज्य को भी जोड़ने न दिया जिससे अन्याय, संघर्ष एवं शोषण का विश्व समुदायों से अन्त हो और विश्वशान्ति ईचारे का विकास संभव हो।

9.3.5 लोहिया के राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता सम्बन्धी विचार

डा० लोहीया रूढ़ियों एवं परम्परागत मान्यताओं के प्रति आसक्त न थे। वे न तो परम्परागत राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय मान्यताओं के प्रति न ही इनके प्रति आसक्ति के वे समाज के विकास की दृष्टि से उपयुक्त समझते थे। उन्होंने इसीलिए भारतीय इतिहास की पुर्नव्याख्या एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यक्तियों को नयी दृष्टि प्रदान करने पर बल देते थे। वे देशकाल की सीमा से ऊपर उठकर एक विश्व समाज की रचना व विकास विलक्षण विचार के समर्थक थे। उन्होंने एक क्रान्तिकारी राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के निर्माण की वकालत की। जिस प्रकार स्वतन्त्रता के पटवर्ती काल में उन्होंने भारत की एक विशिष्ट समाजवादी व्याख्या की, उसी प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय विश्व समाज व्यवस्था की अद्‌भुत व्याख्या की। उनके स्पष्ट विचार थे कि द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात विश्व की राजनीतिक सत्ता संघर्ष की भावभूमि का निर्माण विभाजित देशों में दृष्टव्य है। परिणामस्वरूप पूर्वी एवं पश्चिमी जर्मनी अस्तित्व में आये एवं इसरईल का पश्चिमी एशिया के मानचित्र पर उदय हुआ। टूटने एवं विघटन पर आधारित इस सत्ता की राजनीति को सृजनात्मक रूप देने के दो ही रास्ते हैं या तो युद्ध के द्वारा दोनों देशों को एक किया जाय या शान्तिपूर्ण तरीके से टूटे हुए देशों को जोड़ा जाये। दूसरा मार्ग अधिक उपादेय है। इस पर चलकर ही इन राष्ट्रों का पुनर्निर्माण एवं विकास स्थायी रूप में संभव है।

डा० लोहिया चाहते थे कि विश्व में झगड़ों को समाप्त किया जाय। इसके लिए वे समाजवाद एवं विश्व संसद के निर्माण की वकालत करते एवं विश्व नागरिकता का स्वप्न देखते थे। वे मानवमात्र को एक परिवार समझते थे। उनकी इच्छा थी कि प्रत्येक देश का नागरिक बिना किसी कानूनी रोक-टोक के हर देश में आ-जा सके। उनका विचार था कि विश्व संसद वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित प्रतिनिधियों की संस्था होनी चाहिए। वे लिखते हैं कि बालिका मताधिकार पर चुनी विश्व पंचायत का निर्माण हो, जिसे सभी देशों के युद्ध बजट का एक चौथाई या पाँचवा हिस्सा मिले। यह विश्व पंचायत कैसे बने, इसके लिए डा० लोहिया का मत था कि सत्याग्रह में भी विश्व पंचायत संभव है।

9.3.6 अवसरवादिता एवं क्रान्ति संबंधी विचार

डा० लोहिया ने अवसरवादिता की राजनीति को सत्तारूढ़ दल की देन मानते थे। उनका विचार था कि अपनी सत्ता कायम रखने के लिए वे अवसरवादिता को उसी प्रकार बढ़ावा देते हैं। जिस प्रकार साम्प्रदायकिता को। जिससे देश में भयंकर स्थिति पैदा हो जाती है क्योंकि यह सरकारी मशीनरी द्वारा चालित एवं पोषित होती है। जहाँ तक हमारे देश में क्रान्ति की बात है, वह सुनी सुनायी बातो पर आधारित है। साथ ही एक ही दल के सत्ता पर एकाधिकार के कारण जनसमुदाय में साहकारी कमी एवं राजनीति के प्रति उदासीनता का भाव पैदा हो गया है परिणाम स्वरूप उनमें क्रान्ति के प्रति अभिरुचि का अभाव पैदा होने लगा है। उन्होंने जर्मनी को उद्‌धृत करते हुए कहा कि वहाँ सोशल डेमोक्रेटस ने क्रान्तिकारी रास्ता छोड़कर स्वयं देश तथा विश्व की सुरक्षा हेतु सुरक्षात्मक साधनों को अपनाया। उन्होंने कहा वर्तमान में कुछ परिवर्तन दृष्टव्य हैं क्योंकि पूर्व में हमारा चिन्तन त्रुटिपूर्ण था हमने सावधान बाईस पसेरी तौला, जिससे हमें अपूर्वीय क्षति पहुंची, यह एक अक्षय भूल थी। हमने सत्तारूढ़ दल की अवधारणा को समझने में भूल की। उन्होंने स्पष्ट किया कि सत्तारूढ़ दल की भूल और विरोधी दलों की भूलों में जमीन-आसमान का अन्तर है। अब इस सरकार की गलतियों का घड़ा भर गया है अत: चक्र में परिवर्तन होगा और बदलाव सुनिश्चित है जिसमें हमारी, जनता की विजय होगी। यह आधारभूत परिवर्तन से ही क्रान्ति की अवधारणा फलीभूति होगी।

9.3.7 लोहिया का नया समाजवाद

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में लोहिया परम्परावादी समाजवाद को एक मरा हुआ सिद्धान्त तथा मरणशील व्यवस्था कहने लगे थे। इसीलिए उन्होंने नवीन समाजवाद का नारा लगाया। इस नवीन

माजवाद के लिए उन्होंने छः सूत्री योजना का निरूपण किया :

1) आय-व्यय के क्षेत्र में अधिकतम समानता के स्तर को उपलब्ध कराना।

2) इसके लिए राष्ट्रीयकरण पर बल दिया, यद्यपि वह एक मात्र माध्यम भूले नहीं थे।

3) विश्व में आर्थिक निर्भरता बढ़ी है जिसके कारण आवश्यक है कि संपूर्ण विश्व में जीवन-स्तर को ऊँचा किया जाना।

4) वयस्क मताधिकार के आधार पर विश्व संसद की स्थापना पर बल।

5) लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना हेतु वाणी, समुदायों के संगठन एवं निजी जीवन की स्वतंन्त्रता पर बल।

6) सरकारी हस्तक्षेप से मुक्ति एवं सामान्य जनों के अधिकारों तथा सम्मान की रक्षा के लिए व्यक्ति तथा सामूहिक अवज्ञा की गाँधीवादी कार्य प्रणाली का समर्थन किया।

नका यह नवीन समाजवाद आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों के विकेन्द्रीकरण के पक्ष में था। ोहिया का विश्वास था कि यह समाजवाद सहकारी श्रम और ग्राम सरकार के माध्यम से ावहारिक रूपग्रहण करेगा। 1952 में कांग्रेस समाजवादी दल के अध्यक्ष के रूप में लोहिया ने ाँधीजी के विचारों को समाजवादी चिन्तन में अधिक मात्रा में स्थान देने की बात कही। इस कार के कार्य एवं चिन्तन के द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास की समस्या को सुलझाने की ात पर बल दिया। वे चाहते थे कि मनुष्य के संपूर्ण जीवन एवं स्वभाव की पूर्ण अभिव्यक्ति हो, कि एकांगी अथवा सीमित वृद्धि।

).3.8 भारतीय संस्कृति एवं लोहिया

किसी समाज को समझना नक्शा खींचने जैसा है। एक अच्छे नक्शे में सभी विवरण नहीं होते या ोने चाहिए। समाज के विश्लेषण का यह अर्थ कदापि नहीं है कि उसके असंख्या घटनाओं या उसके विवरणों का वर्णन करने का प्रयास किया जाय। अपितु एक अच्छे नक्शे की भाँति समाज क अच्छे विश्लेषण के लिए आवश्यक है कि कुछ महत्वपूर्ण तथा चुने जाएं और उनका परस्पर म्बन्ध दिखाया जाये। यह काम कई तरीकों से संभव है। इनमें से एक है ऐतिहासिक विश्लेषण का तरीका। इस तरीके से हम महत्वपूर्ण तथ्यों और उनके पारस्पारिक सम्बन्धों की पहचान करते । यह काम एक निश्चित समय तक समाज का निरीक्षण कर तथा वर्तमान के अतीत से जोड़कर ी किया जा सकता है। लोहिया का तरीका इसी विश्लेषण पर आधारित था।

ोहिया ने प्राचीन संस्कृति एवं इतिहास की विशिष्ट व्याख्या की। उनके अनुसार वाशिष्ट एवं रशुराम जातीय कट्टरता के प्रतीक है। जबकि बाल्मीकि एवं विश्वामित्र ने एक उदारवादी और ुले दर्शन का मार्ग प्रशस्त किया। राम संयम के वर्गीय उदाहरण है, जबकि कृष्ण एक ठग, मेथ्या भाषक एवं हत्यारे थे। उन्होंने शिव को सौन्दर्य एवं आत्मत्याग का प्रतीक बताया। आधुनिक युग में भी गाँधी को राम की परम्परा में बताया और जवाहर लाल नेहरू को वशिष्ट का र्गीय प्रतिनिधि बताया।

लोहिया जी को भारतीय संस्कृति से अगध प्रेम था। समाजवाद की यूरोपीय सीमाओं और आध्यात्मिकता की राष्ट्रीय सीमाओं को तोड़कर उन्होंने एक विश्व दृष्टि विकसित की। उनका विश्वास था कि पश्चिमी विकास और भारतीय अध्यात्म का वास्तविक एवं सच्चा मेल तभी हो सकता है जब दोनों इस प्रकार संशोधित एवं सुनिश्चित हों कि वे एक दूसरे के पूरक बन जाएं। भारत माता से उनकी माँग थी कि हे माता! हमें विष्णु का मष्तिक से कृष्ण का हृदय दो और राम का कर्मठवचन दो, हमें असीम मष्तिष्क और उत्सुक हृदय के साथ जीवन की मर्यादा से निर्मित करो, जिससे हमारा विश्व व्यक्तित्व का निर्माण हो। इसी भावभूमि से विभार हो कर लोहिया ने सत्यम् शिवम् एवं सुन्दरम् के पारंपरिक आदर्श को इस रूप में रखना चाहते

थे कि वे एक दूसरे का स्थान ग्रहण कर सकें। यही मानव जीवन के सुन्दर सत्य की पहचान है जिस पर समाजवाद, स्वतन्त्रता और अहिंसा के ये तीन सूत्री अवलम्बित हैं। जिसमें मानव अपने सम्पूर्ण जीवन को परस्त सुखाय अर्पित कर देवे और निजत्व को परत्व के लिए अर्हित कर दे। इस प्रकार लोहिया जी भारतीय संस्कृति की विश्व दृष्टि के सच्चे उन्नायक थे। सभी सुखी हो, सभी निरोग हो और सभी अपना-अपना क्लयाण देखें, किन्तु दूसरों के कल्याण के साथ। यही लोहिया का स्वप्न था, आदर्श था जिसका आधार भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र 'सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम्' था।

9.3.9 विश्व संसद के समर्थक

डा० लोहिया चाहते थे कि विश्व में झगड़ों की समाप्ति हो, विभिन्न देशों में आपसी वैर-भाव का अन्त हो और उनका समान रूप से विकास होवे। इस आदर्श की प्राप्ति के लिये उन्होंने विश्व संसद या पंचायत की बात कही। वे कहते थे कि देशों में समाजवाद की स्थापना का प्रयास होना चाहिए। वे लिखते हैं कि बालिकमताधिकार पर चुनी विश्व पंचायत का निर्माण हो, जिसे सभी देशों के कुल बजट का एक चौथाई या पाँचवाँ हिस्सा मिले। यह विश्व पंचायत कैसे बने, इसके लिए डा० लोहिया का मत था कि "सत्याग्रह के द्वारा भी विश्व पंचायत संभव है।" उनका स्पष्ट मत था कि आज विश्व में आर्थिक आत्मनिर्भरता बढ़ रही है जिसके कारण यह आवश्यक हो गया है कि सम्पूर्ण के जीवन स्तर को ऊँचा करने का प्रयत्न किया जाए। वे मानव-मात्र को एक परिवार समझते थे। उनकी इच्छा थी कि देश के प्रत्येक नाग बिना किसी बाधा के हर देश में आ जा सकें। उनका स्पष्ट मत था कि ऐसा वयस्कमताधिकार के साधन पर निर्वाचित विश्व संसद के द्वारा ही संभव है। तभी 'बसु धैव कुटुम्बकम्' का लक्ष्य हासिल हो सकेगा।

9.5 मूल्यांकन

डा० राम मनोहर लोहिया की पहचान एक सुप्रसिद्ध स्वतन्त्रता सेनानी, एक सच्चे गाँधीवादी चिन्तक और समर्पित समाजवादी नेता के रूप में स्थापित है। उन्होंने समाजवादी चिन्तन की समस्याओं को एशियाई दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया। वास्तव में वे भारत में समाजवादी आन्दोलन के महान उन्नायकों में से एक थे। समाजवादी नेताओं में वे जय प्रकाश और आचार्य नरेन्द्र देव से प्रभावित थे वहीं मार्क्सवाद का भी उन पर स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। उन पर सर्वाधिक प्रभाव गाँधीवादी विचारों का था। इस दृष्टि से उन्होंने साम्यवाद की आलोचना की और गाँधीजी प्रभावित होकर उन्होंने भी साध्य के साथ ही साधनों की पवित्रता को भी स्वीकार किया। वे कृषकों तथा ग्रामों की स्थिति में सुधार लाने के लिए विकेन्द्रित समाज की स्थापना पर बल देते हैं। वे पुरातन पंथी न थे, अपितु यथार्थवाद पर बल देते थे, इसी कारण समाजवाद के पुरातन पन्थी चोले को दूर फेंककर उन्होंने समाजवाद के साथ-साथ लोकतांत्रिक सिद्धांतों को जीवित रखा। आर्थिक विषमताओं को दूर करने पर बल देते थे किन्तु इसका एक भाग हल राष्ट्रीयकरण को नहीं मानते थे। वे व्यक्ति की स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक थे और साथ ही उन्होंने प्रशासनिक केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को विकेन्द्रीकरण के साथ समन्वित करने के आदर्श को प्रस्तुत किया।

लोहिया समाजवादी विचारधारा के गरम प्रवक्ता थे, जिनके भाषण, आँकड़ों एवं अलोचनाओं से भरे रहते थे। डा० वी०पी० वर्मा उनका मूल्यांकन करते हुए लिखते है कि उन्होंने समाजवादी चिन्तन की समस्याओं को एशियाई दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया। वे कोरे पंथवादी न थे। उन्होंने कर्म एवं चिन्तन के द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास की समस्याओं को सदैव ध्यान में रखा। वे चाहते थे कि मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन और स्वभाव की अभिमुक्ति हो। वे इस पक्ष में नहीं थे कि व्यक्तित्व के किसी एक विशिष्ट पहलू की एगांणी और सीमित वृद्धि हो।" डा० लोहिया धर्म एवं राजनीति का समन्वित उपयोग चाहते थे। उनका मानना था कि राजनीति के बिना धर्म निष्प्राण हो जाता है तथा धर्म के बिना राजनीति कलही बन जाती है। धर्म को लोहिया

कालीन राजनीति' एवं राजनीति को 'अल्पकालीन धर्म' कहते थे। उनके लिए सत्य का व उसके आध्यात्मिक मूल्य के कारण नहीं अपितु समाज की व्यवस्था के लिए था। छल- की राजनीति में उनकी कोई रुचि न थी, वे आलस्य, कर्तव्यनिष्ठा के अभाव और निकारेपन ी असत्य से जुड़ा हुआ तथा सामाजिक प्रगति के मार्ग का रोड़ा मानते थे। वे समानता पर ारित सामाजिक न्याय के पक्षधर थे।

या गाँधीजी में आस्था प्रकट करते हुए अहिंसा को सिद्धान्ता तो स्वीकार करते है, परन्तु त कर्म से ही नहीं, वाणी एवं मन से भी हिंसा से दूर रहने में गाँधीवादी सिद्धान्त को उन्होंने गम्भीरता से नहीं लिया। अपने विरोधियों की धज्जियाँ उड़ाने के लिए कटु भाषा का प्रयोग में वे कभी चूकते न थे एवं अपने ओजमय सम्भाषणों एवं तर्कों से उन्हें प्राय: निरन्तर कर करते थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा जर्मनी में हुई थी जिससे उन पर मार्क्स का भी पर्याप्त प्रभाव क्षित होता है। वे वर्ग-संघर्ष में तो विश्वास रखते थे, जिससे प्रकट हिंसा नहीं भी तो कटुता आना तो स्वाभाविक था।

लोहिया जीवन-पर्यन्त दलित-शोषित दरिद्र-नारायण के सामाजिक-आर्थिक अधिकारों की ई लड़ते रहे। उनके जीवन स्तर को उठाना ही उनके समाजवादी सक्ष्यों का मूलभाव था। वे व-दासता के घोर विरोधी थे। अंग्रेजी शासन को गुलामी का प्रतीक समझते थे। एवं अंग्रेजी दासता की सूचक। इसी कारण हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा एवं सम्पर्क-सूत्र के रूप में बनाने पर दिया एवं जीवन पर्यन्त इसके लिए संघर्षरत रहे। भारत के खण्डित हो जाने के पश्चात भी ा विश्वास था कि भारत प्रकृति से एक है अत: वह पुन: एक अवश्य होगा।

पे डा० लोहिया के अनेक विचार काल्पनिक आकाश कुसुम के समान लगते हैं फिर भी उन्हें कल्पनावादी नहीं माना जा सकता, उसमें व्यवहारिकता एवं यथार्थ के पुट भरे थे। वे तार परम्परा, यथास्थितिवाद एवं शोषण के विरुद्ध जागरूक योद्धा की भाँति उटे रहकर उसका बला करते रहे। यद्यपि उनका व्यक्तित्व तत्कालीन राष्ट्रीयतावाद के अनेक पुराधाओं के ारों से मेल न खाता, वे उनकी सोच को ठीक ढंग से समझ पाने में असमर्थ थे। फिर भी क सादगी, निश्चिन्तता एवं मस्ती, अन्याय एवं शोषण के विरुद्ध सतत संघर्ष, गलत नीतियों के ध आदि उनके व्यक्तित्व के अभिन्न गुणों से वे प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। उनके व्यक्तित्व विरोधाभास पर विचार करते आकोंर शरद का यह मूल्यांकन उनके प्रति एक महत्त्वपूर्ण समझ करती है। उनका मानना था कि लोहिया, गाँधी जी के सत्याग्रह एवं अहिंसा के अखण्ड र्थक थे, लेकिन गाँधीवाद को अधूरा दर्शन मानते थे, वे समाजवादी थे, लेकिन मार्क्स को ांगी मानते थे, वे राष्ट्रवादी थे, लेकिन विश्व सरकार का सपना देखते थे, वे आधुनिकतम ुनिक थे, लेकिन आधुनिक सभ्यता को बदलने का प्रयत्न करते रहते थे, वे विद्रोही एवं न्तकारी थे, किन्तु शान्ति एवं अहिंस के अनूठे उपासक भी।'

5 सरांश

हेया समाजवादी चिन्तकों में संभवत: सर्वाधिक मौलिक थे। एक समाजवादी बुद्धिजीवि के में उन्होंने सूक्ष्म चिन्तन व मनन किया। उनकी मौलिकता वर्तमान समाजवादी सिद्धान्तों को सेन्ट्रिक धारणाओं को चुनौती और उसके स्थान पर वैकल्पिक सिद्धान्त निर्माण (एशियाई कोण) के प्रयास में झलकती है। उनके विचारों में नवीन ऐतिहासिक विश्लेपण भविष्य के ए लक्ष्यों और व्युह रचना की स्पष्ट योजना दिखाई देती है। उनके अनुसार इतिहास चक्र के में घूमता है जो समाज के बाध्य एवं अन्तरिक दोनों पहलुओं को प्रभावित करता है। यद्यपि चक्र ने आज पूँजीवाद एवं साम्यवाद को मूलत: एक ही सभ्यता के दो स्वरूपों को शिखर पर चा दिया है, परन्तु इस सभ्यता का गैर यूरोपीय देशों में संचरण एवं विस्तार न तो सम्भव है न होगा उपयुक्त ही क्योंकि इन देशों की मूलभूत परिस्थितियों एवं आवश्यकता से उनकी अपेक्षा ा है। इन देशों में विशेष रूप से भारत में विकेन्द्रीकरण पर आधारित नई आर्थिक और

राजनीतिक संस्थाओं का निर्माण ही सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक विभेद दूर कर सकती है। इस दृष्टि से विश्व में कई आयामों (सप्त क्रान्ति) में क्रान्ति की आवश्यकता है। यह क्रान्ति लाने के लिए राजनीतिक कार्यवाहियों को अहिंसक सविनय अवज्ञा के माध्यम से अन्याय एवं शोशण के विरुद्ध संघर्ष करने में निर्वाचित संसदीय गतिविधियों और रचनात्मक कार्यों के साथ प्रभावशाली ढंग से जोड़ना होगा। चर्तुस्तरीय उनकी राजनीतिक व्यवस्था शनै:शनै: विश्व संसद की ओर अग्रसर होगी एवं सम्पूर्ण मानव समाज के उत्थान में संलग्न होगी। यद्यपि उनके अनेक विचार युटोपियाई प्रतीत होते है, परन्तु वे कोरे कल्पनावादी न थे। अपितु एक कर्मठ योद्धा की भाँति सतत् अन्याय एवं शोषण के विरुद्ध संघर्षरत रहे, जीवन भर दलित, शोषित नारायण के आर्थिक-सामाजिक अधिकारों को दिलाने के लिए एक कर्मयोगी की भाँति निष्काम भाव से लगे रहे। यही कारण है कि वे न तो पूरी तरह मार्क्सवाद का, न ही पूर्ण रूप से गाँधीवाद के समर्थक थे वरन दोनों के बीच एक सपल सेतु के रूप में मानव मात्र की सेवा में संलग्न रहे। ओंकार शरद ने उनके व्यक्तित्व के इन विरोधाभाषी तत्त्वों को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है ''लोहिया गाँधी के सत्याग्रह और अहिंसा के अखण्ड समर्थक थे, लेकिन गाँधीवाद को अधूरा दर्शन मानते थे, वे समाजवादी थे, लेकिन मार्क्स को एकांगी मानते थे वे राष्ट्रवादी थे लेकिन विश्व सरकार का सपना देखते थे, वे आधुनिकतम आधुनिक थे लेकिन आधुनिक सभ्यता को बदलने का प्रयत्न करते थे। वे विद्रोही और क्रान्तिकारी थे, लेकिन शान्ति और अहिंसा के झूठे उपासक थे।''

9.6 उपयोगी पुस्तकें

1. डा० राम मनोहर लोहिया : 'मार्क्स, गाँधी एण्ड सोसाइटीज', नव हिन्दी, हैदराबाद 1963।
2. लोहिया : 'इतिहास का चक्र', सिन्धु पब्लिकेशन्स, 1985।
3. एन०सी० मल्होत्रा : ''लोहिया ए स्टडी'' आत्माराम, 1978।
4. एम० अरुमुगम : 'सोशलिस्ट थॉट इन इण्डिया : दिकान्ट्रीब्युशन ऑफ राम मवोहर लोहिया', स्टरीलिंग, नई दिल्ली, 1978।
5. इन्दूभतिकलवर : 'लोहिया सिद्धान्त एवं कर्म' नव हिन्द, हैदराबाद 1963।
6. बी०के० अरोड़ा : 'राम मनोहर लोहिया एण्ड सोशलिज्म इन इण्डिया', चीप एण्ड दीप, नई दिल्ली, 1984।
7. थॉमस पैथम एंड कैनेड डयूश : (सं०) पोलिटिकल थॉट इन इण्डिया, सेज, नई दिल्ली, 1985।
8. पार्था चटर्जी : 'नेशनल थॉट एण्ड दि कोलानियल वार्ड' आम्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1986।
9. वी०पी० वर्मा : आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायन अग्रवाल, आगरा, 1987।
10. ओंकार शरद : लोहिया के विचार

9.7 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. लोहिया के इतिहास के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए। क्या आप मानते हैं कि कांग्रेस को

समझने के लिए इतिहास को समझना आवश्यक है?

2. लोहिया के अनुसार पूँजीवाद और साम्यवाद के सामान्य रूप क्या हैं?

3. डा० लोहिया के समाजवादी विचारों की विवेचना कीजिए?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. लोहिया के सप्तक्रान्ति संबंधी विचारों को संक्षेप में समझाएँ?

2. लोहिया के चौखम्भा राज्य संबंधी विचारों को लिखें।

3. लोहिया द्वारा वर्णित अन्तर्राष्ट्रीयता संबंधी अवधारणा पर अपने विचार दें।

4. भारतीय संस्कृति संबंधी लोहिया के विचारों को स्पष्ट करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. निम्न दलों में से किस दल ने डा० राम मनोहर लोहिया का घनिष्ट संबंध था?

   (a) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (c) भारतीय कम्युनिष्ट दल

   (b) कांग्रेस समाजवादी दल (d) बहुजन समाजवादी पार्टी

2. 1952 में डा० लोहिया किस दल के अध्यक्ष थे?

   (a) कांग्रेस समाजवादी दल (c) प्रजा सोशलिष्ट पार्टी

   (b) कांग्रेस पार्टी (d) संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी

3. एशियाई समाजवादी सम्मेलन किस वर्ष सम्पन्न हुआ था?

   (a) 1952 में (c) 1963 में

   (b) 1953 में (d) 1964 में

4. 'इम्बीडिस्टैंट क्योरी' में लोहिया किन दलों से समान दूरी रखने पर बल देते हैं?

   (a) कांग्रेस-मुस्लीम लीग (c) साम्यवादी-भारतीय जनसंघ

   (b) कांग्रेस एवं साम्यवादी दल (d) इनमें से किसी से नहीं

5. निम्न में कौन सी कृति डा० लोहिया से संबंधित नहीं है?

   (a) मार्क्स, गाँधी एण्ड सोसाईटीज (c) इम्बीडिस्टैण्ट थ्योरी

   (b) इतिहास का चक्र (d) समाजवाद क्यों?

6. निम्न में कौन-सा जोड़ा सही नहीं सुमेलित है?

   (a) लोहिया-हिमालयन ब्लण्डर

   (b) लोहिया-राष्ट्रीयता और समाजवाद

   (c) लोहिया-इतिहास का चक्र

   (d) लोहिया-गिल्टी मेन ऑफ इण्डियाज पार्टिशन

7. लोहिया द्वारा वर्णित चौखम्भा राज्य के निम्न में से कौन-सा स्तर गलत उल्लिखित है?

(a) ग्राम (c) जिला

(b) मण्डल (d) प्रान्त

8. 'विश्व संसद' को लोहिया ने आधारित किया—

(a) वयस्क मताधिकार पर (c) राज्यों के मनोनयन के आधार पर

(b) आनुपातिक प्रतिनिधित्व पर (d) इनमें से किसी पर नहीं

9. सूची I को सूची II से सुमेलित कीजिये और अपने सही उत्तर को नीचे लिखे विकल्पों में से चुनिये—

सूची I		सूची II
1.	लोहिया	A. गाँधी, मार्क्स एण्ड सोसाइटीज
2.	नरेन्द्र देव	B. इण्डिया इन ट्रान्जीशन
3.	जय प्रकाश नारायन	C. सोशलिज्म एण्ड नेशनल मूत मेण्ट
4.	एम०एन० राय	D. दिप्रिजन डायरी

छूट :

	A	B	C	D
(a)	1	2	3	4
(b)	1	3	2	4
(c)	4	3	2	1
(d)	1	4	2	3

(a) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (c) भारतीय कम्युनिष्ट दल

(b) कांग्रेस समाजवादी दल (d) बहुजन समाजवादी पार्टी

10. निम्न में से कौन-सी क्रान्ति लोहिया के 'सप्त क्रान्ति' सम्बन्धी विचारधारा से सम्बन्धित नहीं है?

(a) आर्थिक अन्याय के विरुद्ध क्रान्ति

(b) अहिंसक सविनय अवज्ञा की कार्यविधि क्रान्ति

(c) लिंग भेद के विरुद्ध क्रान्ति

(d) बुर्जुआ क्रान्ति

9.8 प्रश्नोत्तर

1. (b) 2. (a) 3. (c) 4. (b) 5. (d)

6. (b) 7. (c) 8. (a) 9. (d) 10. (d)

इकाई 10 : जय प्रकाश नारायण

रूपरेखा

0.0 उद्देश्य

0.1 प्रस्तावना

0.2 जय प्रकाश नारायण : व्यक्तित्व एवं चिन्तन

0.3 जय प्रकाश नारायण के राजनीतिक विचार

10.3.0 जय प्रकाश नारायण एवं भारत में मार्क्सवाद का अनुपालन

10.3.1 जय प्रकाश नारायण और समाजवाद

10.3.2 आधुनिक लोकतंत्र संबंधी विचार

10.3.3 लोकतांत्रिक समाज

10.3.4 जय प्रकाश नारायण एवं सर्वोदय दर्शन

10.3.5 परिवर्तन की कुंजी—लोक शक्ति

10.3.6 जय प्रकाश नारायण एवं समग्र क्रान्ति की अवधारणा

10.3.7 राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रवाद संबंधी धारणा

0.4 मूल्यांकन

0.5 सारांश

0.6 उपयोगी पुस्तकें

0.7 सम्बन्धित प्रश्न

0.8 प्रश्नोत्तर

0.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- जय प्रकाश नारायण के व्यक्तित्व एवं चिन्तन पर टिप्पणी कर सकेंगे।
- जय प्रकाश नारायण के समाजवादी विचारों एवं लोकतांत्रिक समाज की अवधारणा की विवेचना कर सकेंगे।
- जय प्रकाश जी के सर्वोदयी विचारों एवं परिवर्तन की कुंजी—लोकशक्ति द्वारा सम्पूर्ण क्रान्ति का विश्लेषण कर सकेंगे।
- उनके राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रवाद संबंधी विचारों की विवेचना कर सकेंगे।
- जय प्रकाश नारायण के राजनीतिक विचारों का मूल्यांकन कर सकेंगे।

0.1 प्रस्तावना

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में समाजवादियों ने महत्वी भूमिका निभाई है। बीसवीं शती के तीसरे एवं चौथे दशक के दौरान उनका सम्बन्ध समाज में नेतृत्वकर्ताओं एवं निचले स्तर तों से सम्बन्धित था। इस दौर में गाँधी के विचारों ने व्यापक प्रभाव डाला। जन राजनीति का प्रारम्भ गाँधीजी ने असहयोग आन्दोलन का आह्वान देकर शुरू किया एवं सविनय अवज्ञा के

माध्यम से इसे पुष्ट किया जिससे छोटे समूह ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में सामाजिक एवं राजनीतिक प्रतिविधियों को गतिमान करने में पूरी तरह सक्रिय हो गये। इस कारण राष्ट्रीय राजनीति का नेतृत्व अब केवल मध्यम वर्ग के हाथों में न रहा अपितु इसमें सर्वहारा वर्ग भी सम्मिलित होने में रुचि प्रदर्शित करने लगे। इससे समाजवादी अवधारणा में विश्वास रखने वाले समाजवादी भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहे और भारत में हो रहे इस राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तन को गतिमान करने में संलग्न हो गये। भारत में समाजवादी चिन्तकों में जय प्रकाश नारायण का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना में उनका पूर्ण योगदान रहा। वे गाँधीजी के अनुनायी होते हुए भी मार्क्स के विचारों से अनुप्राणित रहे। उन पर एम०एन० राय के विचारों का भी पूरा प्रभाव पड़ा। परन्तु वे सोवियत संघ की साम्यवादी सरकार के समर्थक न थे वरन् सर्वोदय समाज में विश्वास रखते थे एवं समाज मायूल भूल परिवर्तन लाकर एक लोकतांत्रिक समाज की स्थापना करने पर बल देते थे, लोग इन्हें 'लोक नायक' कहते थे।

10.2 जय प्रकाश नारायण : व्यक्तित्व एवं चिन्तन

आधुनिक भारत की स्वनाम धन्य विभूतियों में जय प्रकाश नारायण का महत्वपूर्ण स्थान है। जो एक उत्कृष्ट राजनेता, प्रमुख समाजवादी विचारक, सर्वोदयी कार्यकर्ता एवं लोक कल्याण की भावना से ओत-प्रोत भारत-माता के सच्चे सपूत थे। जिनका जन्म बलिया जिले के सितानदियारा ग्राम में अक्टूबर, 1902 को हुआ था। उन्होंने भगवद्गीता दर्शन के अनुयायी एवं गाँधीवादी असहयोगी के रूप में अपना जीवन आरम्भ किया। जब वे अमेरिका में विद्याध्ययन कर रहे थे. इसी समय पूर्वी यूरोप के बुद्धिजीवियों से उनका सम्पर्क हुआ और फलस्वरूप वे मार्क्सवाद से प्रभावित हुए। उन पर एम०एन० राय की तीक्ष्ण रचनाओं का भी प्रभाव पड़ा, किन्तु मार्क्सवाद से प्रभावित होने पर वे रूसी क्रान्ति के समर्थक नहीं थे क्योंकि बोल्शेविक पार्टी ने जो क्रूर कृत्य रुस में किए थे उससे उनकी नैतिक चेतना को भारी आघात पहुँचा था। यद्यपि कि चौथे दशक में उन्होंने साम्यवादियों के साथ संयुक्त मोर्चे के गठन का समर्थन किया था, किन्तु 1940 के बाद वे इस मोर्चे के आलोचक बन गए और साम्यवादी के सत्तावादी कठोर नियंत्रण की भर्त्सना करने लगे। उनके इन विचारों को चीनी विश्वासघात एवं तिब्बत के मामले में चीनी विस्तारवादी नीति ने पुष्ट किया कि साम्यवादी अधिकार एवं सत्ता (साम्राज्यवाद) के भूखे हैं, जिनके लिए सद्-असद्, ग्राध्य-आग्रध्य सारे रास्ते क्षुय है। केवल अठ्ठारह वर्ष की अवस्था में ही वे गाँधी के असहयोग आन्दोलन में कूद पड़े। ब्रिटिश शिक्षण संस्थाओं के बहिष्कार के गाँधी जी आह्वान के कारण वे उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए 1922 में अमेरिका चले गये, जहाँ उन्होंने 7 वर्षों तक कष्ट साध्य जीवन व्यतीत करते हुए विद्यार्जन किया।

1929 में स्वदेश लौटने पर उनका सम्पर्क महात्मा गाँधी एवं पण्डित जवाहरलाल नेहरू से हुआ। नेहरू जी कांग्रेस अध्यक्ष थे एवं सोवियत संघ की यात्रा से लौटने के पश्चात मार्क्सवाद से प्रभावित थे, उन्होंने जय प्रकाश नारायण को उनके कर्मठ व्यक्तित्व एवं विचारों से प्रभावित होने के कारण भारतीय कांग्रेस दल के मजदूर खोज विभाग का प्रभारी नियुक्त किया और आगे चलकर कांग्रेस दल के स्थायी मंत्री राजाराव के स्थान रिक्त होने पर उनके स्थान पर उन्हें नियुक्त किया। जय प्रकाश नारायण 1934 में भारतीय समाजवादी दल की स्थापना में अपना अभूतपूर्ण योगदान दिया और दल तथा उसके कार्यक्रम को लोकप्रिय बनाने में अदभुत प्रतिभा का परिचय दिया। वे एक महान राष्ट्रीय संघर्षकर्ता रहे हैं। 1942 में जब महात्मा गाँधी ने 'भारत छोड़ो' एवं 'करो या मरो' का आह्वान किया तो जय प्रकाश नारायण हजारीबाग जेल में बन्द थे। इस आन्दोलन में सम्मिलित होने के लिए वे जेल से भाग निकले, किन्तु वे पुन: गिरफ्तार कर लिए गये। अप्रैल 1946 में उन्हें रिहा कर दिया गया। उनसे महात्मा गाँधी प्रभावित होकर उनका नाम कांग्रेस की अध्यक्षता के लिए प्रस्तावित किया। किन्तु कांग्रेस की कार्यकारिणी ने उसे स्वीकार

किया। उन्होंने कैबिनेट मिशन का विरोध किया क्योंकि कांग्रेस समाजवादी दल जनक्रान्ति ल दे रहा था। उन्होंने यह भविष्यवाणी की कि यदि ब्रिटिश सरकार ने ...तीय संविधान द्वारा निर्मित संविधान स्वीकार नहीं किया तो जनक्रान्ति उमड़ पड़ेगी।

की स्वतन्त्रता के पश्चात् उन्होंने किसी पद पर रहना स्वीकार नहीं किया। 1948 में भारतीय य कांग्रेस से अलग होकर पहले भारतीय समाजवादी दल एवं बाद में प्रजा समाजवादी पार्टी ी। 1952 में वे विनोबा भावे द्वारा चलाये जा रहे सर्वोदय आन्दोलन की ओर आकर्षित हुए शनैःशनैः उनका राजनीतिक दलों की उपादेयता में सन्देह पैदा होने लगा और वे गाँधीजी के के उपरान्त बाध्य परिवर्तन की अपेक्षा आन्तरिक परिवर्तन पर बल देने लगे और चम्बल में ड़ों डकैतों के हृदय-परिवर्तन एवं बिहार में नक्सलवाद को दूर करने में उन्हें काफी सफलता ल हुयी। 1973 के बाद उन्होंने भारत की दशा को सुधारने हेतु जनसंघर्ष की रण भेदी यी। जिससे देश में में सम्पूर्ण क्रान्ति लायी जा सके। उनके सद्प्रयासों के चलते ही ातिकाल के बाद मार्च 1977 में कांग्रेसी एकाधिपत्य के युग पर रोक लगी एवं जनता पार्टी की ार का गठन हुआ। इस दौरान उन्होंने युवाशक्ति को संगठित किया और उन्हें देश के ात्मक विकास हेतु आत्मोत्सर्ग के लिए प्रेरित किया। 1979 में लोकनायक मुर्दे की बीमारी के ग इहलौकिक संसार से विदा हुए परन्तु उन्होंने कभी भी अपने सिद्धान्तों से समझौता नहीं ा, न ही विदेशी या देशी दबाव में झुके।

.3 जय प्रकार नारायण के राजनीतिक विचार

प्रकाश नारायण अपने बचपन से ही गीता के 'कर्म सिद्धान्त' से अनुप्राणित रहे। जीवन पर्यन्त खण्डकर्मयोगी की भाँति भारत में समाजवाद लाने हेतु प्रयासरत रहे। उनकी शक्ति इस बात ी कि उन्हें राजनीतिक आर्थिक आधारों का स्पष्ट ज्ञान था। महात्मा गाँधी उन्हें समाजवाद का से बड़ा भारतीय विद्वान मानते थे। मार्क्स से प्रभावित होते हुए भी भारत में सशस्त्र क्रान्ति की क्षा गाँधी एवं विनोबा भावे की भाँति सर्वोदयी क्रान्ति से आमूल-चूल परिवर्तन के लिए क प्रयत्नशील रहे। प्रो० विमल प्रसाद ने उनके समाजवादी चिन्तन को तीन चरणों में ाजित करते हैं : (1) मार्क्सवादी युग (1933-40) (2) प्रजातांत्रिक समाजवाद का युग 40-52) (3) सर्वोदयी रूझान का युग (1952-64)। डा० आर०ए० प्रसाद भी इस विचार ा के तीन चरण गिनाते हैं : (1) मार्क्सवादी, (2) लोकतांत्रिक समाजवादी एवं (3) ोवादी चरण। सन् 1974 के बाद के घटनाक्रम के अनुसार उनके विचारों में चौथा आयाम भी ा जोड़ना चाहिए और यह आयाम है—सम्पूर्ण क्रान्ति का। जे०पी० के विचारों का सम्यक् चन अग्रलिखित है :

.3.0 जय प्रकाश नारायण एवं भारत में मार्क्सवाद का अनुपालन

प्रकाश अमेरिका में अध्ययन करने के समय मार्क्सवादी सिद्धान्तों से अनुप्राणित रहे और स आने पर इस श्रेणी में सम्मिलित हो गये। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी लन एवं भारतीय साम्यवादियों से अलग हुआ जन समूह किसी भी विधि से मार्क्सवाद से श नहीं है जैसा कि उन्होंने कहा कि 'समाजवाद का एक ही रूप और एक ही सिद्धान्त है : वह है—मार्क्सवाद।' उन्होंने भारतीय सन्दर्भ में मार्क्सवाद को अपनाए जाने पर बल दिया। ा कि उनके विचारों से स्पष्ट है कि यह प्रायः कहा जाता है कि भारत की स्थिति विशिष्ट है। का तात्पर्य यह है कि समाजवाद के आधारभूत सिद्धान्त का भारत में कोई उपयोग नहीं है। न भ्रान्तियों को सोचना कठिन होगा। हालांकि धन संचय की विधि भारत में उतनी ही सत्य है नी की दूसरे स्थानों पर तथा इस संयम को रोकने की विधि भी वही है जो दूसरे जगहों पर। ोंने भारतीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था की प्रकृति को मार्क्सवादी ढंग से व्याख्या की है।

सम्पत्ति के मालिकों द्वारा सामाजिक अधिशेष के स्वायतीकरण की वही प्रक्रिया अपनायी जाती है, जो कि पूँजीवादी देशों में है। सम्पत्ति की यह असमान वितरण प्रणाली ही वर्ग निर्माण को जननी है। इस प्रकार के असमान सम्पत्ति सम्बन्धों में आमूल-चूल परिवर्तन सरकार के माध्यम से करना चाहते थे। जोकि सार्थक संरचना के विकास द्वारा ही संभव है। वे राज्य का विनाश नहीं चाहते थे अपितु उसमें आमूल-चूल परिवर्तन लाने के पक्षधर थे। जय प्रकाश नारायण के अनुसार 'कोई भी दल समाजवाद की स्थापना तब तक नहीं कर सकता जब तक की यह राज्य की मशीनरी अपने हाथ में न ले लेवे, चाहे वह इसे जनता की इच्छा से प्राप्त करे या सरकार को गिराकर, लेकिन यह व्यर्थ है। समाजवादी राज्य की दमनकारी शक्तियों का यदि कहीं भी अस्तित्व है तो उन्हें जन समर्थन प्राप्त करना चाहिए। समाजवाद की प्राप्ति के साधनों पर जे०पी० और नरेन्द्र देव का एक ही मत है। यद्यपि नरेन्द्र देव ने प्रारम्भ से यह स्पष्ट किया था कि जनतांत्रिक साधन ही केवल समाजवाद की प्राप्ति का साधन है। राज्य की संरचना के परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं है।

10.3.1 जय प्रकाश नारायण और समाजवाद

जय प्रकाश जी ने अपनी पुस्तक 'समाजवाद क्यों' (वाई सोशलिज्म) के प्रारम्भ में लिखा कि समाजवाद एक व्यक्तिगत आचरण की संहिता न होकर सामाजिक संगठन की एक प्रणाली है। सामाजिक संगठन का उद्देश्य यह है कि पद, संस्कृति और अवसर की कष्टदायक विषमता को दूर किया जाय, जीवन की श्रेष्ठ वस्तुओं के पीड़ादायक असमान वितरण को समाप्त किया जाए और इस व्यवस्था को हटाया जाए कि अधिकांश व्यक्ति तो गरीबी, भूख, गंदगी, रोग एवं आज्ञनता ग्रसित रहें तथा कुछ थोड़े से व्यक्ति आरामक संस्कृति, पद व सन्ता का आनन्द उठायें।'' उनकी दृष्टि में समाजवाद आर्थिक और सामाजिक पुनर्निर्माण का सिद्धान्त है। समाजवाद का उद्देश्य समाज का समन्वित विकास करना है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन पर ब्रिटेन तथा अमरीका के समाजवादी विचारों का प्रभाव पड़ा है।

जय प्रकाश नारायण समाज में व्याप्त सामाजिक-आर्थिक समस्याओं का निदान समाजवाद के माध्यम से ढूंढा है। उन्होंने समाजवादी राज्य को मूलभूत मूल्यों की स्थापना के लिए नैतिकता पूर्ण जीवन के माध्यम से करने पर बल दिया। इस दृष्टि से ही उन्होंने लोकतांत्रिक राज्य की अनिवार्यता पर बल दिया।

समाजवादी होने के कारण जय प्रकाश ने स्पष्ट किया कि सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में व्याप्त विषमता का मूल कारण यह है कि उत्पादन के साधनों पर थोड़े से लोगों का नियंत्रण है जबकि बहुसंख्यक लोग उससे वंचित है। इसलिए उनके अनुसार समाज ऐसी व्यवस्था को जिसे मनुष्य की शान्ति एवं क्षमताओं को निष्फल करने वाली आर्थिक बाधाएं दूर हो सकें एवं सामाजिक एवं आर्थिक समानता स्थापित की जाए। समाजवाद की स्थापना उत्पादन के साधनों का सामाजिकरण करके ही की जा सकती है। उनके अनुसार समाजवाद केवल उद्योगों का राष्ट्रीयकरण एवं वेतन की समानता से ही नहीं लाया जा सकता है। अपितु उद्योगों के राष्ट्रीकरण ने तो नौकरशाही का शासन स्थापित कर दिया है और एक केन्द्रीत आर्थिक एवं राजनीतिक संरचना स्थापित होती है। उनका स्पष्ट मत था कि समाजवादी अर्थव्यवस्था की संरचना विकेन्द्रित होनी चाहिए। इसके लिए गृह उद्योगों कुटीर उद्योगों एवं छोटे उद्योगों की देश भर में स्थापना कर उत्पादन का लक्ष्य प्राप्त करना चाहिए।

जय प्रकाश नारायण समाजवादी समाज की स्थापना अहिंसक जन-आन्दोलन के माध्यम से करने पर बल दिया। समाजवाद की सफलता के लिए वे व्यक्ति की इच्छाओं को सीमित करने पर बल देते हैं। उनका विचार था कि समाजवादी समाज की स्थापना दीर्घ विकास एवं प्रयत्नों पर

रित होता है। वर्ग संघर्ष के बिना ही आत्मसंयम के द्वारा समाजवाद की चेतना दिखायी देती
वल समाजवादी बुद्धिजीवियों से समाजवाद स्थापित नहीं होता है। वास्तविक परिवर्तन तो
करने वाले श्रमिकों तथा पूंजीवादी समाज के शोषित वर्गों के समर्थन से ही संभव है।
त वर्ग द्वारा शोषण का विरोध सामाजिक व्यवस्था को नष्ट करके एक शोषणविहीन
जवादी समाज की स्थापना में सहायक बनता है। बुद्धिजीवियों द्वारा इस संघर्ष में वैचारिक
ण का कार्य किया जाता है। जिससे आन्दोलन को वैचारिक धरातल मिलता है। समाजवाद
स्थापना के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में दो स्तर दिखाई पड़ते हैं—एक समाजवादियों द्वारा वर्ग-
के माध्यम से शक्ति पर नियन्त्रण करके तथा दूसरा समाजवादी कार्यक्रमों को क्रियान्वित
अर्थात् एक क्रान्ति एवं वर्ग संघर्ष के माध्यम से और दूसरा लोकतांत्रिक तरीकों से
जवाद की स्थापना हो सकती है, किन्तु लोकतांत्रिक तरीकों से समाजवाद की स्थापना वहीं
व है जहाँ राजनीतिक लोकतंत्र पूर्णतया स्थापित हो चुका हो और श्रमिक वर्ग ने एक
शाली राजनीतिक दल बनाकर कृषकों तथा निम्न मध्यम वर्ग को अपने साथ कर लिया हो।

। में, जय प्रकाश नारायण क्रान्तिकारी समाजवाद के स्थान पर लोकतांत्रिक समाजवाद की
ना चाहते थे। वे यह भी मानते थे कि समाजवाद एवं भारतीय संस्कृतिक में विरोधाभास नहीं
पितु भारतीय संस्कृति के मूल्यों को पूरी तरह सुरक्षित रखते हुए भी हम देश में समाजवाद
स्थापना कर सकते हैं। भारत की परम्पराएं शोषणवादी नहीं है वरन् वसुधेव, कुटुम्बकम् एवं
ी सहयोग ही इसका मूल आधार है। साथ ही भारत की संयुक्त परिवार प्रणाली एवं जाति
रा में भी हमें उदारवादी लक्षण स्पष्टतया दृष्टिगोचर होते हैं। अतएव भारतीय संस्कृति एवं
जवाद के परस्पर विरोधी भ्रामक है बल्कि दोनों के साहचर्य से ही समाजवादी समाज की
ना संभव है।

3.2 आधुनिक लोकतन्त्र एवं जय प्रकाश नारायण

प्रकाश नारायण आधुनिक प्रजातन्त्र एवं उसकी कार्यप्रणाली की तीव्र भर्त्सना को है। वे
तन्त्र की समस्या को मूलत: नैतिक समस्या मानते थे एवं गाँधी जी तथा बिनोवा भावे की
ही इसके नैतिक आधार पर बल देते हैं। 1970 में जय प्रकाश नारायण बनारस हिन्दू
विद्यालय के दीक्षान्त भाषण में आधुनिक लोकतंत्र एवं उसकी राजनीति पर प्रहार करते हुए
इगार व्यक्त किये थे आज की राजनीति में विश्रंखलता फैलती जा रही है। दलों के आदर्शों के
ार की अपेक्षा उनका स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण आदर्शों का अब मूल्यन, व्यक्तिगत तथा विशेष
की पूर्ति के लिये दल निष्ठा का परिवर्तन, विधायकों का क्रय-विक्रय, दलों की आन्तरिक
ासनहीनता, उनके बीच अवसरवादी मित्रता तथा सरकारों की अस्थिरता आदि आज के
रणीय विषय बन गये हैं।'' उन्होंने आगे कहा कि ''लोकतन्त्र की समस्या मूलत: नैतिक
या है। लोकतंत्र के लिए संविधानों, शासन प्रणालियों, दलों एवं चुनावों—इन सभी बातों का
व है। पर जब तक जनता में समुचित नैतिक और आध्यात्मिक गुणों का विकास नहीं हो
तब तक संविधान एवं राजनीतिक प्रणालियाँ लोकतन्त्र को सफल नहीं बना सकती।''
तंत्र तभी सफलतापूर्वक संचालित किया जा सकता है जब देश के नागरिक सत्यप्रिय,
सावादी, स्वतन्त्रता प्रेमी, दमन का अहिंसात्मक प्रतिकार करने की उनमें क्षमता हो, वे
ोग और सहअस्तित्व में पूरा विश्वास रखते हों। साथ ही उनमें सहिष्णुता, कर्तव्य परायणता
दायित्व तथा समानता की भावना से परिपूर्ण हों।

प्रकाश नारायण आधुनिक संसदीय पद्धति को दलगत राजनीति पर आधारित होने के कारण
युक्त बताते हुये कहते है कि अनुभव बताता है कि आज के व्यापक निर्वाचनों में जिसमें
शाली केन्द्र नियन्त्रित शासन, दल द्वारा प्रचुर मात्रा में धन और कपटपूर्ण साधनों से गोलमाल
ाया जाता है, मतदाता की अपेक्षा दलों और प्रचार साधनों के पीछे निहित शक्ति तथा हितों का
निधित्व होता है। नौकरशाही की शक्तियों में निरन्तर बृद्धि होती जा रही है तथा सरकारों

अधिकारियों तथा कर्मचारियों पर जनता की निर्भरता बढ़ती जा रही है। प्रशासक का रवैया 'सेवक' का न होकर 'स्वामी' का होता जा रहा है।''

आधुनिक लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों की भूमिका से जय प्रकाश असन्तुष्ट थे। यह दलीय राजनीति जनता के नैतिक चरित्र को गिराती है और उसे स्वतन्त्र मनन, विचार और अभिव्यक्ति का वातावरण प्रदान नहीं करती। आज राजनीतिक दल जनता में विभाजन एवं फूट पैदा करते हैं। दलीय सत्ता का बोलबाला है अतएव जनता शासन में स्वतन्त्रतापूर्वक भागीदारी नहीं कर पाती। ये दल तो वास्तव में राजनीतिज्ञों के ऐसे शक्तिशाली समूह हैं जो जनता के नाम से शासन करता है और लोकतन्त्र तथा स्वशासन का भ्रम फैलाता है। इसका दूसरा अभिशाय है कि यह सामाजिक कल्याण के लिए राजकीय सत्ता पर निर्भर रहता है। यह दलीय पद्धति जनता को अनुप्रेरित नहीं करती, उसकी वास्तविक शक्ति का विकास नहीं करती, उसमें उपक्रम को प्रोत्साहित नहीं करती, अपितु जनता को भेड़ की स्थिति में बनाए रखती है। वास्तव में भारत में लोकतन्त्र नहीं बल्कि दलतन्त्र है जहाँ पर कि धन, संगठन और प्रचार पर आधारित राजनीतिक दल लोगों पर शासन करता है।

जय प्रकाश आधुनिक निर्वाचन पद्धति से सहमत न थे क्योंकि उनका विश्वास था कि ये निर्वाचन जनता को कोई नियन्त्रणकारी सत्ता नहीं सौंपते। इसे प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली में अनेकों दोष भरे पड़े हैं। इनसे जनता को कोई वास्तविक शिक्षा प्राप्त नहीं होती। देश की गम्भीर आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिए आवश्यक है कि आम चुनाव की पद्धति को समाप्त किया जाय। वर्तमान निर्वाचित सदस्य काम करते रहे, उनमें से कुछ को समयान्तर बदल दिया जाये। शक्ति एवं सत्ता का हस्तान्तरण एवं प्रशासन का विकेन्द्रीकरण तब तक नहीं हो सकता जब तक कि स्थानीय स्वशासन के केन्द्र तथा सत्ताओं की स्थापना नहीं होती और जब तक कि सरकार के विभिन्न अंगों में वैधानिक तथा चेतन संबंध न हो। इस संबंध में एक विस्तृत योजना प्रस्तुत करते हुए जय प्रकाश का कहना था ग्राम सभा एवं मतदाता परिषद के माध्यम से चुनाव होने चाहिए। एक चुनाव क्षेत्र में ठीक ढंग से बुलायी गयी आम सभा में प्रत्येक ग्राम सभा मतदाता समिति जिसे मतदाता परिषद कहा जायेगा के लिए दो प्रतिनिधि चुने। इसके बाद मतदाता परिषद की बैठक हो, जिसके लिए मतदाता परिषद् अपने उम्मीदवार खड़ा करे। इसका अर्थ यह है कि राज्यविधायिका या संसद से संबंधित ग्राम सभाएं निर्वाचन क्षेत्र के किसी केन्द्रीय स्थान पर निर्वाचित प्रतिनिधियों की बैठक आहूत करे। उम्मीदवारों के नाम आमंत्रित किए जाये। तत्पश्चात प्रत्येक प्रस्तावित तथा समन्वित नाम के लिए मतदान हो। वे उम्मीदवार जिन्हें अमुक मत संख्या (30-35%) से अधिक मत मिल जाये उन्हें उस राज्य की विधायिका या संसद का उम्मीदवार घोषित कर दिया जाय। लोकतन्त्र के उचित संचालन के लिए यह अपेक्षित है कि मतों का विभाजन यथा सम्भव कम हो। प्रत्येक मतदाता परिषद एक सीट के लिए केवल एक ही उम्मीदवार खड़ा करे।

जय प्रकाश द्वारा प्रस्तावित यह निर्वाचन पद्धति ग्राम सभा को शासकीय मशीनरी का मूल आधार मानकर चलता है और लोकतन्त्र के ऊपरी स्तर को नीचले स्तर से मिलाती है। लोकतांत्रिक सिद्धान्त में एक दोष यह है कि एक निर्वाचन क्षेत्र में निर्वाचित प्रतिनिधि के चाहे जितने विरोधी से, फिर भी वह पूरे क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करने वाला समझा जाता है। इस दोष को दूर करने के लिए ही यह उचित होगा कि केवल एक उम्मीदवार ही खड़ा किया जाय। यदि ऐसा संभव न हो सके तो निम्नलिखित पद्धतियाँ काम में लायी जा सकती हैं।

(1) मतदाता परिषद द्वारा निर्वाचित उम्मीदवारों के नाम उस क्षेत्र के समस्त ग्राम सभाओं को भेज दिया जाए एवं तत्पश्चात प्रत्येक उम्मीदवार के नाम पर मतदान हो। सर्वाधिक मत प्राप्त उम्मीदवार के संबंध में एक घोषणा प्रेषित की जाय कि ग्राम सभा उच्चतर स्थान के लिए उसे प्रतिनिधि के रूप में भेजना चाहती है। ऐसे सभी उम्मीदवारों में से जिसे

सर्वाधिक मत प्राप्त हो, उस क्षेत्र से राज्य विधायिका या संसद (जिसके लिए वह चुना गया हो) के लिए सदस्य घोषित कर दिया जाए।

प्रत्येक ग्राम सभा की बैठक में हरेक उम्मीदवार को मिलने वाले मतों को नोट किया जाय ताकि पूरे निर्वाचन क्षेत्र की विभिन्न ग्राम सभाओं की बैठक में प्रत्येक उम्मीदवार को प्राप्त मत गिने जा सके और सर्वाधिक मत प्राप्त व्यक्ति उस निर्वाचन क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करे।

एव इससे स्पष्ट है कि जय प्रकाश जी दल निरपेक्ष लोकतन्त्र के समर्थक थे। साथ ही उनका भी मानना था कि मतदाताओं का कर्त्तव्य मतदान के साथ ही समाप्त नहीं हो जाता अपितु चित प्रतिनिधि और मतदाता के बीच नियमित सम्पर्क रहना चाहिए, जिससे वे परस्पर ा-अपने उत्तरदायित्वों का ठीक ढंग से निर्वहन कर सके। लोकतन्त्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यही है कि जनता अपने मामलों का कहा तक स्वयं प्रबन्ध करती है। उन्होंने पश्चिमी ढंग के तंन्त्र की आलोचना की। वे लोकतन्त्र को पुर्नगठित कर उसे सामुदायिक समाज एवं न्द्रकरण पर आधारित करना चाहते थे। वे पश्चिम के लोकतन्त्र को निर्वाचित अल्पतंत्र कहते ासमें जनसामान्य की भागीदारी नगण्य रहती है। वे पाश्चात्य लोकतन्त्र को व्यक्तिवादी, ज पर आधारित मानते थे। ऐसे लोकतन्त्र में राजनीति केवल मत प्राप्त करने का ढंग मात्र र रह गयी है। ऐसे में व्यक्ति आंगिक एकता का प्रतीक न रहकर एक पृथक् इकाई के रूप खाई देता है। उन्होंने लोकतन्त्र को इन बुराईयों से बचाने के लिए प्राचीन भारतीय समाज के य एवं व्यवसायात्मक समुदायों का आदर्श अपनाने पर जोर दिया। उन्होंने यह सुझाया कि तन्त्र के विकेन्द्रीकरण को कठोर नीति से लागू किया जाए। वे समाज का पुनर्निर्माण मेड की भाँति करना चाहते थे अर्थात् सबसे नीचे स्तर पर ग्रामीण समाज और उस पर य जिला स्तरीय, प्रान्त स्तरीय एवं राष्ट्रीय समुदायों की स्थिति स्वीकार करते हैं। इनमें से क स्तर पर सामुदायिक जीवन का दृष्टिकोण विकसित करना होगा। समस्त समुदायों के र्यों को सामान्यत: सामुदायिक जीवन की एकीकृत करता है।

प्रकाश के अनुसार लोकतन्त्र की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि व्यक्ति राज्य पर कम से आश्रित रहे। लोकतन्त्र का पूर्व विकास तभी हो सकता है जबकि जनता विभिन्न प्रकार के ाक एवं सांस्कृतिक संगठनों के माध्यम से सार्वजनिक कार्यों में भागीदारी करे। ऐसी लोक ाओं की स्थापना की जाए जिसमें व्यक्ति आत्मनिर्भर होकर अपने स्वयं के कार्यों तथा जीवन को ऊँचा उठाने के लिए कटिबद्ध रहे। इसके लिए श्रमिक संगठनों की स्थापना की जाए, में सहकारी समितियों की रचना की जाये तथा युवा वर्ग एवं बालकों को स्वैच्छिक संघों सेवा करने के लिए प्रेरित किया जाये।

3.3 लोकतांत्रिक समाजवाद एवं जय प्रकाश

प्रकाश लोकतांत्रिक समाजवाद के पक्षधर थे। वे इस बात को मानने के लिए तैयार न थे कि क क्रान्ति से ही पूँजीवाद समाप्त हो सकता है। आज की परिस्थितियाँ में शान्तिपूर्ण उपायों स समाजवाद की स्थापना हो सकती है। अपने राजनीतिक विचारों को व्याहारिक रूप में लाने के ही उन्होंने 1974 में जनतन्त्र समाज के रूप में एक निर्दलीय संगठन पर बल दिया। अपने ाटन भाषण में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि लोगों के सहयोग के बिना यह संस्था नहीं चल ती। इस संगठन में शामिल होने का लोगों से आग्रह करते हुए उन्होंने कहा कि (1) चुनाव र्च घटाने का रास्ता खोजना ही होगा, (2) छात्रों को आगे बढ़कर आन्दोलनों में सक्रिय दारी करनी पड़ेगी, (3) चुनाव पद्धति में व्यापक परिवर्तन करना होगा एवं (4) बिना मा चलाये, अभियुक्तों को जेल में न रखा जाए। जनतन्त्र समाज में निम्न मुद्दे शामिल किये

(1) मौजूदा चुनाव पद्धति के विकल्प की तलाश,

(2) चुनाव में ईमानदारी पर बल,

(3) लोकतंत्र एवं स्वाधीनता के बारे में जनमत को जागृत करना और दल-बदल विधेयक, आपत्ति जनक मुद्दों का विरोध,

(4) लोगों में नागरिक स्वाधीनताओं के लिए जागरूकता पैदा करना,

(5) शान्तिमय एवं विधिसम्मत तरीकों से आवश्यकतानुरूप विरोध प्रदर्शन करना,

(6) समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार के विरुद्ध लोगों का ध्यान आकृष्ट करना एवं इसे दूर करने पर बल,

(7) सार्वजनिक जीवन से जातिवाद एवं अन्तर्राष्ट्रीयता के कुप्रभावों को उजागर करना,

(8) सभी के लिए एक जैसी नागरिक संहिता के लिए प्रयास करना,

(9) लोकतन्त्रीय एवं शान्तिपूर्ण उपायों से जनता के सांस्कृतिक अधिकारों की रक्षा के प्रयास करना,

(10) प्रादेशिक भाषाओं के समाचार जगत की स्वाधीनता और निर्भरता की रक्षा के प्रयत्न करना।

यद्यपि जय प्रकाश जी के नेतृत्व में गठित यह जनतांत्रिक समाज आप व्यावहारिक अस्तित्व में भले ही न हो परन्तु भविष्य के समाज जिसमें समभाव एवं सर्वकल्याण निहीत हो और आदर्श की स्थापना की दृष्टि से उनके सम्पूर्ण क्रान्ति की दिशा में उनके ये कार्यक्रम दिशाबोधक हो सकते है।

10.3.4 जय प्रकाश नारायण एवं सर्वोदय

जय प्रकाश पर गाँधी के विचारों का अप्रतिम प्रभाव पड़ा वे उनके सर्वोदय दर्शन में विश्वास करते थे। वे 1952 तक आते-आते दलगत एवं सत्ता की राजनीति से निराश हो चुके थे अतएव 1952 में वे बिनोवा भावे के नेतृत्व में चलाये जा रहे सर्वोदय आन्दोलन की ओर आकर्षित हुए। सर्वोदय आन्दोलन से उन्हें अपने व्यावहारिक जीवन में उतरने का अवसर मिला। अप्रैल 1954 में उन्होंने संपूर्ण जीवन को सर्वोदय के प्रति समर्पित कर दिया और प्रजा सोशलिष्ट पार्टी के नेता पद का त्याग करके उन्होंने 1954 ई० में शकोदर में एक आश्रम स्थापित किया एवं सर्वोदय आन्दोलन व ग्रामोत्थान के लिए नए कार्यक्रमों की शुरूआत की। उनके अनुसार सर्वोदय का लक्ष्य समाज की सभी वर्गों एवं व्यक्तियों का कल्याण है। सर्वोदय के पाँच आधार हैं—

(1) जाति रहित एवं वर्गरहित समाज की स्थापना करना,

(2) सार्वजनिक क्षेत्र में स्वच्छ एवं कुशल प्रशासन,

(3) सामाजिक व्यवस्था का आधार विकेन्द्रकरण,

(4) समस्त शक्ति का स्त्रोत जनता को प्राप्त होना, एवं

(5) अधिकारी वर्ग द्वारा अपने आपको जनता का स्वामी नहीं अपितु सेवक समझना।

जय प्रकाश के अनुसार सर्वोदय सामाजिक परिवर्तन लाने का एक प्रमुख साधन है। यह सामाजिक क्रान्ति का ठोस उपाय है। इसमें समाजवाद की स्थापना के अधिकांश कार्यक्रम सम्मिलित है। इसका आदर्श एक अहिंसक शोषण रहित सहकारिता के आधार पर स्थापित समाज

र्वोदय की योजना में वर्तमान प्रतियोगी अर्थव्यवस्था के स्थान पर सहयोग पर अधारित ाजिक अर्थव्यवस्था स्थापित की जायेगी। कृषि भूमि पर स्वामित्व का अधिकार जमीन जोतने को दिया जायेगा। बंजर भूमि पर सामूहिक खेती की जायेगी और उन्हें कृषि योग्य भूमि में र्तित किया जायेगा। उद्योगों का विकेन्द्रीकरण किया जायेगा, बैंक और बीमा कम्पनियों का यकरण किया जायेगा तथा सार्वजनिक राजस्व का पचास प्रतिशत भाग ग्राम पंचायतों द्वारा किया जायेगा। जय प्रकाश के अनुसार ग्राम पंचायतों को फिर से सबल बनाने और बहुमत थान पर सर्व सम्मत निर्णय किये जायेंगे। जिससे किसी एक वर्ग, जाति या समुदाय का ही वरन् पूरे समाज का कल्याण होगा, यही सर्वोदय का मूल लक्ष्य है।

3.5 परिवर्तन की कुंजी—लोकशक्ति

ाजिक परिवर्तन की खोज में जय प्रकाश नारायण साम्यवाद से समाजवाद, उससे गाँधीवाद अन्तत: सर्वोदय की विचार यात्रा की। उनका यह स्पष्ट आग्रह था कि यह विशाल भारतीय ज जो सदियों से सोया पड़ा है, एक ऐसे आधुनिक समाज में रूपान्तरित हो जाये, जहाँ र्थिक न्याय पर आधारित लोकतन्त्र का वर्चस्व हो। एक बार उन्होंने अपने सपनों के भारतीय ज के चित्र को परिभाषित करते हुए कहा, 'यह ऐसा लोकतांत्रीय समाज होगा। जिसमें क नागरिक श्रमिक होगा और प्रत्येक नर-नारी में समानता होगी, सबको समान अवसर नब्ध होंगे। प्रयोजन में इतना अन्तर नहीं रहेगा कि वर्ग-भेद खड़ा हो पाये, जहाँ सारी सम्पत्ति स्वामी समाज रहेगा, जहाँ प्रगति योजनाबद्ध होगी, प्रेम आनन्द से समन्वित होगा, जीवन ाक सम्पन्न और सुन्दर होगा।''

प्रकाश का लक्ष्य सदैव अपरिवर्तित रहा, परन्तु जिस समस्या से वे अनेक मार्गों से चलकर ते रहे, वह यह थी कि लक्ष्य कैसे प्राप्त किया जा सके। तत्कालीन विचारकों एवं नेताओं में उनमें इस साधन का ही अन्तर था। वे अधिकांश नेताओं से भिन्न इसलिए थे कि उन लोगों विश्वास था कि सत्ता ही इन प्रश्नों का उत्तर है, परन्तु जय प्रकाश इस मत से असहमत थे। ंने इसे अस्वीकार किया कि अभीष्ट सामाजिक परिवर्तन लाने और समाज की सेवा करने के ; उन्हें शासन पर अधिकार करना पड़ेगा एवं राजनीतिक दल इस उद्देश्य की प्राप्ति में अहम् ाका का निर्वहन करते है। उनका स्पष्ट मत था कि राजनीतिक दलों को तो सत्ता संघर्ष, सत्ता त एवं सत्ता भोग में ही सर्वाधिक आनन्द और आकर्षण की अनुभूति होती है। वे विभिन्न ीतिक दलों द्वारा संचालित प्रतिरोध तथा प्रदर्शनों के हेतु उठाये गये कदमों (आन्दोलन द) से भी संतुष्ट न थे क्योंकि उनको लगा कि ये जनसमाज में अपने भाग्य निर्माता सत्ताधीशों चापलूसी एवं उनकी इच्छाओं के अनुरूप काम करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करते हैं। उनका ाह था कि लोग अपने दुराग्रहों का परित्याग कर परस्पर सहयोग के आधार पर सहभागिता । उनके अनुसार जनकार्य केवल स्वयं सेवक लोग ही जनता के बीच जाकर, उन्हीं के बीच र धैयपूर्वक उन्हें अपनी समस्याओं के समाधान के लिये तैयार करेंगे, इस पवित्र कार्य की ना करने की शिक्षा अपने त्याग के उदाहरण से प्रेरित कर सकेंगे। उनके अनुसार राष्ट्र के र्निर्माण के लिए स्वयंसेवकों की एक विशाल सेना की आवश्यकता है। गाँधी जी भी हर एक के लिये कम से कम एक स्वयं सवेक अर्थात छ: लाख गाँवों के लिये छ: लाख देश भक्त ं सेवक चाहते थे। वे तीव्र त्रेदना के साथ पूछते हैं कि 'क्या हमारी 40 करोड़ की जनसंख्या , लाख स्वयं सेवक नहीं मिलेंगे? क्या हमारे देश में युग की चुनौती को स्वीकार कर देश के ए अपनी सेवाएँ समर्पित करने वाले पर्याप्त युवक-युवतियों का अभाव है?'

प्रकाश जी ऐसे समर्पित स्वयं सेवकों, सक्रिय कार्यकत्ताओं की आवश्यकता बड़ी तीव्रता के ा अनुभव करते थे, जो अपने आदर्शों और सर्म्पण के भाव से प्रेरित हों, जिसके अभाव में ी से बड़ी योजनाएँ बालू की ढेर साबित होगी, असफल हो जायेगी। वेतनभोगी सरकारी या

गैरसरकारी कर्मचारियों से इस प्रकार के गुणों, आदर्शों या ध्येयवादी विचारों के अपेक्षा करना उचित न होगा। लोक शिक्षण एवं लोकशक्ति जागृत करके ही विशेषता गाँवों में, पुनर्निर्माण और विविध योजनाओं को फलीभूत किया जा सकता है। देश में सफल लोकतंत्रीय व्यवस्था और प्रजातंत्रीय प्रक्रिया के लिए भी इसी प्रकार के सतत् जागरूक जन-आन्दोलन की आवश्यकता है जिसके संचालन का कार्यभार इन स्वयं सेवकों के मजबूत एवं दृढ़ इरादों पर टिका होगा और अभिष्ट परिवर्तन लाने में समर्थ हो सकेगा।

10.3.6 जय प्रकाश नारायण एवं समग्र क्रान्ति की अवधारणा

जय प्रकाश ने 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के सिद्धान्त को विकसित किया। अपनी जेल डायरी में उन्होंने स्पष्ट किया कि सम्पूर्ण क्रान्ति सात क्रान्तियों का मिश्रण है सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, सैद्धान्तिक या वैचारिक, शैक्षिक आध्यात्मिक एवं वैतिक। जे०पी० की सम्पूर्ण क्रान्ति सर्वोदय समाज एवं दलें विहीन प्रजातन्त्र सिद्धान्त का एक विस्तार है। यहाँ उन्होंने सांस्कृतिक एवं नैतिक आयामों पर बल दिया। सम्पूर्ण क्रान्ति लाने में युवा पीढ़ी की महत्वपूर्ण भूमिका होगी। उन्हीं को नेतृत्व करना है। इसी दृष्टि से 24 मार्च 1974 को उन्होंने बिहार आन्दोलन को जन्म दिया। जिसके दो लक्ष्य थे— कांग्रेस का विकल्प तैयार करना तथा समाज की सम्पूर्ण बुनियाद को बदलना। बिहार आन्दोलन की दो दिशाएँ थी—सम्पूर्ण क्रान्ति की ओर बढ़ना और लोकतन्त्र को संतुलित करने की व्यवस्था करना। उनका स्पष्ट मत था—'सम्पूर्ण क्रान्ति की जो मेरी धारणा है, उसमें एक ऐसा मन्थन चाहिए जिसमें सब मिल जाये और एक नयी चीज तैयार हो।' उन्होंने जोर देकर कहा समग्र क्रान्ति का अर्थ केवल समाज की बाध्य संरचना में ही परिवर्तन लाना नहीं है अपितु मानवीय चेतना में भी उतना ही सार्थक परिवर्तन लाना है।

सम्पूर्ण क्रान्ति के सम्बन्ध में वे मिश्रित अर्थव्यवस्था विकेन्द्रितकृत राजनीति को आवश्यक मानते थे, जिससे जनता को निर्णय प्रक्रिया में भागीदारी का अवसर मिलेगा एवं स्वायत्त सरकार का गठन होगा जहाँ जनता अपना शासन स्वयं संचालित करेगी। इस दृष्टि से समाज का सम्पूर्ण ढाँचा ही बदलना होगा। सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तन लाने होंगे। भ्रष्टाचार समाप्त करना होगा। सरकार को समाज में फैली अन्याय एवं शोषण तथा अनीति को दूर करने के लिए सार्थक उपाय करने होंगे। उन्होंने बिहार आन्दोलन के समय अपने एक भाषण में स्पष्ट किया 'एक नये समाज का निर्माण करना होगा जो आज के समाज से बिल्कुल भिन्न हो, जिसमें बुराईयाँ कम से कम हो। हम ऐसा भारत चाहते है जिसमें सब सुखी हो, जो आर्थिक परिवर्तन हो उसका फल यह हो कि जो सबसे नीचे के लोग हैं, चाहे वे खेतिहर मजदूर हो, भूमिहीन हो, मुसलमान हो, हरिजन हो, आदिवासी ये जो सबसे नीचे है उनको पहले उठाना चाहिए।'

उन्होंने बड़े ही मनोभोग से समझाया कि 'यह क्रान्ति शान्ति पूर्वक लानी है और समाज की लोकतंत्रीय व्यवस्था एवं प्रजातंत्रीय जीवन-पद्धति को हानि पहुँचाये बिना लानी है।' सम्पूर्ण क्रान्ति से जय प्रकाश का तात्पर्य हमारी सामाजिक व्यवस्था के आधारभूत मूल्यों का विनाश कभी नहीं था। उनका मन्तव्य था सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सर्वतोन्मुखी परिवर्तन, परन्तु यह अतीत से सूत्र तोड़कर सर्वथा नवीन या अभिनव प्रारम्भ नहीं। उनके जीवन में 'सम्पूर्ण क्रान्ति' का अभिष्ट भले ही न प्राप्त हो पाया हो, परन्तु उन्होंने अस्वस्थ होते हुए भी सारे देश में प्रयास किया और धैर्यपूर्वक इसकी अवधारणा का स्वरूप लोगों को समझाया। इसने देश व्यापी जन-आन्दोलन को जन्म दिया और उससे बड़ी आशाओं एवं आकांक्षाओं का उदय हुआ, जिससे तात्कालिक सत्ता की चूलें हिल गयी और उसे आत्मरक्षार्थ अपातकाल की घोषणा करनी पड़ी एवं केन्द्र एवं राज्य में जनता सरकार का गठन हुआ। परन्तु उनके गिरते स्वास्थ्य के कारण समग्र क्रान्ति की धार मन्द पड़ी, फिर भी इसमें राष्ट्र के उज्जवल भविष्य के बीज विद्यमान है।

10.3.7 राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रवाद संबंधी विचार

प्रकाश जी ने भारत की एकता के लिए राष्ट्रवाद की अवधारणा का समर्थन किया। उनका
ा था कि भारत की जनता हिमाचल से सेतुबन्ध रामेश्वरम तक सदियों से एक समान
कृतिक धरोहर की सहभागी रही है। जय प्रकाश ने धर्म निरपेक्षता को राष्ट्रवाद की अवधारणा
आधार माना है और हिन्दू राष्ट्रवाद की आलोचना की और उसे धर्म निरपेक्षता के मार्ग का
मानते थे। उनके अनुसार साम्प्रदायिक और धार्मिक आधार पर हिन्दू राष्ट्र की स्थापना स्वयं
सम्प्रदाय के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। उनके अनुसार धर्म निरपेक्षता ही राज्य तथा
जिक जीवन का सबल आधार हो सकता है। क्योंकि भारत एक विशाल बहुभाषी, अनेक
दायों, जातियों एव गालियों वाला राष्ट्र है। अतएव इसे एक राष्ट्र बनाने के लिए धर्म सापेक्षता
क सिद्ध होगी।

प्रकाश के अनुसार राज्य का धर्म निरपेक्ष होना ही राष्ट्रीय एकता के लिये पर्याप्त नहीं है। राज्य
ाथ-साथ सामाजिक जीवन में भी धर्म निरपेक्षता के आदर्श को मान्यता मिलनी चाहिए।
ीय समाज राष्ट्रवाद के साम्प्रदायिक पक्ष के प्रति जितना जागृत रहेगा उतना ही राष्ट्रीय एकता
बल प्राप्त हो सकेगा। भारतीय एकता की प्रक्रिया मूलत: बौद्धिक एवं आध्यात्मिक चेतना की
या है।

य एकता के साथ ही जय प्रकाश नारायण विश्व समाज के आदर्श को भी मानते थे। उनका
ा था कि संगठित सैनिकवाद तथा समग्रवादी व्यवस्थाओं ने जो विनाश का ताण्डव मचा रखा
सके मुकाबले में विश्व समाज ही एशिया तथा अफ्रीका की दलित मानवता के साथ न्याय
सकता है। विश्व शत्रुतापूर्ण शक्ति गुटों में विभाजित है और उनमें से प्रत्येक गुट अपने
च्च अधिकारों को जताने के लिए चेष्टरत है। आज राजनीति के दोषपूर्ण एवं कलह की पूजा
ही है, उसका प्रचार किया जाता है तथा उसे ही व्यवहार में लाया जा रहा है। इसके साथ-
सिद्धान्तहीन उद्यतता का भी बोलबाला है। ये सब बड़े अशुभ लक्षण हैं। उनके विचार में
संकट की घड़ी में बुद्धिजीवियों का यह कर्त्तव्य है कि विश्व समाज की भावनाओं का प्रचार-
र करें। आज विश्व की शक्ति का ध्रुवीकरण हो चुका है। दो गुट आमने-सामने खड़े है।
ा मुकाबला करने के लिए मानसिक क्रान्ति की आवश्यकता है।

.4 मूल्यांकन

प्रकाश नारायण ने भारतीय समाजवादी चिन्तन को पूर्ण रूप से योगदान दिया। उनका
ीतिक चिन्तन अनवरत गतिशील रहा है। प्रारम्भ में वे मार्क्सवाद से प्रभावित रहे तो आगे
कर गाँधीवादी समाजवाद के पक्षधर दिखाई पड़ते है। स्वाधीनता के बाद वे सर्वोदय एवं
न के समर्थक जान पड़ते है तो अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में बिहार में जन-आन्दोलन का
णेश कर समग्र क्रान्ति की ओर अभिमुख हुए। उनका यह महत्वपूर्ण योगदान रहा कि उन्होंने
त में समाजवादी आन्दोलन को कांग्रेस के झंडे के नीचे चल रहे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम के
सम्बद्ध कर दिया। आचार्य नरेन्द्र देव तथा जय प्रकाश नारायण ने समाजवादी विचारधारा को
ाज्यवादी राजनीतिक अधिपत्य तथा देशी सामन्तवाद की दासता से मुक्त करवाने की दिशा में
दिया। इस प्रकार उन्होंने समाजवादी चिन्तन को दो युद्धों का समरघोष बनाया—राष्ट्रीय
न्त्रता संग्राम तथा सामाजिक क्रान्ति। भारत के जर्जरित ग्रामीण समाज की विकराल दरिद्रता
सन्दर्भ में जय प्रकाश नारायण ने उन सामाजिक तथा यान्त्रिक बन्धनों के उन्मूलन पर बल
ा जो कृषि के उत्पादन में बाधा डाल रहे थे। इस प्रकार भारत में समाजवादी आन्दोलन को
न दिशा देने में उन्हें सदैव स्मरण किया जायेगा। उन्होंने स्पष्ट कहा कि समाजवाद के आर्थिक
ान्तों का निर्माण यूरोप में अवश्य हुआ है, किन्तु उसकी मूल आस्था का दर्शन प्रारम्भ से ही

भारतीय संस्कृति में विद्यमान है। समाजवाद का भारतीयकरण प्रस्तुत कर उन्होंने साम्यवादियों के रूसी मक्का-मदीना पर खारा व्यंग किया है।

जय प्रकाश के सामुदायिक लोकनीति के आदर्श ने ऐसे लोकतन्त्र का मार्ग प्रशस्त किया है जिसमें राजनीतिक दलों की अहम्मन्यता एवं अवसरवादिता के लिये कोई स्थान नहीं था। वे राजनीति को लोकनीति में परिवर्तित करना चाहते थे जिससे राज्य शोषण का प्रतीक न रहकर सेवा भाव का प्रतिरूप बन जाये। उन्होंने वर्तमान निर्वाचन पद्धति की उपादेयता पर प्रश्नचिह्न खड़ा किया और उसमें परिवर्तन की आवश्यकता पर अत्यधिक बल दिया। ग्राम सभा को आधारभूत आधार बनाकर लोकतन्त्र को वास्तविकता के धरातल पर लाये जाने के लिये राजनीतिक दलों के हस्तक्षेप को रोकने का विचार प्रतिपादित किया। उन्होंने जनशिक्षण से जनजाग्रति लाकर जनता को लोकतन्त्र सहभागी बनाये जाने पर अत्यधिक जोर दिया। इस दृष्टि से ग्राम पंचायतों के निर्वाचन सर्व सम्मति से कराये जाने के पक्षधर थे ताकि ग्रामीण समुदाय की शान्ति एवं सौहार्द्र न टूटे। यद्यपि उनके विचारों में आलोकचकों ने व्यावहारिता के बदले कल्पनाशीलता के आक्षेप लगाये हो, परन्तु उनके प्रेरणादायी अनुदानों से प्राय: सभी सहमत है। प्रो० विमल प्रसाद उन्हें भारतीय समाजवादी चिन्तन के 'मानस पिता' की संज्ञा देते हैं।

10.5 सारांश

जय प्रकाश नारायण भारतीय समाजवादी आन्दोलन के एक पुरोधा थे। उनके सम्पूर्ण राजनीतिक विचारों में बींसवी शदी की ऐतिहासिक शक्तिओं और संघर्षों का तथा सामाजिक कुंठा और सामाजिक क्रान्तियों का विवेचन है। उनके चिन्तन के उत्तरोत्तर विकास में स्वतन्त्रता, संघर्ष, समाजवादी सिद्धान्त, गाँधीजी का सान्नि रूप और आचार्य विनोबा भावे का विचार एवं सामिप्य महत्त्वपूर्ण तथ्य है। उनकी अभिरूचि प्रारम्भ से ही गम्भीर और गहन विषयों, समाज रचना, स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र, समाजवाद आदि के प्रति रही है। उनकी वैचारिक व्याप्ति की विशलता, मौलिक चिन्तन प्रगतिशील क्रान्तिकारी परिवर्तन की दिशा में हमें ले जाते हैं। उनकी वैचारिक सभ्यता और सामर्थ्य जयप्रकाश जी के जाज्वल्यपूर्ण व्यक्तित्व के अभिन्न हिस्से है। स्वाधीनता के बाद सर्वोदय एवं भूदान आन्दोलन के वे समर्थ प्रतीत होते है। वहीं अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में बिहार में जन-आन्दोलन का श्रीगणेश कर समग्र क्रान्ति की ओर अभिमुख हुए जिससे सामुदायिक लोकनीति के आदर्श को अपनाकर ऐसे लोकतन्त्र का मार्ग प्रशस्त होंवे, जिसमें राजनीतिक दलों की अहसम्यन्ता एवं अवसरवादिता के लिए कोई स्थान नहीं होगा।

10.6 उपयोगी पुस्तकें

1. जय प्रकाश नारायण, 'एप्ली फॉररिक--सट्रकश ऑफ दि इण्डियन पालिटी' 1962।
2. जय प्रकाश नारायण, 'फ्रास सोशलिज्म टू सर्वोदय' 1959।
3. जय प्रकाश नारायण, ''टूवर्ड स्ट्रगल' (युसुफ मेहरअली द्वारा संपादित, पद्मा पब्लिकेशन बम्बई, 1946।
4. जय प्रकाश नारायण, 'दि प्रिजन डायरी' 1977।
5. जय प्रकाश नारायण, 'हवाई सोशलिज्म'।
6. लक्ष्मी नारायण लाल, 'जय प्रकाश', मैकमिलन, दिल्ली, 1974।
7. एच०एल० सेठ, 'दि टेड फ्युगिटिव' जय प्रकाश नारायण, इण्डियन प्रिंटिंग प्रेस, लाहौर।

3. आर०के० पारिख, 'पालिटिक्स ऑफ जे०पी० मूवमेंट, रेडियेण्ट पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1977।

9. थॉमस वैन्थम एवं एल०के० डॉयच, 'मॉडर्न इण्डियन पोलिटिकल थॉट', सेज पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1986।

10. वी०पी० वर्मा, 'आधुनिक भारतीय राजनीति चिन्तन' लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 1987।

10.7 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. जय प्रकाश नारायण के समाजवादी विचारों का वर्णन कीजिये।
2. 'जय प्रकाश नारायण का सम्पूर्ण क्रान्ति का सिद्धान्त भ्रमित करने वाला है।' आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।
3. जय प्रकाश नारायण द्वारा प्रतिपादित 'दल विहीन प्रजातंत्र' की अवधारणा का परीक्षण कीजिये।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. 'सर्वोदय' पर जय प्रकाश नारायण के विचारों को लिखे।
2. 'राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रवाद' पर जय प्रकाश के विचारों को संक्षेप में दीजिये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. जय प्रकाश नारायण किस देश में विद्याध्ययन करते समय मार्क्सवाद के प्रभाव में आये?

   (a) अमेरिका (c) ब्रिटेन

   (b) सोवियत संघ (d) जर्मनी

2. जय प्रकाश नारायण की जन्मस्थली सिताबदियारा निम्न में से किस प्रान्त में स्थित है?

   (a) बिहार (c) महाराष्ट्र

   (b) उत्तर प्रदेश (d) राजस्थान

3. गाँधीजी द्वारा 1942 में 'भारत छोड़ो आन्दोलन' के आह्वान के समय जय प्रकाश भारत में किस जेल में बन्दी थे?

   (a) नैनी, उत्तर प्रदेश (c) बरेली, उत्तर प्रदेश

   (b) हजारीबाग, बिहार (d) कोल्हापुर, महाराष्ट्र

4. जय प्रकाश की योग्यता से प्रभावित होकर इसमें से किसने उनका नाम कांग्रेस की अध्यक्षता के लिए प्रस्तावित किया था?

   (a) नेहरू (c) मौलाना अबुल कलाम आजाद

   (b) नरेन्द्र देव (d) गाँधी

5. जय प्रकाश नारायण किस वर्ष कांग्रेस दल से अलग हुए?

(a) 1946 में (c) 1948 में

(b) 1947 में (d) 1953 में

6. जय प्रकाश नारायण द्वारा संपूर्ण क्रान्ति की दृष्टि से किस वर्ष बिहार आन्दोलन का श्री गणेश हुआ?

(a) 1973 में (c) 1975 में

(b) 1974 में (d) 1977 में

7. निम्न में कौन-सी रचना जय प्रकाश नारायण से संबंधित है?

(a) व्हाई सोशलिज्म (c) इतिहास चक्र

(b) सर्वोदय दर्शन (d) दिफ्यूचर ऑफ इण्डियन पालिट्रिक्स

8. निम्न में कौन-सी रचना जय प्रकाश नारायण से संबंधित नहीं है?

(a) फ्राम सोशलिज्म टू सर्वोदय (c) टुर्वड स्ट्रगल

(b) दिप्रिजन डायरी (d) सोशलिज्म एण्ड नेशनल रिवोल्युशन

9. निम्न में कौन-सा सिद्धान्त जय प्रकाश नारायण से सम्बन्धित है?

(a) संसदीय प्रजातंत्र (c) दलविहीन लोकतन्त्र

(b) सर्वहारा वर्ग की तानाशाही (d) इनमें से किसी में नहीं

10. जय प्रकाश नारायण के लोकतांत्रिक व्यवस्था का आधार दलगत राजनीति के स्थान पर आधारित था—

(a) ग्राम सभा एवं मतदाता परिषद द्वारा

(b) केन्द्र एवं राज्यों द्वारा

(c) ग्राम एवं जिलों के स्तर पर (d) इनमें से किसी द्वारा नहीं

10.8 प्रश्नोत्तर

1. (a) 2. (b) 3. (b) 4. (d) 5. (c)

6. (b) 7. (a) 8. (d) 9. (c) 10. (a)

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय

MAPS -06
आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन

ब्रण्ड

4

गांधीवादी चिन्तन

काई 11

हात्मा गांधी के राजनीतिक विचार

काई 12

ांधी का सामाजिक - आर्थिक दर्शन

काई 13

ांधी के आलोचक - सुभाषचन्द्र बोस, सावरकर

काई 14

हामना पं0 मदन मोहन मालवीय

ब्लॉक – 4 : गाँधीवादी चिन्तन का परिचय

हात्मा गाँधी (1869-1948) शास्त्रीय अर्थों में राजनीतिक चिन्तक या दर्शनकार नहीं थे। उन्होंने किसी सुनियोजित राजनीतिक व्यवस्था का प्रतिपादन नहीं किया। उन्हें किसी स्थापित राजनीतिक विचारधारा का समर्थक भी नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वह एक कर्मयोगी थे और इस तरह एक से मौलिक चिन्तक जो दार्शनिक मूल्यों या अवधारणाओं को अपने जीवन की प्रयोगात्मक कसौटी पर कसने के बाद स्वीकार करते हैं। वह एक सक्रिय राजनीतिज्ञ थे और दक्षिण अफ्रीका एवं भारत की त्कालीन राजनीति उनकी प्रयोगशाला थी, जिसमें उन्होंने सत्य, अहिंसा एवं सत्याग्रह सम्बन्धी आदर्शों ा प्रयोगिक परीक्षण किया। वस्तुतः गांधी जी ने राजनीति ही नहीं, अपने जीवन के समग्र व्यवहार को ी सत्य की प्रयोगशाला कहा। जीवन के प्रयोगों की कसौटी पर कसकर उन्होंने शास्वत मूल्यों का न्देश दिया और ऐसी अनुभूतियों से पूँजीभूत दार्शनिकता को ही गांधीवाद कहा जा सकता है। हम ले ही गांधीवाद शब्द का प्रयोग कर लें, परन्तु गांधी स्वतः इसके पक्षधर नहीं थे। उन्होंने कहा था क मैं किसी वाद का संस्थापक नहीं हूँ। मैं तो कुछ शास्वत मूल्यों का जीवन में प्रयोग कर रहा हूँ।

हात्मा गांधी भारत में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के महानायक थे। संघर्ष का लक्ष्य सुस्पष्ट बना रहे और ंघर्ष पथभ्रष्ट नहीं हो जाय, इसलिये उन्होंने कुछ दार्शनिक मान्यतायें प्रतिस्थापित कीं। यह स्थापनायें ोई दार्शनिक कल्पना मात्र नहीं थीं, बल्कि महात्मा गांधी तो उन्हें प्रयोग की व्यवहारिक कसौटी पर सने के उपरान्त ही स्वीकार करते थे। सत्य के आत्म साक्षात्कार तथा आध्यात्मिक एवं नैतिक जीवन ी अनुभूतियों पर आधारित गांधीवाद का इस प्रकार वैज्ञनिक स्वरूप प्रस्तुत होता है। गांधी पर दुनिया के सभी धर्मों की दार्शनिकता और समकालीन विचारधाराओं का प्रभाव था, लेकिन किसी विशिष्ट विचारधारा की सीमा में गांधी को बाँधना सम्भव नहीं। वस्तुतः महात्मा गांधी भारतीय और विश्वजनीन मकालीन सन्दर्भों में समान रूप से विराट समन्वय का प्रतीक महासागर थे, जिसमें अनेक नदियाँ मा जाती हैं। वैचारिक प्रवाहों के लिये मस्तिष्क खुला रखने के कायल महात्मा गांधी पर भारतीय नीषा एवं चिन्तन परम्परा तथा पाश्चात्य चिन्तन का समान प्रभाव था। गांधी जहाँ वेद, उपनिषद्, ीता, जैन एवं बौद्ध दर्शन तथा भारतीय संत परम्परा से प्रभावित थे, वहीं उन्होंने इसाइयत, इस्लाम था रास्किन, थोरों एवं टालस्टाय आदि से भी प्रभाव ग्रहण किया था।

ारतीय पुनर्जागरण आन्दोलन ने सुधारवाद एवं पुनरोत्थानवाद की दोहरी चेतना को जन्म दिया। र्मसुधार एवं समाजसुधार के क्षेत्र में आरम्भ इन पुनर्जागरण आन्दोलनों के राजनीतिक स्वरूप का ाकटीकरण हुआ तो सुधारवादी चेतना के प्रतिनिधिस्वरूप उदारवादी राष्ट्रीयता का और पुनरोत्थानवादी ेतना के प्रतिनिधिस्वरूप सांस्कृतिक-राष्ट्रवाद पर आधारित उग्र-राष्ट्रीयता का विकास होता है। इस दौर की मुख्य राजनीतिक संस्था भारतीय-राष्ट्रीय-कांग्रेस तथा राष्ट्रीय आन्दोलन में यह दोनों राजनीतिक ाराये क्रमशः नरम-दल एवं गरम-दल के रूप में समानान्तर प्रवाहित होती हैं। इनमें चिन्तन पद्धति और कार्यक्रमों के टकराव के स्वर साफ थे, लेकिन इतिहास की धारा में महात्मा गांधी का अभ्युदय न दोनों के समन्वय और संगम का प्रतीक बन जाता है। गांधीवाद और गांधी युग की राजनीति में ोनों धाराओं के उत्तमांश का गतिशील समन्वय तथा उनमें निहित वैचारिक जड़त्व का निषेध होता है। फलतः एक पुंजीभूत शक्ति एवं ऊर्जा के साथ भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन अपने इतिहास के एक नये ध्याय के साथ राष्ट्रीय-जनान्दोलन बन जाता है।

ाष्ट्रीय आन्दोलन के इस समूचे दौर पर गहरा प्रभाव डालने वाले गांधीवादी चिन्तन पर गांधी के ाजनीतिक गुरु गोपाल कृष्ण गोखले की आध्यात्मिक एवं नैतिक राजनीति की चेतना का पूरा प्रभाव था। नरम दलीय नेतृत्वकर्त्ता गोखले एवं नैरोजी को आर्थिक-राष्ट्रवाद की अवधारणाओं की छाप भी उस पर दृष्टिगोचर होती है। दूसरी ओर इन प्रभावों के साथ गोखले को गुरु मानने वाले गांधी जहाँ

लोकमान्य तिलक जैसे गरमदलीय नेता के स्वदेशी एवं बहिष्कार सरीखे ब्रिटिश सत्ता विरोधी सीधी कार्रवाई के कार्यक्रम अपनाते हैं, वहीं उनकी स्वराज्य, राष्ट्रीय शिक्षा एवं जनाधारवादी राजनीति की अवधारणाओं एवं शैली से भी प्रभावित नजर आते हैं। इस तरह इतिहास के प्रवाह में गांधी एवं गांधी-दर्शन रूपी संगम में नरम-दल और गरम-दल की वैचारिक रेखायें विलुप्त हो जाती हैं। ऐसे गांधीवादी चिन्तन में युग सन्दर्भ के अनुरूप समन्वयी गतिशीलता का गहरा पुट हैं।

बीसवीं सदी के दूसरे दशक में, जब भारतीय राजनीति में महात्मा गांधी का अभ्युदय एवं गांधीवादी चिन्तन दृष्टि की निर्णायक लोकमान्यता स्थापित हो रही थी, विश्व राजनीति को तीन तरह के राजनीतिक प्रयोग उद्वेलित किये हुये थे। एक का सोवियत प्रयोग केन्द्रित निरंकुश सत्तावाद की प्राचीर पर खड़े होकर मानवता को आकृष्ट करने वाले समता के सुनहरे सपने बिखेर रहा था। दूसरी ओर पश्चिम में उगा लोकतन्त्र का सूर्य उन्मुक्त व्यापार की उदारवादी सोच से चलकर पूंजीवाद के अन्धेरे में फँसता नजर आ रहा था। इनसे अलग एक तीसरा प्रयोग भी शुरू हुआ फासीवाद का जो योरोप के एक हिस्से में लोकतन्त्र को आहत कर अधिनायकवाद के मरुस्थल में घिसटता नजर आ रहा था। पूंजीवाद की केन्द्रित उत्पादन प्रणाली और उससे उपजी केन्द्रित पूंजी की सत्ता अथवा केन्द्रित अधिनायक राजसत्ता के कोष से यह सभी प्रयोग पीड़ित थे। इसी दौर में गांधीवाद का एक चौथा प्रयोग भारतीय राजनीति एवं उसके मुक्ति संघर्ष में शुरू होता है, जिसनें इन तीनों की असंगतियों का समाधान प्रस्तुत करते हुये चिन्तन एवं प्रयोग का एक वैकल्पिक स्वरूप प्रदान किया। पूंजी एवं सत्ता के विकेन्द्रीकरण, सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह, सहिष्णुता, सहअस्तित्व, सर्वोदय, साध्य एवं साधन की समान पवित्रता, आध्यात्मिक एवं नैतिक चेतना, उस पर आधारित लोकसत्ता तथा एक शोषणरहित समाज में व्यक्ति एवं समूह को सर्वांगीण विकास के अवसर की समानता जैसी अवधारणाओं ने गांधीवाद को एक मौलिक वैकल्पिक चिन्तन का रूप दे दिया। इन मूल्यों की प्रयोगशाला बना भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन दुनिया के इतिहास का बेमिसाल स्वातन्त्र्य-जनान्दोलन बन गया।

गांधीवादी चिन्तन : अध्ययन का महत्व

गांधीवादी चिन्तन जहाँ समकालीन भारतीय राजनीति एवं राष्ट्रीय आन्दोलन पर सर्वाधिक गहरा प्रभाव डालने में सफल हुआ, वहीं तत्कालीन विश्व राजनीति के राजनीति वेत्ता भी उसका गम्भीर मूल्यांकन कर रहे थे। अहिंसा, सत्याग्रह, साध्य एवं साधन की पवित्रता, मानवीय बन्धुत्व एवं सःअस्तित्व तथा नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन के गांधीवादी मूल्यों की यह महत्ता एवं प्रासंगिकता गांधी के बाद भी उत्तरोत्तर बढ़ती रहीं है। वस्तुतः गांधी जी ने इन आदर्शों के सहारे आधुनिक दुनिया को एक नयी दिशा दी, जिधर चलकर ही मानवता को सच्चे अर्थों में संरक्षित एवं संवर्धित किया जा सकता है। आज के अशान्त विश्व में तथा शस्त्र की अहंकारयुक्त प्रतिस्पर्धा एवं युद्ध की आतुरता से आक्रान्त विश्व में गांधीवाद का महत्त्व और बढ़ा है। आज की दुनिया में न केवल मनुष्य की असहिष्णुता उग्र होती जा रही है, बल्कि उसके चलते मानवता हिंसक आक्रामकता की विकृत हदों पर खड़ी है। हथियारों की होड़, धार्मिक एवं जातीय कट्टरवाद की उग्रता, बढ़ती आतंकवादिता के भयावह खतरों ने गाँधीवादी मूल्यों को और प्रासंगिक बना दिया है।

सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों पर टिकी राजनीति का जैसा चिन्तन एवं उस चिन्तन का जैसा प्रयोग महात्मा गांधी ने किया उससे भारतीय स्वतन्त्रता का संघर्ष दुनिया के मुक्ति संघर्षों का एक आदर्श एवं अनुकरणीय उदाहरण बन गया। महात्मा गांधी ने एक पददलित, पराभूत एवं पराधीन राष्ट्र के आम आदमी की सुप्त आत्मा को जिस तरह नैतिक शक्ति के सहारे जगाकर अपने पैरों पर न केवल आत्मविश्वासपूर्वक खड़ा कर दिया, बल्कि स्वतन्त्रता के महान लक्ष्य की ओर दृढ़ता से कदम बढ़ाने की ऊर्जा से अनुप्राणित कर दिया, उसकी मिसाल दुनिया के इतिहास में नहीं

ा। फलतः सारी दुनिया के लिये गांधीवादी चिन्तन पर आधारित यह राजनीतिक प्रयोग कुतूहल एवं त्सुकता का केन्द्र था। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन ने गांधीवाद का वैश्विक महत्व तिस्थापित किया।

धीवादी चिन्तन ने आधुनिक राजनीति के मूल चरित्र को बदलने का प्रयास किया। छल, कपट, र्तता एवं राग-द्वेष से पीड़ित राजनीति को धरातल पर खड़ा किया। साध्य के साथ साधन की पवित्रता ; संकल्प और भारत जैसी विराट जनसंख्या वाले देश के स्वातन्त्र्य जनसंग्राम में सत्याग्रह के साथ स संकल्प के सफल प्रयोग ने गांधीवादी राजनीति की शैली को अप्रतिम महत्व प्रदान किया।

ांधीवाद ने जिस तरह भारतीय राजनीति में समकालीन समानान्तर चिन्तनधाराओं के बीच वैचारिक एवं जनीतिक समन्वय स्थापित किया, नरम दल एवं गरम दल की लकीरों को मिटाकर एक पूंजीभूत जनीतिक जनशक्ति का राष्ट्रव्यापी स्वरूप खड़ा किया और उस जनशक्ति के सहारे स्वतन्त्रता की हादेवी को आवाहित करने वाले संघर्षात्मक महायज्ञ की ज्वाला को उत्तेजित कर दिया, उसने भी ांधीवादी चिन्तनदृष्टि की महत्ता स्थापित की। दूसरी ओर तत्कालीन विश्व में चल रहे राजनीतिक योगों की दार्शनिकता का सकारात्मक विकल्प प्रस्तुत करते हुये जिस तरह गांधी जी ने मार्क्सवाद, जीवादी-जनतंत्र एवं फासीवाद का वैचारिक प्रतिवाद किया उससे भी गांधीवाद का महत्त्व प्रतिष्ठापित आ।

ांधीवाद ने हमें एक व्यापक विश्वदृष्टि दी, जिससे मानव जीवन को मात्र राजनीतिक, सामाजिक या ार्थिक दृष्टि से देखने की जगह, समग्रता में देखने और विशेषतः नैतिक धरातल पर देखने की प्रेरणा ली। मानव के समग्र जीवन के विकास एवं उत्कर्ष के इस अभिनव दृष्टिकोण ने व्यक्ति की गरिमा ो स्थापित किया। दूसरी ओर उन्होंने केन्द्रित राजसत्तावाद को खारिज करते हुये समाज को महत्ता ी। वस्तुतः गांधी जी ने समाज-व्यवस्था, राजनीतिक संरचना एवं आर्थिक प्रणाली को नैतिक मूल्यो के रातल पर जिस प्रकार विकसित करने का स्वप्न देखा, वह समूची मानवता को सुख, शांति एवं मृद्धि की ओर ले जाने में सहायक है। मानवीय विकास को इस तरह गांधीवाद ने जो दिशा दी, सने गांधी के महत्त्व को भारत तक सीमित नहीं रखकर विश्वव्यापी बना दिया। गांधी के इस स्वरूप ो इंगित करते हुये महान दार्शनिक डा0 राधाकृष्णन ने कहा कि "गांधी सदैव आध्यात्मिक एवं तिक क्रांति के ऐसे मसीहा के रूप में याद किये जायेंगे, जिसके बिना आज की भटकावग्रस्त दुनिया ो शान्ति नहीं मिलेगी। गांधी के विलक्षण करिश्माई व्यक्तित्व एवं कृतित्व को रेखांकित करते हुये हान वैज्ञानिक आइन्सटीन ने कहा कि "आने वाली पीढ़ियाँ यह विश्वास नहीं करेगी कि हाड़ मांस ा कोई ऐसा मसीहा कभी पैदा हुआ था।"

ांधीवादी चिन्तन : आधार एवं उद्देश्य

ब हम यह देखेंगे कि गांधीवाद के चिन्तन के आधार एवं उद्देश्य क्या हैं? गांधी के चिन्तन के कुछ ाधारभूत विश्वास हैं जो उसके लक्ष्य को भी निर्धारित करते हैं। गांधी इन आधारभूत आस्थाओं पर भी समझौता नहीं करते।

र्म एवं ईश्वर में विश्वास गांधीवादी चिन्तन का प्रथम आधार है। ईश्वर एवं धर्म की सत्ता पर विचल आस्था के साथ गांधी पक्के आस्तिक थे। वह आस्तिक हिन्दू थे, लेकिन सार्वजनिक सन्दर्भ वह धर्म की बात करते थे, तो उनका आशय नैतिक धर्म एवं आध्यात्मिक चेतना से था। वह मानते कि प्रत्येक व्यक्ति में ईश्वर का निवास है और आवश्यकता है उसे नैतिक शक्ति के सहारे जगाने ी। फलतः वह जनसेवा को सबसे बड़ी आराधना और सच्चा धर्म मानते थे। गरीबों को उन्होंने रिद्रनारायण की संज्ञा दी और उनकी सेवा को सच्चा धर्म बताया।

नैतिक शक्ति ही नियामक शक्ति है और वह मानवीय विकास का सही पथ प्रशस्त करती है, यह गांधीवाद का दूसरा वैचारिक आधार है। गांधी मानते हैं कि व्यक्ति चेतनशील प्राणी है, इसलिये उसका विकास कोई अचेतन भौतिक दुर्घटना नहीं, बल्कि चेतना सत्ता की सहज अभिव्यक्ति है। इस सन्दर्भ में गांधी की स्पष्ट धारणा है कि मनुष्य में शुभ एवं अशुभ दोनों प्रवृत्तियों का वास होता है। व्यक्ति और व्यक्ति-समाज में इस शुभ एवं अशुभ प्रवृत्तियों का द्वन्द चलता रहता है और इस द्वन्द में शुभ की विजय अभीष्ट एवं श्रेयस्कर होती है, वही अनुकरणीय है। इस द्वन्द में ही जीवन का प्रवाह है और इस प्रक्रिया में शुभ की सिद्धि ही 'सत्य' है और इस सत्य का साक्षात्कार ही ईश्वर का साक्षात्कार है। इस शुभ रूपी सत्य की सिद्धि नैतिक शक्ति और आध्यात्मिक चेतना एवं आस्था के माध्यम से ही हो सकती है। अतः गांधीवादी चिन्तन नैतिक शक्ति को मानवीय विकास का नियामक एवं उत्प्रेरक तत्त्व मानता है।

सत्य और अहिंसा में गहरी आस्था गांधीवादी दर्शन का तृतीय आधार है जो नैतिकता की नियामक शक्ति में उसके अविचल विश्वास का स्वाभाविक परिणाम है। गांधी जहाँ सत्य को ईश्वर का प्रतिरूप मानते हैं, वहीं उसे जीवन एवं कर्म की कसौटी मानते हुये अपने जीवन को सत्य के एक प्रयोग की संज्ञा देते हैं। सत्य के इस प्रयोग का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है अहिंसा। अहिंसा की प्रेरणा गांधी को जहाँ भारतीय संस्कृति एवं चिन्तन परम्परा, पातंजलि, महाभारत, बुद्ध एवं महावीर तथा बाइबिल एवं टालस्टाय आदि से मिलती है, वहीं इस सन्दर्भ में उनकी अपनी एक मौलिक दृष्टि भी थी, जिसके आधार पर उन्होंने अहिंसा के प्रयोग को भारतीय राष्ट्रीय जनान्दोलन की विराट फलक वाली प्रयोगशाला में उतारा। गांधी की अहिंसा का दार्शनिक आधार व्यापक है। वह एक व्यक्तिगत आचरण या सार्वजनिक व्यवहार की कसौटी मात्र नहीं, बल्कि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का आधार तथा मानवीय सभ्यता में सकारात्मक परिवर्तन एवं मानवोचित विकास की कसौटी है।

साध्य और साधन की पवित्रता का सम्बन्ध गांधीवादी चिन्तन का चतुर्थ आधार है। गांधी की स्पष्ट धारणा थी कि मानवीय विकास में अपवित्र एवं अनैतिक माध्यमों से पवित्र एवं नैतिक लक्ष्यों की सिद्धि नहीं हो सकती। साध्य यदि पवित्र है, तो साधन भी अनिवार्यतः पवित्र होना चाहये। पवित्र साधनों के बिना सिद्ध हुआ साध्य टिकाऊ नहीं हो सकता। साम्यवाद के लक्ष्यों की उत्कृष्टता एवं महत्त्व को गांधी स्वीकार करते हैं, लेकिन जिस तरह हिंसा, अनैतिकता और निरंकुश एवं क्रूर सत्तावादिता के माध्यम से उन लक्ष्यों तक साम्यवाद पहुँचना चाहता है, उससे गांधी ने साम्यवादी प्रयोगों के पतन की भविष्यवाणी पहले ही कर दी थी। गांधी मानते हैं कि अहिंसा, प्रेम, सत्य और बन्धुत्व जैसे शाश्वत नैतिक मूल्यों एवं माध्यमों के सहारे ही मानवीय विकास के पवित्र लक्ष्यों की सफल साधना की जा सकती है।

समकालीन वैचारिक प्रभाव गांधीवादी चिन्तन का पाँचवां आधार था।–भारतीय परम्परा, संस्कृति एवं चिन्तन के साथ विभिन्न धर्मों का प्रभाव जहाँ गाँधी पर था, वहीं हर तरह के वैचारिक प्रभावों के लिये मस्तिष्क की खिड़कियाँ खुली रखने के कायल गांधी पर अपने युग के राजनीतिक विचारों का भी प्रभाव पड़ा था। उन पर पश्चिम के व्यक्तिवाद एवं उदारवाद का भी प्रभाव था, यद्यपि वह निरंकुश व्यक्तिवादी नहीं थे। वह लोककल्याणकारी राज्य और समाजवादी-व्यवस्था के कुछ आदर्शों को भी स्वीकार करते हैं, लेकिन राज्य की अत्यधिक भूमिका के विरुद्ध थे और टालस्टाय सरीखे अराजकतावादियों के भी वैचारिक दृष्टि से निकट थे। वह मानवीय स्वतन्त्रता के भी महान सन्देशवाहक थे। वह सत्कालीन राजनीतिक वातावरण से भी प्रभावित होकर साम्राज्यवाद, सामन्तवाद, मानवीय असमानता एवं शोषण तथा सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध जहाँ अपने चिन्तन को मूर्त रूप देते हैं, वहीं एक राजनीतिक योद्धा की संघर्षात्मक भूमिका में भी नजर आते हैं।

य के सन्दर्भ में गांधीवादी चिन्तन उपर्युक्त वैचारिक आधारों से ही प्रभावित नजर आता है। चिन्तन ाधार ही चिन्तन के उद्देश्य को भी रेखांकित करते हैं।

वादी चिन्तन का प्रथम उद्देश्य अहिंसात्मक नैतिक समाज की स्थापना करना है। वह मानते थे कि और अहिंसा के प्रति प्रतिबद्ध व्यक्ति का विकास ऐसे समाज के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करेगा। लिये वह व्यक्ति की नैतिक एवं आध्यात्मिक चेतना को जागृत करने के पक्षधर थे। वह मानते ऐसा मनुष्य स्वतः दुर्भावना और संघर्ष से अलग रहने के साथ दूसरों को भी इस ओर प्रेरित ।

वाद का दूसरा प्रमुख उद्देश्य था स्वतन्त्रता। वह व्यक्ति और समाज दोनों की स्वतन्त्रता के पक्षधर इस दृष्टि से वह व्यक्ति को साध्य और राज्य को साधन मानते थे। इस तरह यद्यपि एक तवादी की तरह गांधी ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का समर्थन किया, लेकिन व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को समाज सम्भव मानने के कारण वह सामाजिक अनुशासन की मर्यादा में उसकी संतुष्टि करते हैं। जिक और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के महात्मा गांधी न केवल पक्षधर थे, बल्कि विश्व इतिहास में उसके एक अप्रतिम संघर्ष कर्त्ता भी थे। वह राजनीतिक स्वतन्त्रता को आर्थिक एवं सामाजिक स्वतन्त्रता ना अधूरा मानते थे।

य को गांधीवादी चिन्तन का तृतीय प्रमुख उद्देश्य कहा जा सकता है। सर्वोदय का उद्देश्य एक र्गविहीन, जातिविहीन, शोषणविहीन समाज की संरचना करना है जो सत्य एवं अहिंसा पर रित हो तथा व्यक्तियों एवं उसके समुदायों को सर्वतोमुखी विकास के अवसर एवं संसाधन बिना व के सुलभ कराये।

ातिक और सामाजिक सुधार का सहअस्तित्व भी गांधीवादी चिन्तन का उद्देश्य था। वस्तुतः गांधी र्ष की भारतीय राजनीति में समानान्तर स्थापित रहे गरम दल एवं नरमदल का चिन्तन इस सन्दर्भ न्तर्विरोधी था। तिलक जैसे गरमदलीय नेता राजनीतिक सुधार अथवा स्वराज्य की तात्कालिकता ीकार करते हुये मानते थे कि समाज सुधार स्वराज्य के बाद धीरे-धीरे चलता रहेगा। दूसरी ओर लीय सुधारवादी नेता समाज सुधार को राजनीतिक सुधार की पूर्व शर्त मानते थे। इन दोनों ों से हटकर गांधीवाद की मान्यता यह थी कि समाज सुधार और राजनीतिक सुधार की प्रक्रिया में साथ-साथ चलती रहनी चाहिये।

सेता की जगह सादगी पूर्ण नैतिक जीवन की महत्ता स्थापित करना गांधीवाद का पाँचवां उद्देश्य जा सकता है। वह आडम्बरहीन प्राकृतिक जीवन की ओर मनुष्य की वापसी चाहते थे। वह यह ाहते थे कि व्यक्ति न केवल सादा जीवन जिये बल्कि चाहे उसका व्यक्तिगत जीवन हो अथवा ानिक जीवन, वह समाज रूप से शुचितापूर्ण होना चाहिये।

ता और अर्थसत्ता का विकेन्द्रीकरण भी गांधीवाद का प्रमुख उद्देश्य था। गांधी ग्राम्य जीवन और ार के पक्षधर थे और ग्राम्यतंत्र की व्यवस्था में उन्होंने भारत की परम्परागत पंचायत प्रणाली का दन किया। वस्तुतः वह राजनीतिक सत्ता और आर्थिक व्यवस्था के विकेन्द्रित ढाँचे के पक्षधर थे। ार्थिक सन्दर्भ में ट्रस्टीशिप की भावना का विकास करना चाहते थे, जिसमें व्यक्ति अपने को न का स्वामी नहीं न्यासी एवं संरक्षक समझकर व्यवहार करे। वह शोषण के खिलाफ और जक न्याय के पक्षधर थे। आर्थिक क्षेत्र में उनका लक्ष्य व्यक्तिवाद नहीं, ट्रस्टीशिप की भावना ाधारित आध्यात्मिक समाजवाद की स्थापना करना था। राजनीतिक व्यवस्था के सन्दर्भ में उनका शक्ति के विकेन्द्रीकरण पर आधारित सच्चे लोकतंत्र की स्थापना करता था।

ाद का उद्देश्य धर्म आधारित राजनीति की स्थापना करना था, लेकिन यहाँ धर्म से उनका आशय धर्म एवं आध्यात्म से है, न कि सम्प्रदायिक एवं कर्मकाण्डीय धर्म से। इसका महत्त्व वह व्यक्ति

जीवन में मानते हैं।

गांधीवादी चिन्तन : समस्यायें

गांधीवादी चिन्तन आदर्शात्मक, व्यवहारपरक तथा प्रायोगिक कसौटियों से जुड़ा चिन्तन है और उसकी सबसे बड़ी समस्या इन तीनों कसौटियों के बीच सम्यक तालमेल स्थापित करना प्रतीत होती है। गांधी का वैशिष्ट्य है कि वह आध्यात्मिक मूल्यों एवं नैतिक आदर्शों से समझौता नहीं करते। जहँ सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार का स्वर गांधीवाद में है और वह समाज में ऐसे सुधार चाहते हैं जिससे समाज को उच्च नैतिक आदर्शों पर खड़ा किया जा सके, वहीं वह भारत में गहरी जड़ों वाले परम्परागत समाज की संरचना में गैरजरूरी छेड़छाड़ के विरुद्ध थे और एक व्यवहारिक यथार्थवादी के रूप में वर्ण-व्यवस्था को उसकी विकृतियों से मुक्त कर बनाये रखने के पक्षधर थे। दूसरी ओर अपनी सैद्धान्तिक स्थापनाओं को वह स्वप्नलोकीय नहीं रखकर प्रायोगिक कसौटी पर कसकर प्रस्तुत करते हैं।

गांधीवादी चिन्तन जिस समस्या या चुनौती से सर्वाधिक प्रभावित होकर स्वरूप ग्रहण करता है, वह है राष्ट्रीय स्वाधीनता। गांधी भारतीय स्वतन्त्रता संघर्ष के महानायक थे और इस रूप में वह दुनिया के सबसे बड़े और बेमिसाल स्वतन्त्रता आन्दोलन के मंत्रदृष्टा एवं अग्रणी सन्देशवाहक थे। भारतमाता के पांव में पड़ी बेड़ियों को तोड़ने का संघर्ष उनके जीवन का सबसे बड़ा अभीष्ट था और इस रूप में गांधीवादी चिन्तन की सर्वप्रमुख समस्या थी स्वतन्त्रता का संघर्ष कैसा हो और उसकी लोकचेतना को कैसे प्रदीप्त रूप दिया जाय।

गांधीवादी चिन्तन–भारत की राजनीतिक मुक्ति के साथ-साथ सामाजिक एवं आर्थिक मुक्ति की समस्या का भी चिन्तन है। सामाजिक भेदभाव, अस्पृश्यता, जातिभेद, सामाजिक अन्याय की प्रथाओं और भारतीय पिछड़ेपन की कारक सामाजिक कुरीतियों से मुक्ति का चिन्तन गांधी का चिन्ता की प्रमुख चुनौती था। वह सामाजिक अन्याय के साथ-साथ आर्थिक शोषण की संरचना को भी ध्वस्त करना चाहते थे।

महात्मा गांधी राजनीतिक मुक्ति, सामाजिक मुक्ति और आर्थिक मुक्ति को समान रूप से जरूरी मानते थे। उनका विश्वास था कि इनमें एक के बिना दूसरा अधूरा है। अतः गांधीवादी चिन्तन का एक महत्त्वपूर्ण समस्या इसमें प्राथमिकता के निर्धारण की थी। उस युग के नेताओं में राजनीतिक एवं सामाजिक मुक्ति के आन्दोलनों के बीच प्राथमिकता के प्रश्न पर गहरे मतभेद थे। निश्चय ही व्यवहार में राजनीतिक मुक्ति को गांधी के चिन्तन में प्राथमिकता मिली, लेकिन गांधी राजनीतिक एवं सामाजिक मुक्ति आन्दोलनों को साथ-साथ चलाने के पक्षधर थे और वह मानते थे कि राजनीतिक मुक्ति के बाद जहाँ सामाजिक मुक्ति के प्रश्न को विशेष महत्त्व दिया जाना चाहिये, वहीं उसके बाद आर्थिक स्वतन्त्रता के लक्ष्य की दिशा में भी तेजी से कार्य होना चाहिये।

महात्मा गांधी जहाँ भारतीय राष्ट्रीयता से जुड़े महान संघर्ष के नेतृत्वकर्त्ता तथा भारत की राष्ट्रीय चेतना के महान शिल्पी थे, वहीं गांधीवादी चिन्तन में अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव एवं मानव मात्र के हित की चिन्ता विशेष रूप से अभिव्यक्त होती है। उनके सार्वभौम मानवतावादी विचार उन्हें अन्तर्राष्ट्रीयतावादी के रूप में पेश करते हैं और इस तरह उनमें राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद का समान रूप से प्रखर स्वरूप प्रकट होता है। इसी के साथ गांधीवाद साम्राज्यवाद और फासीवाद के भी मुखर विरोध का चिन्तन है। इन वैचारिक आयामों के मध्य तर्कसंगत सामन्जस्य की समस्या का सार्थक उत्तर गांधीवादी चिन्तन में प्रस्तुत होता है।

गांधीवाद अपनी सैद्धान्ति प्रतिबद्धताओं के आधार पर युग-चेतना के विपरीत भी मुखर चिन्तन रहा है। औद्योगिकीकरण एवं पूंजीवादी विकास के दौर में वह इन युगानुरूप प्रवृत्तियों के मर्म पर प्रहार करता

;सी प्रकार साम्यवाद के दोषों पर भी वह चोट करता है। इस वैचारिक चुनौती चा समस्या को भी वादी चिन्तन स्वीकार करता है।

ड –4 में चार इकाइयाँ हैं।

प्रथम इकाई में गांधी के राजनीतिक विचारों का प्रस्तुतीकरण किया गया है।

द्वितीय इकाई में गांधी का सामाजिक एवं आर्थिक दर्शन सम्मिलित है।

तृतीय इकाई में गांधी के आलोचक के रूप में सुभाष चन्द्र बोस और सावरकर के विचारों का वर्णन है।

चतुर्थ इकाई में महामना मदन मोहन मालवीय के चिन्तन का प्रस्तुतीकरण है।

इकाई–11 : महात्मा गांधी के राजनीतिक विचार

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 राजनीतिक विचार

- 11.2.1 राज्य सम्बन्धी विचार
- 11.2.2 सरकार सम्बन्धी विचार
- 11.2.3 स्पराज - अर्थ और उसके आयाम
- 11.2.4 नैतिक राजनीति
- 11.2.5 सत्य और अहिंसा
- 11.2.6 सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध
- 11.2.7 सर्वोदय
- 11.2.8 राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद
- 11.2.9 साम्राज्यवाद विरोध
- 11.2.10 धर्म और राजनीति

11.3 सारांश

11.4 उपयोगी पुस्तकें

11.5 सम्बन्धित प्रश्न

11.6 प्रश्नोत्तर

11.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- गांधी के राजनीतिक विचारों पर टिप्पणी कर सकेंगे,
- गांधी की राजनीतिक रणनीति एवं कार्य शैली के वैशिष्ट्य तथा उसकी दार्शनिकता की विवेचना कर सकेंगे,
- एक राजनीतिक आन्दोलन के नेतृत्वकर्त्ता के रूप में यथा राजनीतिक चिन्तन के विभिन्न पक्षों के सन्दर्भ में गांधीवाद का सम्यक मूल्यांकन कर सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

महात्मा गांधी के राजनीतिक विचार उनकी नैतिक निष्ठा एवं उनकी आध्यात्मिक आस्था से जुड़ी चिन्तन दृष्टि पर आधारित थे। उनकी मान्यता थी कि राजनीति कोई अभीष्ट साध्य नहीं, बल्कि एक साधन है

न्याय और सदाचार पर आधारित समाज के समष्टिमूलक विकास का। राजनीति की अपनी कोई सत्ता नहीं, बल्कि वह कुछ सुनिश्चित–नैतिक लक्ष्यों की सिद्धि का माध्य है। गांधी जी राज्य ाठित हिंसा पर आधारित संस्था मानते हैं और इसीलिये वह राज्य के स्वरूप को परिमार्जित चाहते थे, जिससे वह मानवता के श्रेयस्कर लक्ष्यों की सिद्धि में सहायक भूमिका निभा सके। श्चिमी लोकतंत्र के विरुद्ध थे क्योंकि वह एक ओर शोषण पर खड़े पूंजीवाद का मार्ग प्रशस्त में सहायक रहा है, तो दूसरी ओर अन्याय एवं आध्यात्मिकत्व की ओर ले जाने वाले फासीवाद ध्यम बना। मार्क्सवादी प्रयोगों को उनके अच्छे लक्ष्यों के बावजूद गांधी इसलिये घातक मानते हैं ामें निरंकुशता सत्तावाद के अनैतिक पथ का पथा वलम्बन किया गया है। अतः गांधी की स्पष्ट थी कि केन्द्रीकरण की राजनीतिक एवं आर्थिक प्रणाली वाली यह व्यवस्थायें मानवीय समाज को तिक उत्थान के निष्कर्षों तक नहीं ले जा सकतीं, जो अभीष्ट एवं अनुकरणीय लक्ष्य है और बिना सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना नहीं हो सकती। गांधी मानते हैं कि सच्चा लोकतन्त्र वह होगा हुजनहिताय' नहीं, 'सर्वे-भवन्तु-सुखिनः' की भावना को साकार कर सके। वस्तुतः वह 'सर्वोदय' ापाती थे, जो राज्य के निरंकुश या बाध्यकारी स्वरूप से नहीं, सत्य एवं अहिंसा के सहारे किया जा सकता है।

। गांधी नैतिक एवं आध्यात्मिक चेतना और सत्य एवं अहिंसा पर आधारित राजनीतिक आदर्शों ा स्वप्नदृष्टा ही नहीं, प्रयोगकर्त्ता भी थे। अतः उनके राजनीतिक सिद्धान्त प्रायोगिक थे। दक्षिण ा के उनके संघर्ष और भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन उनके राजनीतिक विश्वासों की प्रयोगशाला तः उनके विचार जहाँ उनके दार्शनिक विश्वासों पर आधारित थे, वहीं वह प्रयोगजन्य भी थे। ष्य और समाज के बीच समाज को अधिक महत्त्व देते हैं। उनका यह भी मानना है कि धर्म ाजनीति के लक्ष्य एक समान हैं। वे व्यक्ति के नैतिक कल्याण एवं उत्कर्ष की सिद्धि में साधन नका मानना है कि साधन भी साध्य की ही भाँति शुद्ध, पवित्र एवं नैतिक होना चाहिये। गांधी जी य के ऐसे आदर्श स्वरूप की जो कल्पना की, उसे रामराज्य की संज्ञा दी। रामराज्य और य के आदर्शों के साथ-साथ गांधी जी की विचारधारा में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तक की तिक, आर्थिक, सामाजिक समस्याओं के समाधान की दृष्टि भी शमिल है।

2 राजनीतिक सिद्धान्त

तिक सन्दर्भ में महात्मा गांधी की सैद्धान्तिक अवधारणायें राज्य, सरकार, व्यक्ति, समाज और ादि सभी आयामों से जुड़ी हुई हैं। उनके इस राजनीतिक चिन्तन के विविध बिन्दु इस प्रकार हैं–

2.1 राज्य सम्बन्धी विचार

ा गांधी राज्य के केन्द्रित सत्तावाद अथवा उसकी बाध्यकारी सत्ता की अवधारणा के विरुद्ध थे। की सत्ता के स्थापित स्वरूप के प्रति इस निषेधात्मक रुख के कारण गांधी को दार्शनिक िकतावादी भी मान लिया जाता है। अहिंसा में अपनी प्रबल आस्था और नैतिक विश्वासों के । वह राज्य की दण्डकारी सत्ता को स्वीकार नहीं करते। वस्तुतः वह राज्य के ऐसे स्वरूप के ए एक अहिंसक समाज की स्थापना चाहते थे।

नैक आधार पर गांधी जी के राज्यविरोध का कारण यह है कि वह मनुष्य को मूलतः नैतिक प्राणी थे और उन्हें यह विश्वास था कि मनुष्य की नैतिक शक्तियों को जागृत एवं उत्तेजित कर एक क नैतिक समाज की स्थापना की जा सकती है, जिसमें राज्य की हिंसा एवं दण्ड की शक्तियों ाधारित बाध्यकारी सत्ता की कोई आवश्यकता नहीं होगी। राज्य की सम्प्रभु सत्ता के अधीन त अपनी इच्छा का स्वतन्त्र क्रियान्वयन नहीं कर सकता। मात्र कानून एवं दण्ड की सत्ता के

से जब मनुष्य कार्य करेगा, न कि अपनी नैतिक प्रेरणा से, तो एक नैतिक एवं आहिंसक समाज का विकास नहीं हो सकता।

गांधी यह भी मानते थे कि राज्य की सत्ता का चरित्र अपनी शक्ति के विस्तार का होता है। यह स्थिति व्यक्ति के नैसर्गिक एवं नैतिक विकास के मार्ग का अवरोधन करती है। यह मनुष्य की शक्ति एवं उसके व्यक्तित्व की सम्भावनाओं के नैसर्गिक विकास को भी अवरुद्ध करती है।

गांधी जी यह मानते थे कि राज्य पाशविक बल पर टिकी संस्था है। अतः वह नैतिक शक्ति से च्युत सत्ता है जो व्यक्ति के विकास पर विपरीत प्रभाव डालती है। राज्य की केन्द्रित व्यवस्था का दोष यह है कि उसे हिंसा की शक्ति के बिना संगठित ही नहीं किया जा सकता और हिंसा का संगठित रूप होने के कारण राज्य मानवोचित संस्था नहीं है।

गांधी जी वस्तुतः एक ऐसे राज्यविहीन लोकतंत्र की स्थापना चाहते थे जिससे राज्य जैसी बाध्यकारी सत्ता व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं व्यक्तित्व विकास की राह में बाधक बनकर नहीं खड़ी हो। वह ऐसे लोकतंत्र के हिमायती थे जिसमें आध्यात्मिक विकास के लिये अपेक्षित व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुनिश्चित हो, तथा सामाजिक जीवन क़ानून की बाध्यकारी शक्ति की जगह नैसर्गिक रूप से नियमित एवं स्वचालित हो।

गांधी दल और सत्ता से बंधी 'राजनीति' की जगह उससे मुक्त 'लोकनीति' के पक्षधर थे। वह मानते थे कि सत्ता राजनीति शक्तिशाली राज्य का पथ प्रशस्त करती है, जबकि लोकनीति ऐसे स्वराज का रास्ता है जिसमें स्वतन्त्र व्यक्ति स्वयं अपना शासन करता है। ऐसे आत्मनियन्त्रित एवं स्वशासित व्यक्तियों के समाज में राज्य को सर्वोपरि मानने की धारणा के लिये कोई स्थान नहीं होगा। ऐसा स्वराज्य व्यक्ति के उत्तरदायित्व, आत्मनियंत्रण एवं स्वशासन से समाज में स्थापित होता है। ऐसे स्वराज्य आधारित समाज में व्यक्ति के नैतिक सद्गुणों का बिना राज्य-हस्तक्षेप के स्वतन्त्र विकास होता है। ऐसी राजनीतिक व्यवस्था में स्वतन्त्रता और व्यवस्था के मध्य तनाव एवं अन्तर्विरोध नहीं होता।

यद्यपि राज्य के विरुद्ध गांधी जी के मुखर विचारों से उन पर टालस्टाय के अराजकतावाद का पूरा प्रभाव प्रतीत होता है, तथापि यह कहा जा सकता है कि वह राजनीतिक व्यवस्था को पूरी तरह नकारते नहीं हैं, इसलिये सम्पूर्ण अराजकतावादी नहीं थे। सम्भवतः गांधी जी को यह आभास था कि एक अहिंसात्मक समाज का विकास भले हो जाय, लेकिन सम्पूर्णतः ऐसे अहिंसात्मक समाज का साकार होना व्यवहारिक नहीं है, जिसमें किसी व्यवस्था की आवश्यकता ही न हो। अतः वह मानते हैं कि अहिंसात्मक लोकतंत्र पर आधारित स्वराज में भी सामाजिक आचरण को विनियमित करने के लिये एक सरकार की आवश्यकता होगी, यद्यपि वह कम से कम शासन करेगी। इस रूप में उनके विचारों पर थोरो का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

11.2.2 सरकार सम्बन्धी विचार

महात्मा गांधी पश्चिमी लोकतंत्र और संसदीय प्रणाली के आलोचक थे। दूसरे ओर वह साम्यवाद, लोकतांत्रिक समाजवाद और लोककल्याणकारी शासन की अवधारणाओं की भी आलोचना करते हैं। वह मानते हैं कि इन सब प्रणालियों में राज्य का शक्तिशाली और सत्तावादी स्वरूप प्रकट होता है और लोकतंत्र मात्र मतदान तक सीमित रह जाता है। वह मानते हैं कि किसी भी लोकतन्त्र में प्राप्त आम नागरिक की स्वतन्त्रता तत्त्वहीन है, जब तक कि राज्य व्यवस्था के निर्णयों में उसकी सहभागिता नहीं हो। इसके विपरीत जहाँ वह निर्णय प्रक्रिया केन्द्रित रूप में है, वहाँ सच्चा लोकतंत्र नहीं हो सकता। अतः पश्चिमी देशों के प्रतिनिधि प्रजातन्त्र सच्चे लोकतंत्र के प्रतीक नहीं हैं, जिसमें नागरिक

हिक मतदान तक सीमित है। वह प्रतिनधि तो चुनते हैं, लेकिन शासन के सहभागी नहीं हैं। उसमें संख्यक दल द्वारा अल्पसंख्यक के साथ अन्याय एवं भेदभाव की सम्भावना बनी रहती है।

ी जी के स्वराज में जिस अहिंसात्मक लोकतंत्र की मान्यता है, उसका आधार है लोकतांत्रिक न्द्रीकरण। वह इसके विरुद्ध थे कि राजनीतिक व्यवस्था के एक छोर पर राज्य हो और दूसरे छोर आम आदमी। वह आनते हैं कि बीच की रिक्तता को सहभागी लोकतान्त्रिक संस्थायें ही भर सकती जिसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इकाइयाँ हैं ग्राम सभायें। गाँव की इस सबसे छोटी इकाई से ही कतंत्र की शुरुआत होनी चाहिये, क्योंकि 'बीस व्यक्ति केन्द्र में बैठक लोकतंत्र का संचालन नहीं सकते'। ग्राम-सभा स्तर से आरम्भ लोकतंत्र में प्रत्येक व्यक्ति अपने से जुड़े सार्वजनिक विषयों के ध में भागीदार हो सकता है। ऐसी स्थानीय स्वशासन की संस्थायें केन्द्रीय शासन सत्ता की एजेण्ट होकर पूर्ण स्वायत्त शासकीय इकाइयाँ होगीं। इसी प्रकार प्रत्येक स्तर की संस्था अपनी अधिकार ा में पूर्ण स्वायत्त भूमिका निभायेगी।

तन व्यवस्था के सन्दर्भ में गांधी जी की धारणा थी कि गांव स्वावलम्बी होंगे और स्थानीय स्तर पर ी विषयों में उनके समर्थ अधिकार होंगे। ऊपर की जिला, प्रान्त एवं केन्द्र स्तर की इकाइयों के निधि सीधे जनता से निर्वाचित नहीं होकर निचली इकाइयों द्वारा चुने जायेंगे। आशय यह कि उच्च ीय सभा के लिये प्रतिनिधि निम्न स्तरीय सभा चुने। इस तरह के विकेन्द्रित लोकतन्त्र के मूल में ा आत्म-अनुशासित एवं स्वशासित व्यक्ति और ऐसी लोकतंत्रीय सत्ता के ढाँचे की मूल और त्वपूर्ण इकाई ग्राम पंचायत होगी। गांधी जी जहाँ 18 वर्ष की न्यूनतम मतदाता आयु के पक्षधर थे, ं अधिकतम आयु की भी सीमा का निर्धारण चाहते थे। वह मानते थे कि सच्चे लोकतन्त्र में बहुमत अल्पमत के प्रति उदार एवं दायित्वपूर्ण होना चाहिए।

1.2.3 स्वराज - अर्थ और आयाम

ी जी स्वराज के अवधारणा में स्वतन्त्रता के सभी आयाम निहित हैं। उनके लिये स्वतन्त्रता च्छन्दता का पर्याय नहीं है। स्वराज की अपनी अवधारणा में वह इसे आध्यात्मिक आत्मानुशासन र विवेक के नियन्त्रण में दायित्वपूर्ण आधार प्रदान करते हैं। वह मानते थे कि स्वतन्त्र होने के ज़ूद व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। स्वराज व्यक्ति की स्वतन्त्रता और सामाजिक अनुशासन के ा सामन्जस्य बनाता है। वह अधिकार के साथ कर्त्तव्य चेतना का भी समन्वय प्रशस्त करता है। यह ाना सत्य, अहिंसा, प्रेम, करुणा, सेवा और सहकार के सद्गुणों से उद्भूत होनी चाहिये, न कि य की दण्डात्मक शक्ति के भय से।

धी जी के अनुसार स्वराज के पाँच आयाम हैं। हिन्द स्वराज में इसे स्पष्ट करते हुये उन्होंने लिखा है इसका प्रथम आयाम है राजनीतिक मुक्ति, जिसका सीधा आशय है अंग्रेजी शासन से आजादी। रा आयाम है–राजनीतिक स्वतन्त्रता, जिसमें स्वशासन एवं लोकतंत्र का आधार प्रस्तुत होता है। क्ति स्वतन्त्र्य तथा विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता इस ढाँचे का हिस्सा है। तृतीय आयाम है थिंक स्वतन्त्रता। यह कार्य राजनीतिक मुक्ति और राजनीतिक स्वतन्त्रता के बाद भी राष्ट्र का लक्ष्य ा और सही अर्थों में यह स्वराज की कसौटी होगा। चतुर्थ आयाम है सांस्कृतिक स्वतन्त्रता जिसका धा अर्थ है योरोप की भोगवादी संस्कृति एवं सभ्यता के प्रभावों से भारत की मुक्ति। पाँचवां आयाम आत्मानुशासन, जो स्वराज की कसौटी है। गांधी मानते थे कि मन और चित्त का नियंत्रण विवेक ा होना चाहिये, जिसके अभाव में सामाजिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। आत्मानुशासन गांधी लिये एक आध्यात्मिक साधना है, जिसका समर्थन उन्होंने भारतीय परम्परा के शाश्वत मूल्यों के न्दर्भ में किया।

11.2.4 नैतिक राजनीति

गांधी राजनीति में नैतिक मूल्यों के प्रबल पक्षधर थे। इसमें उन पर अपने राजनीतिक गुरु गोखले का गहरा प्रभाव था। मेकियावेली के विपरीत वह राजनीति को साध्य नहीं, न्याय, सत्य एवं नैतिकता के आदर्शों का साधन मानते हैं। साध्य एवं साधना की समान शुचिता के कायल गांधी मानते थे कि नैतिकता रहित राजनीति पथभ्रष्ट होकर लक्ष्य से विमुख हो जाती है।

11.2.5 सत्य और अहिंसा

गांधी के अनुसार सत्य कर्म एवं व्यवहार की कसौटी है। सत्य का अर्थ है–आस्तित्व में होना। अतः शुद्ध सत्य काल, देश, परिस्थिति निरपेक्ष होता है। ऐसे सत्य का साक्षात्कार ही वस्तुतः ईश्वर का साक्षात्कार है। गांधी के लिये सत्य ही ईश्वर और जीवन सत्य का प्रयोग था। उनके अनुसार जीवन प्रवाह में शुभ और अशुभ का द्वन्द नियामक होता है, जिसमें शुभ की विजय अनुकरणीय एवं अभीष्ट शाश्वत सत्य है। इस सत्य का साक्षात्कार ही ईश्वर का साक्षात्कार है।

'सत्य' के साथ ही 'अहिंसा को भी गांधी मानवीय जीवन का आधारभूत तत्त्व मानते हैं। भारतीय संस्कृति की परम्परा में निहित अहिंसा के दर्शन में जहाँ उनकी गहरी आस्था थी वहीं पश्चिम के अहिंसावादी चिन्तकों का भी उन पर प्रभाव था। वह मानते थे कि सत्य रूपी साध्य का अन्वेषण अहिंसा रूपी साधन के बिना सम्भव ही नहीं हो सकता।

गांधी किसी पर प्रहार नहीं करने को अहिंसा का सीमित, आंशिक या स्थूल निहितार्थ मानते हैं। वस्तुतः उनके चिन्तन में अहिंसा का अर्थ व्यापक है। वह मनसा, वाचा, कर्मणा तीनों स्वरूपों में होनी चाहिये। आशय स्पष्ट है कि मन में कुविचार लाना, झूठ बोलना, किसी का बुरा चाहना, जगत के लिए जरूरी वस्तुओं पर एकाधिपत्य स्थापित कर लेना, शोषण करना आदि भी हिंसा है। हिंसा सदैव स्वार्थ, क्रोध एवं विद्वेष से उत्पन्न होती है। अतः इन सब बातों से मुक्त होना अहिंसा है। अहिंसा का वह स्वरूप अभीष्ट एवं अनुकरणीय होता है जो व्यक्ति के अन्तःकरण से स्वतः जागृत हो।

गांधी की अहिंसा कायरता नहीं, अपार शक्ति का स्रोत है। वह एक समग्र जीवन पद्धति है, जो व्यक्तिगत आचरण मात्र का विषय नहीं होकर सामाजिक बदलाव एवं सभ्यता के विकास का आधार है। वह सामाजिक जीवन की आधारशिला है। उसके अभाव में न तो पारिवारिक जीवन-सम्भव है और न सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन।

महात्मा गांधी मानते हैं कि हिंसा का आधार विद्वेष और अहिंसा का आधार प्रेम होता है। अहिंसक व्यक्ति शत्रु से घृणा नहीं करता और उसके प्रति द्वेषभाव नहीं रखता। वह तो मात्र शत्रु की बुराई से घृणा करता है। अतः वह शत्रु नहीं, शत्रु की बुराई के विनाश का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न में वह धैर्य का परिचय देता है और असफलताओं एस निराश न होकर पुनः प्रयत्न करता है। अतः अहिंसा निष्क्रियता या अकर्मण्यता नहीं, बुराइयों या अशुभ प्रवृत्तियों के प्रतिकार का सतत प्रयत्न है। अहिंसा का आश्रयी कभी अन्यायी से घबड़ाता नहीं। वह निर्भय होता है, क्योंकि वीरता भी अहिंसा का वैशिष्ट्य है। अत गांधी की स्पष्ट धारणा है कि अहिंसा कायरों का नहीं, वीरों का हथियार है। वह परम साहसी लोगों का सद्गुण है। जो साहसी एवं वीर नहीं उसमें आत्मबल नहीं होता और ऐसा व्यक्ति कभी भी अहिंसक नहीं हो सकता।

गांधी के अनुसार अहिंसा में प्रेम का भाव निहित होता है और एक अहिंसक व्यक्ति विरोधी के प्रति भी प्रेमभाव से प्रेरित होता है। अहिंसा गांधी की इतिहास-दृष्टि का आधार है। वह मानते हैं कि मानव जाति का विकास अहिंसा का ही विकास है। यदि हिंसा विकास का आधार रहा होता तो मानक सभ्यतायें कब की विनष्ट हो चुकी होतीं। अतः इतिहास को मात्र युद्धों के इतिहास के रूप में देखना

नत इतिहास दृष्टि है। अतः सभ्यताओं के विकास का वास्तविक आधार तो अहिंसा ही रहा है।

तुतः गांधीवादी चिन्तन ने अहिंसा को व्यापक निहितार्थ प्रदान किया। गांधी के अनुसार मात्र जीव या नहीं करना और किसी को शारीरिक आघात नहीं पहुँचाना ही अहिंसा नहीं है। एक मांसाहारी क्ति भी अहिंसक और शाकाहारी व्यक्ति भी हिंसक हो सकता है। गांधी ने अहिंसा को एक क्तिगत गुण तक सीमित नहीं रखकर उसे एक सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक न्दर्भ प्रदान किया।

ात्मा गांधी के अनुसार अहिंसा और सत्य निजी गुण नहीं हैं और यदि वह मात्र निजी गुण है तो ाज्य है। गांधी जी मानते हैं कि हिंसा और अहिंसा दोनों में यद्यपि साहस का पुट है, लेकिन वस्तुतः नों में तात्विक भेद है। हिंसक उसकी रक्षा के लिये जहाँ हिंसा का प्रयोग करता है, वहीं अहिंसक यम का। हिंसा से विरोधी के शरीर और स्थिति पर विजय प्राप्त की जा सकती है, लेकिन अहिंसा शरीर और मन दोनों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। कारण यह है कि अहिंसक व्यक्ति प्रेम ार संयम से विरोधी पर विजय प्राप्त करता है।

1.2.6 सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध

ात्मा गांधी ने राजनीति में सत्याग्रह की अभिनव राजनीति का सफल प्रयोग किया। उनके अनुसार त्याग्रह अन्याय एवं उत्पीड़न के विरुद्ध शुद्धतम् आत्मबल का प्रयोग है। सत्याग्रह में ऐसे आत्मबल प्रेरित व्यक्ति सत्य का आग्रह करता है। सत्याग्रह की गांधी की अवधारणा में सत्याग्रह के अनिवार्य च के रूप में सत्य, अहिंसा और प्रेम को स्वीकार किया गया है। यही कारण है कि सत्याग्रह भिन्न निष्क्रिय-प्रतिरोध से। गांधी के दक्षिण अफ्रीका के आन्दोलनों में निष्क्रिय प्रतिरोध की रणनीति का योग हुआ, लेकिन भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में उन्होंने चंपारण से आरम्भ कर सत्याग्रह के प्रयोगों ा सफल अनुकरण किया।

त्याग्रह का उद्भव सत्य के सर्वोच्च आदर्श से होता है। सामान्यतः सत्याग्रह को अहिंसक प्रतिरोध ी संज्ञा दी जाती है, लेकिन वस्तुतः सत्याग्रह अधिक व्यापक अर्थ समेटे हुये है।

ह भाग सविनय अवज्ञा, उपवास, धरना या प्रदर्शन नहीं है। वस्तुतः वह व्यक्ति की अन्तरात्मा में हित आत्मशक्ति और प्रेमशक्ति की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति है। सत्याग्रह सत्य के लिए तपस्या है। ठोर और अत्यन्त विपरीत स्थितियों में भी अहिंसा एवं प्रेमभाव के साथ सत्य की आग्रहशीलता ही त्याग्रह है। वस्तुतः यह भौतिक शक्ति के मुकाबले व्यक्ति की आत्मिक शक्ति का प्रयोग है। ात्मशक्ति, अहिंसा और सत्य के आग्रह में आत्मिक भावों का गहरा तादात्म्य है। सत्याग्रह नैतिक सौटी से जुड़ा एक आध्यात्मिक विचार और व्यक्ति की आत्मा से उद्भूत होने के कारण उसका सर्गिक अधिकार है। अतः कहा जा सकता है कि सभी प्रकार के शोषण, उत्पीड़न, अन्याय, हिंसा ौर अत्याचार के विरुद्ध शुद्धतम् आत्मशक्ति का सक्रिय प्रतिरोध 'सत्याग्रह' है।

त्याग्रह का प्रयोग व्यक्तिगत अन्याय और सामाजिक अन्याय के विरुद्ध समान रूप से किया जा कता है। एक सत्याग्रही अपने सामने वाले अन्यायी के विरुद्ध किसी व्यक्तिगत राग-द्वेष से रहित ाकर अपनी अन्तरात्मा की आवाज का अनुसरण करता है और सत्य के लिये संघर्ष करता है। इस घर्ष की राह में किसी भी शारीरिक यातना और मृत्यु के लिये भी वह संघर्ष तैयार रहता है। यातना ; ऐसे क्षणों में भी वह किसी भी कीमत पर मन में द्वेषभाव नहीं लाता हूँ और हिंसा का आश्रम नहीं ता।

क सत्याग्रही हर हाल में अहिंसक होता है, द्वेषरहित होता है और उसके मन, वचन एवं कर्म में करूपता होती है। वह समाचार माध्यमों की सुर्खी में आने के लिये, किसी तरह के आत्मप्रचार के

लिये या किसी भी रूप में यश की कामना के लिए सत्याग्रह नहीं करता। वह ईश्वरनिष्ठ होता है और नेतृत्व के प्रति अनुशासनबद्ध रहता है। साथ ही झूठ, छल, कपट एवं लोभ से विरत रहने वाला होता है। उसके लिये जरूरी कसौटी है कि वह निर्भय हो, दृढ़निश्चयी हो, संकल्प का धनी हो, धैर्यवान हो और निष्ठावान हो। सत्याग्रही का व्यक्तिगत जीवन और सार्वजनिक जीवन समान रूप से शुचितापूर्ण होता है। वह निजी एवं सार्वजनिक जीवन में समान रूप से अहिंसक होता है।

महात्मा गांधी मानते हैं कि सत्याग्रह के हथियार को बुद्धमत्ता एवं सावधानी के साथ प्रयोग करना चाहिये। सत्याग्रही को कठोर अनुशासन एवं नैतिक नियमों का पालन जरूरी है। सत्याग्रह अन्तिम विकल्प होना चाहिये। उसका प्रयोग सभी सम्भव शांतिपूर्ण तरीकों के विफल हो जाने के उपरान्त ही होना चाहिये। यह ध्यान रखा जाना चाहिये कि सत्याग्रह का उद्देश्य, जिसके विरुद्ध सत्याग्रह का प्रयोग हो रहा है, उसे पराजित करना नहीं, बल्कि उसका हृदय परिवर्तन करना होना चाहिये। सत्याग्रह का प्रयोग प्रत्येक शासन प्रणाली में हो सकता है। लोकतंत्र बहुमत से होते हैं और यदि बहुमत विपरीत हो तब भी सत्याग्रह का औचित्य हो सकता है। प्रायः बहुमत का संचालन दलगत हितों और तुच्छ विचारों से प्रेरित होता है। अतः ऐसा बहुमत सत्याग्रह के औचित्य पर प्रश्नचिह्न नहीं लगा सकता। सत्याग्रही को अपनी अन्तरात्मा से चलना चाहिये।

निष्क्रिय-प्रतिरोध भी सत्याग्रह से मिलती जुलती अवधारणा है, क्योंकि उसमें भी शस्त्ररहित अहिंसक प्रतिरोध होता है। इसके बावजूद उसे सत्याग्रह की संज्ञा इसलिये नहीं दी जा सकती कि क्योंकि उसमें अहिंसा का आधार दार्शनिक और आध्यात्मिक नहीं होकर मजबूरी जैसा है। गांधी जी ने निष्क्रिय, प्रतिरोध शब्द का प्रयोग अपने आन्दोलनों के संदर्भ में दक्षिण अफ्रीका में किया था।

सत्याग्रह के विभिन्न रूप हो सकते हैं। उद्देश्यों की निजता के आधार पर व्यक्तिगत सत्याग्रह और सामूहिक सत्याग्रह के वर्गीकरण किये जा सकते हैं। व्यक्तिगत सत्याग्रह में सत्याग्रह का प्रयोग व्यक्ति द्वारा व्यक्तिगत उद्देश्यों के लिये होता है। इसके विपरीत सार्वजनिक सत्याग्रह का आयोजन समाज के लोगों द्वारा सार्वजनिक महत्त्व के मुद्दों पर होता है। सत्याग्रह चाहे व्यक्तिगत हो या सार्वजनिक उसके प्रयोग के भी कई रूप हो सकते हैं। इसका प्रथम स्वरूप है असहयोग। इसमें शासन या विरोधी शक्ति के साथ असहयोग कर उसकी शक्ति को कमजोर करना अभीष्ट होता है। दूसरा स्वरूप है उपवास या अनशन। इसका उद्देश्य स्वयं की आत्मशुद्धि अथवा अत्याचारी का हृदय परिवर्तन करना होता है। तीसरा स्वरूप है हड़ताल, जिसका उद्देश्य शासन या जनता का ध्यान आकृष्ट करना अथवा हृदय परिवर्तन करना होता है। चौथा स्वरूप है बहिष्कार। यह सत्याग्रह का प्रबल अस्त्र है। इसमें विरोधी का, उसकी वस्तु या उत्पादन का अथवा उसकी संस्थाओं का बहिष्कार कर उसके ऊपर दबाव डाला जाता है। सार्वजनिक रूप से किसी के बहिष्कार के निर्णय का उसके ऊपर बड़ा गहरा असर पड़ता है। सत्याग्रह का पाँचवां स्वरूप है धरना या प्रदर्शन। इसका उद्देश्य भी ध्यान आकृष्ट करना या नैतिक दबाव डालना है। सत्याग्रह का छठाँ स्वरूप है सविनय अवज्ञा। यह सत्याग्रह का एक ओजस्वी या प्रखर स्वरूप है। इसमें कानून विशेष या सम्पूर्ण शासन की विनय पूर्वक अवज्ञा द्वारा उनका विरोध होता है। इसका प्रयोग कर अहिंसक तरीके से शासन को ठप किया जा सकता है। 'सत्याग्रह' का सातवाँ स्वरूप हिजरत का है। इसका अर्थ है स्वेच्छया स्थान छोड़ देना। जहाँ दमन एवं अन्याय हो, वह स्थान स्वेच्छा से छोड़ देना और दूसरे स्थान पर जाकर सम्मान से रहना हिजरत है। 1928 में बारदोली, लिम्बली एवं जूनागढ़ तथा 1935 के कविथा के हरिजनों को गांधी जी ने सवर्णों के अत्याचार का प्रतिकार करने में हिजरत की सलाह दी थी।

11.2.7 सर्वोदय

महात्मा गांधी का सर्वोदय का सिद्धान्त पश्चिमी उपयोगितावाद के अधिकतम् लोगों के अधिकतम् सुख की अवधारणा के विपरीत भारतीय संस्कृति में निहित 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' के चिन्तन पर आधारित

भी के अधिकतम् सुख की अवधारणा है। गांधी के अनुसार उपयोगितावादियों की 51% जनता के ख तथा 49% के सुख की उपेक्षा की सोच अनैतिक, अव्यवहारिक और उपहासास्पद है। इसके पपरीत गांधी सर्वोदय को समाज का लक्ष्य मानते हैं। इसमें सबका कल्याण अभीष्ट है। सर्वोदय का र्थ है प्रत्येक व्यक्ति को अभ्युदय का अवसर।

ांधी के अनुसार सर्वोदय का लक्ष्य एक ऐसे वर्गविहीन, जातिविहीन, शोषण विहीन समाज की थापना करना है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति एवं समूह को अपने सर्वांगीण विकास के साधन एवं अवसर पलब्ध हों।

र्वोदय को एक पवित्र साध्य घोषित करते हुये गांधी ने कहा कि सर्वोदय का उद्देश्य अहिंसा एवं त्य के आधार पर एक ऐसे वर्गविहीन एवं जातिविहीन समाज की स्थापना करना है जिसमें कोई केसी का शोषण नहीं कर सकता और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का समुदाय को अपने सर्वांगीण विकास के अवसर एवं साधन सुलभ हो सकते हैं।

ांधी के सर्वोदय के तीन निहितार्थ हैं–

(i) सभी के हित में अपना हित,

(ii) सभी को आजीविका का अधिकार और सभी तरह के कार्यों का समान महत्त्व तथा

(iii) श्रम से जुड़े जीवन की उत्तमता का प्रतिपादन।

11.2.8 राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रवाद

गांधीवादी चिन्तन में राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता का समान रूप से समावेश है। आधुनिक राष्ट्रवाद की अवधारणा से गांधी प्रभावित थे और भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन जैसे विश्व के विशिष्ट राष्ट्रीय संघर्ष के नेतृत्वकर्त्ता के रूप में उनके चिन्तन एवं व्यवहार में प्रखर राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति होती है। इसके बावजूद गांधी उग्रराष्ट्रवादी कदापि नहीं थे। उनका राष्ट्रवाद आध्यात्मिक भावनाओं, नैतिक मान्यताओं, विश्वबन्धुत्व, धार्मिक एवं जातीय सहिष्णुता, सहअस्तित्व, सहयोग आदि जैसे उदात्त आदर्शों से जुड़ा हुआ था। अतः वह राष्ट्रभक्ति के ओज से परिपूर्ण तो था, लेकिन राष्ट्रभक्ति के अतिरेक एवं उग्र स्वरूप के कारण अन्तर्राष्ट्रीय शांति में बाधक बनने की सम्भावनाओं से मुक्त था। इस तरह उनका राष्ट्रवाद विश्वबन्धुत्व एवं विश्वप्रेम का ही एक हिस्सा है और अन्तर्राष्ट्रवाद का पूरक है। उनके राष्ट्रवाद में भी अहिंसा का पुट है और उसमें किसी उग्रता के लिये कोई स्थान नहीं है।

प्रेम, अहिंसा एवं बन्धुत्व से परिपूर्ण राष्ट्र के साथ-साथ गांधी जी अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के भी पक्षधर थे। वह वसुधैव कुटुम्बकम् की भारतीय संस्कृति के अनुरूप चिन्तक थे। वह मानव मात्र को ईश्वर की सनतान मानते थे और इसलिये पूरी मानवता उनके लिये एक परिवार की भाँति थी। इस तरह उनके चिंतन में सार्वभौमवाद की अभिव्यक्ति होती है। वह मानते हैं कि राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का यह अर्थ नहीं कि उनमें सहोयग एवं परावलम्बन का अभाव होना चाहिये। सत्य एवं अहिंसा के सिद्धान्तों में आस्था के कारण वह राष्ट्रों के मध्य सहयोग एवं मैत्री के पक्षधर थे। वह राष्ट्रवाद को वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रवाद की ही एक अवस्था मानते थे। अतः राष्ट्रवाद कोई राजनीतिक साध्य या राजनीतिक विकास की चरम अवस्था नहीं है। वह विश्व संघ के निर्माण से भी असहमत नहीं थे, यदि उसका निर्माण अहिंसा के आधार पर हो।

11.2.9 साम्राज्यवाद विरोध

महात्मा गांधी साम्राज्यवाद के प्रबल विरोधी थे। वह न केवल साम्राज्यवाद के विरुद्ध असन्तोष भड़काने को उचित समझते थे, बल्कि उसके विरुद्ध सत्याग्रही संघर्ष का उन्होंने प्रतिमान खड़ा किया। उन्होंने

साम्राज्यवाद के विरुद्ध चेतावनीपूर्ण शब्दों में कहा कि दूसरे देशों पर आधिपत्य जमाये रखने से स्वयं उन बड़े देशों का नैतिक चरित्र विनष्ट हो जायेगा। वह साम्राज्यवाद को जहाँ सम्पूर्णतः अनैतिक मानते थे, वहीं उन्होंने तिलक के इन विचारों का समर्थन किया कि स्वराज्य जन्मसिद्ध अधिकार है।

11.2.10 धर्म और राजनीति

महात्मा गांधी के चिन्तन का विश्लेषण करने से स्पष्ट है कि वह धर्म के दो पक्ष स्वीकार करते हैं–एक नैतिक धर्म और दूसरा संस्थागत धर्म। प्रथम को सामान्य धर्म और दूसरे को विशेष धर्म भी कहा जा सकता। वह नैतिक धर्म से राजनीति को सापेक्ष तथा संस्थागत धर्म से निरपेक्ष मानते थे। जब वह कहते हैं कि "धर्म के बिना राजनीतिक विधवा है" तो उनका अभिप्राय नैतिक धर्म से है, जिसके मूल्य सभी धर्मों में प्रायः साझे होते हैं। नैतिक मूल्यों एवं आध्यात्मिक चेतना से वह सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन को अनुप्राणित करने के लिए अयत्नशील रहे। गांधी जी ने 22 सितम्बर 1946 को हरिजन में लिखा कि यदि मैं शासक होता तो "धर्म (रिलीजन) को राज्य से पूरी तरह अलग रखता। मैं अपने धर्म के प्रति दृढ़प्रतिज्ञ हूँ। मैं उसके लिये प्राण दे सकता हूँ। लेकिन यह मेरा निजी मामला है, राज्य को इससे कुछ भी लेना देना नहीं है"। आगे उन्होंने लिखा कि "राज्य आपके धर्मनिरपेक्ष कल्याण (सेकुलर वेलफेयर), स्वास्थ्य, संचार, मुद्रा तथा ऐसे अन्य कार्यों पर ध्यान देगा, न कि आपके, हमारे धर्म पर यह तो हमारा आपका निजी मामला है"।

महात्मा गांधी किसी भी रूप में धार्मिक कट्टरता या उससे जुड़ी राजनीतिक सोच के विरुद्ध थे। वह मानते थे कि "धर्म के लिये मरना अच्छा है, लेकिन धार्मिक कट्टरता के लिये जीना और मरना दोनों बुरा है"। वह धार्मिक स्वतन्त्रता के समर्थक थे लेकिन उसके निरंकुशस्वरूप के प्रति आगाह करते हुये 18-2-1939 को उन्होंने यंग-इण्डिया में लिखा कि "धार्मिक स्वतन्त्रता एक अनुचित लाइसेन्स बन जाती है, जब वह दूसरों के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा की कीमत पर प्रयोग में लायी जाने लगे अथवा नैतिकता एवं सुन्दरता का प्रतिवाद बन जाय"। उल्लेखनीय है कि गांधी जी के इन विचारों की प्रतिध्वनि हमें भारतीय संविधान के 25वें अनुच्छेद में स्पष्ट दिखायी देती है, जहाँ धार्मिक स्वतन्त्रता के मौलिक अधिकार का नियोजन करते समय उसे लोक व्यवस्था, स्वास्थ्य, सदाचार तथा अन्य मूल अधिकारों की मर्यादा से आबद्ध किया गया है।

11.3 सारांश

महात्मा गांधी के राजनीतिक विचारों से स्पष्ट है कि उन्होंने समकालीन विश्व में स्थापित राजनीतिक प्रयोगों या राजनीतिक चिन्तनधाराओं से हटकर मौलिक स्वरूप में अपने विचार सामने रखे। उन्होंने उन्हें प्रयोगात्मक कसौटियों पर भी कसा और सामान्यतः अव्यवहारिक प्रतीत होने वाली अपनी वैचारिक अवधारणाओं को बड़ी सहजता के साथ प्रयोगात्मक व्यवहार में उतारा। उन्होंने राजनीति में नैतिक मूल्यों, आध्यात्मिक चेतना, बन्धुत्वभाव, सहिष्णुता, मानवीय दृष्टि, अहिंसा एवं सत्य, सत्ता के विकेन्द्रीकरण, सत्याग्रह पर जोर दिया, जिसकी प्रासंगिकता सार्वभौमिक एवं सर्वकालिक है। आज हिंसा, उग्रवाद और आणविक युद्ध की घनीभूत आशंकाओं से घिरे विश्व में गांधी जी के इन विचारों की राजनीतिक प्रासंगीकता दुनिया भर में स्वीकार की जा रही है। वह समस्याओं के शान्तिपूर्ण समाधान के प्रबल विश्वासी थे।

गांधी जी ने राजनीति के प्रचलित चरित्र को बदलने और उसे मानवीय मूल्यों से जोड़ने का चिन्तन किया और उस चिन्तन को क्रियात्मक रूप देने की कोशिश की। नैतिकता का अभाव या क्षरण और धार्मिक कट्टरता की भावनायें राजनीति का असाध्य रोग बनी हुई हैं और उससे उपजी राजनीतिक समस्याओं के समाधान की राह निर्विवाद रूप से गांधीवाद से होकर गुजरती है। गांधी ने व्यक्ति की

स्वतन्त्रता एवं गरिमा को उत्कर्ष प्रदान किया और राज्य की निरंकुशता से मुक्ति का मार्ग बताया। अहिंसा की शक्ति का उन्होंने मर्म समझाया और उसे एक अपरायेज शक्ति के रूप में स्थापित किया। फलतः विश्व में उनके राजनीतिक चिन्तन एवं दृष्टिकोण को विशिष्ट महत्ता प्राप्त हुई।

11.4 उपयोगी पुस्तकें

1. वी0पी0 वर्मा : माडर्न इण्डियन पोलिटिकल थाट
2. वी0 पी0 वर्मा : दि पोलिटिकल फिलासफी ऑफ महात्मा गांधी
3. डी0 एम0 दत्त : दि फिलासफी ऑफ़ महात्मा गांधी

   लक्ष्मी नारायण अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा।
4. आर0 रोलैण्ड : महात्मा गांधी
5. J. Bando Padhya, Social & Political Thought of Gandhi, Allied Publisher Bombay, 1969.
6. Thomas Pantham & Keneth V. Deutch, Political Thought in Modern India, Sage Publication, N. Delhi, 1986.
7. Bhikhu Parekh : Gandhi's Political Philosophy : A Critical Assesment Thandnills, 1980.
8. R.N. Ayer : The Moral and Plitical Thought of Mahatna Gandhi N. Delhi, 1983.
5. Bhikhu Parkh : Gandhi's Political Philosophy, Macmillan, London, 1989.

11.5 : सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. गांधी जी के राजनीतिक विचारों के स्रोत एवं वैशिष्ट्य का वर्णन करें।
2. राज्य एवं सरकार सम्बन्धी महात्मा गांधी की अवधारणा स्पष्ट करें।
3. महात्मा गांधी के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों का वर्णन करें।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. अहिंसा गांधी जी के विचार स्पष्ट करें।
2. धर्म और राजनीति के सम्बन्धों के प्रति महात्मा गांधी का दृष्टिकोण क्या था?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नलिखित में से क्या सही नहीं है?
   (a) गांधी राजनीति में नैतिक मूल्यों के पक्षधर हैं,
   (b) गांधी राजनीति के साध्य नहीं नैतिकता के आदर्शों का साधन समझते हैं
   (c) गांधी सत्य और अहिंसा के समर्थक हैं।
   (d) गांधी सत्ता-परक राजनीति का समर्थन करते हैं।
2. गांधी किस विचारधारा के समर्थक हैं?

(a) सर्वोदय

(b) उपयोगितावाद

(c) समाजवाद

(d) साम्यवाद

12.7 प्रश्नोत्तर

1. (a)
2. (a)

इकाई–12 : गांधी का सामाजिक-आर्थिक दर्शन

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 गांधी का सामाजिक दर्शन

- 12.2.1 अस्पृश्यता निवारण
- 12.2.2 वर्ण व्यवस्था का समर्थन
- 12.2.3 महिला उत्थान
- 12.2.4 साम्प्रदायिक एकता
- 12.2.5 धर्म सम्बन्धी विचार

12.3 गांधी का आर्थिक दर्शन

- 12.3.1 ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त
- 12.3.2 विकेन्द्रीकरण
- 12.3.3 प्रतिस्पर्धात्मक मशीनीकरण का विरोध
- 12.3.4 खादी, ग्रामोद्योग एवं आर्थिक स्वावलम्बन
- 12.3.5 गांधी जी और समाजवाद
- 12.3.6 ग्राम-विकास

12.4 सारांश

12.5 उपयोगी पुस्तकें

12.6 सम्बन्धित प्रश्न

12.7 प्रश्नोत्तर

12.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- गांधी का सामाजिक दर्शन, उनकी अस्पृश्यता निवारण, वर्ण व्यवस्था, महिला उत्थान, साम्प्रदायिक एकता तथा धर्म संबंधी विचारों की विवेचना कर सकेंगे,
- गांधी का आर्थिक दर्शन, उनकी ट्रस्टीशिप का सिद्धांत, विकेन्द्रीकरण, प्रतिस्पर्धात्मक मशीनकरण का विरोध, खादी ग्रामोद्योग एवं आर्थिक स्वालम्बन की विवेचना कर सकेंगे,
- गांधी के समाजवाद तथा ग्राम विकास का उल्लेख कर सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

महात्मा गाँधी मानते थे कि भारतीय और पश्चिमी समाज समान रूप से अनेक दोषों से ग्रसित हैं। अतः वह समाज में सुधारों की आवश्यकता स्वीकार करते थे, यद्यपि किसी समाज के ढाँचे में उसकी मौलिक प्रकृति के विपरीत अनावश्यक छेड़छाड़ को भी उचित नहीं समझते थे। वह व्यक्ति को समाज की इकाई मानते थे और उनका विश्वास था कि व्यक्ति के सुधार से समाज का सुधार स्वतः प्रशस्त होगा।

महात्मा गांधी का विश्वास था कि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्था में परस्पर निर्भर हैं। उनका अभिमत था कि समाज के सुधार के लिये जहाँ व्यक्ति का सुधार जरूरी है, वहीं समाज के स्वस्थ विकास से राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था का सुधार भी सम्भव होगा। वह राज्य नहीं समाज को महत्त्वपूर्ण मानते थे। उनके सर्वोदय का लक्ष्य भी ऐसे शोषणविहीन समाज की स्थापना था जिसमें व्यक्ति अपने सर्वांगीण विकास का अवसर प्राप्त कर सके।

गांधी नीतिमूलक समाज चाहते थे। उनका विश्वास था कि सत्य-अहिंसा को हथियार बनाने से ही उसकी सिद्धि होगी। इससे समाज में विषमता, दुर्भावना, संघर्ष एवं युद्ध का अंत होगा और कर्त्तव्यबोध जगेगा। फलतः व्यक्ति मात्र अपने अधिकारों के लिये ही नहीं, दूसरों के अधिकार के लिये भी जागरूक एवं सचेष्ट होगा। वह सामाजिक शोषण का अंत चाहते थे, लेकिन अहिंसा के रास्ते। वह प्रेम, दया, करुणा आदि मानवीय मूल्यों के सहारे अन्याय, उत्पीड़न एवं शोषण के वजूद को मिटा देना चाहते थे। अतः उनके सामाजिक दर्शन में जहाँ करुणा का सन्देश है, वहीं स्वतन्त्रता, समानता, अधिकार और निर्भयता का उद्घोष भी। एक व्यक्ति भी अन्याय के प्रतिकार में आगे बढ़ सकता है, यदि वह सत्य, अहिंसा एवं नैतिकता के बल से लैस हो। उनके समाज दर्शन में इस तरह व्यक्ति की आत्मा के अमरत्व का सन्देश है। एक पराधीन एवं पराभूत राष्ट्र में सुप्त पड़े आम आदमी को ऐसे ही उसकी आत्मा से झकझोर कर उन्होंने जागृत खड़ा कर दिया और स्वतन्त्रता के महान लक्ष्य की ओर डग भरने की चेतना प्रदान कर दी।

उदारवादियों एवं उग्र राष्ट्रवादियों के नरमदलीय एवं गरमदलीय वैचारिक द्वन्द में समाजसुधार एवं राजनीतिक सुधार की प्राथमिकता को लेकर मतभेद का स्वर स्पष्ट था। गांधी जी ने इसका पटाक्षेप कर दोनों की प्राथमिकता के दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया। जब देश को राजनीतिक स्वतन्त्रता मिली तो उन्होंने उसे सामाजिक एवं आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना अधूरा करार दिया।

12.2 गांधी का सामाजिक दर्शन

महात्मा गांधी के सामाजिक दर्शन के महत्त्वपूर्ण विविध बिन्दु अधोलिखित हैं–

12.2.1 अस्पृश्यता निवारण

महात्मा गांधी हिन्दू समाज में अस्पृश्यता की व्याप्त बुराई को एक सामाजिक कोढ़ मानते थे और उन्होंने जीवनपर्यन्त उसका घोर विरोध किया। इसे वह समाज एवं राष्ट्र की एकता का सबसे बड़ा अवरोध और सभ्य समाज के लिये शर्मनाक मानते थे। उन्होंने स्पष्ट कहा कि अस्पृश्यता का धर्म से कुछ लेना-देना नहीं है और यदि ईश्वर अस्पृश्यता को स्वीकार करता है तो वह ऐसे ईश्वर को स्वीकार नहीं कर सकते। उन्होंने अछूतों को 'हरिजन' कहा और स्पष्ट किया कि अछूतपन की बुराई के कायम रहते स्वराज्य अर्थहीन है। उन्होंने इस बुराई पर चोट करने के लिये ही हरिजन मन्दिर प्रवेश के आन्दोलन चलाये। तात्कालिक परिवेश में इन आन्दोलनों का क्रांतिकारी महत्त्व था। वह हरिजनों के

ा, यज्ञादि में भाग लेने के आंदोलन भी चलाते रहे। हरिजनों के समान नागरिक अधिकार का भी ोंने समर्थन किया। उन्होंने हरिजनों को सार्वजनिक स्थानों पर प्रवेश दिलाया। हरिजनों को शेष दू समाज से अलग करने के लिये उन्हें पृथक निर्वाचक मण्डल प्रदान किये जाने की अंग्रेजों की ; डालो और राज करो की एक और कुटिल चाल का उन्होंने विरोध किया। वह अस्पृश्यता का अंत हते थे न कि अस्पृश्य समाज को अलग-थलग कर उन्हें स्थायी रूप से अस्पृश्य बनाना। उनके ोध के कारण ही अंग्रेजों की चाल नाकाम हुई और गांधी एवं अम्बेडकर के बीच पूना-पैक्ट के बाद जनों के लिये सीट आरक्षण की नीति स्वीकार की गयी। गांधी जी ने अछूतों को आत्मसम्मान का ा पढ़ाया। हरिजन बस्तियों में उन्होंने रहना आरम्भ किया। उनकी सेवा हेतु हरिजन सेवक संघ की ापना की। हरिजनों को बुरी आदतें त्याग करने की भी सलाह दी और उन्हें स्वास्थ्य, शिक्षा, लम्बन के लिये प्रेरित किया।

2.2.2 वर्ण व्यवस्था का समर्थन–

ात्मा गांधी अस्पृश्यता, जातिभेद आदि के जहाँ घोर विरोधी थे, वहीं उन्होंने वर्ण व्यवस्था का र्थन किया। वह इसे सामाजिक संरचना के यथार्थ के रूप में वांछनीय मानते थे। वस्तुतः गांधी वर्ग वस्था में विश्वास रखते थे और भारतीय वर्ण व्यवस्था को उसी का एक रूप मानते थे। वह मानते कि भारत में वर्ण व्यवस्था की जड़ें गहरी हैं, और इससे मुक्ति सामाजिक अव्यवस्था का कारण बन ती है। वह मानते हैं कि मनुष्य कुछ स्वाभाविक योग्यताओं के साथ पैदा होता है और इसी आधार र्ण व्यवस्था नियोजित है। वर्ण व्यवस्था कार्य विशेषीकरण और जीविका के साथ जुड़ी है। इसमें नुवंशिक संस्कारों का लाभ उठाया जाता है और उसके अनुरूप कार्य निर्धारण से समाज में ायोगिता का निदान होता है।

ात्मा गांधी कर्म एवं आजीविका से जुड़ी वर्ण व्यवस्था को ऊँच-नीच के लिये स्वीकार करने के लाफ थे। वह मानते थे कि वर्ण बदल भी सकता है, क्योंकि उसका सम्बन्ध पेशे से है। दूसरी ओर म्भिक रूप से वर्ण निर्धारण में वह जन्म का सिद्धान्त स्वीकार करते हैं। वह वर्ण व्यवस्था का र्थन तो कहते हैं, लेकिन किसी भी रूप में भेदभाव एवं शोषण के लिये नहीं।

ी जी ने वर्ण व्यवस्था का भले इस प्रकार समर्थन किया हो लेकिन वह जाति-प्रथा के विरुद्ध थे। ोंने हर प्रकार के जातिगत भेदभाव का विरोध किया और उसे मानवीय न्याय के विरुद्ध, सभ्य ाज के लिये कलंकपूर्ण माना और समाप्त कर दिये जाने की हिमायती की।

2.2.3 महिला उत्थान–

न्ती प्रभावों से परिपूर्ण तत्कालीन समाज में नारी भी जबर्दस्त भेदभाव एवं अन्याय का शिकार थी। लाओं के प्रति व्यक्ति एवं समाज का व्यवहार मध्यकालीन सोच से प्रेरित था। सती प्रथा जैसी ाति के उन्मूलन की दिशा में कुछ ठोस सामाजिक प्रगति तो हुई थी, लेकिन महिलायें बाल-विवाह, विवाह, पर्दा-प्रथा, देवदासी प्रथा, बाल वैधव्य जैसी त्रासदी-पूर्ण कुरीतियों से आक्रान्त जीवन के ये मजबूर थीं। गांधीवादी चिन्तन में इन बुराइयों पर प्रहार के साफ स्वर सुनायी देते हैं। गांधी चिन्तन स्त्री एवं पुरुष को समान स्तर प्रदान किया गया है।

त्मा गांधी मानते थे कि नारी में चारित्रिक एवं नैतिक शक्ति पुरुष से ज्यादा है। अतः वह अधिक म्बल का परिचय दे सकती हैं। जरूरत नारी में इस शक्ति को जागृत करने की है। वह मानते थे नैतिक शस्त्र का प्रयोग महिलायें अधिक समर्थ दक्षता के साथ कर सकती हैं। उनमें त्याग, प्रेम अहिंसा की शक्ति भी अधिक होती है। अतः वह सत्याग्रह की अधिक शक्ति से सुसज्जित होती आवश्यकता मात्र यह है कि महिलायें हीन भावना का परित्याग कर आत्मविश्वास एवं आत्मशक्ति

का आश्रय लेते हुये आगे बढ़ें।

गांधी ने पर्दाप्रथा का विरोध किया और स्त्री शिक्षा पर जोर दिया। उन्होंने महिलाओं के पारिवारिक उत्तरदायित्व को भी महत्त्व दिया, क्योंकि वह मानते थे कि स्त्रियाँ पूरे परिवार की सर्वश्रेष्ठ शिक्षक होती हैं। वह मानते थे कि स्त्रियों को जिन कुरीतियों से जकड़ कर समाज ने रखा है, उससे स्वतन्त्रता एवं समानता के शब्द निरर्थक हो जाते हैं।

गांधी ने स्त्री शिक्षा के साथ ही स्त्री मताधिकार, स्त्रियों के लिये स्वतन्त्रता एवं समता के अधिकार, विधवा पुनर्विवाह, दहेज निषेध आदि का समर्थन किया।

12.2.4 साम्प्रदायिक एकता

अंग्रेज शासकों ने भारतीय समाज में साम्प्रदायिक आधार पर भेद डालने की जिस नीति का आश्रय लिया, उसके कुपरिणाम के रूप में प्रस्तुत साम्प्रदायिकता का महात्मा गांधी ने आजीवन विरोध किया। वह सम्प्रदायवाद के जहर को भारतीय समाज में निर्मूल करना चाहते थे। हिन्दू-मुस्लिम एकता एवं भाईचारे में उनकी गहरी आस्था थी। वह धर्म के ऐसे स्वरूप के करता हो। गांधी जी ने साम्प्रदायिकता विरोध की वेदी पर अपने प्राणों का भी बलिदान किया।

12.2.5 धर्म सम्बन्धी विचार–

महात्मा गांधी धर्मों की तात्विक एकता में विश्वास रखते थे। वह धर्म को मानव समाज के शास्वत तत्व के रूप में देखते थे। वह धर्म को संकुचित कर्मकाण्डीय स्वरूप में नहीं देखते थे। वह धर्म के नैतिक मूल्यों के कायल थे और यह मानते थे कि इस सन्दर्भ में विश्व के धर्मों के बीच तात्विक एकता विद्यमान है। वह सार्वभौम मानव धर्म के पक्षधर थे और सभी धर्मों के श्रेष्ठ मूल्यों में उनकी आस्था थी। वह धर्म को सर्वकल्याण का माध्यम मानते थे और उनके विभाजक या आक्रामक प्रयोग के विरुद्ध थे। वह हिन्दू धर्म में गहरी आस्था रखते थे, लेकिन इसाई धर्म से भी अत्यधिक प्रभावित थे। कुरान और इस्लाम का भी उन पर प्रभाव था। वह सभी धर्मों के गम्भीर अध्येता थे। वह मानते थे कि विश्व के सभी धर्मों की मूल शिक्षा एक जैसी है। वह दया, सत्य, प्रेम, करुणा, उदारता, बन्धुत्व, सद्-आचरण, सद्भाव, अहिंसा की समान रूप से शिक्षा देते हैं। गांधी जी धर्म परिवर्तन के खिलाप थे। उनके आश्रम में सभी धर्मों के अनुयायी रहते थे और वह अपने-अपने विश्वास के अनुसार उपासना या प्रार्थना करते थे। गांधी जी ने किसी को कभी भी धर्म परिवर्तन के लिये प्रेरित नहीं किया। जब सभी धर्मों की मूल शिक्षा एक है, तो धर्म परिवर्तन का कोई कारण नहीं हो सकता।

महात्मा गांधी आध्यात्मिक चेतना से आनुप्राणित समाज चाहते थे। ईश्वर में उनकी अविकल निष्ठा थी। उनका गहरा विश्वास प्रार्थना में था। प्रार्थना के समय उनके आश्रम में कोई भी चल रहा महत्त्वपूर्ण कार्य स्थगित हो जाता था। वह मानते थे कि प्रार्थना से मन को शान्ति भी मिलती है और शक्ति भी। प्रार्थना की शक्ति में जहाँ उनका अटूट विश्वास था, वहीं प्रार्थना उनकी दिनचर्या का सुनिश्चित एवं अभिन्न हिस्सा थी।

गांधी धर्म को समाज में प्रयोग करने के पक्षधर थे। निर्जन पर्वतों पर एकान्त में उपासना एवं तप वाले महात्मा वह नहीं थे। वह एक रामभक्त वैष्णव थे, जिन्होंने लाखों लोगों को रामभक्ति के लिये अपने आचरण से प्रेरित किया और उनको साथ लेकर प्रार्थना करते रहे। गांधी जी ने धर्म की भावनाओं का प्रयोग समाज में किया। जहाँ प्रत्येक व्यक्ति में वह ईश्वर का अंश देखते थे, वहीं गरीब, असहाय एवं पीड़ित लोगों की सेवा को सबसे बड़ी उपासना और सबसे बड़ा धर्म मानते हैं। दरिद्र व्यक्ति में वह ईश्वर के सबसे प्रखर रूप का दर्शन करते थे और दरिद्रनारायण की सेवा को ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट उपासना समझते थे। इस तरह उनके धार्मिक विश्वास मनुष्य और समाज की सेवा के लिये प्रेरणा देते

2.3 गांधी का आर्थिक दर्शन

ात्मा गांधी के आर्थिक दर्शन के महत्त्वपूर्ण विविध बिन्दु अधोलिखित हैं-

2.3.1 ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त

ात्मा गांधी आर्थिक सन्दर्भ में ट्रस्टीशिप या संरक्षकता के सिद्धान्त के अनुयायी थे। इसे वह ार्थिक विषमता के प्रतिकार का नैतिक साधन मानते थे। वह निजी सम्पत्ति के अधिकार के पक्षधर , लेकिन सम्पत्ति के निरंकुश मालिकाने की अवधारणा के विरुद्ध थे। वह मानते थे कि यदि किसी ो उसके उपभोग की आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति उत्तराधिकार में मिली या उसने उसे व्यापार से माया है तो वह उस सम्पत्ति का मालिक नहीं न्यासी या ट्रस्टी है। अतः व्यक्ति अपने को उसका ामी नहीं समझकर न्यासी भावना से काम करे। इससे सम्पत्ति उसके पास जरुर रहेगी, लेकिन माज हित में उसका उपभोग होगा। वह अपने उपभोग के लिये आवश्यक सम्पत्ति के अंश को अपने स रखे और शेष सम्पत्ति का निवेश उसे लोक कल्याण में करना चाहिये।

ात्मा गांधी का संरक्षकता का सिद्धान्त अपरिग्रह की भावना पर आधारित है। अपरिग्रह की भारतीय स्कृति में स्थापित प्रतिष्ठा रही है, जिसके अनुसार व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक का संग्रह नहीं रना चाहिये। इस तरह गांधी 'सर्वै भूमि गोपाल की' जैसी सोच के तहत प्रकारान्तर से सम्पत्ति के ामाजिक स्वामित्व को व्यक्ति की नैतिक शक्ति के सहारे प्रतिष्ठित करते हैं। ट्रस्टीशिप के इस िद्धान्त के द्वारा वह पूंजीवाद के विष का शमन कर उसे परिमार्जित करना चाहते हैं। इसी लक्ष्य हेतु ार्क्स के हिंसा के मार्ग के विपरीत गांधी जी अहिंसा एवं नैतिक माध्यम का आश्रम अपनी ट्रस्टीशिप ी अवधारणा में लेते हैं। सदा जीवन-उच्च विचार के कायल गांधी जी जीवन की आवश्यकताओं को ो बेहद सीमित रखने के पक्षधर हैं।

2.3.2 विकेन्द्रीकरण

हात्मा गांधी राजनीतिक सत्ता की भाँति आर्थिक शक्ति के भी विकेन्द्रीकरण के पक्षधर थे। उनका ानना था कि उत्पादन की आधुनिक पद्धति बड़े कल कारखानों से जुड़ी हुई है, जो केन्द्रित उत्पादन वं केन्द्रित पूंजी को बढ़ावा देती है। उत्पादन एवं अर्थ सत्ता का यह केन्द्रीकरण राजसत्ता के भी न्द्रीकरण का कारण बनती है। पूंजीवादी अर्थतंत्र तो इस रोग से ग्रस्त है ही, लेकिन समाजवाद एवं ाम्यवाद के प्रयोग भी इससे अछूते नहीं हैं, क्योंकि वह उत्पादन एवं उसके साधनों के स्वामित्व का ामाजीकरण करने के बावजूद उत्पादन की प्रक्रिया एवं पूंजी के केन्द्रित स्वरूप के दोष से ग्रस्त बने ुते हैं। फलतः वह केन्द्रित उत्पादन एवं पूंजी शक्ति के कारण केन्द्रित सत्तावाद के दोष का शिकार ोकर सच्चे लोकतंत्र के रास्ते से भटक जाते हैं। अतः ऐसे समाजवादी प्रयोग लोकशक्ति से कट ाने के कारण कभी सफल नहीं हो सकते। अतः गांधी जी अर्थसत्ता और उत्पादन प्रणाली के विकेन्द्रीकरण के पक्षधर हैं। अतः वह बड़े उद्योगों के उन्मूलन तथा ग्रामोद्योग एवं कुटीर उद्योग के विकास का समर्थन करते हैं।

ांधी जी कुटीर एवं ग्रामोद्योग को विशेष महत्त्व देते हैं क्योंकि इससे जहाँ स्वदेशी की भावना का ाषण होगा, वहीं मानव शक्ति या श्रम शक्ति की प्रतिष्ठा स्थापित होगी। इसमें पूंजी का भी न्द्रीकरण नहीं होगा और उत्पादन भी केन्द्रित नहीं होगा। अतः शोषण का भी सार्थक निषेध हो केगा।

12.3.3 प्रतिस्पर्धात्मक मशीनीकरण का विरोध

महात्मा गांधी प्रतिस्पर्धापूर्ण मशीनीकरण और उन पर आधारित बड़े उद्योगों के विरुद्ध थे। वह मूलतः मशीन के विरुद्ध नहीं थे, लेकिन मशीनीकरण एवं उस पर आधारित औद्योगिक उत्पादन के सीमित स्वरूप के पक्षधर थे। वह मशीनों को उसी हद तक स्वीकार किये जाने के हिमायती थे, जहाँ तक मनुष्य मशीनों को नियंत्रित करे, न कि मशीनें मनुष्य को नियंत्रित करने लगें। वह बेरोजगारी पैदा करने वाले निरन्तर बढ़ते मशीनी स्वचालन के विरुद्ध थे। वह मानते थे कि बड़ी मशीनों पर आधारित बड़े उद्योगों के प्रतिस्पर्धात्मक विकास से छोटे एवं कुटीर उद्योग नष्ट हो जायेंगे और रोजगार की संभावनायें इससे संकुचित होती चली जायेंगी। इससे प्रदूषण भी बढ़ेगा। गांधी जी ने जहाँ बड़े उद्योगों के विकास का विरोध किया, वहीं स्थापित बड़े उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की सोच का समर्थन किया।

12.3.4 खादी, ग्रामोद्योग एवं आर्थिक स्वावलम्बन

महात्मा गाँधी ने खादी एवं चरखे के आन्दोलन में अपने आर्थिक विचारों का सफल प्रयोग किया। खादी आन्दोलन को संस्थागत आधार एवं लोकप्रिय जनाधार से जोड़कर गांधी जी ने उसे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आर्थिक हितों के सामने एक गम्भीर प्रश्नवाचक चिह्न की तरह खड़ा कर दिया। खादी को स्वावलम्बन के साथ-साथ स्वदेशी की राजनीतिक भावना से जोड़कर जिस तरह भारतीय आत्मगौरव का प्रतीक बना दिया, उसने तत्कालीन ब्रिटिश उद्योगपतियों के माथे पर चिन्ता की लकीरें पैदा कर दीं।

गांधी जी खादी को ग्रामोद्योग एवं कुटीर उद्योग से जोड़कर देखते थे। उसके पीछे नीहित दर्शन के आधार पर ही उन्होंने कहा कि खादी वस्त्र नहीं विचार है। वह इसी प्रकार ग्रामोद्योग एवं कुटीर उद्योग के ढाँचे में अन्य उत्पादों को भी प्रोत्साहित कर व्यक्ति और उसके समुदाय की आधारभूत ग्राम इकाई को स्वावलम्बन की अवधारणा से जोड़ना चाहते थे। वह चाहते थे कि गाँव की आवश्यकता, उत्पादन एवं उपभोग में सामन्जस्य कुछ इस प्रकार हो कि गाँव आत्मनिर्भर बने और स्वावलम्बी विकास की दिशा में आगे बढ़ सकें।

12.3.5 गांधी जी और समाजवाद–

गांधी आर्थिक सन्दर्भ में व्यक्तिवादी नहीं थे। उन्होंने धन के विवेकपूर्ण नियोजन का और आर्थिक सन्दर्भ में सामाजिक न्याय का समर्थन किया। वह किसी भी रूप में आर्थिक शोषण के विरुद्ध थे। वह मानते थे कि स्वराज तब तक अर्थहीन है, जब तक कि वह समाज के सबसे पीछे खड़े व्यक्ति को भी जीवन की वह सब सुविधायें उपलब्ध नहीं हो जातीं, जो आगे खड़े लोगों को प्राप्त हैं। गांधी जी चाहते थे कि धन लिप्सा और उस पर एकाधिपत्य की चाहत एवं उससे उत्पन्न होने वाली शोषण एवं प्रतिस्पर्धा की प्रवृत्तियों का लोक परित्याग करें। इसके लिये व्यक्ति की आत्मा का उद्दीपन जरूरी है। ऐसा हुआ तो आध्यात्मिक-समाजवाद का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा, जिसमें सभी के साथ समान बर्ताव होगा। ऐसे समाजवाद के लिये किसी राजनीतिक शक्ति नहीं, नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्ति को जागृत करना होगा।

आधुनिक समाजवाद या साम्यवाद जहाँ अधिकतम संभव उत्पादन की बात करता है, वहीं गांधी औचित्य के आधार पर उत्पादन की आवश्यकता बताते हैं। साम्यवाद पहले काम के अनुसार और बाद में आवस्यकता के अनुसार पारिश्रमिक की संस्तुति करता है और गांधी जी पहले उचित एवं निर्वाह योग्य और बाद में आवश्यकतानुसार परिश्रमिक की। यहाँ उल्लेखनीय है कि गांधी आवश्यकता को संयमित रखने पर भी जोर देते हैं और सादगीपूर्ण जीवन के पक्षधर हैं। समाजवाद एवं साम्यवाद में शासन के अधीन उद्योगो के संचालन का सिद्धान्त मान्य है, जबकि गांधी जी उद्योगों के विकेन्द्रीकरण, ग्रामोद्योग, ग्राम स्वावलंबन एवं ग्राम गणतंत्र की वकालत करते हैं। साम्यवादी व्यवस्ता में लक्ष्यसिद्धि के

.. ।हसात्मक क्रांति का भी अनुमोदन होता है, लेकिन गांधी किसी भी स्थिति में अहिंसक समाज पर ार देते हैं। इस तुलनात्मक विश्लेषण के आधार पर गांधी जी को एक अहिंसक एवं आध्यात्मिक माजवादी कहा जा सकता है।

हात्मा गांधी श्रम की प्रतिष्ठा के कायल थे और श्रम विभाजन के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुये न्होंने एक श्रमिक और डाक्टर, वकील आदि जैसे दूसरे पेशे में कार्यरत लोगों को एक समान वेतन ने का क्रान्तिकारी सिद्धान्त प्रदान किया। वह मानते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्राथमिक रूरतों के लिये एक समान साधन मिलना जरूरी है और उससे अधिक प्राप्त करना संग्रही प्रवृत्ति को ढ़ावा देना होगा।

2.3.6 ग्राम-विकास

हात्मा गांधी मानते थे कि भारत गावों का देश है। भारतीय गांवों के विनाशकारी पिछड़ेपन तथा ाघटन को देखकर वह द्रवित हो उठते थे। अतः वह ग्रामोद्धार और ग्राम विकास की प्राथमिकता के क्षधर थे। ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों में विकास की खांई को वह पाटना चाहते थे, लेकिन इस सन्दर्भ वह इस बात के पक्षधर नहीं थे कि गांव भी विकास की दौड़ में नगरों का अन्धानुकरण करें। वह ाँवों का स्वावलंबी विकास चाहते थे, जिसमें वह अपनी पहचान कामय रखते हुये अपनी ऊर्जा एवं साधनों का प्रयोग गांव के विकास में कर सकें। उन्होंने गाँव में शोषण के ढाँचे को ध्वस्त करने के नये जहाँ चरखे एवं ग्रामोद्योग को बल प्रदान करने की बात की, वहीं इसकी वकालत भी की कि ूमि पर हक उसे जोतने वाले का हो। इससे श्रम की सही मर्यादा स्थापित होगी। गांधी जी मानते थे क ग्रामीण अर्थव्यवस्था सुदृढ़ हुई और गाँवों का स्वावलम्बी विकास हो सका तो हमारे लोकतंत्र की ड़ें मजबूत होंगी। उन्होंने गाँवों के सामुदायिक विकास पर जोर दिया।

2.4 सारांश

हात्मा गांधी का आर्थिक दर्शन समानता, शोषण विहीनता, अहिंसा, अन्त्योदय, सम्पत्ति की संरक्षकता कि स्वामित्व, आर्थिक विकेन्द्रीकरण, ग्राम स्वावलम्बन, ग्रामोद्योग एवं कुटीर उद्योग आदि वधारणाओं पर आधारित है और व्यक्ति की आर्थिक स्वतन्त्रता का सन्देश देता है। गांधी नैतिक दृष्टि ा तो व्यक्तिवादी हैं, लेकिन आर्थिक व्यक्तिवादी नहीं हैं। वह सम्पत्ति एवं पूँजी और उत्पादन को नाभिमुख बनाना चाहते हैं।

2.5 उपयोगी पुस्तकें

. वी0पी0 वर्मा : माडर्न इण्डियन पोलिटिकल थाट

.. वी0 पी0 वर्मा : दि पोलिटिकल फिलासफी ऑफ महात्मा गांधी

. डी0 एम0 दत्त : दि फिलासफी ऑफ महात्मा गांधी

. आर0 रोलैण्ड : महात्मा गांधी

. T.K. Owen : Charisma, Stability and Change : An Analysis of Bhudan-Gramdan Movement in India, N. Delhi, 1972.

. Ramasray Roy (ed) : Centemporary Crisis Gandhi, Delhi, 1986.

. Mathew Jakharia : Revolution to Reforms : A Companion of Sarvodaya and Consentisation, New Delhi, 1986.

. Mehta J.K., Gandhian Thought : An Analygtical Study, Ashish Publishing House, New Delhi, 1994.

12.6 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. महात्मा गांधी के ट्रस्टीशिप सम्बन्धी आर्थिक दर्शन की विवेचना करें।
2. अद्योगिकीकरण एवं मशीनीकरण पर महात्मा गांधी के विचारों का वर्णन करें।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. आर्थिक विकेन्द्रीकरण के गांधी जी के विचारों का उल्लेख कीजिये।
2. महात्मा गांधी के आर्थिक दर्शन और समाजवाद का तुलनात्मक संक्षिप्त विश्लेषण करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. गांधी जी के अछूतों के लिये किस शब्द का प्रयोग किया है?
   (a) हरिजन
   (b) अनुसूचित जाति
   (c) दलित
   (d) अछूत
2. निम्नलिखित में से किस सिद्धान्त का गांधी जी ने समर्थन नहीं किया है?
   (a) ट्रस्टीशिप
   (b) विकेन्द्रीकरण
   (c) केन्द्रीकरण
   (d) औद्योगीकरण

12.7 प्रश्नोत्तर

1. (a)
2. (c)

काई–13 : गांधी के आलोचक - सुभाष चन्द्र बोस, सावरकर

काई की रूपरेखा

0 उद्देश्य

1 प्रस्तावना

2 सुभाषचन्द्र बोस–

13.2.1 राजनीति के आध्यात्मिकरण का विरोध

13.2.2 मात्र अहिंसा से स्वराज्य संभव नहीं

13.2.3 निरपेक्ष नैतिकतावाद का विरोध

13.2.4 वर्ग संघर्ष अपरिहार्य

13.2.5 ऋषि श्रद्धाभाव का दुरुपयोग

13.2.6 सुभाष चन्द्र बोस के विचारों की समीक्षा

3 विनायक दामोदर सावरकर

13.3.0 राष्ट्रवाद की संकल्पना

13.3.1 अहिंसात्मक राजनीति अर्थहीन

13.3.2 'हिन्दुत्व' राष्ट्र के लिये अपरिहार्य

13.3.3 सत्याग्रह की पद्धति अनुपयुक्त

13.3.4 'मुस्लिम तुष्टीकरण' का विरोध

13.3.5 समीक्षा

3.4. साराँश

3.5 उपयोगी पुस्तकें

3.6 सम्बन्धित प्रश्न

3.7 प्रश्नोत्तर

13.0 उद्देश्य

स इकाई के अध्ययन के पश्चात आप :

- गांधी के चिन्तन के आलोचनात्मक पक्षों की विवेचना कर सकेगी,
- सुभाषचंद्र बोस तथा विनायक दामोदर सावरकर के वैचारिक मतभेदों से गांधी जी की आलोचना के पहलुओं का विश्लेषण कर सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

गांधी युग में गांधी से असहमत और उनकी आलोचक चिन्तक धाराओं में जहाँ एक ओर धार्मिक एवं सांस्कृतिक राष्ट्रवाद से प्रेरित उग्र राष्ट्रवादी चिन्तक थे, वहीं दूसरी ओर प्रगतिवादी और उग्र वामपंथी चिन्तक से जुड़े लोग थे। इसके विपरीत राष्ट्रवादी और समाजवादी चिन्तन से जुड़ा एक बड़ा मध्यमार्गी वैचारिक वर्ग भी है जो गांधी से किंचित मतभेदों की वैचारिक सम्भावना के बावजूद गांधी के अनुकरण एवं प्रशंसा का युगधर्म की भाँति जीता है। गहरी असहमति एवं आलोचना की उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं से 'गांधी के आलोचक' शीर्षक इस इकाई में दो प्रतिनिधि चिन्तकों क्रमशः सुभाष चन्द्र बोस और सावरकर को शामिल किया गया है।

13. 2 सुभाषचन्द्र बोस

सुभाष चन्द्र बोस महात्मा गांधी के प्रशंसक थे और उनके नैतिक, आध्यात्मिक चरित्र और लोकप्रिय व्यक्तित्व के प्रति बोस के मन में गहरा सम्मानभाव था। गांधी को सारा देश महात्मा कह कर पुकारता था, लेकिन उन्हें पहली बार 'राष्ट्रपिता' कहकर उन्हें अप्रतिम सम्मान सुभाष चन्द्र बोस ने रंगून से अपने एक रेडियो प्रसारण में दिया। अपने सम्बोधन में गांधी जी को राष्ट्रपिता कहते हुये नेती जी सुभाष चन्द्र बोस ने उनसे अपने राष्ट्रीय संघर्ष में सफलता का आशीर्वाद मांगा। बोस मानते थे कि महात्मा गांधी ने भारतीय लोकचेतना में असाधारण राजनीतिक जागृति पैदा की। इसीलिये वह गांधी की भक्तिभावना, दृढ़ संकल्प शक्ति और गतिशील लोकनेतृत्व की दक्षता के प्रति सिर झुकाते थे। वह गांधी के मानवीय दृष्टिकोण और नैतिक जागरण के प्रयासों का भी समादर करते थे।

उपर्युक्त प्रशंसात्मक भावों के बावजूद बोस को गांधीवादी नहीं कहा जा सकता। वह गांधी को सत्याग्रही या स्वतन्त्रता संघर्ष का एक महान नेतृत्वकर्त्ता तो मानते थे, लेकिन उन्हें राजनीतिक चिन्तक के रूप में स्वीकार नहीं करते थे। उनका मानना था कि गांधी में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था को कोई समग्र दर्शन या कार्यक्रम नहीं है। वस्तुतः वैचारिक और कार्यपद्धति के स्तर पर गांधी से बोस के गहरे मतभेद थे और इन मतभेदों के कारण ही अकाट्य लोकप्रियता के बावजूद बोस को कांग्रेस और उससे जुड़ी जन राजनीति का मुख्यधारा से अलग होना पड़ा। वस्तुतः अधोलिखित आधारों पर बोस गांधी से असहमत एवं उनके आलोचक थे।

सुभाष चन्द्र बोस युवावस्था में वेदान्त दर्शन के प्रशंसक थे परन्तु शनैः-शनैः वे सामाजिक तथा राजनीतिक यथार्थवादी बन गये। लोकमान्य तिलक की भाँति वे भी कर्म के समर्थक थे, प्रगति की धारणा में उनका विश्वास था, उन्होंने था, उन्होंने यह तर्क दिया कि प्राकृतिक जगत एवं इतिहास के अवलोकन से यह सिद्ध होता है कि विश्व प्रगति की ओर अग्रसर है। उनका मानना था कि हमारी अन्तःप्रज्ञा भी यही कहती है कि हम आगे की ओर बढ़ रहे हैं। शक्ति के प्रति उनकी गहरी आस्था थी और शक्तिशाली की आवाज ही सुनी जाती ऐह, जो शक्ति ही हैं उनकी आवाज भी नक्कारखाने में तूती की आवाज की भाँति है। भारतीय इतिहास के सन्दर्भ में उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि अतिशय अहिंसा देश के पराभव के लिए उत्तरदायी थी। भौतिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में भारत के पतन का कारण उन्होंने भाग्य एवं अति-प्राकृतिक शक्तियों में अत्यधिक विश्वास को बताया। सुभाष ने भारत के राजनीतिक इतिहास में मुस्लिम स्थिति अथवा शक्ति की सर्वोपरिता को चुनौती दी। उन्होंने यह स्वीकार करने से इन्कार कर दिया कि ब्रिटिश शासन की स्थापना से पूव भारतीय राजनीतिक व्यवस्था मुस्लिम व्यवस्था थी।

13.2.1 राजनीति के आध्यात्मीकरण का विरोध

सुभाष चन्द्र बोस राजनीतिक यथार्थवाद से अनुप्राणित थे। यद्यपि उन्होंने एक एक आध्यात्मिक

र्शवादी के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ किया, परन्तु अन्त में राजनीतिक यथार्थवादी बन गए। वे
ी जी की भाँति राजनीति के आध्यात्मीकरण के पक्षधर कभी न थे। वे गाँधीवादी राजनीतिक कार्य
ति एवं विचारों के आलोचक थे। उन्हें राजनीति में नैतिकता का मिश्रण अथवा धार्मिक तथा
नीतिक मामलों को मिश्रित करना पसन्द न था। एक यथार्थवादी होने के कारण बोस राजनीतिक
बाजी में विश्वास करते थे। उन्होंने जीवन में राजनीति को राजनीति की तरह ही लिया एवं लिखा
राजनीतिक सौदेबाजी का रहस्य यह है कि आप जितने शक्तिशाली है उससे अधिक शक्तिशाली
पड़े। उन्हें विनम्रता और गिड़गिड़ाने की भाषा पसन्द न थी। 1931 में दूसरे गोलमेज सम्मेलन में
लन में गाँधी की नम्रता एवं ढुलमुल भाषा उन्हें पसन्द नहीं आयी। उनका विचार था कि गोलमेज
लन में गाँधीजी को राजनीतिक शक्ति के स्वरूप में बोलना चाहिए था। उनका विश्वास था कि
गाँधी स्टालिन, मुसोलिनी अथवा हिटलर की भाषा में बोलते तो ब्रिटिश सत्ता उनकी बात समझती
श्रद्धा से अपना सिर झुका लेती। एक राजनीतिक यथार्थवादी के रूप में सुभाषचन्द्र बोस ने इस
को समझ लिया था कि राष्ट्रनिर्माण केवल बातों से नहीं होता बल्कि उसके लिए भारी त्याग एवं
सहना पड़ता है, उनमें हैम्पडन एवं क्रामवेल जैसा अदम्य साहस, शौर्य एवं अविचल आदर्शवाद
वे विवेकानन्द के इस कथन को बार-बार दुहराते रहते कि बिना त्याग के स्वतन्त्रता से साक्षात्कार
हो सकता, यद्यपि उन्होंने यह स्वीकार करने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखलाई कि स्वाधीनता
त के लिए महान नैतिक तैयारियों की आवश्यकता है किन्तु घोर कष्ट उठाये बिना स्वाधीनता का
य एक स्वप्न मात्र बना रहेगा।

3.2.2 मात्र अहिंसा से स्वराज्य संभव नहीं

गांधी की इस अवधारणा से असहमत थे कि अहिंसा स्वराज का एकान्तिक एवं अकाट्य पथ है।
अहिंसा के महत्त्व, लोकचेतना एवं राष्ट्रीय भावना जागृत करने में उसकी उपयोगिता स्वीकार करते
लेकिन मात्र अहिंसा के सहारे स्वराज्य की सिद्धि के प्रति आस्थावान नहीं थे। वह कूटनीतिक
सों, अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार एवं संधि से दबावकारी राजनीति को भी जरूरी समझते थे। ऐसे प्रयासों में
ने स्वराज्य के पवित्र उद्देश्य के लिये फासिस्ट ताकतों के साथ भी कराक एवं संगठित सैन्य
योग किया। वह समाज संरचना के धरातल पर साम्यवाद से प्रभावित थे, लेकिन साम्यवाद या
ाजवाद के साथ फासीवाद से भी रणनीतिक तालमेल बनाया। इसमें सैन्य संगठन और मित्र देशों के
द्ध युद्ध की भूमिका भी उन्होंने निभायी और इस तरह स्वराज्य के लिए बन्दूक उठाने का रास्ता भी
ा। निश्चय ही यहाँ गांधीवाद से उनके चिन्तन एवं कार्य व्यवहार का गुणात्मक भेद प्रस्तुत होता है।

ी का स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए नैतिक साधनों का आह्वाहन सुभाष को यथार्थ से कोसों दूर लगा।
ं स्वाधीनता के लिए सुभाष का मन इतना अधीर था कि वे किसी भी शिथिल नीति को सहन करने
लिए तैयार न थे। इसलिए उन्होंने गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस की रीति-नीति से निराश होकर भारत
बाहर सैन्य संगठन का गठन किया और भारत को आजाद कराने हेतु अभूतपूर्व संघर्ष छेड़ दिया।
ने की प्राप्ति के लिए सुभाष सशस्त्र संघर्ष के समर्थक थे और अपने जीवन के सन्ध्याकाल में
ोंने आजाद हिन्द फौज का गठन करके तथा देश को गुलामी से मुक्त कराने के लिए सैनिक
भियान चलाकर अपने विचारों को साकार कर दिखाया। आज जनता के लिए उन्होंने निम्न बातों पर
ा दिया–

- ब्रिटिश वस्तुओं का बहिष्कार, उद्योगों तथा ब्रिटिश दुकानों तथा सरकारी कार्यालयों को जलाना।
- भारत में अंग्रेजों का एवं जो भारतीय, अंग्रेजों के समर्थक हैं, उनका पूर्ण बहिष्कार।
- सरकारी रोक अथवा निषेधाज्ञा का उल्लंघन कर जुलूसों, धरनों आदि का आयोजन करना।

(4) जनता में रोष एवं उत्साह पैदा करने हेतु गुप्त पत्रों को छापना तथा गुप्त रेडियो स्टेशन को बनाना।

(5) ब्रिटिश अधिकारियों एवं सरकारी लोगों के घर जाकर उन्हें भारत छोड़ने के लिए बार-बार कहना।

(6) ऐसे पुलिसकर्मियों, जेलकर्मियों एवं सरकारी कर्मचारियों को सजा देना जो भारतीयों को तंग करते हैं।

(7) ब्रिटिश सेना एवं पुलिस के गुजरने वाले मार्गों पर अवरोध खड़ा करना तथा उन रेलगाड़ियों, बसों आदि के मार्ग में बाधा एवं रुकावट खड़ा करना जो सैनिक संघ सैन्य सामग्री ढो रहे हों।

(8) युद्ध में लगे सरकारी दफ्तरों एवं उद्योगों में आग लगा देना।

(9) डाक-तार, टेलिफोन तथा अन्य साधनों में अधिक से अधिक रुकावट पैदा करना।

(10) पुलिस कार्यालयों, कारागृहों एवं रेलवे स्टेशनों को नष्ट करना जिससे अंग्रेजों के आवागमन का मार्ग अवरुद्ध होवे।

सुभाष चन्द्र बोस के छापामार (गुरिल्ला) युद्ध की योजना गाँधी के अहिंसक कार्य-पद्धति से मेल नहीं खाती, फिर भी उन्होंने कहा कि भारत में जो प्रचार चल रहा है वह अहिंसक छापामार युद्ध संग्राम है। जिसका मूल उद्देश्य है कि ब्रिटिश प्रशासन को ठप्प करना एवं युद्ध उत्पादक शक्ति को विनष्ट करना। उन्होंने इस बात का आह्वान किया कि इसमें सभी भारतीयों को भाग लेना चाहिए।

13.2.3 निरपेक्ष नैतिकतावाद का विरोध

बोस ने महात्मा गांधी की नैतिकतावादी प्रतिबद्धता को उसके अतिवादी स्वरूप में स्वीकार नहीं किया। नैतिक राजनीति के उनके संकल्पों को वह सम्पूर्ण व्यवहारिक नहीं मानते थे। उनका मानना था कि राजनीति हर समय नैतिक मानकों के आधार पर नहीं चलती। साधन की शुद्धता की कसौटी राजनीति में सर्वकालिक नहीं हो सकती। इससे प्रायः राजनीतिक समस्यायें उलझ जाती हैं। प्रायः राजनीतिक उद्देश्यों की सफलता के लिये कूटनीतिक हथकण्डों का सहारा लेना पड़ता है। राजनीति का मैदान कोई धर्म क्षेत्र नहीं है। गांधी देश के राजनीतिक नेता भी हैं और नैतिक उपदेशकर्त्ता महात्मा भी। यह दोनों भूमिकायें अन्तर्विरोधी हैं। वह मानते थे कि हर बात को नैतिक धरातल पर परखने के कारण गांधी जी ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की कूट चालों, साजिशों एवं फरेब भरे मन्सूबों को नहीं समझ पाते हैं और उनका माकूल उत्तर भी नहीं दे पाते। केवल जनमत को समझने से काम नहीं चलता। विरोधी की मनःस्थिति को भी समझना राजनीति में जरूरी होता है। गांधी जी इसमें असफल रहे हैं। बोस को राजनीतिक एवं नैतिक प्रश्नों को मिश्रित करना पसन्द नहीं था।

13.2.4 वर्ग संघर्ष अपरिहार्य

बोस मानते थे कि वर्ग संघर्ष अपरिहार्य नियति है। गांधी जी पूंजीपति, मजदूर, किसान और सभी वर्गों के हितों में समायोजन एवं सामन्जस्य के पक्षधर थे, जबकि बोस इनमें सामन्जस्य की सम्भावना को खारिज करते हुये इनके वर्गीय हितों में टकराव एवं द्वन्द को अनिवार्य मानते हैं। वह मानते हैं कि पूंजीपति और मजदूर वर्ग की शत्रुता स्वाभाविक है। बोस मानते थे कि गांधी जी के चिन्तन में जिस तरह इन वर्गों के नैसर्गिक द्वन्द को नजरन्दाज कर उनके बीच नैतिक समन्वय का उद्देश्य है, वहीं कभी साकार नहीं होगा और ऐसे अव्यवहारिक विचारों के कारण ही गांधी जी के नेतृत्व में कभी भारत आजादी नहीं पा सकेगा। वर्ग संघर्ष की जगह वर्ग समन्वय से असहमत बोस की यह भविष्यवाणी इतिहास में गलत साबित हुई, लेकिन इससे बोस एवं गांधी के बीच मतभेदजनित दूरी का आभास होता है।

2.5 कृषि श्रद्धाभाव का दुरुपयोग

ानते थे कि ऋषियों, मुनियों, संतों एवं फकीर महात्माओं के प्रति भारतीय जनमानस में गहरी पैठ वाले श्रद्धाभाव का महात्मा गांधी ने अपने राजनीतिक नेतृत्व के सुदृढ़ीकरण हेतु दुरुपयोग किया। संत या महात्मा का रूप धारण कर भले ही गांधी जी ने असाधारण लोकप्रियता अर्जित कर ली लेकिन यह राजनीति की बुद्धिवादी शैली नहीं है। यह जनमानस का भावनात्मक शोषण है। इससे शक्ति को जिस तरह जनमानस में बढ़ावा मिला है, उससे जनता के बीच स्वतन्त्र चिन्तन की आहत हुई है। इससे एक राजनीतिक नेतृत्वकर्त्ता की लोकप्रियता का अराजनीतिक आधार प्रकट है। यह विचित्र है कि लोग गांधी जी के राजनीतिक चिन्तन में राजनीतिक योजना के शून्य को समझते लेकिन उन्हें पैगम्बर या मसीहा की तरह पूजते हैं। गांधी भले ही अपनी इस शक्ति के भारतीय राजनीति में अनेक बुद्धिवादी नेतृत्वकर्त्ताओं की महत्ता को रौंदने में सफल हो गये हों, र ऐसे अबुद्धिवादी नेतृत्व से न तो सही राष्ट्रनिर्माण हो सकता है और न तो स्वराज्य आ सकता

2.6 सुभाष चन्द्र बोस के विचारों की समीक्षा

ा के मन में महात्मा गाँधी के प्रति अगाध श्रद्धा थी। वे गाँधीजी की सत्य, निष्ठा तथा चारित्रिक ता की प्रशंसा किया करते थे। वे यह भी मानते थे कि कांग्रेस को सुदृढ़ बनाने तथा जनता में क जागृति उत्पन्न करने के लिए गाँधीजी ने महान कार्य किया, फिर भी वे गाँधीवादी नहीं बन उन्होंने गाँधीजी के विचारों तथा कार्य-प्रणाली की कई आधारों पर आलोचना की। वे गाँधीजी के ात्मिक एवं नैतिक आदर्शवादी मानते थे। उनका विश्वास था कि राजनीतिक कार्यों में सफलता के लिये सौदेबाजी की आवश्यकता होती है। गाँधी जी का दृष्टिकोण राजनीतिक समस्याओं के तत्त्वतः नैतिक था इसलिए वे राजनीतिज्ञों एवं प्रतिक्रियावादियों की कुटिल चालों एवं षड्यन्त्रों को समझ सके। सुभाष चन्द्र का यह स्पष्ट रूप से मानना था कि केवल अहिंसा के द्वारा इन कुटिल धारियों की चालों का प्रत्युत्तर नहीं दिया जा सकता, अतएव स्वराज्य का लक्ष्य हमसे दूर होता है। उनका यह भी मानना था कि यद्यपि कि अहिंसात्मक सत्याग्रह में लोकमत को जमाटने की ा है, किन्तु केवल उसके बल पर स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त की जा सकती। गाँधीजी ने राष्ट्रवाद की ना जागृत करने के लिए जहाँ विभिन्न वर्गों की पारस्परिक शत्रुता को कम करने के लिए सामाजिक जस्य का समर्थन किया। इसके विपरीत सुभाष धनियों एवं गरीबों के बीच सामाजिक संघर्ष को श्यक मानते थे।

.3 विनायक दामोदर सावरकर

रकर हिन्दू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की चिन्तनधारा से जुड़े उग्र राष्ट्रवादी, क्रांतिकारी एवं आतंकवादी थे। अपने उत्साह, उग्र क्रांतिकारी एवं आतंकवादी साहसिक कार्यों से उन्होंने अपने समय में स्त ख्याति अर्जित की। आजीवन कालेपानी की सजा उन्हें दी गयी थी, लेकिन लम्बे कारावासीय न के बाद 1937 में उन्हें रिहा कर दिया गया था। उसके बाद वह हिन्दू महासभा से जुड़ गये। संस्कृति के उत्कृष्टता एवं हिन्दू राष्ट्र के निर्माण के वह उत्साही समर्थक थे। वह मराठा शक्ति के ुदय की व्याख्या हिन्दू राष्ट्रवाद की सम्भावनाओं के प्रतीक रूप में अपनी पुस्तक हिन्दू, ादशाही में की। उसे वह मुसलमानों की मदान्ध एवं उन्मत्त आक्रामकता की नीति का प्रतिकार ते थे। वह 1857 के विद्रोह का भारत का प्रथम स्वतन्त्रा संग्राम मानते थे।

ू पुनरुत्थानवाद के प्रखर प्रवक्ता सावरकर हिन्दू राष्ट्र को एक जैविक सांस्कृतिक एकता का रूप मानते थे। सिन्धु से ब्रह्मपुत्र और हिमालय से कन्याकुमारी तक की मूल संस्कृति के लोग हिन्दू

हैं। इस हिन्दू रक्त एवं हिन्दू संस्कृति पर गौरव करने वाला ही हिन्दू है और हिन्दुत्व एक ऐसा राष्ट्रीय विचारपुंज है जिसमें सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं नैतिक सभी पक्ष समाहित हैं। वस्तुतः 'हिन्दू' एक अव्ययी सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्ता की राष्ट्रचेतना है। इसी के साथ सावरकर मुस्लिम तुष्टीकरण के भी विरोधी थे और मानते थे कि मुसलमानों के साथ आये बिना भी स्वराज्य मिल सकता है। वह मानते थे कि हिन्दूवाद साम्प्रदायिक विशेषताओं एवं कामों से जुड़ा है, लेकिन हिन्दुत्व एक राजनीतिक अवधारणा और हिन्दुत्व एवं राष्ट्रवाद में कोई भेद नहीं है।

स्पष्ट है कि सावरकर की विचारधारा में संस्कृति श्रेष्ठता का अहं एवं अतिवादी आक्रामक तेवर शामिल था। वह शक्ति एवं उग्रता के सहारे हिन्दू-पादपादशाही की स्थापना चाहते थे और उन्हें हिंसा एवं आतंक से भी परहेज नहीं था। ऐसी स्थिति में महात्मा गांधी के चिन्तन एवं कार्यशैली के साथ उनका तीक्ष्ण मतभेद लाजिमी था। गांधी के वह न केवल आलोचक थे, बल्कि गांधी सदैव उनके प्रहारों के मुख्य निशाने पर होते थे। गांधी की हत्या के मुकदमें में भी वह अभियुक्त थे। प्रमाणों एवं साक्ष्यों की पूर्णता के अभाव में यद्यपि वह बरी हो गये, लेकिन उन्हें उस घटना का मुख्य सूत्रधार माना गया था। गांधी के प्रति उनके मतभेद एवं आलोचना के मुख्य पहलू अधोलिखित थे।

13.3.0 राष्ट्रवाद की संकल्पना

सावरकर ने 'हिन्दू-पद-पादशाही' नामक अपनी पुस्तक में अपने राजनीतिक दर्शन को भारत के राष्ट्रीय स्वरूप पर केन्द्रीत किया। उनके अनुसार भारतीय राष्ट्रवाद की भौगोलिक अभिव्यक्ति इसके सांस्कृतिक सांस्कृतिक पहलुओं के सामंजस्य में रही है। उन्होंने अधिसंख्य हिन्दू लेखकों, विद्वानों आदि द्वारा अनुप्राणित धार्मिक व्यवंस्था के रूप में हिंदुत्व की व्याख्या को अस्वीकार कर दिया। उन्होंने हिन्दू-धर्म एवं मान्यता के विपरीत हिन्दुत्व को जनमानस और उसकी चेतना में व्याप्त वह केन्द्रीभू तत्त्व माना जो भारत की राष्ट्रीयता का हृदयस्थल एवं आधारभूमि है। इस प्रकार की अवधारणा में धार्मिक व्यवस्था की संकुचितता से पर हिन्दुत्व के अन्तर्गत इस देश की भौगोलिक सीमा के भीतर स्थित अनेकानेक स्थानीय धर्म और भौगोलिक दृष्टि से निकट देशों के जनसमुदाय भी आ जाते हैं। सावरकर अपने विचारों के समर्थन में यह तक देते हैं कि 'लाखों की संख्या वाले सिक्ख, जैन, लिंगायत, अनेक समाजी तथा अन्य समुदाय इस कथन पर गहरा रोष व्यक्त करेंगे कि ये जिनके पूर्वजों अनेक पीढ़ियों तक में हिन्दुओं का रक्त संचारित हो रहा था–अब अचानक वे हिन्दू नहीं रह गये हैं।' अनेक रंगतों और मतमतांतर वाला हिन्दू धर्म जीवन्त है और विकास कर रहा है। यह हिन्दू संस्कृति के परिवेश में अपना अस्तित्व संजोए हुए है। सावरकर का स्पष्ट मानना था कि हिन्दुओं के लिए धर्म की पहचान इतनी पूर्णता के साथ देश के जुड़ी उनकी अस्मिता से है कि यह देश उनके लिए न केवल पितृ-भूमि है बल्कि पुण्य-भूमि भी है।

इस प्रकार सावरकर के अनुसार हिन्दुत्व की धारणा हिन्दूवाद की धारणा से अधिक व्यापक है। हिन्दूवाद उनके अनुसार जहाँ हिन्दुओं की धर्म-विद्या तथा धार्मिक अनुष्ठानों का द्योतक है, वहीं हिन्दुत्व में धार्मिक क्रिया-कलाप तो सम्मिलित हैं ही, इस परे इसके अन्तर्गत जीवन के सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि सभी पहलू आ जाते हैं। हिन्दुत्व वस्तुतः एक अनुभवी सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था का सूचक है और उस व्यवस्था को एकता प्रदान करने वाले तीन मुख्य तत्त्व हैं–भूमि, रक्त सम्बन्ध तथा संस्कृति। इस प्रकार हमें एकता के सूत्र में बाँधने वाले तीन आधारभूत बन्धन हैं–राष्ट्र, जाति एवं संस्कृति।

फिर उन्होंने इस बात पर बल दिया कि हिन्दुत्व में जन्म लेने एवं पले-बढ़े होने के कारण अपने देश के लिए उनकी समर्पण तथा आत्मोत्सर्ग की भावना असीम है। यह प्रत्येक भारतीय का कर्त्तव्य है कि अपने राष्ट्र के उत्थान के लिए अपने उत्सर्ग एवं कर्त्तव्यनिष्ठा पर बल दे। उनका स्पष्ट मत था कि

ाद की समतुल्यता हिंदू अतिसंख्य होने के कारण हिन्दू ही राष्ट्र के स्वरूप का निर्धारण करेंगे। , मुसलमान, सिख, जैन, आदि अल्पसंख्यकों को हिन्दुत्व के विकास हेतु हिन्दुओं के साथ र सहयोग एवं साहचर्य की नीति का अवलम्बन करना चाहिए और स्वयं को राष्ट्र के सामाजिक, क और राजनीतिक जीवन में मिमज्जित एवं निलेमित कर लेना चाहिए। हिन्दू राष्ट्र की पहचान को करने की दृष्टि से सावरकर ने छुद्र लाभों के लिए किये जाने वाले धर्म-परिवर्तन करने वालों के ऐसे पवित्र राष्ट्र में कोई स्थान न देने पर बल दिया। एक दूसरे प्रसंग में अल्पसंख्यकों इसाई एवं ामानों के समान भागीदारी मानने से उन्होंने स्पष्ट रूप से इन्कार कर दिया, परन्तु राजनीतिक सत्ता नकी भागीदारी से वे इन्कार नहीं करते, जिनकी भावनाएं एवं आस्था इस देश की भूमि, लोगों एवं ाति में है, जो इस देश से प्रेम एवं इसकी भूमि को पवित्र मानते हैं। जहाँ तक कि नागरिक एवं ीतिक जीवन स्तर पर तथा सार्वजनिक नियुक्तियों के मामले में उनके समानुपातिक प्रतिनिधित्व का है, हिन्दू एक एकीकृत भारत के निर्माण के लिए इस प्रक्रिया में अल्पसंख्यकों की भूमिका एवं ोग को स्वीकार करने को तैयार होंगे। लेकिन राजनीतिक समानता अर्थात विशेष बर्ताव तथा न रूप से सत्ता में भागीदारी एवं साझेदारी की मांग को स्वीकार नहीं करेंगे। यद्यपि योग्यता के ार पर समान अधिकार, प्रतिनिधित्व और न्यायसंगत प्रतियोगी अवसर बने रहेंगे।

एव सावरकर का हिन्दुत्व कोई संकीर्ण पंथ नहीं है। उन्होंने भले ही हिन्दुत्व एवं राष्ट्रवाद के बीच ार विरोधाभास को नहीं माना। अपितु वे एक बुद्धिवादी एवं वैज्ञानिक की भाँति इन दोनों के मध्य क्यता का तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। वे एक मानवतावादी एवं सार्वजनिक बन्धुत्व की ना का विकास करना चाहते हैं। इस दृष्टि से उन्होंने तुकाराम के इस वाक्य को उद्धृत किया है– देश! सम्पूर्ण विश्व ही मेरा देश है।' उनका प्रथम सोपान भले ही राष्ट्रवाद हो परन्तु अन्तिम लक्ष्य ानववाद ही है।

.3.1 अहिंसात्मक राजनीति अर्थहीन

रकर राजनीति में गांधी की अहिंसा की अवधारणा के विरोधी थे। सावरकर की दृष्टि में गांधी नहीं, क विश्व के वह नेता हीरो हैं जिन्होंने न्याय के लिये शक्ति एवं हिंसा का सहारा लिया। वह ब्रटस तलवार, शिवाजी के बनखे को परम पवित्र मानते थे। दुनिया में घटित रक्तमय क्रान्तियों को वह कलंक यश का प्रतीक मानते थे। वह मानते थे कि जब तक पृथ्वी पर अन्याय है तब तक उसके ा के लिए उपयुक्त हिंसा पाप नहीं है। जब अन्यायरहित ईश्वरीय राज्य आ जायेगा तब अहिंसा बात सोची जा सकती है। अहिंसा से स्वराज्य की कल्पना को वह उपहासास्पद मानते थे और उसे ारों का हथियार समझते थे। वह न्यायार्थ हिंसा को उचित एवं भारतीय संस्कृति की परम्परा मानते उनके अनुसार शक्ति का संगठन ही जीवित रहने का आधार हो सकता है।

.3.2 'हिन्दुत्व' राष्ट्र के लिये अपरिहार्य

रकर ने गांधी और कांग्रेस के धार्मिक एवं साम्प्रदायिक समरसता, सांस्कृतिक सहिष्णुता एवं धर्मसमनत्व की सोच पर टिकी राष्ट्रीयता की सोच को कभी स्वीकार नहीं किया और कहा कि ुत्व से भिन्न राष्ट्रीयता की कल्पना भारत में नहीं की जा सकती। भारत में पैदा धर्मों से जुड़े ायों, सिखों, बौद्धों, आर्य समाजियों, ब्रह्म समाजियों को वह हिन्दू संस्कृति का अंग मानते थे। ू राष्ट्र की भौगोलिक सीमा से बाहर के मूल वाले धर्मों एवं उनकी संस्कृतियों को वह हिन्दू कृतिक वितान का हिस्सा नहीं मानते थे। ऐसी राजनीति भाषा में हिन्दू और मुसलमान की पृथक रीयता मानने की प्रतिध्वनि स्पष्ट प्रतीत होती है। राष्ट्रीय एवं राजनीतिक चेतना में धर्म के नैतिक एवं ्यात्मिक तत्वों की मान्यता, मानवमात्र में समान ईश्वरीय सत्ता के वास और सभी धर्मों एवं कृतियों में अभेद पर आधारित नागरिक अधिकारों की समता से जुड़ी राष्ट्रीयता की भावना तथा उस

पर सार्वभौम मानववाद एवं अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की मर्यादा के गांधीवादी दृष्टिकोण को सावरकर कभी स्वीकार नहीं करते।

13.3.3 सत्याग्रह की पद्धति अनुपयुक्त

सावरकर गांधी के सत्याग्रह की कार्यशैली को बेकार और कायरों की रीति मानते थे। शक्ति को ही धर्म मानने वाले सावरकर स्वराज्य को राष्ट्र का वीरोचित लक्ष्य मानते थे। उनका मानना था कि राष्ट्र का निर्माण दया एवं भीख के सरारे नहीं होता।

13.3.4 'मुस्लिम तुष्टीकरण' का विरोध

सावरकर गांधी एवं कांग्रेस द्वारा मुसलमानों के प्रति सहिष्णुता एवं उदाहरता की नीति अपनाये जाने को राष्ट्र के लिये घातक मानते थे। उन्होंने स्वेज नहर बनने का विरोध किया और चाहते थे कि भारत अरब के मुसलमानों के मुकाबले इसराइल का समर्थन करे। मुसलमानों से सहानुभूति पर बनी नीतियों को वह तुष्टीकरण मानते थे और उसके विरुद्ध थे।

13.4 समीक्षा

सावरकर एक महान राष्ट्रवादी, अप्रतिम मानवतावाद के प्रेमी तथा क्रान्तिकारी आतंकवाद से अनुप्राणित अपने साहसिक राजनीतिक कार्यों से बीसवीं सदी के आरम्भिक वर्षों में प्रकाश में आए। वे हिन्दू एकता के कट्टर समर्थक थे। गणेश शंकर विद्यार्थी ने 'देश की उन आत्माओं' (16 फरवरी, 1925), 'क्रान्ति का उद्घोष' (पृष्ठ 776) में लिखा "देशभक्त प्रचण्ड तपस्वी, वीर शिरोमणि, महान सावरकर के सदृश लोकान्तर पुरुष पुंगव भी गड़े पत्थरों को उखाड़ कर हिन्दुत्व की अजरामता और श्रेष्ठता सिद्ध कर रहे हैं। जातिगत विद्वेष एवं बैमनस्य यहाँ तक बढ़ गया है कि उनके सदृश स्वतन्त्रता के परम पुजारी भी इसी मैले-गँदले, छिछले अंकरुोत में बह चले।" उनके हृदय में देश के लिए अगाध प्रेम था, फिर भी वे जीवन को हिन्दू दृष्टिकोण से ही देखते रहे। इसी दृष्टि से 1956 में भारत द्वारा स्वेज संकट पर अरबों के समर्थन को अनुचित ठहराकर इजराईल की पक्षधरता का समर्थन किया था।

सावरकर की भारत के सन्दर्भ में मिली-जुली राष्ट्रत्व की धारणा के अन्तर्गत 'हिन्दुत्व' के निर्माण में अतिधार्मिकता (धार्मिक सनक) के बजाय हिन्दू संस्कृति की अहम् भूमिका को माना था। स्वामी दयानन्द की भाँति सावरकर ने भी जाति, धर्म एवं राष्ट्रत्व पर जोर दिया। अर्थात् उनके मतानुसार हिन्दू धर्म के बजाय हिन्दू संस्कृति (भारत के सभी निवासियों की संस्कृति) भारत के राष्ट्रत्व का आधार थी। यहाँ तक वे गाँधी से सहमत दिखे परन्तु जब गाँधी अल्पसंख्यकों विशेष रूप से मुस्लिमों के तुष्टिकरण की नीति की ओर बढ़ चले तो वे गाँधी से असहमत हो चले। जिसके कारण धार्मिक, अल्पसंख्यक उनसे नाराज हुए।

सावरकर गाँधी के अहिंसा की अवधारणा से भी सहमत न थे। उन्होंने ऐसे वीरों को श्रेष्ठ बताया जिन्होंने क्रान्तिकारी ढंग से परिवर्तन लाया। इसी दृष्टि से उन्होंने भारत में 1857 के विद्रोह को राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम का दर्जा प्रदान किया। वे लाला लाजपत राय के इस मत से सहमत दिखे जिसमें उन्होंने माना था कि 1957 के महान विप्लव को राजनीतिक तथा राष्ट्रीय स्वरूप के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। यह भारतीयों में आत्मगौरव एवं श्रेष्ठता का भाव पैदा करने में सहायक सिद्ध होगा।

सावरकर द्वारा हिन्दुत्व एवं हिन्दूवाद में जो भेद किया गया है वह राजनीतिक सिद्धान्त की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं चतुराईभरा विश्लेषण है। जहाँ उन्होंने हिन्दूवाद का संबंध मुख्य रूप से धर्म तथा धर्म विद्या से माना है, वहीं हिन्दुत्व को एक राजनीतिक धारणा माना है जिसके अन्तर्गत सामाजिक, शैक्षिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सभी पहलू आ जाते हैं। सावरकर ने जो

भेद किया है वह 'जातीय समांगता' पर आधारित है जो वी० पी० वर्मा के अनुसार 'ऐतिहासिकता' कसौटी पर खरी नहीं उतरती क्यों कि जातीय समांगता का सिद्धान्त जाति-विज्ञान की ऐसी धारणा जिसका खोखलापन बहुत पहले स्पष्ट हो चुका है। साथ ही सावरकर ने इस बात पर भी गम्भीरता विचार नहीं किया है कि अपने अर्द्धविकसित देश में हिन्दुत्व का लोकतांत्रिक सिद्धान्त तथा व्यवहार साथ क्या संबंध होना चाहिए। फिर भी सावरकर की बौद्धिक क्षमता एवं कुशाग्रता उनके दूरदृष्टि परिलक्षित करती है और राष्ट्रवाद के संकुचित दायरे से बाहर निकलकर मानवतावाद एवं भौमवाद की ओर बढ़ती है।

3.5 सारांश

तः बोस और सावरकर एक चिन्तन में गांधीवादी चिन्तन से गम्भीर असहमतियाँ थीं। फर्क मात्र यह कि बोस एवं गांधी ने साथ मिलकर काम करने की कोशिश भी की थी और मदभेदों के गम्भीर लेने पर बोस ने अपनी रास्ता अलग कर लिया। कांग्रेस में रहकर गांधी से लड़ने में ऊर्जा खपाना गैरजरूरी मानते थे और गांधी के व्यक्तित्व के कई आयामों के प्रति उनका प्रशंसा एवं आदर का ा उन्हें ऐसा करने भी नहीं देता। यही कारण है कि बोस गांधी से मतभेद रखते थे, मतभेदों के लोचक भी थे, लेकिन बोस ने ही सबसे पहले गांधी को 'राष्ट्रपिता' कहा। दूसरी ओर सावरकर ी के न केवल मुखर आलोचक थे, बल्कि वह गांधी एवं उनके चिन्तन को कभी पचा नहीं सके। ाँ तक कि उन पर गांधी की हत्या का आरोप भी लगा। वस्तुतः गांधी और सावरकर के चिन्तन में ी दूरी थी कि उनके बीच वैचारिक साझेपन का कोई भी कोना नहीं था।

3.6 उपयोगी पुस्तकें

टोय, ह्यू : 'द स्प्रिंग टाईगर', एलाईड पब्लिशर्स, बम्बई, 1959।

बोस, सुभाष चन्द्र : इण्डियन स्ट्रगल, नेताजी रिचर्स ब्यूरो, कलकत्ता, 1964।

मुखर्जी, हीरेन : बा ऑफ वर्निंगगोल्ड : ए स्टडी ऑफ सुभाष चन्द्र बोस, पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1977।

हरिहर दास :सुभाष चन्द्र बोस एण्ड द इण्डियन स्ट्रगल, स्टर्लिंग पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1983।

मार्कण्डेय, सुबोध : सुभाष चन्द्र बोस, नेताजी पैसेज टू इममारटेलेटी, आरनाल्ड पब्लिशसे, दिल्ली।

चित्रगुप्त : लाईफ ऑफ बैरिस्टर सावरकर, इन्द्र प्रकाश द्वारा संशोधित तथा परिवर्धित हिन्दू मिशन पुस्तक भण्डार, नई दिल्ली, 1939।

भाई परमानन्द : हिन्दू संगठन, सेण्ट्रल हिन्दू युवक सभा, 1936।

सावरकर, वी० डी० : हिन्दू-पद पादशाही, बी० आर० शिन्दे, नागपुर, 1948।

पैथम, थॉमस और डायस के० एल० (सेपर०) : माडर्न इण्डियन पोलिटिकल थाट, सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1986।

वर्मा, वी० पी० : आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायन अग्रवाल, आगरा, 1995।

13.7 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. महात्मा गांधी और सुभाष चन्द्र के चिन्तन में साम्य एवं मतभेद के आधार पर क्या थे? बोस उनके किन विचारों के आलोचक थे?
2. सावरकर द्वारा गांधी की आलोचना के आधार क्या थे?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सुभाष चन्द्र बोस ने गाँधी के अहिंसा सम्बन्धी विचारों की क्या आलोचना की है?
2. सावरकर के हिन्दुत्व विषयक विचारों का उल्लेख कीजिये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सुभाष चन्द्र बोस ने माना है–
   (अ) वर्ग संघर्ष अपरिहार्य है
   (ब) वर्ग संघर्ष अनावश्यक है
   (स) वर्ग समन्वय सम्भव।
   (द) वर्ग विहीन समाज अपेक्षित है।
2. निम्नलिखित में सेकिस विचारधारा का सावरकर ने समर्थन किया ऐह।
   (अ) अहिंसा,
   (ब) सत्याग्रह
   (स) मुसइलम तुष्टीकरण
   (द) हिन्दुत्व

13.8 प्रश्नोत्तर

1. (अ)
2. (द)

ाई – 14 : महामना पं0 मदन मोहन मालवीय

ई की रूप रेखा

उद्देश्य

प्रस्तावना

राजनीतिक विचारक

14.2.1. हिन्दू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

14.2.2. स्वदेशी के पक्षधर

14.2.3. स्वराज्य एवं आत्मनिर्णय के समर्थक

14.2.4. लोकतंत्रवादी

14.2.5. स्वतन्त्रता एवं संविधानवादी कार्यपद्धति के समर्थक

14.2.6. राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के समर्थक

मूल्यांकन

सारांश

उपयोगी पुस्तकें

सम्बन्धित प्रश्न

प्रश्नोत्तर

.0 उद्देश्य

इकाई के अध्ययन के पश्चात आप :

पं0 मदनमोहन मालवीय के राजनीतिक चिन्तन के विविध आयामों का विश्लेषण कर सकेंगे।

मालवीयजी के हिन्दुत्व सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, स्वदेशी, स्वराज्य तथा लोकांतवादी की अवधारणाओं की विवेचना कर सकेंगे।

.1 प्रस्तावना

मा गांधी नैतिक विश्वास, आध्यात्मिक चेतना, सत्य एवं अहिंसा और ईश्वरीय सत्ता में परम ावान, किन्तु सेकुलर एवं उदारवादी चिन्तन परम्परा के विचारक थे। इसके विपरीत महामना वीय भी एक धर्मनिष्ठ, उदार एवं सुधारवादी, किन्तु हिन्दू पुनरुत्थानवाद की चिन्तन परम्परा के रक थे। मालवीय जी असाधारण सम्मान एवं प्रतिष्ठा प्राप्त सामाजिक एवं राजनीतिक थे, जिसने में समाज, राजनीति, शिक्षा एवं संस्कृति पर गहरा प्रभाव डाला। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जैसी वी एवं अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिलब्ध शिक्षा संस्था के संस्थापक मालवीय जी का पत्रकारिता में भी गहरा ा था और उन्होंने हिन्दुस्थान दैनिक के सम्पादन के अतिरिक्त 'द इंडियन यूनियन' का सम्पादन 'अभ्युदय' का प्रकाशन भी किया। वैचारिक मतभेदों के बावजूद महात्मा गांधी सहित देश के ी नेताओं के बीच महामना मालवीय को भारी सम्मान प्राप्त था। वह लोगों की व्यापक श्रद्धा के

केन्द्र थे और आम एवं खास दोनों तरह के लोगों के बीच पूजनीय थे।

महामना मालवीय अपने युग में फिरोजशाह मेहता, रानाडे, गोखले आदि के साथ कांग्रेस के शीर्ष नेतृत्वकर्त्ताओं में गिने जाते थे, लेकिन वैचारिक दृष्टि से वह लोकमान्य तिलक से अधिक प्रभावित प्रतीत होते थे। वह हिन्दू पुनरुत्थानवाद एवं सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की चेतना से जुड़े थे, लेकिन उनमें चिन्तन की उग्रता या वैचारिक अतिवादिता के लिये कोई स्थान नहीं था और वह सुधारात्मक उदारवाद से भी प्रभावित थे। उन्हें एक राष्ट्रवादी-सुधारक कहा जा सकता है। राष्ट्र के औद्योगिक विकास एवं वैज्ञानिक आधुनिकीकरण में उनकी गहरी अभिरुचि थी। शैक्षणिक सुधार एवं शिक्षा के विकास हेतु उन्होंने अपना जीवन समर्पित कर दिया। वह हिन्दू परम्परावादी थे, लेकिन आधुनिक शिक्षा के कायल थे। इम्पीरियल लेजिसलेटिव काउन्सिल के सदस्य में उनकी एक प्रखर संसद्विद् की छवि भी उभरकर सामने आयी। वह 1932 की दिल्ली कांग्रेस के मनोनीत सभापति और 1934 में कलकत्ता के कांग्रेस राष्ट्रीय दल के सम्मेलन की अध्यक्षता की। आगे हिन्दू महासभा और सनातन धर्म महासभा के प्रमुख नेता के रूप में उन्होंने भूमिका निभायी। आर० एस० एस० के साथ भी उनके अच्छे सम्बन्ध थे। हिन्दू धर्मग्रन्थों के वह गम्भीर अध्येता थे।

मालवीय जी का जीवन के प्रति दृष्टिकोण धार्मिक था। उनका धर्म के जीवनदायिनी शक्तियों में हार्दिक विश्वास था। उनका यह विश्वास था कि धार्मिक नियमों, यज्ञों तथा व्रतों का पालन करने से जो नैतिक प्रगति होती है वह भौतिक समृद्धि से अधिक सारयुक्त है। वे कर्त्तव्य परायणता, भक्ति तथा समर्पण की धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत राष्ट्रीयता में विश्वास करते थे। राष्ट्रीय महानता एवं राष्ट्र गौरव का आधार मानव के नैतिक मूल्यों में विश्वास तथा उसके परिपालन की महती आवश्यकता को माना है। उनका महाभारत के इस उपदेश में परम विश्वास था कि स्थायी विजय की प्राप्ति धर्म के द्वारा ही सम्भव है। वे कहा करते थे कि 'सब सम्प्रदायों के लोगों को एक महान राष्ट्र के रूप में संयुक्त करने के लिये आवश्यक है कि देशभक्ति तथा भाईचारे की भावनाओं का परिवर्धन किया जाय।' इस कारण उन्होंने विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में धार्मिक शिक्षा देने का समर्थन किया।

महामना मदन मोहन मालवीय पर कांग्रेस के नरम दलीय एवं गरम दलीय चिन्तन का समान प्रभाव था। एक ओर जहाँ उनके चिन्तन में हिन्दू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति होती है, वहीं दूसरी ओर वह नरमदलीयों की तरह सुदारवाद, संविधानवाद और अंग्रेजी शासन से सहयोग की नीति के भी पक्षधर दिखायी देते हैं। उनकी प्रकृति लोकतन्त्रात्मक थी, लेकिन उनकी आस्था हिन्दू संस्कृति की श्रेष्ठता और उससे अनुप्राणित चेतना में थी। हिन्दू संस्कृति की श्रेष्ठता और उससे प्रभावित सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की चेतना के साथ उदात्त भावों का समावेश जहाँ उनके चिन्तन में था, वहीं उसमें किसी प्रकार की वैचारिक उग्रता नहीं थी।

14.2 राजनीतिक विचार

महामना मदन मोहन मालवीय के राजनीतिक चिन्तन के विविध बिन्दु अधोलिखित हैं–

14.2.1 हिन्दू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

महामना मालवीय पर विवेकानन्द, तिलक एवं अरविन्द की उस विचार परम्परा का प्रभाव था जिसमें हिन्दू संस्कृति की श्रेष्ठता का विश्वास और उस पर हिन्दी राष्ट्रीयता की चेतना का गहरा पुट है। वह सनातनधर्मी पाण्डित्य परम्परा से जुड़े एक धर्मनिष्ठ चिन्तक थे। उनकी जीवन दृष्टि सम्पूर्णतः धार्मिक थी। वह अपने धार्मिक विश्वासों को राष्ट्रीयता का आधार और नैतिक जीवन को राष्ट्र की महानता की कसौटी माना। अतः आधुनिक शिक्षा की विश्व की अग्रणी संस्थाओं के संस्थापक महामना मालवीय शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा को जरूरी मानते थे।

य जी श्रद्धालु हिन्दु आस्तिक थे। उन पर भागवत के भक्तिमूलक आदर्श का गम्भीर प्रभाव पड़ा
नके धार्मिक दर्शन का निचोड़ 'ईश्वर की सर्वव्यापकता' में सन्निहित थी। एक वैष्णव होने के
उनका ईश्वर के अवतार के सिद्धान्त में अटूट विश्वास था। वे कृष्ण के उपासक थे। उनका
रणा में परम विश्वास था कि इतिहास दैवी शक्तियों के द्वारा शासित है। मालवीय जी रानाडे,
द तथा गाँधीजी की भांति इस धारणा में विश्वास रखते थे कि इतिहास में ईश्वर सदैव सत्य,
एवं नैतिकता के पक्ष में हस्तक्षेप करता है। इसी दृष्टि से मालवीय जी ने प्रथम विश्वयुद्ध में
का हस्तक्षेप माना था जिससे मित्र राष्ट्रों की विजय हुई थी। उनका मानना था कि कर्म का
क्रूर निश्चितता के साथ कार्य करता है। यद्यपि कुछ मित्र राष्ट्रों ने भी समय-समय पर न्याय तथा
के नियमों आक उल्लंघन किया था। उन्हें भी अपने कुकर्मों का फल भोगना पड़ा था। किन्तु
ं उनकी विजय हुई थी, क्योंकि तुलनात्मक दृष्टि से उनका आचरण जर्मन एवं इतालवी लोगों के
ने में अधिक न्याय संगत था। इस प्रकार मालवीय जी का विश्वास था कि राष्ट्रीय तथा
ष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में भी नैतिक शासन का नियम काम करता है, और विजय न्याय तथा
क पक्ष की ही होती है।

य जी हिन्दू सभ्यता एवं संस्कृति के शास्वत मूल्यों में गहरी आस्था के धनी थे। अतः हिन्दू धर्म
स्कृति से कटी राजनीति को वह भारत के लिये अस्वाभाविक मानते थे। इसका यह अर्थ कदापि
ा कि वह मुसलमानों या अन्य धर्मों एवं उससे प्रभावित संस्कृति में आस्था रखने वालों को राष्ट्र
ा नहीं मानते थे। धार्मिक एवं सांस्कृतिक विविधता के प्रति सहिष्णुता का भाव उनके चिन्तन में
कन हिन्दुत्व की श्रेष्ठता को वह राष्ट्रीय जीवन में स्वाभाविक मानते थे। वह मानते थे कि सच्चे
र का तकाजा यह है कि उसमें जनता के सभी वर्गों के कल्याण की चिन्ता हो और उनके
का संकल्प हो। वह सभी वर्गों की राष्ट्रीय एकता का भी स्वप्न देखते थे और उनका विश्वास
देशभक्ति के भावों का प्रसार कर उस राष्ट्रीय भावना को सम्पुष्ट किया जा सकता है। उनके
ा गांधी से लेकर अली बन्धुओं तक से प्रगाढ़ थे। कांग्रेस में भी उनका बेहद सम्मान था। लेकिन
सदी के तीसरे दशक में जब कांग्रेस की सेकुलर एवं लोकतांत्रिक पर टिके उसके राष्ट्रवाद का
स्वतंत्रता आन्दोलन में अधिक मुखर एवं गांधी के सत्याग्रह के साथ जनान्दोलित रूप लेने
तो मालवीय जी धीरे-धीरे राष्ट्रीय आन्दोलन की उस मुख्यधारा से करे प्रतीत होने लगे। इसी दौर
ने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के विचारों के प्रभाव स्वरूप हिन्दू महासभा के साथ भी उनके सम्बन्ध

य जी सनातन धर्म महासभा के, जिसकी बैठक जनवरी 1906 में इलाहाबाद में हुई थी, प्रमुख
में से एक थे। वे हिन्दू महासभा के प्रमुख संगठन कर्त्ता थे। वे एक महान सामाजिक एवं
तेक कार्यकर्त्ता थे। उनके असाधारण व्यक्तित्व का आधुनिक भारत की राजनीति, समाज, शिक्षा
स्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा है। उन्होंने हिन्दुओं की एकता, सांस्कृतिक उत्कर्ष, चारित्रिक शुद्धि
ार्यकारी क्रिया-कलाप पर विशुद्ध रूप से बल दिया। उन्होंने उत्तर भारत में हिन्दू समाज का
ा तथा पुनर्स्थापना पर विशेष बल दिया एवं इस दिशा में भारी कार्य किया था। बनारस हिन्दू
विद्यालय उनकी अथक राष्ट्रीय सेवाओं का चिरस्थायी स्मारक है। उनके मूल में भी प्राचीन हिन्दू
स्त्रों के अध्ययन को प्रोत्साहन देने की भावना विद्यमान थी। इस दृष्टि से उन्होंने 1934 में एम0
हूणे के साथ मिलकर रैम्जे मैकडोनल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय का विरोध किया। यद्यपि कि पूना
ी के द्वारा उसमें कुछ परिवर्तन कर दिया गया था, फिर भी उसने देश को साम्प्रदायिक निर्वाचन
विभक्त कर दिया और हिन्दुओं के साथ भारी अन्याय किया। उनका स्पष्ट मत था कि
ायिक निर्णय ने लोकतान्त्रिक प्रगति के स्थान पर साम्प्रदायिक निरंकुश तन्त्र की स्थापना कर दी

राष्ट्रीय आन्दोलन के उपर्युक्त दौर में मालवीय जी के चिन्तन का यह आयाम और स्पष्ट होकर उभरा कि संस्कृति राष्ट्रवाद का आधार है। वह धार्मिक एवं सांस्कृतिक चेतना को राष्ट्रवाद का मुख्य आधार मानते थे और लौकिकतावादी एवं भौतिकवादी चिन्तन पर आधारित राष्ट्रवाद उन्हें ग्राय नहीं था। अन्य सम्प्रदायों के प्रति उदार एवं न्याय भावना के बावजूद वह हिन्दू राष्ट्रवाद के प्रति गहरा अनुराग रखते थे।

14.2.2 स्वदेशी के पक्षधर

मालवीय जी ने स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन किया। वह स्वदेशी को धर्म मानते थे। उसे वह राष्ट्र का विशेष धर्म कहते थे। उनका अभिमत था कि स्वदेशी को अपनी शक्ति भर बढ़ावा देना हर भारतवासी का कर्त्तव्य है। वह मानते थे कि अपने देश का बना वस्त्र खरीद कर हम न केवल आत्मगौरवान्वित होते हैं, बल्कि हम अपने किसी भाई को जीविका या भोजन का आधार प्रदान करते हैं। आज जब भारत के लोग असह्य गरीबी की यातना भुगत रहे हैं और उस स्थिति में यदि देश का धन बाहर जा रहा है और इससे बड़ा अधर्म एवं पाप और कुछ हो नहीं सकता। मालवीय जी मानते थे कि भारत के व्यापार एवं उद्यम को संरक्षण प्रदान करने की नीति की अपेक्षा हम इंग्लैण्ड की सरकार से नहीं कर सकते क्योंकि कर मुक्त व्यापार नीति की पक्षधर है और मुक्त व्यापार की विश्वजनीन प्रतियोगिता में भारत के उद्यम खड़े नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में उन्हें बचाने के लिये स्वदेशी आन्दोलन का कोई विकल्प नहीं है। वह मानते थे कि स्वदेशी के पीछे विदेशी वस्तुओं के प्रति दुर्भावना का विचार नहीं है। इसके पीछे विशुद्धतः भारतीय उद्यम एवं अर्थतंत्र को सहारा देने और देश को स्वावलम्बी बनाने की सोच है। इससे भारतवासियों को रोजगार और दो वक्त की रोटी मिल सकेगी।

इस सन्दर्भ में कलकत्ता में 1906 में उनके दिये गये भाषण का सार है–"मैं इसको (स्वदेशी को) अपने देशवासियों के प्रति अपने धार्मिक कर्त्तव्य का ही एक अंग समझता हूँ। मैं इसे मानव-जाति का धर्म और हम सबका विशिष्ट धर्म मानता हूँ। मानवजाति के धर्म की माँग है कि आप यथा सामर्थ्य स्वदेशी आन्दोलन को बढ़ावा दें। अपने किसी देशवासी द्वारा निर्मित वस्त्र को खरीदने में मुझे ऐसा लगा है और अभी भी लग रहा है कि मैं उसे जीवित रहने के लिए कम से कम एक कौर भोजन प्राप्त करने में सहायता दे रहा हूँ। हो सकता है कि सूत किसी बाहरी देश से आयो हो, किन्तु उसमें अपना जो श्रम लगाया है उससे उसे लाभ का आधा, तिहाई अथवा कोई अंश अवश्य मिल जायेगा जिससे वह अपना और अपने आश्रितों का पेट भर सकेगा। जब आप देखते हैं कि आपके आस-पास लोग इतना कष्ट भोग रहे हैं, देश का धन भारी राशि में बाहर जा रहा है, लोगों की आय इतनी कम और साधन इतने अल्प हैं, कि मैं कहूंगा कि प्रत्येक उदार भावनाओं वाले व्यक्ति का यह धार्मिक कर्त्तव्य है कि वह जहाँ कहीं भी देश में निर्मित वस्तुएं मिल सकें उन्हें विदेशी चीजों की तुलना में तरजीह देकर भारतीय उत्पादन को बढ़ावा दें, चाहे ऐसा करने में उसे कुछ त्याग भी करना पड़े।' मालवीय जी का उपरोक्त सम्भाषण स्वदेशी आन्दोलन की दशा एवं दिशा दोनों को ही निर्धारित करता है। जो देशवासियों के गरीबी, भूख एवं बेरोजगारी को दूर कर सकेगी एवं उनके अन्दर आत्मगौरव, धर्मनिष्ठा तथा आत्मनिर्भरता लाने में समर्थ होगी।

14.2.3 स्वराज्य एवं आत्मनिर्णय के समर्थक

महामना मालवीय स्वराज्य को जन्मसिद्ध अधिकार मानने के लोकमान्य तिलक के उद्घोष के विनम्र समर्थक थे। उनके चिन्तन में भारत के लोगों की इस अधोदशा पर वेदना के स्वर स्पष्ट हैं कि वह स्वराज्य के योग्य हैं, यह सिद्ध करने के लिये उन्हें संघर्ष करना पड़ रहा है। भारत के हिन्दुओं ने लम्बे समय तक और उसके बाद मुसलमानों ने भी काफी समय तक इस देश को दक्षता के साथ चलाया है, लेकिन आज उन्हीं भारतवासियों की स्वराज्य के लिये दीनता व्यथित करने वाली है।

य जी भारतवासियों को आत्मनिर्णय के अधिकार प्रदान किये जाने की माँग करते हैं और मानते आत्मनिर्णय के इस अधिकार से स्वराज्य का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा। पं0 मदन मोहन मालवीय 1918 में दिल्ली कांग्रेस में अपने अध्यक्षीय भाषण में यह आशा व्यक्त की थी।

ह जानकर प्रसन्नता है कि इंग्लैण्ड एवं फ्रान्स की सरकारों ने सीरिया तथा मेसोपोटामिया के ा में इन सिद्धान्तों (आत्म निर्णय) को लागू करना स्वीकार कर लिया है। इससे हमारी यह आशा : गयी है कि इन्हें भारत के लिए भी लागू किया जायेगा। जब मैं इस नगर में, जो हिन्दू तथा ा दोनों ही युगों में भारत की राजधानी रहा था, खड़ा होकर सोचता हूँ तो मेरा हृदय अकथनीय और लज्जा से भर जाता है। हिन्दुओं ने लगभग चार हजार वर्ष तक इन विशाल साम्राज्य पर ा किया था और मुसलमान भी कई सौ वर्षों तक शासन करते रहे। किन्तु हम उनकी सन्तान प्राचीन स्थिति से इतने गिर गये हैं कि हमें अपने सीमित स्वराज की योग्यता सिद्ध करने के भी विवाद खड़ा करना पड़ रहा है। किन्तु इस समय जिन लोगों के हाथों में देश एक शासन की र है वे इतने अविज्ञ हैं कि यदि मेरे पास समय होता तो मैं अवश्य ही बतलाता कि अंग्रेजों के से पहले हमारे लोगों में–हिन्दू तथा मुसलमान दोनों में–कितनी क्षमता थी।''

ा मालवीय जी का यह स्पष्ट मानना था कि आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को लागू करके ही हम य के जन्मसिद्ध अधिकार की प्राप्ति कर सकते हैं। उनका यह भी अटूट विश्वास था कि ष्ट्रीय सम्बन्धों की न्यायोचित व्यवस्था को कायम रखने का भी यही एकमात्र उपाय है। ासियों को भी अधिकार है कि बिना किसी बाह्य दबाव अथवा हस्तक्षेप के अपने राजनीतिक का संचालन अपनी इच्छानुसार कर सकें। तभी ईश्वरीय योजना के अनुरूप भावी व्यवस्था को र्ष में लागू किया जा सकेगा, इसके सपूतों को न्याय, सुरक्षा एवं स्वतन्त्रता से साक्षात्कार हो ा। इन्हीं तर्कों के आधार पर मालवीय जी ने भारतवासियों के राजनीतिक जीवन के योजनाबद्ध यासंगत संचालन हेतु राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को तुरन्त कार्यान्वित किये जाने पर बल । उन्होंने जापान, ईरान के उदाहरणों से ब्रिटिश सरकार द्वारा सबक लेने एवं भारतीय में अपने कारों एवं शक्तियों के आग्रह के प्रति जन इंकार एवं विद्रोह को न उभरने देने के लिए आगाह । इस दृष्टि से उन्होंने दो तर्क रखे। प्रथम, रानी विक्टोरिया की घोषणा में इन अधिकारों का दिया गया था। द्वितीय, भारतवासी इस धन्ती की सन्तान होने के नाते इन अधिकारों के हकदार ालवीय जी दादा भाई नौरोजी से इस बात में सहमत दिखे कि स्वराज्य ही उन बुराईयों को दूर का मुख्य उपाय जिनके शिकार भारतवासी दीर्घकाल से बने हुए हैं।

.2.4 लोकतन्त्रवादी

ना मदन मोहन मालवीय एक लोकतंत्रवादी थे, लेकिन वह उग्र लोकतंत्रवादी नहीं कहे जा सकते। निधि सभाओं में भारतीयों को प्रतिनिधित्व देने की माँग का समर्थन करते हुये उन्होंने कांग्रेस के 7 के अधिवेशन में कहा कि हम वही माँग रहे हैं, जिसका उपभोग स्वयं ब्रिटेन के लोग करते हैं। जनप्रतिनिधि शासन में हिस्सेदार होते हैं, वहाँ जनाकांक्षाओं एवं जनभावनाओं के अनुरूप कार्य है। वह मानते थे कि ब्रिटिश प्रशासक कितने ही उदार एवं न्यायशील क्यों न हों, लेकिन इसे निधि सभाओं में भारतवासियों के प्रतिनिधित्व के औचित्य को खारिज नहीं किया जा सकता। त प्रतिनिधित्व के अवसर की सम्भावनाओं के संदर्भ में मालवीय जी ने जनप्रतिनिधित्व का मुखर नि भले किया हो, लेकिन उन्हें जनता की व्यापक सहभागिता वाले जनप्रतिनिधि लोकतंत्र का ही समर्थक नहीं कहा जा सकता। उनका यह मन्तव्य कभी न था कि जनता राजनीतिक क्षेत्र में हिक रूप से उमड़ पड़े और उसमें अस्वाभाविक दृष्टि से हिंसात्मक प्रवृत्ति जागृत हो जावे। अपने ार कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने धर्म एवं अहिंसा की धारणाओं के आधार पर

आतंकवादियों तथा हिंसात्मक क्रान्तिकारियों की भर्त्सना की। उनकी भावना मान्टेस्क्यू और जैफर्सन के सदृश थी, वे उन उग्र एवं क्रान्तिकारी विचारकों से असहमत दिखे जिन्होंने जनता द्वारा व्यापक रूप से राजनीति में भाग लेने पर बल दिया।

फिर भी मालवीय जी का लेकतांत्रिक मूल्यों में विश्वास एवं आस्था पर प्रश्न चिह्न नहीं खड़ा किया जा सकता क्योंकि उन्होंने देशवासियों के लिए आत्म निर्णय के सिद्धान्त की अक्षुण्णता पर बल दिया। भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन के संचालन के लिए सांविधानिक आन्दोलन पर न कि हिंसात्मक एवं आतंकवादी कार्यवाहियों को स्वीकार किया। हिन्दू-धर्म में अगाध विश्वास होते हुए भी साम्प्रदायिक मामलों में वे काफी उदार थे। वे मुसलमानों पर हिन्दुओं की हुकूमत नहीं चाहते थे। बल्कि वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के समर्थक थे एवं मुसलमानों की प्रत्येक उचित माँगों के माने जाने के सदैव पक्षधर रहे।

14.2.5 स्वतन्त्रता एवं संविधानवादी कार्यपद्धति के समर्थक

महामना मालवीय स्वतन्त्रता के अधिकार के समर्थक थे। व्यक्ति एवं राष्ट्र की स्वतन्त्रता में उनका विश्वास था। वह मानते थे कि पश्चिमी देशों में प्रयुक्त स्वतन्त्रता एवं लोकतंत्र के सिद्धान्तों से अंग्रेजी शिक्षा एवं साहित्य ने भारतीयों को भी भिज्ञ कराया है और भारतीयों का स्वाभाविक आकर्षण इन व्यवस्थागत मूल्यों के प्रति बढ़ा है। मालवीय जी को यह बात युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती थी कि अंग्रेज जिस अधिकार का स्वयं प्रयोग करते हैं, उनके लिये भारतीयों को पात्र नहीं मानते।

मालवीय जी ने निःसंकोच रूप से यह स्वीकार किया कि शिक्षित भारतवासियों द्वारा स्वराज्य की जो माँग की जा रही है वह ब्रिटिश शैक्षिक, साहित्यिक एवं लोकतांत्रिक उदारवादी प्रक्रिया का परिणाम है। कांग्रेस के 1887 के अधिवेशन को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा था कि "जब हम यह माँग करते हैं कि राज्य की परिषदों में जनता के प्रतिनिधि जायें तो हम केवल उसी चीज की मांग कर रहे हैं जिसे यूरोप ही नहीं, अपितु अमरीका, आस्ट्रेलिया तथा लगभग सम्पूर्ण जगत् ने एक स्वर से किसी देश के सुशासन के लिए अत्यन्त आवश्यक घोषित किया है; क्योंकि जहाँ जनता के प्रतिनिधियों को प्रशासन में भाग लेने दिया जाता है, वहीं जनता की आवश्यकताओं, इच्छाओं, आकांक्षाओं और शिकायतों को उचित ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है, सही ढंग से समझा एवं पूरा किया जा सकता है।"

मालवीय जी का यह स्पष्ट मत था कि शासकों के उद्देश्य कितने ही उदार एवं लक्ष्य कल्याणकारी क्यों न हों फिर भी शासन की परिषदों में देशवासियों का प्रतिनिधित्व होना आवश्यक ही नहीं, बल्कि शासकों एवं प्रशासकों के हित में भी होता है। इस दृष्टि से अंग्रेज शासकों को वे इनके कर्त्तव्यों एवं उद्देश्यों के प्रति जाग्रत करना चाहते थे। उन्होंने 1891 के कांग्रेस अधिवेशन को संबोधित करते हुए कहा था कि 'हम अंग्रेजों से जो हमारे बन्धु-बान्धव हैं यह अपील करते हैं कि वे इस देश के प्रशासन को बुद्धि, न्याय तथा सामान्य सूझ-बूझ के अनुकूल बनाए, उन श्रेष्ठ सिद्धान्तों के अनुरूप ढालें जिन पर उन्हें सदैव गर्व रहा है। और जिनके कारण वे संसार इस उच्च स्थिति को प्राप्त करने में सफल हुए हैं।" इसी सन्दर्भ में 1919 में भारतीय विधान परिषद् में रौलेट एक्ट को पारित करने के विरोध में जो उन्होंने अपना ऐतिहासिक सम्भाषण प्रस्तुत किया था उससे स्पष्ट है कि वे वैयक्तिक स्वतन्त्रता के उत्कट समर्थक एवं पोषक थे।

मालवीय का स्वतन्त्रता और सांविधानिक कार्यप्रणाली में पूरा विश्वास था। उनका विश्वास था कि शिक्षित भारतीयों को ऊँचे पदों तथा विधान परिषदों में अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व दिया जाये। उनका यह भी मानना था कि देशवासियों को गवर्नरों एवं गवर्नर-जनरल की कार्य-परिषद में उचित प्रतिनिधित्व दिया जाए। उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन को उचित ठहराया एवं यह आशा व्यक्त की कि

शासक देशवासियों की भावनाओं को समझेंगे और इनकी भावनाओं का सगादर करके हुए उनके निर्णय के अधिकार एवं उन्हें लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में भागीदारी का उचित अवसर प्रदान करेंगे, से उनमें उग्र विरोध के लक्षण न पैदा होने पाए। ये सशस्त्र क्रान्ति के विरोधी थे और अहिंसा धर्म के आधार पर आतंकवाद का विरोध करते थे। इसी कारण उन्होंने शासक एवं शासित दोनों तों की सुरक्षा की दृष्टि से संवैधानिक एवं लोकतांत्रिक प्रक्रिया तथा स्वतन्त्रता की वकालत की।

ना की कार्यशैली संविधानवादी थी। किसी तरह की उग्रता एवं आक्रामकता न उनके चिन्तन में और न तो कार्यशैली में वह संविधान प्रदत्त अधिकारों के भीतर कार्य करने के कायल थे। उन्होंने ी शिक्षा संस्थाओं के बहिष्कार के गांधी जी के आन्दोलन का भी समर्थन नहीं किया था। वह योग के भी खिलाफ थे और अपनी बात धारा सभाओं में रखने के पक्षधर। 1902 में प्रांतीय न सभा और 1910 में इम्पीरियल लेजिसलेटिव कौन्सिल एवं 1924 में सेन्ट्रल एसेम्बली के य चुने गये। इस तरह लम्बे समय उन्होंने धारा सभाओं में रहकर काम किया। वह कांग्रेस के दलीयों की भाँति लगातार जहाँ सरकार एवं संविधान के सहयोगी की भूमिका निभाते रहे, वहीं चलकर भी उन्होंने स्वराज्य दल वालों की नीति के अनुरूप सरकार एवं संविधान से सहयोग की पर चलते हुये सेन्ट्रल एसेम्बली की सदस्यता ग्रहण की।

.2.6 राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के समर्थक

वीय जी देश का नैतिक, बौद्धिक एवं आर्थिक पुनर्निर्माण चाहते थे। इसके लिये वह राजनीतिक ों का जहाँ समर्थन करते हैं, वहीं आम जनता में लोक कल्याण की चेतना एवं लोक-सेवा की ना का विकास किये जाने के पक्षधर थे। इसके लिये वह शिक्षा के आधुनिक स्वरूप का जहाँ ास चाहते थे, वहीं भारत के त्वरित औद्योगिक विकास का सपना देखते थे। शिक्षा के माध्यम से सशक्त आधुनिक बौद्धिक विकास लाना चाहते थे। इसके लिये उन्होंने देश के सबसे बड़े ुनिक शिक्षा से जुड़े विश्वविद्यालय की स्थापना काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में की जो तीय आधुनिकीकरण की अग्रणी शिक्षा संस्था रही है। औद्योगिक विकास के लिये उन्होंने औद्योगिक ेग का एक प्रतिवेदन देकर भारत के औद्योगिक विकास के ठोस प्रयासों की माँग की थी, लेकिन मानते थे कि इस दिशा में तेजी से प्रयास भी किये जा सकते हैं। उनका विश्वास था कि ोगिक विकास हेतु अपेक्षित पूँजी प्रबन्धन भारत में भी सम्भव हो सकता है। आवश्यकता है ोगिक एवं वैज्ञानिक प्रतिभाओं के निर्माण की जो राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर इस युगदायित्व को करे। वह राष्ट्रनिर्माण के काम में शिक्षा को इसीलिये विशेष महत्त्व देते हैं।

वीय जी ने जहाँ राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिए औद्योगिक विकास पर बल दिया वहीं उन्होंने शारीरिक ास के कार्यक्रमों पर भी बल दिया। उनका विश्वास था कि देश के राजनीतिक पुनर्निर्माण और ति के लिए धार्मिक उत्साह और समर्पण की भावना से काम करना आवश्यक है। इसी कारण गुरु वेन्द सिंह की भक्तिभावना एवं अपने अनुयायियों के साथ उनके समानता के व्यवहार से मालवीय अत्यन्त प्रभावित थे। 1908 लखनऊ में हुए द्वितीय उत्तर प्रदेशीय सम्मेलन में अपने अध्यक्षीय ण में उन्होंने कहा था, "आपसे हार्दिक प्रार्थना करता हूँ कि आप ऐसे संगठनें का निर्माण करें जो भर राजनीतिक कार्य चलाते रहें और सार्वजनिक हित की समस्याओं पर लोकमत को शिक्षित ने का प्रयत्न करते रहें। आप सफाई, शिक्षा तथा औद्योगिक विकास के लिए संगठन बनायें और ी संस्थाओं का निर्माण करें जो सहकारी आन्दोलन, पंचनिर्णय एवं शारीरिक शिक्षा को प्रोत्साहन अन्त में, मैं आप से यह स्मरण रखने की प्रार्थना करता हूँ कि जनता को वास्तविक सुख केवल तिक लाभों से ही नहीं प्राप्त हो सकता, और वे सभी भौतिक लाभ जो प्राप्त करने योग्य हैं, मनुष्य प्रति उन शाश्वत कर्त्तव्यों का पालन करके उपलब्ध किये जा सकते हैं जो धर्म ने हमारे लिए

निर्धारित किये हैं। यदि हम धार्मिक कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित होकर कार्य नहीं करते तो हम जो भी काम करेंगे उनमें हमारी रुचि स्थायी नहीं होगी।'' मालवीय जी ने प्राविधिक शिक्षा को भी अत्यावश्यक बतलाया। अतएव मालवीय जी ने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं देश एक नैतिक, बौद्धिक, आर्थिक एवं राजनीतिक विकास के साथ ही भारत में स्वतन्त्रता, समानता तथा न्याय पर बल दिया जिससे लोगों को वे सभी सुविधाएं प्राप्त हों जो अंग्रेजों को मीली हुई है।

14.3 मूल्यांकन

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन में पं० मदन मोहन मालवीय अप्रतिम प्रतिभा, सत्यनिष्ठा एवं निर्भीकता के ज्वलन्त प्रतीक हैं। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के कर्णधारों में उनका अद्वितीय स्थान है। उनके संबंध में श्रीमती एनी बेसेण्ट ने ठीक ही कहा है कि उन्होंने अपना सांसारिक जीवन और स्वास्थ्य, अपनी सर्वशक्ति तथा विलक्षण वाणी को देशसेवा में लगा दिया। उनका जीवन धर्म से ओत-प्रोत था और परोपकार दानशीलता, विलक्षण प्रतिभा, उत्कट न्यायप्रियता उनके व्यक्तित्व के प्रभाव शाली गुण थे।

महामना मालवीय महात्मा गाँधी के समकालीन थे तथा दोनों ही विभूतियों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध एवं गहरे वैचारिक मतभेद बने रहे। समय-समय पर दोनों ही विभूतियाँ सहयोगात्मक भूमिका को भूमिका निभाती रहीं, लेकिन उनमें राजनीतिक चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में दोनों की सोच एवं विश्वास के बीच गहरा मसला था। लाला लाजपत राय इन महान विभूतियों पर विचार करने हुए लिखा कि 'मेरे लिए देश में महात्मा गाँधी तथामालवीय जी दो महानतम विभूतियाँ हैं। मैं उनसे जितना प्रेम और उनकी जितनी श्रद्धा करता हूँ उतनी निजी अथवा सार्वजनिक जीवन में किसी की नहीं करता।'' वहीं मालवीय जी विषय में आचार्य पी० सी० राय ने कहा था–''महात्मा गाँधी के बाद कोई ऐसा अन्य व्यक्ति पाना कठिन है जिसने मालवीय जी के समान त्यागद एवं बहुरपक्षीय कार्य किये हों।''

मालवीय जी अपने समय के एक प्रतिष्ठित सार्वजनिक नेता थे। वे बुद्धिमान राजनीतिज्ञ तथा प्रकाण्ड विद्वान थे। हिन्दू सभ्यता एवं संस्कृति के शाश्वत मूल्यों में उनका गररा विश्वास था, जो उनकी जीवनचर्या तथा कार्य-पद्धति का मुख्य आधार था। वे ईश्वरोन्मुखी धार्मिक व्यक्ति थे। यद्यपि वे सांस्कृतिक पुरातनवाद पर जोर देते थे फिर भी उनका हृदय अत्यन्त उदार, न्यायप्रिय एवं विरोधियों तथा आलोचकों के भी प्रेम व श्रद्धा का प्राप्त कर लेने की अद्भुत शक्ति से परिपूर्ण था। उन्होंने अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, प्रान्तीय सम्मेलनों, उत्तर प्रदेश के विधान परिषद एवं साम्राज्यीय विधान परिषद में बड़ी ही प्रभावशाली भूमिका का निर्वहन किया। जब भारतीय राजनीति में सत्याग्रह प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ तो उस समय की महत्त्वपूर्ण शक्तियों के साथ मालवीय जी का सम्पर्क टूट गया। फिर भी वे मध्यस्थ की भूमिका का निर्वहन करते रहे। उन्हें न तो कांग्रेस की बदली हुई उग्र भावना से सहानुभूति थी और न उसकी मुसलमानों के प्रति रियायत की नीति से। उन्होंने 1946 में अपने अन्तिम सार्वजनिक वक्तव्य में हिन्दुओं को देश की भयंकर रूप से विक्षुब्ध साम्प्रदायिक स्थिति में एक होने के लिए ललकारा था।

भारतीय राजनीतिक विचारों के इतिहास में मालवीय जी का मुख्य योगदान उनका व्यापक राष्ट्रवाद का सिद्धान्त था। स्टाईन, हार्डेनबुर्ग, गेटे एवं फिख्टे की भाँति मालवीय जी भी संस्कृति को राष्ट्रवाद का आधार मानते थे। प्राचीन भारत की सांस्कृतिक विरासत एवं महान उपलब्धियों के प्रति उनके मन में गहरी श्रद्धा थीः साथ ही साथ उन्हें देश की भावी प्रगति और सृजनात्मक शक्तियों में भी विश्वास था। वे एक धर्मनिष्ठ एवं नैतिक जीवन शैली में विश्वास रखते थे, इस कारण विशुद्ध भौतिकवादी अथवा ऐहिकवादी राष्ट्रवाद का समर्थन नहीं कर सकते ते। वे हिन्दू संस्कृति पर आधारित राष्ट्रवाद को मानते थे: किन्तु साथ ही साथ वे देश के अन्य सम्प्रदायों के प्रति भी निरपेक्षतः उदार तथा न्यायोचित

वहार करने के पक्षधर थे।

4.4 सारांश

ा प्रकार स्पष्ट है कि महामना मालवीय जी हिन्दू संस्कृति की श्रेष्ठता में विश्वास रखने वाले स्कृतिक राष्ट्रवादी थे। वह धर्म को व्यक्तिगत एवं राजनीतिक जीवन का आधार मानते थे। इसके बजूद उनके चिन्तन में उग्रता या किसी आक्रामकता की जगह लोकतंत्रवादिता, सहिष्णुता, समन्वय, विधानवादिता की रीतिनीति का गहरा प्रभाव था। वह जहाँ परम्परावादी थे वहीं आधुनिक राष्ट्रनिर्माण आकांक्षी राष्ट्रनिर्माता भी थे जिसने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिये ठोस योगदान दिया।

4.5 उपयोगी पुस्तकें

V. S. Narvane, Modern Indian Thought : A Philosophical Survey, Asia, Bombay 1969.

M. N. Jha, Modern Indian Potitical Thought, Meenakshi, Meerut, 1975.

Sankar Ghose, Modern Indian Political thought, Allied publishers, N. Delhi 1984.

R. N. Tripath, Thirty Days with Malvia Ji, Swaraj Publishing House, Varanasi.

वी0 पी0 वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 1995।

थामस पेन्थम और के0 एल0 डायश (सपा0), माडर्न इण्डियन पोलिटिकल थाट, सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1986।

4.5 सम्बन्धित प्रश्न

ीर्घ उत्तरीय प्रश्न

. महामना मदन मोहन मालवीय के राजनीतिक विचारों का वर्णन करें।

. महामना मदन मोहन मालवीय के राष्ट्रवाद पर प्रकाश डालें।

घु उत्तरीय प्रश्न

. राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में मदन मोहन मालवीय की भूमिका एवं चिन्तन पर टिप्पणी लिखें।

. मदन मोहन मालवीय के 'स्वदेशी' सम्बन्धी विचारों का उल्लेख कीजिए,

ास्तुनिष्ठ प्रश्न

. निम्नलिखित में से किस विचारधारा को मालवीय जी ने समर्थन नहीं किया है?

(अ) हिन्दू संस्कृति राष्ट्रवाद

(ब) लोकतंत्रवाद

(स) वर्ग संघर्ष

(द) संविधानवादी कार्यपद्धति

2. मालवीय जी किस वर्ष सेण्ट्रल एसेम्बली के सदस्य चुने गये थे?

(अ) 1902

(ब) 1910

(स) 1919

(द) 1924

14.6 प्रश्नोत्तर

1. (ब)

2. (द)।

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय

MAPS -06
आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन

खण्ड

5

स्वातंत्रोत्तर चिन्तन

इकाई 15	
सर्वोदय दर्शन	5
इकाई 16	
जवाहर लाल नेहरु	23
इकाई 17	
डॉ0 भीमराव अम्बेडकर	40
इकाई 18	
राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन	64

खंड 5 का परिचय : स्वातंत्र्योत्तर चिन्तन

इस खंड में हम स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति के कुछ महत्त्वपूर्ण विचारकों और विचारधाराओं का परिचय प्राप्त करेंगे। इनमें से हम नेहरू और अम्बेडकर को आधुनिकतावादी और राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन तथा सर्वोदय को परम्परावादी मानते हैं। यद्यपि इस प्रकार का वर्गीकरण प्रायः सरलीकरण की दृष्टि से होता है और इसलिए भ्रामक ही होता है, फिर भी हम अध्ययन की सुविधा के लिए ऐसा प्रयास करते हैं। ध्यान देने वाली बात है कि इन विचारकों ने राष्ट्रीय राजनीति में भी सक्रिय हस्तक्षेप किया, यानी उनका चिंतन जनजीवन से जुड़ा है। हम पाएंगे कि सार्वजनिक सक्रियता की व्यस्तता के बाद भी किसी विचारक में बौद्धिक अनुशासन का अभाव नहीं है।

इस खंड का प्रारम्भ सर्वोदय विचारधारा से होता है, जिसने स्वतंत्र भारत में गांधीवाद का अनुकूलन किया। स्वराज्य तो आ गया था, अब राम राज्य पाने का प्रयास करना था। उसने गांधी जी की तरह ही भारतीय समाज के हर क्षेत्र में प्रभाव छोड़ा। सर्वोदय ने स्वैच्छिक संगठनों का प्रतिमान स्थापित किया, राजनैतिक दलों से अलग रहकर राजनीति में हस्तक्षेप किया और सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान के तौर पर भारत की भयंकर भूमि समस्या के शांतिपूर्ण समाधान का प्रयास किया। इसके पश्चात् हम नेहरू के विचारों की समीक्षा करेंगे। आधुनिक भारत के निर्माण में उनकी निर्णायक भूमिका है। उन्होंने औद्योगिक विकास के उत्प्रेरक के तौर पर केंद्र सरकार के संसाधनों का उपयोग किया, क्योंकि उस समय तक निजी पूंजी में वैसी क्षमता नहीं थी। इस प्रकार उन्होंने सार्वजनिक उद्यमों का एक संजाल खड़ा किया। आज भले ही हम सार्वजनिक उद्यमों को कम उपयोगी मानें लेकिन औद्योगीकरण के उस आधार के बिना आज भारत विकास के इस चरण तक नहीं पहुँच पाता। विदेश नीति में गुट-निरपेक्ष आंदोलन को उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक महत्त्वपूर्ण शक्ति बना दिया।

इस खंड के शेष भाग में हम डा0 अम्बेडकर और राजर्षि टंडन पर विचार करेंगे। उस अम्बेडकर को आज हम मुख्यतः दलितोत्थान का प्रेरक और प्रतीक मानते हैं, लेकिन संविधान निर्माता, विधिवेत्ता, शिक्षाशास्त्री और अर्थशास्त्री के तौर पर भी उनका उल्लेखनीय योगदान है। उन्होंने दलितों को जगाया, लेकिन सदैव ध्यान रखा कि वे राष्ट्रीय जीवन से अलग न हों। उनका जोर शिक्षा पर था। शिक्षा से ही वे आगे बढ़े थे और वे दलितों से भी यही अपेक्षा करते थे। भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर उन्होंने विशेष अध्ययन और शोध किया। उन्होंने प्रयास किया कि भारत में जातिवाद का नाश हो और समतावादी समाज की स्थापना हो।

खंड के अंत में हम राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन के विचारों का अध्ययन करेंगे। राष्ट्रभाषा हिंदी और देवनागरी को प्रतिष्ठित करने में उन्होंने अपना पूरा जीवन लगा दिया। उन्होंने हिंदी के लिए उस समय संघर्ष करना शुरू किया, जब हिंदी को अंग्रेजी ही नहीं, उर्दू से भी नीचे रखा जाता था। इस संघर्ष में उन्हें अंग्रेजी और उर्दू से और फिर गांधी जी की हिंदुस्तानी से भी लम्बी लड़ाई लड़नी पड़ी। उनके प्रयासों से ही भारतीय संविधान में "देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिंदी" की इतनी स्पष्ट और निर्विवाद प्रतिष्ठा हो गयी कि हिंदी विरोधी राजनीतिज्ञ प्रयास करके भी हिंदी को हीन नहीं बना सके। राजर्षि टंडन के इस योगदान को हम सदैव श्रद्धा से याद करेंगे।

काई – 15 : सर्वोदय दर्शन

काई की रुपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 सर्वोदय का सिंहावलोकन

5.3 सर्वोदय की आधारभूत अवधारणा

5.4 सर्वोदय का अर्थशास्त्र

5.5 सर्वोदय की राजनैतिक मान्यताएँ

5.6 सर्वोदय, समाजवाद और मार्क्सवाद

5.7 भूदान आंदोलन : आरम्भ और औचित्य

5.8 ग्रामदान, सामुदायिक विकास और पंचायती राज

5.9 भूदान और ग्रामदान की समीक्षा

5.10. सर्वोदय के अन्य सरोकार–आचार्य कुल, खादी, शांति सेना, देवनागरी, स्त्री शक्ति; गौरक्षा

5.11 सारांश

5.12 उपयोगी पुस्तकें

5.13 सम्बन्धित प्रश्न

5.14 प्रश्नोत्तर

5.0 उद्देश्य

- इस इकाई से आपको स्वतंत्र भारत के एक अत्यंत महत्वपूर्ण आंदोलन का ज्ञान होगा, जिसने भारत की एक महत्वपूर्ण समस्या के शांतिपूर्ण समाधान का प्रयास किया। इस प्रयास ने साम्यवाद के हिंसक समाधान का एक विकल्प प्रस्तुत किया, जिसने पूरे विश्व का ध्यान आकर्षित किया।
- इस आंदोलन के अध्ययन से आपको इस गम्भीर प्रश्न पर नये सिरे से सोचने का अवसर मिलेगा कि लोकतंत्र में दलगत राजनीति से अलग रहकर क्या किया जा सकता है। इस प्रश्न के उत्तर में दो विकल्पों पर आप विचार करेंगे–(क) दलविहीन राजनीति भी प्रभावशाली हो सकती है, और (ख) अगर सदाशयता से प्रयास किया जाए तो सर्वदलीय सहमति की सम्भावना भी बन सकती है।
- आपने इस दशक में स्वैच्छिक संगठनों को अत्यधिक सक्रिय होते हुए देखा है। वस्तुतः सर्वोदय स्वतंत्र भारत का सर्वप्रथम और सर्वाधिक सक्रिय स्वैच्छिक संगठन माना जा सकता है। सर्वोदय का विचार था–'अ-सरकारी ही असरकारी होता है।' सर्वोदय के अध्ययन से आप गैर-सरकारी स्वैच्छिक संगठनों की वैचारिकी, कार्यप्रणाली और प्रभाविता से परिचित हो सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

सर्वोदय स्वतंत्र भारत की परिवर्तित परिस्थिति में गांधीवाद के प्रयोग का प्रयास है। स्वतंत्र भारत के सामने यह समस्या आयी थी कि उसको नेतृत्व देने के लिए गाँधी जी उपस्थित नहीं थे। सर्वोदय ने इस चुनौती का सामना किया। देश के सामने यह स्पष्ट नहीं था कि स्वतंत्रता पाने के बाद क्या किया जाए। सर्वोदय ने पाया कि सम्भवतः गांधी जी अपनी रणनीति में यह परिवर्तन करते–(1) चूँकि अब स्वतंत्रता मिल गयी है, इसलिए आंदोलन पर अधिक जोर न दिया जाए, (2) स्वतंत्रता आंदोलन राजनैतिक था, जबकि अब हमें रचनात्मक पक्ष पर जोर देना चाहिए। गाँधी जी का सुझाव था कि कांग्रेस को भंग करके लोकसेवा पर ध्यान देना चाहिए। इस विषय पर उन्होंने सम्मेलन बुलाया था, लेकिन उसके दो महीने पहले उनकी हत्या हो गयी। (3) गाँधी जी 'ग्रामीण गणराज्य' के सशक्त प्रवक्ता थे। स्वतंत्रता आंदोलन में गाँधी जी चाहकर भी ग्रामीण समस्याओं पर अधिक समय नहीं दे सके।

सर्वोदय आंदोलन ने गाँधीवाद के इस अपेक्षाकृत संशोधित स्वरूप को स्वीकार किया। वस्तुतः सर्वोदय प्रारम्भिक चरण में तो एक प्रयोग ही था। भूदान और ग्रामदान जैसे बड़े आंदोलनों के पहले कोई बड़ी योजना नहीं बनाई गई थी। उन्हें तात्कालिक घटनाओं ने जन्म दिया। यह भी संयोग था कि ग्रामदान के दौर में भारत सरकार ने सामुदायिक विकास योजना शुरू किया और फिर पंचायती राज की व्यवस्था आयी। उस समय एक विचारक जी० रामचंद्रन ने कहा था कि भूदान और ग्रामदान तो गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम थे ही, उन्हें सामुदायिक विकास के रूप में "नेहरू जी के रचनात्मक कार्यक्रम" का साथ भी मिल गया। इस सर्वोदय यात्रा में बहुत कुछ स्वतः स्फूर्त और संयोगजन्य था। शायद इसे ही संयोग मान सकते हैं कि वर्धा के छोटे से क्षेत्र में निरंतर नये प्रयोग में लगे रहने और चर्चा से दूर रहने वाले विनोबा भावे ने उसी समय सर्वोदय समाज का नेतृत्व सम्भाल लिया।

इस प्रकार 1951 में भूदान के जन्म से उस दशक तक सर्वोदय में बहुत कुछ आकस्मिक, अप्रत्याशित और आश्चर्यजनक था। बंट्रेड रसेल, मार्टिन लूथर और कारेटा किंग और चेस्टर बोवेलेस जैसे पश्चिमी विचारकों ने उस समय सर्वोदय में पूरे एशिया के लिए आशा की किरण देखी। फिर भी सर्वोदय ने मूलतः भारतीय परम्पराओं की पुनर्जीवित और पुनरव्याख्यापित ही किया था। सर्वोदय ने अपनी विचारधारा की व्याख्या के लिये शायद ही कभी गैर-भारतीय प्रतीक, रूपक या मुहावरे की सहायता लिया हो। सर्वोदय का यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान है। सर्वोदय ने प्रयास किया कि लम्बे अंग्रेजी शासन और औद्योगिक-उपभोक्तावादी मूल्यों ने जिन स्वस्थ भारतीय संस्कारों को मटमैला या विरूपित कर दिया है, उन्हें फिर से प्रस्तुत किया जाए। इन प्रतीकों में एक तो दान के ही बहुविध रूप थे–भूदान, ग्रामदान, श्रमदान, साधनदान, बुद्धिदान और सबसे ऊपर जीवनदान। सर्वोदय ने कृषि खेती, गौसेवा, प्राकृतिक चिकित्सा, सर्वधर्मसमभाव, अहिंसा, अपरिग्रह (कांचन मुक्ति और निधि मुक्ति), ब्रह्मचर्य, स्वैच्छिक निर्धनता, अभिध्यान, स्त्री 'शक्ति', मद्य-निषेध और चरखा आदि पर जोर दिया। भारतीय परम्परा में राज्य सत्ता को अधिक महत्व नहीं दिया गया है। गाँधी जी ने सदैव माना कि व्यक्ति समाज के अधीन है। सर्वोदय ने इस विचार को और आगे बढ़ाया। गाँधीवाद और सर्वोदय का यह महत्वपूर्ण योगदान है।

15.2 सर्वोदय का सिंहावलोकन

सर्वोदय शब्द के प्रयोग का पहला प्रमाण लगभग दो हजार वर्ष पूर्व के एक जैन संत समंतभद्र की

स्तक में मिलता है। सत्याग्रह की तरह इस शब्द और सकल्पना को लोकप्रियता गांधी जी से ही ली। उन्होंने जान रस्किन की पुस्तक 'अन टु दिस लास्ट' के गुजराती अनुवाद का नामकरण र्वोदय किया था। रस्किन के विचारों को गाँधी जी ने तीन बिंदुओं में समाहित कर दिया जो सर्वोदय ी मौलिक मान्यताएँ बन गयी हैं–

(i) सामाजिक हित में व्यक्तिगत हित समाहित है।

(ii) नाई और वकील के कार्यों का इस अर्थ में समान महत्व है कि दोनों को आजीविका का समान अधिकार है।

(iii) किसान, श्रमिक और दस्तकार का जीवन आदर्श है, क्योंकि वे श्रम से आजीविका कमाते हैं।

म, सात्विक और सरल जीवन, न्यूनतम आवश्यकताओं और स्वैच्छिक निर्धनता को सर्वोदय ने ावहारिक आदर्श बनाया। गाँधी जी की हत्या के बाद मार्च 1948 में रचनात्मक कार्यकर्ताओं का एक म्मेलन हुआ, जिसमें सर्वोदय समाज का गठन किया गया। विनोबा के विचार से सर्वोदय समाज सशक्त या निर्बल संगठन नहीं, बल्कि अ-संगठन'' होगा, जबकि व्यवहारिक कार्यों के लिए मार्च 949 के इंदौर के प्रथम अधिवेशन में अखिल भारतीय सर्व सेवा संघ का गठन किया गया। सर्वोदय माज नैतिक प्रेरणा का स्रोत है। वर्धा के गोपुरी केंद्र से इसने देश भर के कार्यकर्त्ताओं को दिशा या है। वल्लभस्वामी के संयोजकत्व में पहले से ही रचनात्मक आंदोलन में लगे चरखा संघ जैसे चार ड़े संगठनों को मिलाकर सर्वसेवा संघ का गठन किया गया।

ौर के स्थापना सम्मेलन के सभापति डा0 राजेंद्र प्रसाद थे, जबकि बाद के दो सम्मेलनों का भापतित्व काका कालेलकर ने किया। अप्रैल 1951 में तेंलगाना के शिवरामपल्ली में आयोजित धिवेशन से ही बड़े नाटकीय ढंग से भूदान की नींव पड़ी, जिसके बाद आगे के डेढ़-दो दशक तक र्वोदय काफी लोकप्रिय रहा। विनोबा ने दिसम्बर 1951 से अपने पवनार आश्रम से भूदान यात्रा रम्भ किया। समाज के 1954 के गया में आयोजित छठवें अधिवेशन में जय प्रकाश नारायण विनदानी बनकर सम्मिलित हो गए। विनोबा प्रायः हर अधिवेशन में कुछ नये कार्यक्रम रखते थे। सन् 4 तक भूदान के साथ ग्रामदान का अपेक्षाकृत अधिक क्रान्तिकारी कार्यक्रम जड़ जमा चुका था। 955 (पुरी), 1956 (कांची) और 1957 (कलाडी) के अधिवेशनों में विनोबा ने निधि मुक्ति और तंत्र क्ति के विचारों को स्थापित किया। जबकि 1958 (पंढरपुर) और 1959 (अजमेर) के सम्मेलनों में ति सेना पर काफी चर्चा हुयी। 1963 में मध्य प्रदेश के रामपुर में हुए सम्मेलन में खादी को लेकर ये कार्यक्रम बनाए गये। 1969 यानी गाँधी शताब्दी वर्ष में सर्वोदय सम्मेलन राजगीर में हुआ, जिसमें वसर के अनुरूप भारत के राष्ट्रपति और दलाई लामा ने भी भाग लिया। यह सर्वोदय का चरम था र इसलिए अब उसमें वैचारिक शैथिल्य आना अस्वाभाविक नहीं था।

र्वोदय के राजगीर सम्मेलन में तो सर्वथा स्पष्ट था ही, लेकिन बीज रूप में तो प्रारम्भ से ही सर्वोदय सरकारी छाप उपस्थित थी। विनोबा ने शुरू में ही 'सत्याग्रह मंडल' का नाम अस्वीकार करके यह केत दिया था। वे खुले तौर पर पं0नेहरू को अपने से कहीं अधिक वैध रूप में गांधी जी का राधिकारी मानते थे। धीरे-धीरे सर्वोदय कांग्रेस का अनुषांगिक संगठन जैसा दिखने लगा। प्रायः हर ई पं0 नेहरू और बाद में शास्त्री जी और इंदिरा जी विनोबा से एकांत में भेंट करते थे। कांग्रेस कार्य मिति का अधिवेशन तक इस प्रकार आयोजित किया गया कि सदस्यगण उनसे भेंट कर सकें। धीरे-रे कांग्रेस की लोकप्रियता घटने लगी और सर्वोदय के साथ भी यही हुआ। जयप्रकाश नारायण के

साथ के सर्वोदयी सर्वोदय के भीतर ही विरोधी दल के रूप में काम करने लगे। इसी दलबंदी से खिन्न होकर विनोबा ने उसी अधिवेशन के बाद परमधाम (पवनार) लौटकर सूक्ष्म अकर्मयोग में लीन होने की घोषणा किया। यह स्पष्ट दिख रहा था कि भूदान-ग्रामदान 'सुलभ' रूप में भी असफल रहा। उसकी उपलब्धियां सरकारी कार्यक्रमों की तरह कागजों, आंकड़ों और समारोहों तक सीमित थीं। ग्राम दान तो क्या, कहने के लिए प्रखंड दान, फिरका दान, जिला दान और यहाँ तक कि बिहार के रूप में प्रदेश दान तक हो गया, लेकिन इसमें सच्चाई बहुत कम थी।

जेपी समर्थक सर्वोदयी चाहते थे कि सर्वोदय जनता में बढ़ रहे असंतोष की अभिव्यक्ति के लिए आंदोलन करे। सर्वोदय समाज के 1971 (नासिक), 1972 (नकोदर) और 1973 (कुरुक्षेत्र) के अधिवेशनों में यह दुविधा बनी रही। उसके बाद गुजरात के नव निर्माण आंदोलन और फिर बिहार के आंदोलन में क्रमशः रविशंकर महाराज और जय प्रकाश नारायण को जनता ने ही अपना नेता चुन लिया। विनोबा जी ने विवशता में बाद में कहा कि ऐसे आंदोलनकारी कम से कम आंदोलन के समय तक सर्वोदयी काम से अवकाश ले लें, लेकिन उस समय तक सर्व सेवा संघ में उर्ध्वाधर विभाजन की स्थिति उत्पन्न हो गयी। जेपी के साथ सिद्धराज ढढ्ढा, ठाकुरदास बंग और आचार्य राममूर्ति जैसे शीर्ष नेता थे। इसके अतिरिक्त अजीत भट्टाचार्य, बी जी वर्गीज़ और कुलदीप नैयर जैसे कांग्रेस-विरोधी बुद्धिजीवी भी जेपी के साथ थे।

1973–74 के गुजरात-बिहार के कांग्रेस-विरोधी आंदोलनों में जेपी गुट के सर्वोदयी लोगों ने बहुत सक्रिय भूमिका अपनायी, फिर 1975–77 के आपात काल के कष्ट सहे और बाद में जनता पार्टी के शासन (1977–1980) में सत्ता के लाभ भी लिये। इस तरह 1980 तक सर्वोदय के दोनों गुट कांग्रेस और जनता पार्टी से जुड़कर जनता के बीच में अपनी विश्वसनीयता खो चुके थे। पुराना गुट राजनीति से अलग रहने की बात करता था, जबकि जेपी दलहीन लोकतंत्र की, लेकिन व्यवहार में पाया गया कि दोनों गुट न केवल राजनीति में हैं, बल्कि दलों के दलदल में भी फँसे हुए हैं। इसके बाद सर्वोदय जनता के बीच से हटकर बहुत कुछ एतिहासिक और अकादमिक दिलचस्पी का विषय बनकर रह गया। सर्वोदय के अधिवेशन 1980 के बाद भी नियमित अंतराल में होते रहे हैं, जिसकी अध्यक्षता मनुभाई पांचोली, नारायण देसाई, विमला ठक्कर, डा० उषा मेहता, चित्र भाई, ठाकुरदास बंग, गोविन्दराम देशपांडे और सुंदरलाल बहुगुणा आदि ने किया। आज सर्वोदय संगठन गैर सरकारी संगठनों की तरह प्रायः समाज के सभी क्षेत्रों में काम कर रहे हैं, लेकिन विनोबा या जेबी जैसे प्रखर नेतृत्व के अभाव में उसका प्रखर और एकीकृत रूप सामने नहीं आ पा रहा है।

15.3 सर्वोदय की आधारभूत अवधारणा

गाँधी जी ने 'हिंद स्वराज' में लिखा था कि भारत में "ऋषियों की वाणी राजाओं के तलवार से अधिक असरदार' रही है। ब्रिटिश शासन ने इस परम्परा को उलट दिया, जिसमें थोड़ा योगदान अंग्रेज शासन का और उससे बड़ा योगदान आधुनिकीकरण का था। वर्ष 1923 से 1929 तक गाँधी जी ने राजनीति से अलग रहकर रचनात्मक कार्यों पर जोर दिया। वैसे भी राजनैतिक सक्रियता के दौर में भी वे रचनात्मक कार्यक्रमों को अनदेखा नहीं करते थे। 1941 में उन्होंने सेवाग्राम से बारडोली की यात्रा के समय "रचनात्मक कार्यक्रम-अर्थ और महत्त्व" शीर्षक से एक पुस्तिका लिखकर अपने कार्यक्रमों को स्पष्ट किया। उसमें उन्होंने 13 रचनात्मक कार्यक्रम गिनाए थे, जिसमें उन्होंने 1945 में पांच कार्यक्रम और जोड़ दिये। गाँधी की हत्या के बाद इन कार्यक्रमों के आधार पर नवम्बर 1949 में काका कालेलकर की अध्यक्षता में वर्धा में 200 वरिष्ठ कार्यकर्त्ताओं ने विचार करके सर्वोदय योजना प्रस्तुत

केया। इस समिति में जेसी कुमारप्पा, शंकर राव देव, गुलजारी लाल नंदा, जी रामचंद्रन, श्री कृष्ण गाजू और प्रफुल्ल चंद्र घोष जैसे शीर्षस्थ सर्वोदयी थे। जनवरी 1950 में प्रकाशित यह योजना सर्वोदय की सर्वाधिक प्रामाणिक और विशद व्याख्या करती है।

इस व्याख्या के अनुसार साध्य के साथ साधन भी पवित्र होना चाहिए। दूसरी मान्यता है कि अधिकार से अधिक महत्व कर्त्तव्य का है। यदि इन मान्यताओं को पूरे समाज में लागू किया जाए तो "आप पायेंगे कि जीवन के सभी क्षेत्रों में आनन्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो गए हैं।" सर्वोदय की तीसरी मान्यता है कि नैतिक तत्व भौतिक तत्व से अधिक प्रभावी होता है। सर्वोदय सुख और आनन्द, धन और समृद्धि, विवेक और ज्ञान में इसी आधार पर अंतर करता है। पश्चिमी सभ्यता ने भौतिक पहलुओं पर जोर देकर जो भी पाया है, वह अत्यधिक अस्थायी है। उसका जोर 'शक्ति' और 'गति' पर है, लेकिन इस बीच उसने उद्देश्य खो दिया है। उसने दुनिया पाने की मृगतृष्णा में "अपने आप को खो दिया है।" आतंकवादी प्रौद्योगिकी ने प्रकृति का शोषण करने और यहां तक कि प्रकृति को जीतने का दुस्साहस किया है, जबकि वास्तविकता में उसने पूरे समाज कि इस आधुनिकीकरण ने भारतीय शहरी वर्ग को अपने "मोहपाश में" जकड़ लिया है। अब इससे क्या फर्क पड़ेगा कि "विदेशी रॉकफेलर की जगह भारतीय रॉकफेलर आ गया है।" इससे केवल यही फर्क पड़ेगा कि हमने स्वराज्य पा लिया है, लेकिन यह राम राज्य नहीं है। सर्वोदय इसी स्वराज्य से राम राज्य की यात्रा है।

सर्वोदय की आधारभूत अवधारणा है कि सृष्टि को उपयोगिता और उपभोक्ता की दृष्टि से नहीं बल्कि विज्ञा की दृष्टि से देखना चाहिए। गाँधी जी ने कहा ता कि पृथ्वी माँ है, वह अपने सभी पुत्रों की आवश्यकताओं को पूरा करेगी लेकिन एक अकेले व्यक्ति की वासना के आगे शायद पूरी पृथ्वी के संसाधन कम पड़ जाएं। इसलिए सर्वोदय ने न्यूनतम आवश्यकताओं, मानवीय श्रम और स्वैच्छिक निर्धनता पर जोर दिया। विनोबा ने काफी लम्बे समय तक, एकदम साधनहीन होकर, खेती के कई प्रयोग किए। उन्होंने मलेरियाग्रस्त होने पर कुनैन की गोली लेने से इसलिए मना किया क्योंकि आप भारतीय को इतनी मामूली सुविधा तक नहीं मिली थी। सर्वोदय की मान्यता है कि श्रम ही यज्ञ है। श्रम की प्रक्रिया में ही हम प्रकृति से तादात्म्य करते हैं। आज विकास के साथ 'निर्वहनीयता' (सस्टेनेबिलिटी) की शर्त अनिवार्य रूप से जोड़ी जाती है, क्योंकि अनियंत्रित औद्योगीकरण ने पचास वर्षों में ही पृथ्वी के करोड़ों सालों के संसाधनों को लूट लिया और साथ ही पर्यावरणीय असंतुलन को जन्म दिया है। सर्वोदय ने इस समस्या को जन्म के पहले ही पहचान लिया था।

15.4 सर्वोदय का अर्थशास्त्र

सर्वोदय का अर्थशास्त्र प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग को मनुष्य की मूलभूत न्यूनतम सुविधाओं तक ही सीमित रखता है। मूलतः और प्रमुखतः मानवीय श्रम का उपयोग होगा, इसलिए भी संसाधनों का सीमित दोहन होगा। सर्वोदय अर्थशास्त्र के कुछ और महत्वपूर्ण बिन्दु इस प्रकार हैं–

(क) अर्थशास्त्र समाजशास्त्र की शाखा है। सम्पत्ति सामाजिक रचना है। (ख) उत्पादन में पूँजी के साथ श्रम का भी कम से कम समान महत्व है। (ग) उत्पादन के समान वितरण का भी महत्व है। विनोबा का कहना था कि यदि भूदान में बंजर भूमि दान में मिल रही है तो भी कोई समस्या नहीं है क्योंकि 'अगर देश निर्धन है तो निर्धनता का वितरण होना चाहिए।" इसी तरह से गाँधी जी ने कहा था कि हमारी नयी सोच में "हम वह नहीं पाना चाहेंगे, जो हम पा सकते हैं", क्योंकि हमारा मानदंड यह होगा कि क्या हमारे अन्य देशवासी भी वही सुविधा या सामग्री पा सकते हैं या नहीं। (घ) उपभोक्ता को उत्पादक भी होना चाहिए। सर्वोदय ने इसकी संकीर्ण और शाब्दिक व्याख्या किया है। उसके

अनुसार हर मनुष्य उपभोक्ता तो है, लेकिन उत्पादक वही है, जो भौतिक श्रम करता है। इस तरह बुद्धिजीवी को भी भोजन का अधिकार पाने के लिए अंशकालिक कृषक, अन्यथा श्रमिक और यह भी सम्भव न हो तो लोहार का काम करना चाहिए। यह सर्वोदयी विचार इस सीमा तक पहुँचा कि वस्त्र पहनने वाले को बुनकर भी होना चाहिए। निश्चित रूप से ये विचार आधुनिक समाज की जटिलता की उपेक्षा करते हैं, लेकिन इसके पीछे एक लम्बी भारतीय परम्परा ही नहीं, टाल्सटॉय के अन्नश्रम की अवधारणा, थोरो और रूसी विचारक टी एम बान्डरेफ जैसों की पाश्चात्य परम्परा भी है।

सर्वोदय समाज की योजना का हमने ऊपर उल्लेख किया है। अब हम उसमें दिये गए कुछ आर्थिक विचारों की चर्चा करेंगे। (क) गाँधी के शब्दों में "मनुष्य के इंजन की चालक शक्ति आत्मिक है। यह विचित्र इंजन वेतन के लालच या किसी दबाव में श्रेष्ठतम काम नहीं करता है।" यहाँ तक आते-आते सर्वोदय अर्थशास्त्र को समाज शास्त्र का नहीं, बल्कि नीतिशास्त्र का अंग बना देता है। (ख) सर्वोदय के अनुसार चूंकि मानव समुदाय में आधारभूत समानता है, इसलिए उनके आर्थिक स्तर में भी अत्यधिक असमानता नहीं होना चाहिए। दूसरी ओर यांत्रिक समानता भी ठीक नहीं है। मध्यमार्ग ही ठीक है। प्रयास होना चाहिए कि (i) भौतिक और मानसिक श्रम को भुगतान में अत्यधिक असमानता न हो और (ii) विलासिता के लिए कोई छूट न हो। गाँधी जी का कहना था कि "अगर मैं अपने श्रमिकों को उचित वेतन दूँगा तो मैं अनावश्यक समृद्धि नहीं बटोर पाऊँगा, विलासिता पर पैसा बर्बाद नहीं कर पाऊँगा और इस तरह दुनिया की आम गरीबी को बढ़ा नहीं पाऊंगा....वास्तविक अर्थशास्त्र न्याय का अर्थशास्त्र है।" (ग) वास्तविक समृद्धि धन से नहीं, "स्वस्थ और गुणवान नागरिकों" से आती है।

अर्थशास्त्र के वित्तीय पक्ष से वितृष्णा की पराकाष्ठा हमें विनोबा में दिखती है। उन्होंने प्रारम्भिक वर्षों में मुद्रा को ही समाप्त करने का प्रयोग किया। बाद में उन्होंने कंचन मुक्ति और विधि मुक्ति का आंदोलन चलाया। उनका विचार था कि हरेक व्यक्ति को मुद्रा के स्थान पर ऐसे टोकने दिए जांए, जिस पर किये गये श्रम के समय का उल्लेख हो। उनकी कल्पना में उत्पादन और वितरण दोनों स्थानीय स्तर पर होंगे, इसलिए मौद्रिक अर्थव्यवस्था की जटिलता के बिना भी सिर्फ टोकेन के सहारे विनिमय हो आएगा। विनोबा यह भूल गए कि मुद्रा भी मूल रूप में टोकेन ही है। सर्वोदय ने यह सही समझा कि अर्थ व्यवस्था का उपचार समाज की पुनःरचना से ही हो सकता है। सर्वोदयी अर्थव्यवस्था के लिए पहले तो यह आवश्यक है कि हम समाज से सिर्फ अपनी आवश्यकता भर लेने की संतोषी प्रवृत्ति बनाएं, जबकि अभी हम अपनी क्षमता भर लेने की कोशिश करते हैं। गाँधी जी तो यहाँ तक कहते थे कि आदर्श अर्थव्यवस्था ग्रामीण ही हो सकती है, क्योंकि वहाँ विकेन्द्रीकरण होगा, सत्ता पर एकाधिकार की सम्भावना नहीं होगी और इस प्रकार एक स्वस्थ समाज आदर्श अर्थव्यवस्था को आधार प्रदान करेगा। चरखा इसी का प्रतीक था। इसी अर्थ में गाँधी ने कहा था कि "खादी वस्त्र नहीं विचार हैं।" विनोबा ने इसी तरह कहा था कि सरकार ने खादी कमीशन बनाया है, जबकि इस "खादी मिशन" चाहते हैं। वे कहते थे कि सरकार ने पहले "ग्रामोद्योग के पैर काट दिए और फिर उसे बैसाखी का सहारा दिया जा रहा है।"

सर्वोदयी अर्थव्यवस्था के लिए विकेन्द्रीकरण आवश्यक है, जबकि आधुनिकीकरण और औद्योगीकरण में यह असम्भव है। विनोबा तो यहाँ तक कहते थे कि अगर केन्द्रीकृत व्यवस्था में देशवासियों का सेवायोजन हो जाए तो वे अपने चरखे में आग लगा देंगे! उनके अनुसार पारम्परिक ग्रामीण व्यवस्था को नष्ट करके लोगों को बेरोजगार बनाया गया फिर यह भरोसा दिलाया जा रहा है कि बीस-बीस वर्षों में सभी हाथ को काम मिल जाएगा। अंत में सम्पत्ति की न्यासवादी धारणा पर भी विचार करना चाहिए।

यह विचार दो विरोधी विचारों को समन्वित करने की कोशिश करता है। सर्वोदय में एक विचार तो यह है कि "सम्पत्ति को सामाजिक नियंत्रण में होना चाहिए" और किसान को ही खेत का स्वामी होना चाहिए। इस विचार में समतावादी संकल्प है। भूदान का तो मूलमंत्र ही था–'सबै भूमि गोपाल की। चूँकि पृथ्वी का है, किसान उसके पुत्र हैं, इसलिए "किसी पुत्र को अपनी मां की सेवा करने से वंचित नहीं किया जा सकता है।" दूसरी ओर सर्वोदय व्यवहारिक रूप से पूँजीपतियों-सामंतों से टकराव भी नहीं चाहता था।

स्वतंत्रता-संघर्ष के समय गाँधी जी ने पूँजीपतियों सामंतों समेत भारत के सभी वर्गों का एक व्यापक मंच बनाया था। यह सम्भव नहीं था कि स्वतंत्रता के बाद इन समृद्ध वर्गों के विरुद्ध कोई कठोर कारवाई की जा सके। वैसे भी सर्वोदय की आत्मा में ही अहिंसा और स्वैच्छिकता का भाव निहित था। इसलिए सर्वोदय हिंसक ही नहीं, कानूनी माध्यम से भी बड़ी निजी सम्पत्तियों के अधिग्रहण का समर्थन नहीं कर सकता था। विनोबा का यह भी कहना था कि "अधिग्रहण के लिए मुआवजा देना पड़ेगा, जिसका बोझ भी आम आदमी पर ही पड़ेगा।" इस प्रकार सर्वोदय भले ही कहता रहा हो कि खादी का सबसे बड़ा महत्व यह है कि "वह मिल के विरुद्ध खड़ा है", लेकिन वह पूँजीवाद के विरुद्ध प्रभावी प्रयास नहीं कर सकता था। इसी प्रकार सर्वोदय ने भले ही सम्पत्ति को 'सामाजिक रचना' मानकर 'सामाजिक नियंत्रण' में रखने की और विशेष रूप से भूमि पर तो निजी स्वामित्व को आद्यन्त अस्वीकार करने की बात चाहे जितने जोरदार ढंग से की हो, वास्तविकता में वह एक प्रभावहीन प्रवचन ही था...."मेरा उद्देश्य है कि मैं आप (सामंतों) के हृदय तक पहुंचकर उसे ऐसे बदलूँ कि आप अपनी सम्पत्ति को अपने किसानों का ट्रस्ट मानें और उसे उनके ही हित में इस्तेमाल करें।" सर्वोदय सिद्धांत समाज के समृद्ध लोगों के विरुद्ध अधिक से अधिक एक नैतिक चेतावनी देता है, जैसा गाँधी जी ने पूँजीपतियों को दिया था...."अगर (पूंजीपति) यह समझता है कि वह श्रमिकों को हटाकर पूरा मालिकाना हक अकेले ही पा आएगा तो यह सोने का अंडा देने वाली मुर्गी को मारने वाली बात होगी।"

15.5 सर्वोदय की राजनैतिक मान्यताएँ

राज्य और राजनीति के बारे में सर्वोदय गाँधी जी से थोड़ा अलग दिखता है। गाँधी जी राज्य के विरोधी रहे, लेकिन राजनीति में सक्रिय रहे। सर्वोदय ने राज्य या कम से कम शासन का, कम से कम व्यवहारिक स्तर पर समर्थन किया, लेकिन राजनीति में सक्रियता नहीं दिखाई। कारण सैद्धान्तिक कम, व्यवहारिक अधिक था। सर्वोदय स्वतंत्र भारत का आंदोलन था, जहाँ शासन भारतीय था। व्यवहारिक स्तर पर विनोबा ने केन्द्र सरकार का विरोध कम ही किया। भारत सरकार की तमाम सैनिक कारवाइयों का समर्थन उन्होंने इस आधार पर किया कि इन कारवाइयों के पीछे कहीं न कहीं अप्रत्यक्ष जन समर्थन अवश्य है। कई बार उन्होंने विदेश नीति में अहिंसा के प्रयोग को बहुत प्रभावी नहीं माना, यद्यपि एक बार जनमत तैयार हो जाने पर शांति के लिए अहिंसा का वही महत्व होगा जो "युद्ध के लिए अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र का होता है।" उन्होंने कई बार पंचवर्षीय योजनाओं पर तीखी टिप्पणी करने से यह कह कर मना किया कि आलोचना से "बुद्धिभेद पैदा करना" अच्छा नहीं है।

सैद्धान्तिक स्तर पर गाँधीजी की राजनैतिक मान्यताओं को ही सर्वोदय ने विस्तार दिया है। गाँधी जी राज्य को "एक आत्महीन यंत्र" मानते थे। उनका कहना था कि आदर्श यह नहीं है कि अच्छा शासन हो, बल्कि यह है कि शासन हो ही नहीं। वे थोरो की इस प्रसिद्ध उक्ति से सहमत थे कि जितना कम शासन हो, उतना ही श्रेष्ठ शासन होगा। गाँधी ने दार्शनिक अराजकतावाद में नैतिकता को प्रमुख स्थान दिया, जिस कारण से वे पारम्परिक अराजकतावादियों से अलग दिखते हैं। विनोबा के 'स्वराज

शास्त्र' में भी ऐसे ही विचार हैं। उनके अनुसार एक राज्य की दण्ड शक्ति है, दूसरी हिंसा की शक्ति है, लेकिन सर्वश्रेष्ठ तो जन शक्ति है, जिसे उन्होंने 'तीसरी ताकत' कहा। उनके अनुसार केन्द्रीकरण वे जनशक्ति को दबा दिया है। फिर कल्याणकारी राज्य के मिथक ने भी राज्य को सशक्त कर दिया है। सोवियत संघ के बारे में उन्होंने कहा था कि सैन्यीकरण से सुरक्षा मिलती है, मशीनीकरण से सुविधा और केन्द्रीकरण से दक्षता मिलती है, जिससे जनता भ्रमित होकर राज्य को एक आवश्यक और लाभकारी तंत्र मान लेती है। फिर राज्य ने व्यक्ति के मन में यह भय भर दिया है कि राज्य के न रहने पर आतंककारी अराजकता फैल जाएगी। सर्वोदय इन मिथकों को तोड़ने का प्रयास करता है। उसके अनुसार एक बार राजनैतिक और आर्थिक–दोनों स्तरों पर शक्ति का विकेन्द्रीकरण हो जाए, तो वास्तव में राजनीति के स्थान पर 'लोकनीति' आ जायेगी। यहाँ विनोबा थोड़ा व्यवहारिक भी दिखते हैं। वे कहते हैं कि केन्द्रीय शासन अवश्य होगा लेकिन वह रेलगाड़ी के डिब्बों में लगी खतरे की जंजीर की तरह होगा।...."यात्री अकसर इस जंजीर को भूले रहते हैं, लेकिन संकट के समय वे इसका प्रयोग करते हैं।" उन्होंने लिखा है कि समाज कुआँ है और राज्य बाल्टी। राज्य जनता से ही शक्ति प्राप्त करता है।

राजनीति को लोकनीति और शासन को अनुशासन में बदलने के लिए सर्वोदय ने विकेन्द्रीकरण, दल-निरपेक्षता या दलहीनता, सर्वसहमति या आम सहमति और अप्रत्यक्ष चुनाव आदि का समर्थन किया है। विनोबा ने दल निरपेक्षता और जयप्रकाश ने दलहीनता का विचार दिया। विनोबा ने दल-निरपेक्षता को दो रूपों में बताया है–(i) राष्ट्रीय विकास के कई आधारभूत कार्यों में मतभेद की आशंका ही नहीं है, इसलिए वहाँ दलों की आवश्यकता ही नहीं है, और (ii) जहाँ विवाद है, वहाँ भी अगर सदाशयता हो तो आम सहमति बन सकती है। विनोबा के अनुसार भूदान-ग्रामदान ऐसे ही आम सहमति के कार्यक्रम हैं, जिनको कांग्रेस ही नहीं, समाजवादी और जनसंघ के लोग भी मानते हैं। समाजवादी इन कार्यक्रमों को समतामूलक मानकर और जनसंघ के लोग इनको भारतीय संस्कृति के अनुकूल मानकर समर्थन देते हैं। आम सहमति के बारे में विनोबा का मानना था कि भले ही विमर्श में कितना भी समय क्यों न लग जाए, बिना आम सहमति के किसी भी कार्यक्रम को लागू नहीं किया जाना चाहिए।

सर्वोदय के अनुसार भारत को पाँच लाख गाँवों के परिसंघ के रूप में फिर से व्यवस्थित किया जाना चाहिए। शक्ति जनता के निकट होना चाहिए। ग्रामीण समाज में अभी भी सहकार और सामुदायिकता की भावना बची है, क्योंकि उनका जीवन अभी भी सरल है। स्वस्थ राजनीति के लिए ऐसा ही समाज होना चाहिए। जयप्रकाश ने समाज को "समुद्री लहरों का संकेन्द्रीय वृत्त" माना है, जो व्यक्ति से शुरू होकर बड़ी सामाजिक इकाइयों तक फैलता है और जिसमें व्यक्ति की छोटी इकाई बड़ी इकाइयों में तिरोहित होती हैं। विनोबा ने इसके लिए दूसरा उदाहरण दिया है। आदर्श समाज अनाज के दानों जैसा नहीं, बल्कि दूध जैसा होगा, जिसमें इकाइयों के बीच दूरी या अंतर नहीं होगी। प्रशासन माले के धागे जैसा होगा, जो फूलों के बीच छिपा रहेगा। सर्वोदय के कार्यकर्त्ता इस समाज के नैतिक प्रतिमान होंगे। विनोबा कहते हैं कि मनुष्य का शारीरिक ताप 98° फारेनहाइट के आस-पास टिका रहता है, क्योंकि उसको ऊर्जा देने वाला सूरज अत्यधिक तप्त है। सर्वोदय समाज को एक निश्चित आदर्श पर उसी स्थिति में टिकाये रख सकेगा, जब उसके कार्यकर्त्ता उस आदर्श से कहीं अधिक आगे हों।

सर्वोदय का विश्वास है कि अगर चुनाव आवश्यक हों, तो भी उन्हें गाँव के स्तर पर ही होना चाहिए। बाकी ऊपरी स्तर के चुनाव अप्रत्यक्ष तरीके से ही हों। सम्भवतः इस सर्वोदयी सिद्धांत का कारण यह था कि केवल ग्रामसभा के प्रत्यक्ष चुनाव राजनैतिक दलों के बिना हो सकते हैं, इसलिए केवल इसी स्तर पर सर्वोदय प्रत्यक्ष चुनाव का समर्थन करता है। सर्वोदयी साहित्य में चुनाव पद्धति पर काफी

सामग्री मिलती है। दादा धर्माधिकारी तो व्यवसायिक प्रतिनिधित्व तक का समर्थन करने हैं। फिर भी समग्र सर्वोदयी सोच में असाधारण अव्यवहारिकता और चिंचेत असावधान बुद्धि विलास दिखता है। ऐसा लगता है कि कुछ अलग दिखने के लिए ही सोचा जा रहा है और सबका उद्देश्य केवल राजनैतिक दलों को अवांछित दिखाना ही है। पहली बात तो यह है कि इन योजनाओं में गाँव के लोग केवल ग्राम सभा में वोट दे पायेंगे। दूसरी बात यह है कि अप्रत्यक्ष चुनाव ने सबसे भयंकर भ्रष्टाचार को बढ़ाया है। तीसरी बात राजनैतिक दलों से सम्बन्धित है। विनोबा को तो कांग्रेस के निकट माना ही जाता था, कांग्रेस का विरोध करने और दलहीन जनतंत्र का प्रखर प्रचार करने वाले जयप्रकाश जी ने भी 1977 के ऐतिहासिक अवसर पर केन्द्रीय सरकार के लिए जनता पार्टी का गठन करवाया। उस समय से आज तक सर्वोदय कांग्रेस और गैर-कांग्रेस खेमों में बँटा है। आप सहमति और विकेन्द्रीकरण पर भी प्रश्न उठते हैं। (1) अगर सम्भव हो, तो भी क्या यह उचित है कि भारत को पाँच लाख गाँवों का गणराज्य बना दिया जाए? (2) सर्वोदय का संगठन स्वयं केन्द्रीकृत था। सर्व सेवा संघ, गाँधी स्मारक निधि, गाँधी शांति प्रतिष्ठान और भूदान समिति–सभी केन्द्रीकृत संगठन थे। विनोबा स्वयं प्रदेश स्तर के निवेदकों की नियुक्ति करते थे। (3) 1970 से और विशेष रूप से 1973 के गुजरात-बिहार आंदोलनों के समय से स्वयं सर्वोदय में कभी सर्वसहमति नहीं बन पायी। (4) सभी मानते हैं कि सर्वसहमति हो तो बहुत अच्छा हो, लेकिन अगर सर्वसहमति नहीं है, तो देश के महत्वपूर्ण निर्णय कैसे होंगे? बहुत निर्णय के अतिरिक्त हमारे पास और कौन सा विकल्प है?

15.6 सर्वोदय, समाजवाद और मार्क्सवाद

सर्वोदय ने मार्क्सवाद और समाजवाद का विरोध मूलतः नैतिक आधार पर किया। सर्वोदय यह तो मानता है कि अर्थव्यवस्था और समाज में क्रांतिकारी बदलाव होना चाहिए। हम शांति की बात को बदलाव रोकने का बहाना नहीं बना सकते। विनोबा के अनुसार "शांति की बात करने वाले वस्तुतः यथास्थितिवादी हैं। वे मानव समाज के बदलाव से डरते हैं। इसके विपरीत वे (मार्क्सवादी, समाजवादी) हैं जो क्रांति करने के लिए अहिंसा की सीमा तोड़ने के लिए तैयार हैं।....लेकिन हम क्या हैं? हम शांति के साथ क्रांति करना चाहते हैं।" सर्वोदय की मान्यता थी कि हिंसक परिवर्तन चूंकि विवशता में और बाहरी तौर पर होगा, इसलिए टिकाऊ नहीं हो सकता। इसीलिए विनोबा ने मार्क्सवाद की सभी सफलताओं को "इतिहास का भटकाव" माना। चूँकि मार्क्सवाद पूँजीवाद से हिंसक संघर्ष की बात करता है, इसलिए अधिक से अधिक यह हो सकता है कि दोनों हिंसा की आग में नष्ट हो जाएं। सर्वोदय को समाजवाद-मार्क्सवाद के नैतिक उद्देश्यों पर आपत्ति नहीं है। विनोबा का कहना था कि परम्परावादी, सर्वोदयी और मार्क्सवादी–तीनों आदर्शवादी ("सतयुगवादी") हैं। अंतर यह है कि परम्परावादी के लिए यह आदर्श समाज भूत में था, मार्क्सवादियों के लिए भविष्य में है, जबकि सर्वोदय "वर्तमान सतयुगवादी" है। सर्वोदय की आपत्ति यह भी थी कि मार्क्सवाद राज्य की समाप्ति का भरोसा तो देता है, लेकिन वह भविष्य के गर्भ में हैं। फिलहाल तो मार्क्सवादी व्यवस्था में लोगों को अधिनायकवाद के अधीन ही रहना होगा। मार्क्सवाद यह भी नहीं बताता कि इतना दमनात्मक राज्य आखिर कैसे समाप्त हो जाएगा। सर्वोदय के अनुसार मार्क्सवाद में अच्छाई यह है कि वह व्यक्ति की अन्तर्निहित अच्छाई को स्वीकार करता है, क्योंकि अगर व्यक्ति मूलतः अच्छा नहीं है तो राज्य की आवश्यकता हमेशा रहेगी। सर्वोदय मार्क्सवाद के अंतिम उद्देश्य से भी सहमत है कि आदर्श राज्य में "व्यक्तियों का नहीं, वस्तुओं का प्रशासन" होगा। व्यक्ति से उसकी क्षमता के अनुसार लिया जाएगा और प्रयास होगा कि उसको आवश्यकतानुसार दिया जाए। एक प्रकार से सर्वोदय मार्क्सवाद से अधिक व्यवहारिक है। विनोबा कहते हैं कि पाँचों उंगलियाँ बराबर नहीं होतीं,

लेकिन उनमें बहुत बड़ा अंतर भी नहीं होता।

विनोबा ने मार्क्सवाद को बहुत महत्व दिया। इसीलिए उन्होंने सर्वोदय को साम्यवाद की शैली में 'साम्य योग' का नाम दिया। जयप्रकाश नारायण को काफी समय तक मार्क्सवादी-समाजवादी रहे ही थे। उनके नेतृत्व ने सर्वोदय को मार्क्सवाद के महत्व से परिचित करवाया।

15.7 भूदान आंदोलन : आरम्भ और औचित्य

भूदान और ग्रामदान सर्वोदय के सबसे बड़े आंदोलन थे, जिन्होंने एक समय क्रांति का तूफानी तेवर पाया था। विनोबा ने इसे "भू-क्रान्ति" कहा था, जिसमें "करुणा के काम" पर जोर न होकर "करुणा के राज्य" पर जोर होगा। यह "प्रेम की लूट" थी। इसका परिणाम यह होता कि ज़मींदार, बड़े-छोटे किसान और भूमिहीन मजदूर–सभी वर्ग समाप्त होकर "भूमिपुत्र" के सर्वव्यापी वर्ग में समाहित हो जाते। इसे आंदोलन में सर्वोदय के दस हजार जीवनदानी कार्यकर्त्ता लगे रहे। 1954 में बोधगया में 600 कार्यकर्त्ताओं के साथ जेपी के शामिल हो जाने पर इस आंदोलन को और तेजी मिली। उसके पहले विनोबा बिहार में लगभग ढाई साल पदयात्रा कर चुके थे। स्थिति यहाँ तक पहुँची कि 1969 के राजगीर अधिवेशन में बिहार-दान तक की घोषणा हो गयी। कम से कम बिहार में इस आंदोलन के कारण जमीन के दाम गिरने लगे थे। विनोबा 1950 से 1970 तक तो बीस साल तक तपस्वी की तरह गाँवों की पदयात्रा करते रहे। उन्हें लगभग सभी पंद्रह भारतीय भाषाओं का काम चलाऊ ज्ञान था। हिंदी भाषी क्षेत्र में वे रामचरित मानस से और तमिलनाडु में वे तिरुवक्कम से दृष्टांत देते थे। उन्होंने ग्रामीण भारतीय समाज के मर्म को छुआ। उनके वक्तव्य, व्यक्तित्व और कृतित्व का जनता पर तलस्पर्शी प्रभाव पड़ता था।

भूदान का जन्म सर्वोदय के 1951 के शिवरामपल्ली (हैदराबाद) के तीसरे अधिवेशन के समापन के कुछ दिन बाद 18 अप्रैल को उसी तेलंगाना के पोचमपल्ली (नलगोंडा) गांव में हुआ। उस अधिवेशन के अंतिम दिन विनोबा ने अचानक ही तेलंगाना की पदयात्रा करने की घोषणा किया। इसी यात्रा के दौरान पोचमपल्ली गांव की एक सभा में एक भूमिहीन मजदूर ने उनसे कहा कि अगर उसको थोड़ी भी जमीन मिल जाए तो उसका जीवन सार्थक हो जाएगा। वहाँ उपस्थित रामचंद्र रेड्डी नाम के एक बड़े किसान ने उसी समय बाबा को सौ एकड़ जमीन देने का प्रस्ताव कर दिया। उस समय तेलंगाना में अराजकता थी। निजाम के रजाकारों के दमन के लिए सरकार ने 'पुलिस एक्शन' किया था, जिसका असर वहाँ के कम्युनिस्ट विद्रोह पर भी पड़ा। कभी वहाँ साम्यवादियों के साथ छोटे किसान और मजदूर शक्तिशाली हो जाते और कभी पुलिस की सहायता से बड़े और मंझोले किसान शक्तिशाली हो जाते। विनोबा को भारतीय गांवों की अच्छी समझ थी। उन्होंने इस परिप्रेक्ष्य में ही उस घटना के निहितार्थ को समझा। उस रात वे सो नहीं पाये। उन्हें इस बात का तनाव नहीं था कि दस हजार वर्गमील में फैले पूरे तेलंगाना के गांवों में आग लगी है। वे मानते थे कि व्यापक बदलाव की प्रक्रिया में ऐसा होता ही है। उन्हें लगता रहा कि कोई रास्ता निकल रहा है। उसी बेचैनी में उन्हें भगवान ने दर्शन दिए और कहा कि तुम भूमि मांगों और इस कर्म में संकोच, शर्म या संदेह को स्थान न दो। उन्हें इस दैवीय व्यवस्था पर विश्वास था समस्या के आस-पास ही समाधान होता है, दैवीय व्यवस्था अधूरी नहीं होती; वह शिशु को भूख देती है तो माँ में ममता भी भर देती है। उसी समय उन्होंने भूदान का संकल्प लिया।

भारत की भूमि समस्या पर विनोबा को बहुत कुछ अपनी ओर से सोचना पड़ा, क्योंकि इस प्रश्न पर गाँधी जी अधिक समय नहीं दे सके थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद 1949 में जमींदारी का उन्मूलन किया

उस समय कई जमींदारों ने किसान के रूप में जमीन का काफी हिस्सा बचा लिया था। उसके 1950 से प्रांतीय सरकारों ने विधायन के द्वारा हदबंदी और बटाईदारी की व्यवस्था बनायी, ने भूस्वामियों (पीजेंट-प्रोपराइटर) का वर्ग सशक्त हुआ। इसी वर्ग ने अधिक अन्न उपजाओं, ायिक विकास और हरित क्रांति जैसी सरकारी योजनाओं में सक्रिय भूमिका निभाई। भूमि सुधार आकर रुक गया। ग्रामीण ढाँचे में सबसे नीचे पड़ने वाले भूमिहीन श्रमिकों और सीमांत कृषकों की ली बनी रही। विनोबा का समाधान इस प्रकार था। भारत में लगभग 30 करोड़ कृषि योग्य भूमि र लगभग एक करोड़ भूमिहीन श्रमिक-सीमांत कृषक हैं। अगर भूस्वामी अपनी भूमि का छठवां दान कर दें तो वंचित वर्ग को पाँच एकड़ असिंचित (या एक एकड़ सिंचित) भूमि मिल जाएगी।

विनोबा ने भूदान-ग्रामदान की विस्तृत व्याख्याएँ की हैं, जिन्हें नौ खंडों में 'भूदान-गंगा' शीर्षक से ा देशपांडे ने संकलित किया है। हम इन अवधारणाओं की संक्षिप्त चर्चा करेंगे। बाबा का कहना ा भारतीय परम्परा में कृषि सर्वाधिक मौलिक काम है। 'जजमान' के रूप में किसान ही पूरी ण व्यवस्था का केन्द्र था। कृषि और कृषभ (बैल)–दोनों 'कृ' धातु से बने हैं–अंतर इतना है कि हल के पीछे है और दूसरा हल के आगे। अब विनोबा भूमि और दान को जोड़ते हैं। भारतीय रा में दान पुण्य-कर्म है और भूदान तो महानतम पुण्य का काम है। महाभारत में भीष्म युधिष्ठिर से ा हैं कि भूमि का दान सभी प्रकार के दानों में उत्कृष्टतम है। इसी ग्रन्थ में पृथ्वी भी यही कहती विनोबा कहते हैं कि भारतीय ग्रन्थों में दान की महिमा गायी गयी है। अपरिग्रह एक व्यवहारिक र्श है। संचय बीमारी का संकेत है, जैसे शरीर में खून एकट्ठा होकर सूजन पैदा करता है। वे ा हैं–लक्ष्मी पर अधिकार केवल विष्णु का है। भूमि पर तो सदैव ही लोकहित की मर्यादा रही है। न इसी मर्यादा की आधुनिक अभिव्यक्ति है। यह "प्रजासूय यज्ञ" है, जो हमारी परम्परा में प्रजा आने वाले अनिष्ट की आशंका को टालने के लिए किया जाता था। यह यज्ञ इसलिए किया जा है, क्योंकि भूमि के प्रश्न पर खूनी क्रांति दस्तक दे रही है।

न के लिए विनोबा का कहना था कि इसे भूस्वामी अपनी पांचवी या छठवीं संतान मानें। क्या कोई क्ति अपनी पाँचवीं या छठवीं संतान को अपने उत्तराधिकार से सिर्फ इसलिए वंचित कर देगा कि ा देने से सम्पत्ति कम हो जाएगी? उन्होंने अपने को आधुनिक वामन के रूप में भी प्रस्तुत ा। विनोबा दान को कृपालु कार्य नहीं मानते, जिससे दान लेने वाले को अपमान का अनुभव हो। राचार्य ने दान की व्याख्या कर्तव्य के रूप में की है। विनोबा के अनुसार..."भूमि पाने वाले किसी ावान व्यक्ति को अपमानित अनुभव नहीं करना चाहिए। वह वही वापस पा रहा है, जो औचित्य ाथ उसका था।" वेदों में दान न देकर संचय करने वाले को चोरों की श्रेणी में रखा गया और के लिए 'पणि' और 'वृत्र' जैसे निन्दात्मक शब्द प्रयुक्त किया है। भारत में दान के दो आधार हैं– वैदिक और महाभारत की व्याख्या जिसमें दाता के पास दान के बराबर की सेवा या धन या पुण्य स लौटता है और (2) गीता की व्याख्या (यद्यपि वह महाभारत का भाग है)–दान निष्काम कर्म है। सी की इच्छा से किया गया दान निम्न नैतिक स्तर का–'राजसिक'–है। विनोबा दान की अवधारणा ोनों व्याख्याओं को समन्वित करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि दान के पवित्र उद्देश्य के लिए वे ो–यहाँ तक कि विरोधी व्याख्याओं को स्वीकार कर लेते हैं। कई बार तो वे दान को सामाजिक य का पर्याय मानकर उग्र भाषा का भी प्रयोग करते हैं। वे लिखते हैं कि जीवन के लिए संचय र एक "अनिवार्य बुराई" है तो दान उस बुराई का प्रायश्चित है। सामान्यतः तो वे यही कहते हैं न तो दाता में दिखावेबाजी होनी चाहिए और न भूदान कार्यकर्ताओं को बाध्यकारी भाषा का प्रयोग ना चाहिए। लेकिन फिर वे भूस्वामियों को यह नैतिक चेतावनी देना उचित मानते हैं कि भूस्वामी ान को ठुकराकर हिंसक साम्यवादी क्रान्ति को ही बुला रहे हैं। उनका कहना है...."अगर यह

धमकी है, तो यह धमकी वेद ने दिया है....'निरुद्देश्य संचय करने वाला मूर्ख है।' इस प्रकार वह अपनी मृत्यु को आमंत्रित कर रहा है। दूसरों के सहभाग के बिना भोजन करने वाला वस्तुतः पाप का ही संचय कर रहा है।" विनोबा एक स्मृति के वाक्य को भी उद्धृत करते हैं...."चाहे विश्वास से या अविश्वास से, चाहे शर्म से, चाहे भय से, किसी भी कारण से दान अवश्य करना चाहिए।"

15.8 ग्रामदान, सामुदायिक विकास और पंचायती राज

ग्रामदान भूदान आंदोलन की तार्किक परिणति थी, जिसे विनोबा ने भूदान का पांचवा और अंतिम चरण तथा "भू-क्रांति" कहा था। उनके अनुसार ग्रामदान की अवधारणा प्रारम्भ से ही उनके मन में थी, लेकिन ग्रामदान की वैचारिक उग्रता के कारण उन्होंने उसे भूदान के बाद ही क्रियान्वित करने का निर्णय लिया था। जो भी हो, भूदान की तरह ग्रामदान भी नाटकीय, आकस्मिक और स्वतः स्फूर्त ही दिखता है। पहला ग्रामदान मई 1952 में हमीरपुर के मांगरोठ गांव में हुआ, लेकिन यह आंदोलन के रूप में 1955 में ही उड़ीसा के कोरापुट जनपद के केन्द्रित अभियान से ही स्पष्ट दिख सका। उस साल बाबा ने वहाँ आठ महीने पदयात्रा करके 812 गाँवों में यह प्रकल्प पूरा किया। इसके साथ ही ग्रामदान का विचार स्पष्ट हुआ। बाबा के अनुसार भूदान में कृपालुता और वैयक्तिकता थी, जबकि ग्रामदान में सहकारिता और सामूहिकता है। ग्रामदान में निजी सम्पत्ति का उन्मूलन भी था। ग्रामदान का लाभ पूरे समुदाय को मिलता। ग्रामदान का यही क्रान्तिकारी पक्ष था। मोटे तौर पर नियम यह था कि गाँव के 80% भू-स्वामी अपनी भूमि को ग्राम-सभा के नियंत्रण में दे दें, जो कि गाँव की पूरी भूमि का 50% से अधिक हो, तो उस गाँव को ग्रामदान मान लिया जाएगा। प्राप्ति, पुष्टि और निर्माण नाम से इसके तीन चरण थे। विनोबा ने कल्पना किया था कि गाँधी के जन्मशती वर्ष 1969 तक भारत के सभी गांव इस योजना में आ जाएंगे। विनोबा पूरे भारत में पदयात्रा करते रहे, लेकिन यह आंदोलन भूदान से भी पीछे रह गया। 1969 तक केवल दस हजार गाँवों को ही यह दर्जा मिल सका।

1963 से ग्रामदान की कमजोरियाँ दिखने लगीं। चीनी आक्रमण के कारण भी गतिरोध आ गया था। अंततः विनोबा ने सुलभ-ग्रामदान के विचार से ग्रामदान के मानक को ढीला कर दिया। अब भूस्वामियों को अभी भूमि का मात्र 05% ही वास्तविक रूप में ग्राम सभा को देना था। शेष भूमि पर सामुदायिक नियंत्रण की औपचारिक शर्त अवश्य थी और कुछ ऐसे ही कागजी प्राविधान भी बने रहे। विनोबा ने कहा कि उन्होंने होम्योपैथी पद्धति की तरह सुधार-प्रक्रिया को हल्का किया है ताकि वह प्रभावी हो सके। दूसरा उदाहरण उन्होंने हनुमान जी का दिया, जो सूक्ष्म रूप रखकर ही सुरसा के नथुनों से निकल पाये थे। इसके अलावा वे सुलभ ग्रामदान के द्वारा दान की व्यक्तिगत भावना को फिर से वापस लाना चाहते थे।

सर्वोदय आंदोलन हमारे सामने भू-दान और फिर ग्रामदान के रूप में आया। दोनों आंदोलनों को असफलता से बचने के लिए बीधा-कट्ठा और सुलभ ग्रामदान का रूप लेना पड़ा। इसके बाद भी वे असफलता से बच नहीं सके। इसके बावजूद हम इन आंदोलनों के औचित्य को अस्वीकार नहीं कर सकते। इन आंदोलनों ने स्वतंत्रता के आगे के दो दशकों तक गाँवों को राष्ट्रीय विमर्श का केन्द्र बनाए रखा। इन्होंने समस्या के समाधान की एक वैकल्पिक व्यवस्था प्रस्तुत की। इन कारणों से गांवों के विकास की सारी सम्भावनाएँ तलाशी गयीं और कुछ प्रगति हुयी। वास्तव में औपनिवैशिक शासन ने हमें ग्राम-विकास का कोई प्रतिमान या प्रारूप दिया ही नहीं था, इसलिए हम सर्वोदय की तरह ही प्रयोग करते हुए आगे बढ़ सकते थे। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि ग्राम विकास की सारी बड़ी योजनाएँ कहीं न कहीं सर्वोदय से प्रभावित थीं। 1957 में दक्षिण भारत के येलवल में आयोजित

ीय सम्मेलन में भारत के राष्ट्रीय नेतृत्व ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया कि सामुदायिक विकास जनाएँ सर्वोदयी आदर्श पर चलने का प्रयास करें। सामुदायिक विकास का उद्घाटन 2' अक्टूबर को हुआ था और 1956 में इसके लिए एक स्वतंत्र मंत्रालय बना दिया गया। विकास पर त्रिक नियंत्रण बनाने के लिए 1959 में पंचायती राज स्थापित किया गया। सर्वोदय ने इन थाओं से अपने को औपचारिक रूप से अलग ही रखा, लेकिन अनौपचारिक रूप से सरकार और य का सहकार बना रहा।

विकास की सरकारी योजनाओं पर सर्वोदय की कुछ बड़ी आपत्तियाँ थीं। एक बड़ी आपत्ति यह ं सरकारी योजनाएं दिल्ली से थोपी जाती थीं, जो गाँवों की आत्म-निर्भरता को बढ़ाने की जगह थीं। योजनाएँ शुद्ध आर्थिक आधार पर बनायी गयी थीं, जबकि सर्वोदय अर्थ पर नैतिक ग का समर्थक है। शुरुआती दशकों में योजनाओं में समाज के वंचित वर्गों के लिए विशेष था नहीं थी। योजनाओं में अनुत्पादक और वैभवपूर्ण कामों पर ज्यादा जोर था। सरकारी सोच के में जनता नहीं थी, जैसे वनों को जनता से दूर करके राजस्व का स्रोत माना गया या उर्वरक की को बढ़ाने का प्रयास किया गया, जबकि बहुत जगहों पर इससे खेतों को नुकसान पहुंच रहा र्वोदय पंचायती राज में दलों के प्रवेश के विरुद्ध था। सर्वोदय का विचार था कि इस वैचारिक के बाद भी जहाँ तक हो सके। इन योजनाओं में सहयोग किया जाना चाहिए।

.9 भूदान और ग्रामदान की समीक्षा

यी आंदोलनों के विवरण के बाद हम संक्षेप में इनकी समीक्षा करेंगे। इनमें से कुछ आलोचनाओं ष्टीकरण विनोबा जी ने दिया है। सबसे पहले हम इनकी चर्चा करेंगे। (1) भूदान-ग्रामदान ने पर जोर दिया, गुणवत्ता पर नहीं। इस पर विनोबा का कहना था कि अगर संख्या का महत्व न तो "नेपोलियन और वेलिंग्टन जैसे गुणी सेनापतियों को सेना की आवश्यकता क्यों पड़ती?" अगर इस आंदोलन में संख्या कम रहती, तो सीमित क्षेत्र में सघन काम करके एक आदर्श प्रारूप ा जा सकता था। पूरे देश को इस आदर्श प्रारूप से प्रेरणा मिलती। इस पर बाबा का कहना था कभी किसी आदर्श प्रारूप ने क्रांति नहीं किया है। आदर्श प्रारूप शिक्षा में उपयोगी हो सकते हैं जेक पुनर्रचना में नहीं।" (3) एक आलोचना यह थी कि कार्यकर्त्ता भूदान-ग्रामदान का काम पूरा के बाद पुनर्रचना का काम छोड़ देते थे, क्योंकि उनकी दिलचस्पी केवल लक्ष्य पूरा करने में है। ार विनोबा का कहना था कि भूदान-ग्रामदान मंगनी और विवाह है, जबकि "पुनर्रचना का काम ; के बाद के पारिवारिक जीवन जैसा है, जिसका कोई अंत नहीं है।" (4) भूदान में प्रायः बहुत और बंजर जमीन मिलने की शिकायत थी। छोटी-छोटी खेतियों पर विनोबा का कहना था कि य किस।ा ऐसे खेतों के अभ्यस्त हैं और छोटे खेतों के दान से भी दान का भाव बना रहता है। जमीन पर उनका कहना था कि वे हनुमान की तरह पूरा पर्वत उठा लाए हैं। फिर ऐसे खेत भी त पाता के भाग हैं"। (5) यह कहा जाता था कि ये आंदोलन साम्यवादी हिंसा की प्रतिक्रिया है। ा का उत्तर था...."सूरज की किरणें अंधकार की प्रतिक्रिया नहीं है। (6) विनोबा पर यह आरोप ा था कि वे बड़ा लक्ष्य रखते थे। विनोबा का कहना था कि (क) बड़े लक्ष्य से तात्कालिकता और रता का भाव जगता है, (ख) बीच में असफलताओं का आकलन करके सुधार और समायोजन ा होता है और (ग) भारतीय मानसिकता ऐसी है कि वह बड़े लक्ष्य को देखकर ही उत्साहित है। (7) विनोबा को इस आलोचना का भी सामना करना पड़ा कि वे योजनाओं को बीच में ही कर अगली योजना की घोषणा कर देते थे। उन्होंने 65से अधिक आंदोलनों की घोषणा किया, ं कुछ तो कागज में ही समाप्त हो गए। 1959 के अजमेर अधिवेशन में उन्होंने स्वीकार किया

कि ऐसी कई घोषणाओं को वे स्वयं भूल चुके हैं। इस पर जयप्रकाश ने उनसे अनुरोध किया कि वे आगे नयी योजनाओं की घोषणा न करें। विनोबा कहीं-न-कहीं मानते थे कि संगठन का काम भी हिंसा का भाग है, इसलिए सर्वोदय के आंदोलन असरदार तरीके से आगे नहीं बढ़ पाते थे। इन आरोपों के स्पष्टीकरण में उनका कहना था कि वे एक 'साइन पोस्ट' हैं, जो रास्ता बता सकते हैं, किसी को चलने के लिए विवश नहीं कर सकते, या एक बादल हैं, जो बारिश तो कर सकता है, लेकिन खेती का काम तो किसान को ही करना होगा। दार्शनिक अंदाज में वे कहते हैं–"मैं एक घुमक्कड़ फकीर हूँ, जो यह जानने के बाद भी इस दुनिया की सेवा कर रहा है कि यह दुनिया मिथ्या है।"

15.10 सर्वोदय के अन्य सरोकार–आचार्यकुल, खादी, शांति सेना, देवनागरी, स्त्री शक्ति, गौरक्षा

सर्व सेवा संघ के 1969 के राजगीर अधिवेशन में सर्वोदय की शिथिलता खुलकर दिखी। आंदोलन दो खेमों में बंट चुका था। 75 वर्ष के विनोबा इस बिखराव को रोक सकने में सफल नहीं रहे। वैसे तो सर्वोदय शुरू से ही आध्यात्मिक था, लेकिन इस बिखराव के बाद विनोबा-समर्थन खेमे ने विवादास्पद वैचारिक और सामाजिक मामलों से अपने को और अलग कर लिया। 1970 से विनोबा ने सूक्ष्म प्रवेश, अभिध्यान और निध्यासन जैसी आध्यात्मिक शब्दावली का प्रयोग करना शुरू कर दिया। 1969 के अधिवेशन में ही उन्होंने कहा था..."शब्दों की शक्ति की तुलना में मस्तिष्क और हृदय की शक्ति, समाधि और शून्य होने की शक्ति बहुत अधिक है।" उनका विश्वास था कि वे अहं को शून्य करके "पूरे विश्व को प्रभावित कर सकेंगे।"..."मैं इस प्रयोग से निष्क्रियता की अवस्था को पार कर अकर्म के द्वारा कर्म का परिणाम पाना चाहता हूँ।" उन्होंने क्षेत्र-संन्यास भी ले लिया। इसके बाद भी उन्होंने मुख्यतः सामाजिक सरोकारों को ही महत्व दिया। इनकी हम संक्षिप्त चर्चा करेंगे। उन्होंने अपनी प्राथमिकताओं में आचार्यकुल, देवनागरी, खादी, ब्रह्मविद्या, स्त्री शक्ति, गौरक्षा और शांति सेना को रखा। ये सभी कार्यक्रम सर्वोदय में शुरू से ही थे, जिन पर भूदान-ग्रामदान के दौर में भी काम होता रहा था। 1970 के बाद विनोबा-समर्थक सर्वोदय ने इन्हें पूर्णकालिक रूप से अपना लिया।

आचार्यकुल की स्थापना विक्रमशिला के प्राचीन विश्वविद्यालय के पास कहलोल गाँव में मार्च 1968 में हुयी थी। 1973 और 1980 में इसके दो बड़े अधिवेशन हुए। बीच में 1976 में आचार्यों का एक अधिवेशन और हुआ, जिसमें अप्रत्यक्ष रूप से भारत में लगे हुए आपात् काल से जुड़ी समस्याओं पर विचार हुआ। आचार्यकुल की अवधारणा पातंजलि के योग-सूत्र पर आधारित थी। सर्वोदय गाँधी जी की इस चिंता से सहमत था कि हमारे देश के शिक्षितों का हृदय अपेक्षाकृत अधिक "कठोर" है। इसका कारण यह है कि हमारी शिक्षा से संस्कार गायब हो गए हैं और वह तकनीकी कौशल तक सिमट गयी है। विनोबा के अनुसार "हमने अपनी शिक्षा में सभी सम्भव गलतियाँ की हैं, हम सभी गलत दिशाओं में गए हैं। उसका कोई आध्यात्मिक आयाम नहीं है।" विनोबा ने आचार्यकुल के मंच से इस दिशा में व्यापक विमर्श शुरू किया। बाद में आचार्य की परिधि में शिक्षकों के अतिरिक्त अन्य बौद्धिक वर्गों को भी शामिल किया गया। आचार्यकुल के सदस्य इतने अराजनैतिक थे कि वे चुनाव में मतदान भी नहीं कर सकते थे।

खादी के प्रश्न पर विचार करने के लिए पवनार आश्रम में जनवरी 1981 में एक सम्मेलन आयोजित हुआ। विनोबा ने कहा कि खादी को समग्र ग्रामोद्योग का केन्द्र बनना चाहिए। इसे सरकारी समर्थन के मोहपाश से निकलना चाहिए, क्योंकि खादी ग्रामोद्योग कमीशन के गठन के साथ ही खादी का पतन शुरु हुआ है। उन्होंने आयोग के काम को "मृत्यु के पहले का संस्कार" कहा। सर्वोदय के विचार से

ोजन पहली व्यक्तिगत आवश्यकता है, तो वस्त्र पहली सामाजिक आवश्यकता है, इसलिए विचार को उपेक्षित नहीं करना चाहिए। फिर खादी तो वैसे भी आत्मनिर्भर ग्रामीण गणराज्य की णा का आधार है। बाद में विनोबा ने 'लोक वस्त्र' के विचार को रखा, जिसमें बुनकरों को और पावरलूम का प्रयोग करने की छूट मिली। शर्त यह थी कि इन वस्त्रों का प्रयोग उसी गाँव । विनोबा का एक और पुराना विचार शांति सेना का था, जिसकी घोषणा उन्होंने जुलाई 1957 ोकोड (केरल) में किया था। विचार यह था कि समाज को ही स्थानीय स्तर पर शांति स्थापित वाहिए। पुलिस और सेना शांति के नाम पर दमन ही करती है, क्योंकि न तो उनमें अहिंसक होते हैं और न ही स्थानीय लोगों के लिए कोई लगाव होता है। शांति सेना के पुराने विचार ; सम्मेलन अक्टूबर 1981 में आयोजित हुआ, जिसमें 500 पूर्णकालिक कार्यकर्ताओं ने भाग अच्युत देशपांडे के नेतृत्व में इस शांति सेना ने बम्बई की देवनार वधशाला में दीर्घकालीन देया। परवर्ती चरण में विनोबा ने सर्वोदय को देवनागरी लिपि के काम से भी जोड़ा। विनोबा सभी भारतीय भाषाओं से परिचित थे। लगातार पदयात्राओं और प्रवास से उनका जन सम्पर्क धिक आत्मीय हो गया था। वे मानते थे कि सभी भारतीय भाषाओं में एक अन्तर्निहित अंतरंगता ोबा के प्रयास से ही रेडियो पर संस्कृत में समाचार शुरू हुए, जिसके मूलभाव को किसी भी भाषा का जानकार समझ सकता था। विनोबा का विचार था कि देवनागरी को सभी भारतीय ं की द्वितीय लिपि बना दिया जाए। निश्चित रूप से इससे राष्ट्रीय एकता में वृद्धि होती, क्योंकि री लिपि में हर भाषा काम चलाऊ तौर पर समझ में आ सकती है। उत्तर भारतीय लोग भारत के कोने में भी अपने को अजनबी नहीं पाएंगे। इसके अलावा देवनागरी लिपि विश्व की सर्वाधिक और वैज्ञानिक ध्वन्यात्मक लिपि है। विनोबा का कहना था कि उन्हें सारी भारतीय भाषाओं को में उतना समय नहीं लगा, जितना अकेले अंग्रेजी सीखने में लगा। यह देश का दुर्भाग्य है कि इस रोमन लिपि को महत्व दिया, जिसकी अवैज्ञानिकता से परेशान होकर जार्ज बर्नाड शॉ ने वसीयत में सम्पत्ति का बड़ा भाग रोमन लिपि के सुधार के लिए छोड़ा था। विनोबा ने फरवरी में पवनार में एक सम्मेलन आयोजित करके देवनागरी लिपि परिषद का गठन किया। इस ने देवनागरी के लिए काफी काम किया है।

976 से विनोबा ने गौरक्षा के मामले को गम्भीरता से उठाना शुरू किया। गौसेवा सर्वोदय का प्रकल्प था। गोसेवा संघ उन चार संगठनों में एक था, जिनके विलय से 1949 में सर्वसेवा की ा हुई थी। खिलाफत आंदोलन के औचित्य पर गाँधी जी ने सिर्फ यही कहा था कि इससे हिंदू कर सकेंगे। इस तरह 1976 में सर्वोदय ने गौसेवा के बिखरे तारों को जोड़ कर एक आंदोलन करने का प्रयास किया। इस मामले पर विनोबा ने गाँधी से आगे जाकर गौहत्या रोकने के लिए न संशोधन का समर्थन किया और आमरण अनशन के अंतिम अस्त्र का प्रयोग भी किया। केवल इसी मांग पर उन्होंने आपात्काल में सरकार से टकराव मोल लिया। इसी प्रश्न पर पत्रिका 'मैत्री' की प्रतियां जब्त की गयीं। गोवंश रक्षा का औचित्य यह है कि वह हमारी तिक थाती है, संविधान का एक नीति निर्देशक सिद्धांत है और जैविक खेती का केंद्र है। सतीश ता ने 1945 में 'काउ इन इंडिया' में वैज्ञानिक विधि से सिद्ध किया था कि बैल ट्रैक्टर से ; उपयोगी है। गोवंश का पूरा शरीर ही ग्रामीण जीवन को धार्मिक सांस्कृतिक और आर्थिक देता है। सर्वोदय के इस आंदोलन से पूरे देश में गम्भीर बहस चली। विनोबा इस मामले में नागालैंड को छूट देने के लिए तैयार थे, जबकि वास्तव में इसमें सबसे बड़ी बाधा केरल और न बंगाल से जा रही थी। दो वर्ष के प्रयास के बाद भी इन दो प्रदेशों को गौरक्षा के लिए राजी किया जा सका। अंततः विनोबा ने अप्रैल 1979 को आमरण अनशन आरम्भ किया, जिसे पाँच

दिन बाद मोरारजी देसाई के आश्वासन पर उन्होंने तोड़ दिया। इसी के बाद जनता पार्टी की सरकार गिर गयी, जिससे संविधान संशोधन का आश्वासन अधूरा रह गया।

अब हम सर्वोदय की यात्रा के अंतिम पड़ाव के तौर पर स्त्री-शक्ति की चर्चा करेंगे। विनोबा ने 1967 में अपने विचार के विस्तार के लिए चार महिलाओं को 1967 में इंदौर से 12 वर्ष की पदयात्रा पर भेजा था। उनके पवनार आश्रम में 1973 और 1974 में स्त्री शक्ति के दो सम्मेलन आयोजित हुए। फिर 1979 में पवनार में ही विश्व महिला सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें पश्चिम के महिला मुक्ति आंदोलन का एक नैतिक विकल्प प्रस्तुत किया गया। हम इसकी संक्षिप्त समीक्षा करेंगे। सर्वोदय का विचार है कि स्त्री के तत्व यानी प्रकृति को हिंदू संस्कृति में सृष्टि और रचना का प्रतीक माना गया है। लोक परम्परा में भी मातृ शक्ति को सभी प्राकृतिक प्रकोपों का रक्षक माना गया है। विनोबा के अनुसार हमारी स्मृतियों ने हमारी संस्कृति पर पुरुष प्रधान मूल्य थोप दिए। स्त्री की हीनता लैंगिक नहीं, सांस्कृतिक और पारम्परिक है। इस तरह यह हमारे सामाजिक मूल्यों पर निर्भर है कि हम स्त्री को पुरुष के समान भूमिकाएँ देते हैं या नहीं। सर्वोदय का मानना है कि यौन सम्बन्ध उसी सीमा तक आवश्यक और वांछनीय है, जिस सीमा तक वह प्रजनन के प्रयोजन से प्रेरित है। इसी अर्थ में हमारी परम्परा में ज्येष्ठ पुत्र को ही धर्मज और शेष को कामज माना गया है। सर्वोदय ने स्त्री पुरुष के अलैंगिक "सहजीवन" का विचार दिया, जिसे कई सर्वोदयी कार्यकर्त्ताओं ने जीवन में भी उतारा। ब्रह्मचर्य को जनसंख्या-नियंत्रण के नैतिक उपाय के तौर पर भी प्रस्तुत किया गया। विनोबा का कहना था कि पृथ्वी पर जनसंख्या का नहीं, बल्कि पाप का भार है। ब्रह्मचर्य इस "पाप" को समाप्त करता है। विनोबा के अनुसार हमको शाकाहारी भोजन करना चाहिए, क्योंकि इसमें पृथ्वी की कम ऊर्जा का उपयोग होता है और इससे सात्विक संस्कार आते हैं। इसके अतिरिक्त भूखे पेट नहीं रहना चाहिए, क्योंकि फिर मानव मन भूख से उत्पन्न कष्ट के निवारण के लिए यौन क्रिया करना चाहता है। विनोबा इस मामले में कुछ ऐसी बातें कहते हैं, जिनका वैज्ञानिक आधार अस्पष्ट है। उन्होंने महिलाओं को ब्रह्मचारी बनकर समाज सुधार के काम में लगने को कहा। उन्होंने जैन और कैथोलिक भिक्षुणियों का उदाहरण दिया। इन उदाहरणों से यह तो स्पष्ट है कि महिलाएँ धार्मिक तंत्र में सक्रिय रही हैं, लेकिन शुद्ध सामाजिक सरोकारों के लिए पूर्णकालिक और भ्रमणशील महिलाओं का प्रमाण इतिहास में नहीं मिलता। सर्वोदय का यह तर्क भी विवादास्पद है कि यौन सम्बन्ध कम करने से जनसंख्या नियंत्रण होगा। यौन सम्बन्धों को केवल प्रजनन तक सीमित कर देना भी उचित प्रतीत नहीं होता। अगर सर्वोदय इस प्रतिबंध को अपने कार्यकर्त्ताओं तक सीमित कर देता तो इसे अवश्य व्यवहारिक और वांछनीय माना जा सकता था।

15.11 सारांश

स्वतंत्र भारत के इतिहास में सर्वोदय का अपना अलग स्थान बना रहेगा। अगर केवल भौतिक लक्ष्य की दृष्टि से देखें तो इसका कोई भी आंदोलन अंशतः भी सकल नहीं हो सका। दो दशकों बाद सर्वोदय में बिखराव भी दिखने लगा। दलहीनता का पक्षधर सर्वोदय स्वयं राजनैतिक दलों के दलदल में फँस कर टूट गया। इसके बाद भी सर्वोदय की उपलब्धियाँ कम नहीं हैं। उसने स्वतंत्र भारत में गाँधीवाद को प्रासंगिक बनाया। सर्वोदय ने स्वैच्छिक संगठनों के विचार और व्यवहार का एक प्रतिमान बनाया। यहाँ तक कि बाद के सामाजिक प्रश्नों जैसे पर्यावरण, अनौपचारिक शिक्षा, भ्रूण-हत्या आदि पर भी सर्वोदय का काम प्रशंसनीय है। मारिस जोत्स के शब्दों में सर्वोदय ने भारतीय राजनीति का "तीसरा मुहावरा" बनाया, जिसे उन्होंने "साधुई राजनीति" का नाम दिया। उनके अनुसार भारतीय परम्परा में उच्च नैतिक आदर्शों का एक अलग स्थान है, जो राजनैतिक व्यवहार की व्याख्या नहीं

बल्कि उसकी समीक्षा करता है और बहुत अच्छे काम की सराहना करने में भी एक सीमा का करता है। सर्वोदय को हम केवल सर्वोदय के मानदंड से असफल मान सकते हैं, सामान्य तेक मानदंड से तो सर्वोदय की समीक्षा का प्रयास करना भी अनुचित होगा।

12 उपयोगी पुस्तकें

विनोबा भावे–स्वराज शास्त्र : प्रिंसिपल्स ऑफ नान-वायलेंट पोलिटिकल आर्डर (बी कुमारप्पा द्वारा अनुवादित), पद्मा प्रकाशन, बम्बई

विनोबा भावे–थर्ड पावर (स्पीकेस और आचारलू द्वारा अनुवादित), सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी

विनोबा भावे–भूदान मिशन : लैंड गिफ्ट मिशन, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद

13 सम्बन्धित प्रश्न

उत्तरीय प्रश्न

सर्वोदय की आधारभूत अवधारणाओं पर प्रकाश डालिए।

सर्वोदय के अनुसार विकेंद्रीकरण, दल निरपेक्षता, सर्वसहमति और अ-प्रत्यक्ष चुनाव के माध्यम से राजनीति को किस प्रकार लोकनीति में बदला जा सकता है?

ग्रामीण गणराज्य की सर्वोदयी कल्पना का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

भूदान और ग्रामदान आंदोलनों के सभी चरणों का विवरण दीजिए।

उत्तरीय प्रश्न

साम्यवाद, समाजवाद और (सर्वोदयी) साम्ययोग के बीच समानता और असमानता के बिंदुओं की व्याख्या कीजिए।

जनांदोलन के प्रश्न पर सर्वोदय में हुयी टूट का विवरण दीजिए।

'सर्वोदय स्वराज्य से रामराज्य की यात्रा है।'' स्पष्ट कीजिए।

सर्वोदय ने स्वतंत्र भारत में किस प्रकार गाँधीवाद की पुनर्व्याख्या किया?

निष्ठ प्रश्न

भूदान का जन्म अप्रैल 1951 में

(क) अहमदाबाद के साबरमती आश्रम में हुआ

(ख) विनोबा के परमधाम (पवनार) आश्रम में हुआ

(ग) नलगोंडा के पोचमपल्ली गांव में हुआ

(घ) वर्धा के सेवाग्राम में हुआ

1957 के येलवल के सर्वदलीय सम्मेलन में निश्चित हुआ कि

(क) ग्रामदान सामुदायिक विकास का आधार होगा

(ख) पंचायती राज में सभी दल भाग नहीं लेंगे

(ग) पंचायती राज में सभी दल भाग लेंगे

(घ) ग्रामदान को जिला दान और फिर प्रदेश दान तक पहुँचाया जाए

3. पंचायती राज सामुदायिक विकास के

(क) पहले आया

(ख) बाद में आया

(ग) साथ आया

(घ) दोनों के प्रारम्भ की कोई विधि नहीं है

4. सर्वोदय के अनुसार स्त्री की हीनता

(क) लैंगिक नहीं, सांस्कृतिक और पारम्परिक है।

(ख) लैंगिक और सांस्कृतिक-पारम्परिक है।

(ग) लैंगिकता, संस्कृति और परम्परा से परे है।

(घ) मूलतः राजनैतिक है

15.14 प्रश्नोत्तर

1. (ग)
2. (क)
3. (ख)
4. (क)

ाई–16 : जवाहर लाल नेहरू

ाई की रूपरेखा

0 उद्देश्य

1 प्रस्तावना

2 जीवन वृत्त, व्यक्तित्व और कृतित्व

3 राष्ट्रवाद और उसका व्यापक परिप्रेक्ष्य

4 नेहरू और गांधी : सहमति और असहमति के बिंदु

5 नेहरू और जनतांत्रिक समाजवाद

6 मार्क्सवाद का विश्लेषण

7 जनतंत्र के प्रति निष्ठा

8 धर्म, धर्म-निरपेक्षता और साम्प्रदायिकता

9 सारांश

10 उपयोगी पुस्तकें

11 सम्बन्धित प्रश्न

12 प्रश्नोत्तर

5.0 उद्देश्य

ुनिक भारत के निर्माण में जवाहर लाल नेहरू की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। स्वतंत्रता की संध्या से अपनी मृत्यु तक लगभग 17 वर्ष वे देश के प्रधानमंत्री रहे। इस अध्याय के अध्ययन से ा जान सकेंगे कि–

स्वतंत्र भारत के प्रारम्भिक वर्षों का वैचारिक परिदृश्य कैसा था?

समाजवाद, धर्म-निरपेक्षता और गुट-निरपेक्षता जैसे प्रभावी वैश्विक विचार किस प्रकार आधुनिक भारतीय अस्मिता के आधारभूत अंग बने, और

उपरोक्त प्रभावी विचार आज कितने प्रासंगिक हैं।

5.1 प्रस्तावना

हर लाल नेहरू स्वतन्त्रता-संघर्ष और स्वतंत्र भारत दोनों के बीच सबसे सशक्त कड़ी हैं। स्वतंत्रता-त के प्रारम्भिक वर्षों में ही महात्मा गांधी और सरदार पटेल नहीं रहे। इस प्रकार स्वतंत्रता-आंदोलन उच्च आदर्शों को स्वतंत्र भारत में क्रियान्वित करने की चुनौती उनके सामने थी। कांग्रेस अब मेंट' की नहीं, 'गवर्नमेंट' की पार्टी थी। ध्यान देने वाली बात है कि लगभग तीस-चालिस अफ्रो-ायाई देशों की यही स्थिति थी। इनमें भारत अपवाद ही रहा, जहाँ राजनैतिक स्थायित्व और जनतंत्र

बना रहा। स्वयं कांग्रेस के कई नेता वयस्क मताधिकार से भयभीत थे। ये आशंकाएं असत्य सिद्ध हुयीं। स्वतंत्र भारत में स्थिरता, समरसता, शांति और जनतांत्रिक व्यवस्था बनी रही। इस गौवरपूर्ण उपलब्धि का बड़ा श्रेय नेहरू को मिलना ही चाहिये।

स्वतंत्र भारत में नेहरू जीवनं-पर्यन्त शीर्ष नेता रहे। तत्कालीन कांग्रेस उनकी मृत्यु के दो दशक बाद तक दिल्ली से पंचायतों तक सत्तारूढ़ रही। इसके बाद भी इतने लम्बे दौर में जनतांत्रिक मर्यादाओं का पालन किया गया। नेहरू के नेतृत्व में स्थापित व्यवस्था में विरोधियों, अल्पसंख्यकों, उपेक्षित वर्गों और और क्षेत्रों की सहभागिता सुनिश्चित हुयी। राजनैतिक व्यवस्था में इन वर्गों की सहभागिता तो थी ही, नेहरू ने कई बार तो इनको कांग्रेस में ही समायोजित करने का प्रयास किया। डा0 लोहिया तो इसी बात पर क्षुब्ध थे कि प्रचण्ड बहुमत के बाद भी नेहरू विरोधी समाजवादियों को कांग्रेस में लाना चाहते हैं। इसके बाद भी जो कांग्रेस के भीतर नहीं आना चाहते थे, वैसे जान स्थाई, डॉ0 अम्बेडकर और श्यामा प्रसाद मुखर्जी को उन्होंने लगभग मान-मनुहार करके अपने मंत्रिमंडल में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। इतनी उदार व्यवस्था तो पश्चिम के विकसित जनतंत्रों में भी नहीं दिखती। भिन्नता में एकता एक भारतीय प्रवृत्ति है और नेहरू ने इसे तत्कालीन कांग्रेस का नीति-निर्देशक नियम बना दिया। सन् 1947 के पहले 'आंदोलन' वाली कांग्रेस का यही चरित्र था। सत्ता के सम्मोहन के बाद भी नेहरू ने 'शासन' वाली कांग्रेस का यही स्वरूप बनाये रखा।

16.2 जीवन वृत्त, व्यक्तित्व और कृतित्व

जवाहर लाल नेहरू की वैभवपूर्ण पारिवारिक पृष्ठभूमि आज भी भारतवासियों के बीच किम्वदन्तियों की तरह चर्चित होती है। वैभव का स्तर यह था कि मोतीलाल जी ने अपने एकमात्र पुत्र कि शिक्षा के लिए ब्रिटिश और आयरिश शिक्षकों को पूर्णकालिक रूप से रखा था। इनमें से एक आयरिश फर्डिनांड टी0 ब्रुक्स थे, जिनके थियोसोफिस्ट विचारों ने जवाहर लाल के बाल मन को प्रभावित किया। वैसे स्वयं एनी बीसेंट के ज़वाहरलाल को इस सम्प्रदाय में दीक्षित किया था। इस तरह जवाहर लाल को भारतीय धार्मिक परम्परा का पहला ज्ञान भी विदेशी माध्यम से ही हुआ। कुल मिलाकर उनका बचपन एडवर्डियन ब्रिटिश माहौल में ही बीता। 12 वर्ष तक उन्हें विद्यालय नहीं भेजा गया और उसके बाद उनको स्थानीय बच्चों से घुलने-मिलने का थोड़ा समय मिला ही था कि उन्हें इंग्लैंड के हैरो स्कूल भेज दिया गया।

ध्यान देने की बात है कि स्वयं मोतीलाल जी पाश्चात्य सभ्यता में ढले थे। वे धार्मिक मामलों में संशयवादी थे। सहज रूप से जवाहर लाल पर इन सबका गहरा प्रभाव पड़ा।

पिता का आग्रह कुछ अधिक इसलिये भी था, क्योंकि जवाहरलाल एकलौते बेटे थे और विजयलक्ष्मी उनसे ग्यारह साल छोटी थीं। हैरो के बाद वे कैम्ब्रिज के ट्रिनिट्री कालेज में स्नातक डिग्री के लिये गये वहाँ उन्होंने विज्ञान के विषयों का अध्ययन किया। वैसे उस समय भी उनकी दिलचस्पी सामाजिक विषयों में थी। वे प्रख्यात अर्थशास्त्री जे0 एस0 कीन्स और विचारक बर्टेण्ड रसेल के व्याख्यानों को विशेष रूप से सुनते थे। अंत में उन्होंने इनर टेम्पिल से बैरिस्टरी की डिग्री प्राप्त किया। इंग्लैण्ड में सात वर्ष बिताकर वे 1912 में भारत आये। मोतीलाल जी ने उन्हें अपने साथ-रखकर वकालत में लगाने की कोशिश किया, लेकिन उसमें जवाहरलाल जी का मन नहीं लगा।

इंग्लैंड में बिताये गये तरुणाई के दिनों में जवाहर लाल ने ऐसी कोई विशेष सामाजिक सक्रियता नहीं दिखाई थी, जिससे उनके भावी जीवन का अनुमान लग सकता। वे उस समय के ब्रिटेन की प्रभावी विचारधारा–फेबियन समाजवाद से प्रभावित अवश्य थे। यह विचारधारा मध्यमार्गी समाजवाद को मानती

थी, जिसको लाने के लिए मिथकीय चरित्र–फेबियस कंकेटर वाले धीरज की आवश्यकता थी। वहाँ वेब्स दम्पति इस विचारधारा को बढ़ा रहे थे। यह विचारधारा युवाओं में विशेष रूप से लोकप्रिय थी और युवा जवाहरलाल भी शुरूआती दौर में एक सामान्य युवक की तरह ही इससे प्रभावित दिखते थे। शुरू में मोतीलाल जी भी यह समझ नहीं पाये कि जवाहरलाल वकालत का व्यवस्थित और वैभवपूर्ण जीवन छोड़कर सार्वजनिक गतिविधियों में इतना अधिक सक्रिय हो जायेंगे। यह भी नहीं लगता था कि यह युवा जल्दी ही भारत जैसे विशाल देश में समाजवाद का प्रखरतम प्रतिपादक बन जायेगा।

जवाहरलाल का सार्वजनिक जीवन इलाहाबाद से शुरू हुआ। 1916 में लखनऊ अधिवेशन के दौरान गांधी से मुलाकात के साथ उनकी सक्रियता को स्पष्ट दिशा भी मिल गयी। स्वाभाविक रूप से उनकी सक्रियता का पहला प्रदर्शन रौलट एक्ट के विरुद्ध होता, लेकिन गांधी जी ने उन्हें पड़ोस के प्रतापगढ़ के किसानों के पास काम करने के लिए भेज दिया। नेहरू को ग्रामीण भारत का ग्रामाणिक ज्ञान पहली बार वहीं हुआ। 1921 में नेहरू असहयोग आंदोलन में जेल गये। 1923 में वे नाभा रियासत की सिख जनता के आंदोलन में शामिल हुये। 1926 में वे यूरोप गये। वहाँ वे ब्रुसेल्स के साम्राज्यवाद-विरोधी सम्मेलन में शामिल हुये उन्होंने सोवियत संघ की यात्रा भी किया। समाजवाद से तो वे अच्छी तरह परिचित थे, लेकिन मार्क्सवाद का गम्भीर अध्ययन उन्होंने सोवियत संघ की यात्रा के बाद ही किया।

नेहरू उस समय तक युवा कांग्रेसियों के प्रमुख नेता बन चुके थे। यह वर्ग उस समय समाजवाद और पूर्ण स्वतंत्रता के समर्थन में सक्रिय था, जबकि दल का वरिष्ठ नेतृत्व प्रायः औपनिवैशिक स्वराज्य (डामिनियन स्टेटस) से संतुष्ट दिखता था। कांग्रेस की जनतांत्रिक परम्परा इतनी प्रबल थी कि बीच-बीच में वरिष्ठ नेतृत्व नेहरू और सुभाष के हाथों पार्टी की कमान सौंप देता था। पहली बार नेहरू इस क्रम में 1929 में और फिर दूसरे चक्र में 1936 और 1937 में कांग्रेस के सभापति बने। नेहरू 1946 में भी पार्टी के अध्यक्ष (या सभापति) बने। उस समय अध्यक्ष बनने का अर्थ यह था कि स्वतंत्र भारत के शासन की बागडोर पार्टी उनके हाथों ही सौंपेगी। इस प्रकार नेहरू स्वतंत्रता आंदोलन में वैसे तो चार बार दल के प्रमुख बने, लेकिन उनके पहले कार्यकाल का प्रारम्भ बहुत एतिहासिक रहा। 31 दिसम्बर 1929 को लाहौर के रावी नदी के तट पर पूर्ण स्वराज का प्रस्ताव पारित हुआ।

1934 में नेहरू ने कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन में संविधान सभा गठित करने का प्रस्ताव रखा। इसका आशय यह था कि भारत की स्वाधीनता और भावी भारत की वैधानिक व्यवस्था में जनता की सीधी सहभागिता होगी। 1937 के प्रांतीय चुनावों में नेहरू ने संसदीय चुनावी राजनीति का नेतृत्व किया। इन चुनावों में छह प्रांतों में कांग्रेस की सरकार बनी। नेहरू का यह अनुभव अधूरा ही रहा, क्योंकि थोड़े समय बाद फिर से आंदोलन का अगला चरण शुरू हुआ। वे 1940 के व्यक्तिगत सत्याग्रह में शामिल हुये। अंतिम बड़ा आंदोलन 1942 में हुआ, जिसके प्रारम्भ में ही उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। वे तीन वर्ष अहमदनगर जेल में रहे। राजनीति का यह अजीब सा रोमांच है कि नेहरू को एकमुश्त तीन वर्षों तक जेल में रखने वाले ब्रिटिश शासकों ने एक वर्ष बाद उन्हें अंतरिम शासन का प्रमुख बनने का न्यौता दिया। जैसा कि सर्वविदित है, उसके बाद वे 27 मई 1964 तक अर्थात् जीवन पर्यंत उसी पद पर रहे। किसी की जनतांत्रिक व्यवस्था में यह अतिजीविता आश्चर्यजनक है।

नेहरू की आत्मकथा 1936 में प्रकाशित हुयी। बौद्धिक पुस्तकों में 'विश्व इतिहास की झलक' (1934) और 'भारत की खोज' (1947) का अधिक महत्त्व है। जैसा कि शीर्षकों से ही स्पष्ट है, इन पुस्तकों में क्रमशः विश्व और भारतीय इतिहास का सिंहावलोकन है। दोनों पुस्तको पर मार्क्सवाद के एतिहासिक भौतिकवादी उपागम का प्रभाव अधिक है। इस कारण उन्हें इतिहास में एक व्यवस्था

अवश्य मिली, जिससे हमको भी विकास के सूत्र समझने में सुविधा हुयी। स्पष्टतः ये सूत्र आर्थिक हैं और काफी सीमा तक यान्त्रिक तथा नियतिवादी हैं। यह भी एक विडम्बना है कि आधुनिक भारत के सर्वोच्च नेता को भारत की 'खोज' करना पड़ा।

16.3 राष्ट्रवाद और उसका व्यापक परिप्रेक्ष्य

जवाहरलाल नेहरू ने अपने प्रखर व्यक्तित्व से स्वतंत्रता आन्दोलन को सबल बनाया था। कांग्रेस के वरिष्ठ नेता 'पूर्ण स्वराज' के स्थान पर औपनिवेशिक स्वशासन की मांग को अधिक व्यवहारिक मानते थे। इसी मनोवृत्ति के कारण हसरत मोहानी 1921 की अहमदाबाद कांग्रेस में असफल रहे और फिर 1924 में भी गांधी जी के विरोध के कारण फिर पूर्ण स्वराज का प्रस्ताव असफल रहा। अंततः 1927 में कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन में नेहरू को पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव पारित करवाने में सफलता मिली। नेहरू को मालूम था कि वरिष्ठ कांग्रेसी अभी भी कांग्रेस को उस सीमा तक जाने से रोकेंगे। यह माँग इसी कारण से कांग्रेस के संविधान में सम्मिलित नहीं की गयी। कांग्रेस को पूर्ण स्वराज की माँग की ओर सक्रिय करने के लिये उन्होंने दबाव-समूह जैसे दो संगठन बनाये। नेहरू अंततः 1929 में सफल हुये, जब लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस ने उनकी अध्यक्षता में पूर्ण स्वराज का प्रस्ताव हार्दिक रूप से स्वीकर कर लिया।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्वतंत्रता-आंदोलन में नेहरू ने प्रखर राष्ट्रवादी वर्ग का नेतृत्व किया था। यह उग्रता उनके उदारवादी व्यक्तित्व के प्रतिकूल दिखती है। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है- "निजी रूप से मेरी मानसिकता पर इंग्लैंड का इतना अधिक प्रभाव रहा है कि मैं उसे बाहरी नहीं मान सकता। मैं चाहे जितना भी प्रयास क्यों न करूँ, मैं उन मनोभावों और मानदंडों से अपने को मुक्त नहीं कर सकता, जो मैं इंग्लैंड के स्कूलों और कालेजों में हासिल किया था और जिनके सहारे मैं अन्य देशों तथा सामान्यतः पूरे जीवन को जाँचता-परखता हूँ"।

ऊपरी तौर पर यह आश्चर्यजनक लग सकता है कि अंग्रेजी और अंग्रेजियत से प्रभावित पारिवारिक पृष्ठभूमि और प्रारम्भिक संस्कारों के बावजूद नेहरू भारतीय राष्ट्रवाद को आत्मसात कर सके। इसका एक कारण तो यह था कि वे ब्रिटिश साम्राज्य के नस्लवादी और शोषक चरित्र से परिचित हो चुके थे। उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा किये जा रहे आर्थिक शोषण का विश्लेषण किया, जो बहुत कुछ दादा भाई नौरोजी के 'ड्रेन' सिद्धान्त और मार्क्सवादियों की व्याख्या के निकट है। नेहरू अपने विश्लेषण में आर्थिक राष्ट्रवाद के प्रखर प्रवक्ता प्रतीत होते हैं। उन्होंने आँकड़ों के माध्यम से सिद्ध किया है कि ब्रिटिश शासन ने भारक के कुटीर और मझोले उद्योगों को नष्ट करके औद्योगीकरण की सम्भावनाओं को समाप्त कर दिया और इस तरह बेरोजगार हुये बहुत बड़े वर्ग को अनुत्पादक खेती की ओर ढकेल दिया। ब्रिटिश साम्राज्य ने यह कार्य योजनाबद्ध ढंग से किया, जिसका उद्देश्य ब्रिटिश उद्योगों को सस्ते कच्चे माल की आपूर्ति और उत्पादों की बिक्री के लिए बंधुआ औपनिवैशिक बाजार सुनिश्चि करवाना था।

नेहरू की दृष्टि में ब्रिटिश शोषण भारतीय राष्ट्रवाद का नकारात्मक आधार था। राष्ट्रवाद इस नकारात्मकता से आगे बढ़कर एक आत्मीय अवधारणा और मार्मिक मनोभाव भी है। यह सच है कि उन्होंने राष्ट्रवाद की तिलक, बंकिम और अरविंद वाली धार्मिक-सांस्कृतिक व्याख्या को नहीं अपनाया, जिसमें राष्ट्र "ईश्वर प्रदत्त धर्म" का स्थान पा जाता है। नेहरू का राष्ट्रवाद नौरोजी-फिरोजशाह मेहता द्वारा समर्थित आर्थिक-लौकिक रंग लिये हैं। इसके बावजूद नेहरू का राष्ट्रवाद वैसा रूखा भी नहीं है। वे संस्कृति को धार्मिक श्रेणी न मानकर "एक राष्ट्रीय श्रेणी" मानते हैं। इस तरह वे सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

को स्वीकार करते हैं। राष्ट्रवाद मूलतः एक मनोभाव है, इसलिये "जब कभी संकट आया है, उसके साथ ही राष्ट्रवादी भावना का उत्थान हुआ है और लोगों ने अपनी परम्पराओं से शक्ति और सान्त्वना पाने का प्रयास किया"। उनके अनुसार, "राष्ट्रवाद मूलतः अतीत की उपलब्धियों, परम्पराओं और अनुभवों की सामूहिक स्मृति है"। नेहरू राष्ट्रवाद की भावनात्मक अपील को अनदेखा नहीं करते लेकिन इस भावना के उग्र, आक्रामक और अमर्यादित हो जाने के खतरे से भी अपरिचित नहीं है। इसलिये वे सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को स्वीकार करके सीमित भी करते हैं, जिस प्रयास में वे रवीन्द्रनाथ टैगोर और बहुत कुछ गांधी जी तथा डा0 राधाकृष्णन के समीप आ जाते हैं। उन्होंने कुछ ऐसा प्रयास भी किया कि प्राचीन भारत के सांस्कृतिक प्रतिमानों-प्रतीकों के तौर पर बौद्ध परम्परा को अधिक महत्त्व दिया जाए।

नेहरू ने राष्ट्रवाद को अत्यंत व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा है। वे राष्ट्रवाद को एक ओर अंतर्राष्ट्रीयतावाद और साम्राज्यवाद-विरोध से तथा दूसरी ओर समाजवाद तथा जनतंत्र से जोड़ देते हैं। वे लिखते हैं– "राष्ट्रवादी आंदोलन को दृढ़तापूर्वक पूंजीवाद-विरोधी, सामंत-वाद-विरोधी, बोर्जुआ-विरोधी.....और निश्चिततः साम्राज्यवाद-विरोधी होना होगा"। एक स्थान पर वे लिखते हैं–"अब देशभक्ति अपने आप में पर्याप्त नहीं है; हम उससे कुछ उच्चतर, बृहत्तर और महत्तर भावना चाहते हैं।" एक अन्य स्थान पर इनका विचार है–"शिक्षा, विज्ञान, संस्कृति और अन्य सभी मामलों में मुझे सबसे ज्यादा अरुचि उस संकीर्ण राष्ट्रवादी नजरिये से है, जो हमको बताती है कि हम मनीषा के शिखर पर पहुँच चुके हैं और अब हमें कुछ भी सीखने की आवश्यकता नहीं है।"। राष्ट्रवाद को समाजवाद और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद जैसे विचारों से जोड़ने की प्रवृत्ति कई बार नेहरू में इतनी प्रबल दिखती है, जैसे उनके लिये राष्ट्रवाद का अपने आप में कोई महत्त्व नहीं हो। कई बार अपने राष्ट्रवादी विचारों में वे अत्यंत संकोची दिखते हैं। इसका एक कारण यह अवश्य था कि उस युग में राष्ट्रवाद पूरे औपनिवैशिक विश्व में साम्राज्यवाद-विरोधी भावना और समाजवाद के साथ जुड़ा था। ये तीनों विचार एक साथ जुड़कर काफी सशक्त हो गये थे। फिर नेहरू अपने अध्ययन के कारण वैसे भी वैश्विक मामलों के अच्छे जानकार थे। वे समझ गये थे कि राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद-विरोध, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और समाजवाद से जुड़कर अधिक औचित्यपूर्ण, आकर्षक और आत्मीय बन सकेगा।

राष्ट्रवाद को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने की क्षमता नेहरू में अधिक थी। उन्होंने 1927 की मद्रास कांग्रेस में ब्रिटिश शासन द्वारा चीन में भारतीय सेना के प्रयोग की निंदा का प्रस्ताव पारित किया। इस तरह इस मौर्चे पर नेहरू काफी पहले से सक्रिय थे, लेकिन फरवरी 1927 में ब्रुसेल्स के साम्राज्यवाद-विरोधी सम्मेलन से वे और अधिक सक्रिय हो गये। वे उस सम्मेलन के मानद अध्यक्षों में से एक थे। उस सम्मेलन में उन्होंने परतंत्र देशों की त्रासदी को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रस्तुत हुए देखा। साम्राज्यवाद के चरित्र की लेनिनवादी व्याख्या को उन्होंने स्वीकार कर लिया था, जिसके अनुसार साम्राज्यवाद "पूंजीवाद का चरण" है। वित्तीय एकाधिकारवादी पूंजीवाद अपने मुनाफे की खोज में उपनिवेश ढूँढ़ता है। लूट की यह होड़ अंततः स्वयं उन्हीं देशों के बीच युद्ध को जन्म देती है, जो विश्व युद्ध का रूप ले लेती है।

भारत ने स्वतंत्र होने के बाद नेहरू के नेतृत्व में तमाम परतंत्र अफ्रो-एशियाई देशों को नैतिक ही नहीं भौतिक, आर्थिक और राजनयिक समर्थन भी दिया। नेहरू ने विदेश मंत्रालय अपने पास रखा था, इसलिये वे इस पवित्र भारतीय संकल्प को असरदार तरीके से लागू कर सके। विदेश-नीति में गुट-निरपेक्षता और पंचशील को उन्होंने केन्द्र में रखा। नेहरू अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की अहमियत को बुहत पहले समझ चुके थे। उन्होंने बहुत पहले कहा था–"विश्व का अन्तर्राष्ट्रीयकरण हो चुका है, उत्पादन

अर्न्तराष्ट्रीय है, बाजार अर्न्तराष्ट्रीय है, परिवहन अर्न्तराष्ट्रीय है।

कोई राष्ट्र वास्तव में स्वतंत्र नहीं है, सभी परस्पर निर्भर हैं''।

वैश्विकीकरण को समझने में नेहरू अपने समय से काफी आगे थे। इस समझदारी के कारण ही उन्होंने एक सक्रिय विदेश नीति का निर्माण किया। गुट निरपेक्षता के सहारे उन्होंने शीतयुद्ध में फँसी द्वि-ध्रुवीय वैश्विक व्यवस्था के सामने एक विकल्प प्रस्तुत किया। इस दायरे में एक प्रकार से पूरी तीसरी दुनिया आ गयी। अगर हम मान लें कि उपनिवेशवाद समाप्त हो रहा था, तो भी गुट-निरपेक्षता का औचित्य बना रहा, क्योंकि शास्त्रीय साम्राज्यवाद के स्थान पर नवसाम्राज्यवाद तो आ ही गया था। भारत के लिये गुट-निरपेक्षता ऐतिहासिक तौर पर भी उचित थी, क्योंकि यह नीति भारत की शांतिवादी परम्परा के अनुकूल थी। गुटनिरपेक्षता के ये आदर्शवादी औचित्य तो थे ही, साथ यह नीति भारत के हितों के अनुकूल भी थी। इस नीति के कारण गुट-निरपेक्ष देश दोनों गुटों से सौदेबाजी कर सकते थे। ऐसे कई उदाहरण सामने आये भी, जब इन देशों ने अपने लाभ के लिये अमेरिका-रूस की प्रतिद्वन्द्विता का उपयोग किया। गुट निरपेक्षता में कुछ समस्याएं भी थीं। नेहरू ने कई बार पश्चिमी दुनिया के सामने गुट-निरपेक्षता के औचित्य में अतिरेकी आदर्शवादी तर्कों का प्रयोग किया। पश्चिमी देश इस आदर्शवाद को स्वीकार नहीं कर पाते थे। गुट-निरपेक्ष देश अक्सर ही पश्चिमी देशों से आर्थिक सहायता लेते थे। कहा तो जाता था, लेकिन यह मानना मुश्किल होगा कि आर्थिक सहायता देने वाले देश कोई 'शर्त' नहीं रखते थे। गुट निरपेक्ष देशों को कई बार इन आर्थिक दबावों के चलते अपनी नीति में नीटकीय बदलाव करना पड़ा। भारत के साथ एक समस्या और हुयी जब भारत ने गुट-निरपेक्षता और साम्राज्यवाद-विरोध की नीति के नाते अपने को तीसरी दुनिया में शामिल रखा। भारत में जनतांत्रिक व्यवस्था, राजनैतिक स्थिरता, सामाजिक समरसता और औद्योगिक ढाँचा मौजूद था। अगर भारत तीसरी दुनिया की विचारधारा से न जुड़ता तो शायद वह अब तक विकासशील न रहकर विकसित देश बन चुका होता।

16.4 नेहरू और गांधी : सहमति और असहमति के बिंदु

नेहरू के व्यक्तित्व पर महात्मा गांधी की अमिट छाप थी। स्वतंत्रता-आंदोलन के दौरान ही स्पष्ट हो गया था कि स्वतंत्र भारत में गांधी जी कृषि-परम्परा का पालन करते हुए पथ-प्रदर्शक रहेंगे और नेहरू जी शासन सम्भालेंगे। राष्ट्रीय जीवन में दोनों एक दूसरे के पूरक थे; उनको मिलाकर ही राष्ट्रीय नेतृत्व का चित्र एक पूरा होता है। इसके बाद भी दोनों के बीच की वैचारिक दूरी दो ध्रुवों जितनी ही थी। कई बार नेहरू जी ने स्पष्ट कहा कि दोनों के बीच के मतभेद 'अलंध्य' हैं, उनको छिपाया या मिटाया नहीं जा सकता। इस पर गांधी जी कहते हैं कि जवाहरलाल उनकी ही भाषा बोलेंगे, लेकिन उनके मरने के बाद।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि गांधी परम्परावादी थे और नेहरू आधुनिक। यह मौलिक मतभेद फिर समग्र क्षेत्रों में फैल गया। गांधी कहते थे कि मैं धर्म का प्रवेश कराने के लिये ही राजनीति में आया हूँ, जबकि नेहरू निजी तौर पर संशयवादी और राजनैतिक रूप से धर्म-निरपेक्ष थे। गांधी जी विकेन्द्रीकरण के समर्थक थे। वे नैतिक अराजकवादी थे। उनके अनुसार आदर्श भारत ''ग्रामीण गणतंत्रों का भारत'' होगा। वे रेलवे, अस्पताल और औद्योगिक विकास के विरोधी थे। नेहरू इस दृष्टि के प्रबल विरोधी थे। वे उद्योगों को 'आधुनिक भारत का मंदिर' कहते थे। नेहरू मानते थे कि सबसे महत्त्वपूर्ण काम तो यह है कि हम देश का औद्योगिक विकास करें, वितरण की बात बाद की है–''क्योंकि अगर हमारे पास वितरण के लिये कुछ नहीं है, तो हम केवल गरीबी बाँट सकते हैं।''।

ोक विकास की सीमाओं से नेहरू जी अपरिचित नहीं थे। उन्होंने 1929 के लाहौर कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में कहा था–"हमारे आर्थिक कार्यक्रम माननीय दृष्टिकोण से निर्धारित होने ा और धन के लिये जन का बलिदान नहीं होना चाहिये। अगर कोई उद्योग अपने श्रमिकों को रखे बिना चल नहीं सकता तो उसे बंद ही हो जाना चाहिये"। नेहरू जी आधुनिक विकास को ीय चेहरा' देना चाहते थे। आधुनिक सभ्यता के उपभोक्तावादी दुर्गुणों से बचना चाहिये। ऐसा ; हम सबमें है। अपनी 'आत्मकथा' में वे लिखते हैं–"आधुनिक सभ्यता में बुराइयाँ भरी हैं, र उसमें अच्छाइयाँ भी हैं, और उसमें बुराइयों से छुटकारा पाने की क्षमता भी है। इसको समूल ड़ फेंकने का मतलब उस क्षमता से उसे वंचित करना और एक नीरस, निस्तेज और निरीह जीवन ोर वापस लौटना होगा। हम परिवर्तन की नदी को रोक नहीं सकते और अपने को उससे अलग हीं रख सकते और मनेवैज्ञानिक रूप से, जबकि हम लोगों ने ईडेन का सेब चख लिया है, हम ; स्वाद को भूलकर आदिम अवस्था में जा भी नहीं सकते।"

का दृष्टि-कोण साफ था, लेकिन उसमें अन्य (और प्रत्यक्षतः विरोधी) विचारों को स्वीकार करने ामता भी थी। इसी वजह से नेहरू ने बहुत पहले से ही स्पष्ट कर दिया था कि उनकी औद्योगिक के साथ खादी और कुटीर उद्योगों को भी महत्त्व मिलेगा। 1928 में कांग्रेस ने नेहरू की क्षता में योजना समिति का गठन किया था। नेहरू ने इस नीति को उरा समय भी स्पष्ट कर दिया स्वतंत्र भार की अर्थ-नीति इसी रास्ते पर आगे चली।

वतः नेहरू जी को इस बात का अहसास था कि अपनी विशिष्ट मनोरचना के कारण वे पारम्परिक के साथ गांधी जी जैसा तादाम्य स्थापित नहीं कर सकते थे। वस्तुतः उन्होंने लगभग तीस वर्ष अवस्था में पहली बार, वह भी राजनैतिक कार्यक्रम के सिलसिले में, ग्रामीण भारत को निकटता से था। भारत के बारे में जो ज्ञान नेहरू को लेना पड़ता था, वह गांधी की सहज बुद्धि, अवचेतन अचेतन तक में भरा था। इसलिए नेहरू ने गांधी को "वैचारिक पिछड़ेपन" के बावजूद, "भारत महानतम क्रान्तिकारी" माना है....."उनका व्यक्तित्व अद्भुत था; प्रचलित कसौटियों से उनकी ा करना या उनके बारे में तर्क-शास्त्र के सामान्य नियमों को लागू करना असम्भव था"। नेहरू के में गांधी के अप्रतिम नैतिक साहस के लिये सम्मान था। नेहरू अहिंसा के अनुयायी थे, उन्हें र्गवादियों द्वारा हिंसा को क्रान्ति का अनिवार्य माध्यम बनाने पर कठोर आपत्ति थी। लेकिन वे फिर ांधी की तरह अहिंसा को अपनी 'आस्था का आधार' नहीं बना सके। फिर भी नेहरू इस अर्थ में ा के अनुयायी रहे कि उन्होने साधन को साध्य के समान ही उचित माना।

5.5 नेहरू और जनतांत्रिक समाजवाद

ू के राष्ट्रवादी विचारों के अध्ययन में हमने पाया था कि उन्होंने सदैव राष्ट्रवाद को समाजवाद और ाज्यवाद-विरोध के परिप्रेक्ष्य में ही देखा। 1936 के लखनऊ अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण में ोने कहा था....."मैं भारत की स्वतंत्रता के लिये इसलिए लड़ रहा हूँ, क्योंकि मेरे भौतक का वादी विदेशी आधिपत्य को स्वीकार नहीं कर सकता; मैं इसके लिये और अधिक आग्रही इसलिये क्योंकि मेरे हिसाब से यह सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन की ओर एक अनिवार्य चरण हैं। मैं ता हूँ कि कांग्रेस एवं समाजवादी संगठन बन जाये और दुनिया की उन शक्तियों से हाथ मिलाये, एक नयी सभ्यता के लिये काम कर रहे हैं।" स्पष्ट है कि नेहरू कांग्रेस को बड़े लक्ष्य की ओर जाना चाहते थे। तत्कालीन कांग्रेस भारत के सभी वर्गों के राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लक्ष्य के लिये जुट करना चाहती थी, क्योंकि राष्ट्रीय स्वतंत्रता में सभी वर्गों का हित निहित था। इसके बावजूद

कांग्रेस का वास्तविक सामाजिक आधार राष्ट्रीय बोर्जुआ, मध्य वर्ग और छुद्र बोर्जुआ तक ही सीमित था। स्पष्टतः कांग्रेस में औद्योगिक सर्वहारा और छोटे-सीमांत किसानों तथा भूमिहीन श्रमिकों की सहभागिता कम थी। इसके बावजूद नेहरू ने समाजवाद के पक्ष में कांग्रेस को अपनी वर्गीय सीमाओं को अतिक्रमित करने की प्रेरणा दिया।

नेहरू इस मामले में तो सदैव साफ थे कि पूंजीवाद स्वतंत्र भारत का आदर्श नहीं हो सकता। उनका दृढ़ विश्वास था कि "पूंजीवाद अनिवार्यतः व्यक्ति का व्यक्ति द्वारा, समूह का समूह द्वारा और देश का देश द्वारा शोषण करवाने की व्यवस्था करता है।" समस्या यह थी कि विकल्प क्या हो। 1920 के दशक में युवा नेहरू अपने सहयोगियों के साथ समाजवाद को एकमात्र विकल्प मान चुके थे। नेहरू इस वर्ग के निर्विवाद नेता थे। इस समाजवादी समूह में एक मौलिक अंतर था, जो स्वतंत्रता के बाद और मुखर हुआ। जयप्रकाश नारायण का समाजवाद धीरे धीरे विकेन्द्रीकरण की ओर जाकर सर्वोदयी हो गया। यह ग्रामीण गणतंत्रों वाला सामुदायिक समाजवाद था। डा० लोहिया ने भी विकेन्द्रीकरण का समर्थन किया और उसके साथ आर्थिक वर्गों के स्थान पर भारतीय जातियों को रख दिया। लोहिया ने माना कि भारतीय जातियाँ वस्तुतः "वर्गीय व्यवस्था का जड़ीभूत रूप" ही हैं। नेहरू का समाजवाद के प्रश्न पर इनसे मतभेद स्वतंत्रता के बाद इसलिए और बढ़ गया, क्योंकि जे० पी० और लोहिया स्वतंत्रता के बाद कांग्रेस से बाहर आ गये।

नेहरू का समाजवाद बहुत कुछ शास्त्रीय प्रकार का था। उन्होंने स्पष्ट किया कि समाजवाद की मूल प्रेरणा मानवतावादी ही है। उनके अनुसार भारतीय समाज ने लम्बे दौर में सामाजिक स्थिरता तो हासिल किया, लेकिन सभी को न्याय नहीं मिल पाया। इस तरह समाजवाद आम भारतीय को न्याय और अधिकार प्रदान कराने वाली व्यवस्था है। नेहरू स्पष्ट करते हैं कि भावनात्मक मानवीय प्रेरणा के बावजूद समाजवाद एक व्यवस्थित वैज्ञानिक पद्धति है। 1933 में उन्होंने इंदिरा जी को लिखा था---------- "मैंने तुम्हें बताया था कि समाजवाद के कई प्रकार हैं। फिर भी, इस अर्थ पर प्रायः आम सहमति है कि इसका उद्देश्य उत्पादन के साधनों पर राज्य का नियन्त्रण स्थापित करना हैं। इसका अभिप्राय है–भूमि और खानें, उद्योग आदि, वितरण के साधन जैसे रेलवे आदि और बैंक जैसी एजेन्सियाँ। इसके पीछे विचार यह है कि कोई भी व्यक्ति अपने संकीर्ण लाभ के लिये इन संस्थाओं के सहारे अन्य व्यक्तियों का शोषण न कर सके।" प्रश्न यह है कि इसे किस प्रकार से लागू किया जाये। हम देखेंगे कि समाजवाद के स्वरूप और उसे लागू करने के तरीके–इन दोनों प्रश्नों पर नेहरू दुविधाग्रस्त रहे।

समाजवाद लागू करने के प्रश्न पर सामान्यतः नेहरू शांतिप्रिय तरीकों के पक्षधर रहे। फिर भी वे कई बार यह भी लिखते हैं कि सामान्यतः जनतांत्रिक तरीके से इतने बुनियादी बदलाव नहीं आते। कई बार तो उन्होंने यहाँ तक मान लिया है कि समाजवाद एक मॉडल है, जिसे असफल होने पर तिरस्कृत भी किया जा सकता है। इस संदर्भ में 'नेहरू एंड डेमोक्रेसी' के लेखक डी० ई० स्मिथ का विश्लेषण ठीक लगता है। उन्होंने लिखा है समाजवाद के स्वरूप और उसको लागू करने के प्रश्नों पर नेहरू का एक मत 1935 में और दूसरा 1955 में बना। राजनैतिक स्थिति में अंतर यह था कि 1935 में नेहरू युवा आंदोलनकारी थे और 1955 में एक बड़े देश के प्रधानमंत्री। 1930 के दशक में "नेहरू का निश्चित मत था कि विश्व के सामने पूंजीवाद और समाजवाद के स्पष्ट विकल्प हैं। .....1935 में नेहरू वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत को मानते थे, किंतु 1955 में उन्होंने इस विचार को छोड़ दिया और इस नये दौर में उनका समाजवाद जनतांत्रिक समाजवाद में परिवर्तित हो गया।" 1935 के दौर में नेहरू के विचार उग्र प्रतीत होते हैं। उस दशक के प्रारम्भ में आये विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के दौर में वे यहाँ

मानने लगे थे कि सम्भवतः अब विश्व के सामने फासीवाद और समाजवाद के विकल्प ही मौजूद
स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद नेहरू विकलपों की उपलब्धता, उनमें से एक के 'सफेद' और दूसरे के
ने होने और उनको क्रियान्वित करने के तरीके के बारे में उतने स्पष्ट नहीं रह गये। उदाहरण के
ये जनवरी 1955 के अवाडी अधिवेशन के उस एतिहासिक प्रस्ताव को लें, जिसमें समाज को
माजवादी पद्धति' से व्यवस्थित करने का संकल्प किया गया था। इस 'समाजवादी पद्धति' की
ख्या भिन्न और कई बार विरोधी प्रकार से की गयी और एक पत्र के अनुसार "स्वयं नेहरू इस
ले में प्रखरतापूर्वक किया गया था। इस तरह पूरी अर्थव्यवस्था पर स्वाभाविक रूप से सरकार का
र्णायक नियन्त्रण स्थापित हो गया। इस नीति के अनुसार आयुध, रेलवे और नाभिकीय उर्जा के क्षेत्र
सरकार का आत्यान्तिक नियन्त्रण हो गया और छह उद्योगों में नयी इकाई स्थापित करने का
धिकार भी सरकार को प्राप्त हो गया। ये क्षेत्र थे–कोयला, लोहा और इस्पात, वायुयान और
पोत निर्माण, डाक-तार से सम्बन्धित सामग्रियाँ तथा खनिज। इसके बाद का महत्त्वपूर्ण पड़ाव
वाडी प्रस्ताव के रूप में सामने आता है। 1955 के इस प्रस्ताव की राजनैतिक पृष्ठभूमि विवादास्पद
है। माना जाता है कि इस प्रस्ताव के पीछे आंध्र के आंसत्र चुनावों में साम्यवादियों के प्रबल
ाव को ढीला करने की इच्छा अधिक थी। यह भी माना जाता है कि नेहरू ने चीन यात्रा से
टकर बहुत अधीर मनःस्थिति में यह प्रस्ताव पारित करवाया। यह तो सही है कि नेहरू ने चीन
कर यह अनुभव किया कि कम से कम एशिया में नेतृत्व के प्रश्न पर भारत को चीन से सामना
ना पड़ेगा। फिर भी समाजवाद के प्रति नेहरू की प्रतिबद्धता पचीस वर्ष पुरानी थी। इस प्रश्न के
र में नेहरू ने 1931 के कराची प्रस्ताव का संदर्भ दिया, जिसमें "प्रमुख उद्योगों को शासकीय
ामित्व और नियन्त्रण में रखने' का संकल्प किया गया था। इस तरह यह विचार "धीरे-धीरे विकसित
ुआ और अंततः इस रूप में सामने आया।"

वाडी अधिवेशन के बाद दो बड़े कार्य हुये। एक तो संविधान के अनुच्छेद 31 को संशोधित करके
जी सम्पत्ति के अधिग्रहण पर क्षतिपूर्ति के निर्धारण का अधिकार न्यायालय के स्थान पर संसद को
दिया गया। समाजवादी कार्यक्रमों को लागू करने में निजी सम्पत्ति की क्षतिपूर्ति को बाजार के दर पर
ु करने से अत्यधिक असुविधा हो रही थी। साधारण सा दिखने वाला यह कार्य कितना विवादास्पद
, इसका अनुमान हम इसी से लगा सकते हैं कि नेहरू के बाद भी दशकों तक सम्पत्ति का यह
धिकार सर्वाधिक विकट संवैधानिक प्रश्न बना रहा। इसके साथ शासन के इम्पीरियल बैंक का
धिग्रहण किया और मैनेजिंग एजेन्सी व्यवस्था को समाप्त कर दिया। इसके बाद 1956 की उद्योग
ति घोषित हुयी, जिसमें आत्यन्तिक अधिकार वाले क्षेत्रों की संख्या 6 से 7 कर दी गयी और 12
द्योगों की एक नयी समवर्ती सूची बनायी गयी, जिसमें निजी भागीदारी की अनुमति तो थी लेकिन
र्वजनिक उद्योग को वरीयता दी गयी थी।

हरू के नेतृत्व में अंतिम बड़ा समाजवादी कार्यक्रम जनवरी 1959 में कांग्रेस के अधिवेशन में घोषित
या गया। यह कार्यक्रम अब तक की सबसे बड़ी वैचारिक छलांग भी थी। इसके जरिये खेतिहर ढाँचे
ा आमूल-चूल परिवर्तन होता था। इसमें आधन, विपणन और प्रबंधन आदि में सहकारिता को बढ़ावा
ने की बात थी। इसमें विवाद नहीं था। सर्वाधिक विवाद का विषय सहकारी खेती का था। साम्यवादी
शों में भी सहकारी खेती की अनुत्पादकता से निराश होकर अंततः निजी खेती को प्रोत्साहित किया
ा रहा था। भारतीय किसान तो सहकारी खेती की कल्पना भी नहीं कर सकता था। कांग्रेस के
क्षिणपंथी गुट ने इस मामले को काफी उछाला। इस गुट के कुछ लोगों ने बाद में स्वतंत्र पार्टी की
थापना किया। सम्भवतः सहकारी खेती का नारा परिस्थितियों के प्रतिकूल था। यह मानना मुश्किल है
कि भयंकर रक्तपात के बिना इसे कभी भी भारत में लागू किया जा सकता था। इसके आर्थिक

औचित्य का प्रश्न तो अलग है। समाजवाद के इस अतिवादी रूप से कुल मिलाकर समाजवाद ही अलोकप्रिय हुआ। इसके बाद अक्टूबर 1962 में चीन के भारत आक्रमण ने अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, समाजवाद को और अलोकप्रिय बना दिया। यह आक्रमण साम्यवादियों के लिये तो सांघातिक ही सिद्ध हुआ, साम्यवादी दल का स्थायी और लगभग उर्ध्वाधर विभाजन हुआ; साथ ही इससे समाजवाद को भी झटका लगा। यह माना जाता है कि चीनी आक्रमण ने नेहरू को अंदर से झकझोर दिया और अंततः उनकी मृत्यु का एक कारण बना।

नेहरू के साथ कई नव-स्वतंत्र अफ्रो-एशियाई देशों में भी उनके नेतृत्व ने इस कल्याणकारी राज्य वाले क्रमिक समाजवाद को अपनाया। यद्यपि इन देशों की तुलना में भारत की स्थिति बहुत अच्छी रही, फिर भी कहीं-न-कहीं इस समाजवाद के पीछे नेतृत्व का यह स्वार्थ भी था कि इसके सहारे वे समाज में अपना नियंत्रण स्थापित कर सकते हैं। इस समाजवाद ने आम आदमी के ऊपर एक भीमकाय राज्य लाद दिया, जिसमें राष्ट्र की नियति का नियंत्रण नेता और नौकरशाह करते थे। नेहरू का यह विश्वास भी सही सिद्ध नहीं हुआ कि इस प्रकार की आधुनिक अर्थव्यवस्था जाति और धर्म जैसी पारम्परिक पहचान को कमजोर करके आधुनिक अस्मिताओं को जन्म देगी। समाजवाद के मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के मॉडल ने एक प्रकार से पूंजीवाद को ही प्रबल बनाया। इस व्यवस्था में भारी पूंजी और कम लाभ वाले आधारभूत उद्योग सरकार ने लगाये, जिससे कम पूंजी और अधिक लाभ वाले निजी उद्योगों को सस्ते 'इनपुट' मिले। इस व्यवस्था से उद्योगपतियों को किसी प्रकार की असुविधा नहीं हुयी।

16.6 मार्क्सवाद का विश्लेषण

हम पढ़ चुके हैं कि नेहरू मध्यमार्गी समाजवाद से अपनी तरुणावस्था में ही प्रभावित हो चुके थे। अधिकांश साम्यवादी इसी रास्ते से साम्यवाद तक पहुँचे थे। साम्यवादियों के लिये समाजवाद सदैव अपने आप में एक अधूरा विचार रहा था, जिसकी तार्किक परिणति साम्यवाद ही हो सकती थी। आश्चर्य है कि प्रारम्भिक दौर में नेहरू इस समस्या से अधिक चिंतित नहीं दिखे। वास्तव में नेहरू ने साम्यवाद को गम्भीरता से 1927 से ही लेना शुरू किया, जब उन्होंने सोवियत संघ की यात्रा के दौरान साम्यवाद के व्यवहारिक परिणाम को देखा। उन्होंने विशेष तौर पर वहाँ शिक्षा, महिलाओं और श्रमिकों की स्थिति और तीव्र औद्योगीकरण की काफी प्रशंसा किया। इस अनुभव ने उन्हें साम्यवाद के गम्भीर अध्ययन के लिये प्रेरित किया। उन्होने साम्यवाद के आंकलन में नीर-क्षीर विवेक का ही प्रयोग किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि नेहरू का समाजवाद और साम्यवाद से सम्बन्ध क्रमशः भावुक और बौद्धिक रहा। उन्होंने प्रमुखतः अपने बौद्धिक विश्लेषणों में ही साम्यवादी उपागम का प्रयोग प्रचुरता से किया उन्होंने 'आत्मकथा' में लिखा,. "मार्क्स और लेनिन के अध्ययन ने मेरे मन पर प्रबल प्रभाव डाला और मुझे इतिहास और सामाजिक घटनाओं को समझने की एक नयी दृष्टि दिया।" इस नयी दृष्टि का प्रयोग उन्होंने सबसे अधिक इतिहास के विश्लेषण में किया। चूँकि नेहरु की दोनों सर्वाधिक प्रसिद्ध पुस्तकें 'ग्लिम्पसेज..' और 'डिस्कवरी...' इतिहास पर ही केन्द्रित हैं, इसलिये नेहरू की मार्क्सवादी छवि वास्तविकता से अत्यदिक गाढ़ी दिखती है। वस्तुतः उनके समग्र साहित्य को देखने से लगता है कि वे मार्क्सवाद को सीमित क्षेत्र में समर्थन देते हैं लेकिन साम्यवाद के मुखर विरोध से भी संकोच नहीं करते।

नेहरू ने मार्क्सवादी विश्व-दृष्टि का समर्थन मुख्यतः इतिहास, साम्राज्यवाद और साम्प्रदायिकता के विश्लेषण में किया है। उन्होंने माना है कि इतिहास राजवंशों की वीरगाथा मात्र नहीं है। उसके विकास-क्रम में महानायक घटनाओं के चमत्कारी प्रवर्तक प्रतीत होते हैं। ये घटनायें भी भिन्न-भिन्न और

कारणों से घटती हैं, जिनमें निजी वीरता, प्रतिद्वन्दिता, भावना, वासना और महत्त्वाकांक्षाओं पूर्ण भमिका होती है। इन घटनाओं का कोई प्रतिमान या प्रतिरूप नहीं बनता है–बस, वे ो हैं। कभी विकास होता है, कभी विनाश नेहरू ने माना है कि मार्क्सवादी उपागम ने उन्हें कारणों से अवगत कराया। प्रत्येक समाज का आधार उत्पादन-सम्बन्धों से बनता है, जिसके कृति, साहित्य, राजनीति और नैतिकता का 'सुपर स्ट्रक्टर' खड़ा होता है। तमाम तकनीकी ा उत्पादन प्रणाली बदलती है, उससे उत्पादन सम्बन्धों में बदलाव आता है और इस तरह बदलाव से उसी की संगति में सुपरस्ट्रक्चर बदलता है। इस तरह नैतिकता और मानवीयता श और परम नहीं है। परवर्ती समय ने नेहरू ने इस मान्यता का विरोध किया, लेकिन अन्यथा दृष्टि से वे सही मानते थे। उनका इतिहास लेखन इसी छोर पर है। वे वीर पुरुषों, राजवंशों, वृत्तियों और आकस्मिक तत्वों को अधिक महत्त्व नहीं देते।

साम्राज्यवाद का विश्लेषण भी लेनिनवादी तरीके से किया है। यहाँ तक कि इस व्याख्या के र वे यह भी मानने लगे थे कि चूँकि पूंजीवाद अब कहीं फासीवाद और कहीं साम्राज्यवाद में हो गया है, इसलिये अब इनके विकल्प में साम्यवाद ही बचा है। साम्प्रदायिकता के ा में भी उन्होंने सामाजिक-आर्थिक आयामों को ही महत्त्व दिया, जो उनके अनुसार धर्म का क प्रयोग करके साम्प्रदायिक को जन्म देते हैं। इस पर हम आगे ध्यान देंगे।

र्क्सवादी दर्शन को लेकर उहापोह में थे। इस दर्शन के धर्म और अंधविश्वास-विरोधी विचार ुमत थे। मार्क्स ने धर्म की भौतिकवादी व्याख्या किया, जिसमें धर्म का विरोध उतना नहीं था, इस बात का स्पष्टीकरण था कि आखिरकार किन स्थितियों में धर्म 'पीड़ित मानव की आह' नता का अफीम' बन गया है। नेहरू ने पदार्थ को प्राथमिक तत्व माना। मनोरचना पदार्थ का ार है जिस पर वैज्ञानिक पद्धति के कार्य-कारण नियम तथा वाद-प्रतिवाद-संवाद की कता लागू होती है। परिमाणात्मक परिवर्तन अचानक गुणात्मक छलांग लगाता है। यहाँ तक ार्क्सवाद को स्वीकार करते थे। समस्या इसके बाद शुरू होती है... "मेरे मन में अक्सर एक ादी विचार प्रणाली काम करने लगती थी, जो सारतः वेदान्त दर्शन जैसी लगती थी। इसके नीतिशास्त्र की पृष्ठभूमि भी थी। मैंने अनुभव किया कि नैतिक धारणा अधिकांशतः उस युग के ा वातावरण से सुनिश्चित होती है। इसके अलावा बहुत कुछ और है, अधिक स्थायी प्रकार के हैं। दूसरे लोगों की तरह मुझे भी इन आधारभूत आदर्शों और साम्यवादियों के आचरण के बीच ाने वाला अंतर अच्छा नहीं लगता है।" वे आगे लिखते हैं... "(मार्क्सवादी) दृष्टिकोण को करते हुए भी उसके निष्कर्ष और उसके आधार पर अतीत तथा वर्तमान की व्याख्या को कभी तौर पर समझ नहीं पाया। सामाजिक विकास के सिलसिले में मार्क्स का व्यापक विश्लेषण झ से असाधारण तौर पर सही है, फिर भी बाद में कई ऐसी घटनायें घटी हैं, जो उसके ग के असंगत हैं।"

ाद की कई नकारात्मक प्रवृत्तियाँ साम्यवाद में और अधिक बढ़कर आयीं। नेहरू की शिकायत मार्क्स ने नैतिकता और अन्य भावनात्मक पहलुओं को सिर्फ थोड़ा पीछे रखा था,, साम्यवादियों ो फेंक ही दिया। उनके अनुसार साम्यवादी हिंसा और अनैतिकता का प्रयोग करने में संकोच खते। उन्हें इस बात पर भी आपत्ति थी कि साम्यवादी आँखें बंद करके मार्क्सवाद को मानते मैं मुख्यतः साम्यवादी इसलिए नहीं हूँ, क्योंकि मुझे साम्यवादियों द्वारा साम्यवाद को 'पवित्र ' मानने पर आपत्ति है। शायद मैं कुछ अधिक मात्रा में व्यक्तिवादी हूँ। मैं यह की महसूस हूँ कि साम्यवादी साधनों में हिंसा अत्यधिक प्रयुक्त होती है।"

नेहरू का विश्वास था कि हर विचारधारा समय और स्थान के अनुसार महत्त्वपूर्ण होती है। साम्यवादी इसके विपरीत यूरोप में विकसित हुये मार्क्सवाद को सीधे भारत में लागू करना चाहते थे, जबकि नेहरू के अनुसार एक तो भारत में औद्योगिक सर्वहारा की शक्ति नगण्य है और दूसरे देश में ग्रामीण अर्थव्यवस्था प्रबल है, जिसमें भूमिहीन श्रमिक कम और सीमांत किसान अधिक हैं। इन कारणों से भारत में साम्यवादी क्रान्ति नहीं हो सकती। एस0 एन0 रॉय ने तो साम्यवाद की सम्भावना को सशक्त दिखाने के लिये सर्वहारा की संख्या को अनुचित ढंग से बढ़ाकर दिखाने से भी परहेज नहीं किया। नेहरू मानते थे कि साम्यवादी इस प्रकार की गलती इसलिये करते हैं, क्योंकि वे राष्ट्रवाद को समझ नहीं पाये और और विवेक का प्रयोग करना तो भूल ही गये। 1954 में उन्होंने कहा... "उन्हें अपनी जन्मभूमि से कोई लगाव नहीं है, बल्कि ने प्रेरणा और पथ-प्रदर्शन के लिये बाहरी देशों की ओर देखते हैं। उनका मानना है कि अनवरत् विघ्नों, हिंसा और खून-खराबे से ही वे अपना लक्ष्य पा सकते हैं।" 1945 में नेहरू के नेतृत्व में गठित की गयी कांग्रेस की समिति ने कांग्रेस से साम्यवादियों को बाहर निकाला था। आरोप था कि साम्यवादियों ने विशेष तौर पर 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में अंग्रेजों से मिलकर देश को धोखा दिया था।

हम देखते हैं कि सन् 1940 के आस-पास नेहरू साम्यवादियों के विरोधी हो गये थे। उन्होंने साम्यवादियों के विरुद्ध बड़े आरोप लगाये। उनका वक्तव्य है–"कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी तो नहीं हैं, मेरी समझ से वे रूढ़िवादी हैं।" 1952 में एक प्रेस वार्ता में उन्होंने कहा... "मेरे हिसाब से मार्क्सवाद अब पुराना पड़ गया है। अब इनकी बात करना प्रतिक्रिया मात्र है। साम्यवादी बहुत आग उलगते हैं, लेकिन कुछ मामलों में उनका नजरिया पूर्णतः प्रतिक्रियावादी है।" 1958 में नेहरू ने भारतीय साम्यवादियों की इस बात पर निंदा किया कि वे मास्को के भय से यूगोस्लाविया के टीटो का विरोध कर रहे हैं। उसी के आस-पास उन्होंने पूरी साम्यवादी विश्व दृष्टि को ही नकार दिया... "साम्यवादी कभी उदारीकरण करते हैं, कभी जनतांत्रीकरण और कभी नारा देते हैं–'सैकड़ों फूलों को खिलने दो'। ...फिर वे उल्टे चलने लगते हैं और खिलने लायक फूलों को तोड़ कर फेंके जाने लायक खर-पतवार में बदल देते हैं।"

16.7 जनतंत्र के प्रति निष्ठा

हमने अध्याय के आरम्भ में ही उल्लेख किया था कि महात्मा गांधी और सरदार पटेल स्वतंत्रता प्राप्ति के कुछ वर्षों के भीतर ही दिवंगत हो गये। इस प्रकार नव-स्वतंत्र राष्ट्र के निर्माण निर्माण का भार और बढ़ गया, यद्यपि नेहरू को उस दायित्व के अनुपात में ही अधिकार भी प्राप्त थे। दुनिया के अधिकांश नव-स्वतंत्र देशों में जल्दी ही लगभग स्थायी रूप से अधिनायकवाद आ गया। अगर नेहरू अधिनायक बनाना चाहते तो उनके रास्ते में स्वयं नेहरू ही आ सकते थे। स्वयं नेहरू के जनतांत्रिक संस्कार ही नेहरू को अधिनायकवाद की आशंका से आगाह करते थे। यह दिलचस्प बात है कि नेहरू ने इस आशंका को समझते हुये स्वयं ही 'चाणक्य' के छद्म नाम से 'दि प्रेसीडेंट' शीर्षक से एक लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने सचेत किया था... "वे (यानी नेहरू) स्वयं को प्रजातांत्रिक और समाजवादी कहते हैं और निसन्देह वे निष्ठावान भी हैं, लेकिन चीजों के मामूली से मोड़ पर ही वे अधिनायक बन सकते हैं।...जवाहरलाल फासिस्ट नहीं बन बन सकते, लेकिन उनमें अधिनायक बनने की सभी संभावनाएं उपस्थित हैं–व्यापक लोकप्रियता, दृढ़ संकल्प, अभिमान और जनता का स्नेह, अन्य के प्रति असहनशीलता।... उन पर अंकुश लगाया जाना चाहिये।"

उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि नेहरू जनतंत्र के प्रति कितने संवेदनशील थे। 'आत्मकथा' में उन्होंने

है... "मेरी जड़ें अभी भी अंशतः उन्नीसवीं शताब्दी में हैं और मेरे ऊपर मानवतावादी उदारवादी
ओं का ऐसा प्रबल प्रभाव है कि मैं इससे पूरी तरह से तो कभी नहीं निकल सकता। इस
ावादी संस्कार में यह भावना निहित थी कि प्रत्येक विचार को सामने आने देना चाहिये।" उन्होंने
है, "किसी विरोधी विचार को सिर्फ इसलिये दबा देना, क्योंकि वह हमें अच्छा नहीं लगता,
सी प्रकार का कार्य है जैसे हम असहमत होने वाले किसी व्यक्ति का सिर तोड़ दें।" नेहरू ने
त पर विशेष ध्यान दिया कि जनतंत्र का अर्थ केवल बहुमत का शासन ही नहीं है, बल्कि
साथ अल्पसंख्यकों के अधिकार का विशेष संरक्षण भी है। वे जान स्टुअर्ट मिल के विचारों के
ान अनुयायी हैं। मिल ने यह भी लिखा है कि अधिनायकवाद शासन से ही नहीं, समाज से
ा है, जो रूढ़ियों का रूप लेकर सामाजिक बहिष्कार जैसे कठोर दंड से अपना अधिनायकत्व
त करता है। यह सामाजिक अधिनायकवाद भी राजनैतिक अधिनायकवाद की तरह बहुमत का
हो सकता है। नेहरू मानते हैं कि बहुमत के शासन और अल्पसंख्यकों के अधिकार के साथ
केले व्यक्ति के भी अपने आत्यन्तिक अधिकार होते हैं, क्योंकि मानव-मात्र में कुछ ऐसा है, जो
वित्र है और मानवीयता की रचनात्मक उर्जा का स्रोत है... "हमारे लिये दुनिया में उपभोक्ता
का उत्पादन ही सब कुछ नहीं है। इस जीवन के स्तर को ऊँचा करना चाहते हैं, लेकिन
की रचनात्मक उर्जा, उसकी साहसी प्रवृत्ति और जीवन के उन श्रेष्ठतर मूल्यों की कीमत पर
जिन्होंने उसे इस विकास-यात्रा में महानता प्रदान किया है। जनतंत्र मात्र चुनावों का ही मामला
।"

कोई सन्देह नहीं है कि स्वतंत्रता-आंदोलन के समय ही कांग्रेस के नेतृत्व में इस बात पर
ति थी कि भावी स्वतंत्र भारत जनोन्मुखी और जनतान्त्रिक ही हो सकता है। इसी भावना से
में ही नेहरू ने कांग्रेस के लिये जनता के मूल अधिकारों का एक प्रस्ताव रखा था। इन मूल
ारों में वे सभी अधिकार सम्मिलित थे, जिन्हें हम अपने संविधान के अध्याय तीन में उल्लिखित
जैसे अभिव्यक्ति करने, संगठन बनाने, व्यवसाय करने जैसे अधिकार, अल्पसंख्यकों के
धिकार, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और लैंगिक विभेद को समाप्त करके सभी को समानाधिकार। इसके
क्त समाजवादी चरित्र के वे सकारात्मक अधिकार भी थे, जिनसे मानव जीवन वास्तविक अर्थों में
होता है–जैसे निशुल्क प्राथमिक शिक्षा, सभी को रोजगार, वृद्धावस्था और रुग्णावस्था में
यक संरक्षण। याद रहे कि नेहरू ने इन सकारात्मक अधिकारों पर विशेष बल दिया था। यह
कि इन अधिकारों को क्रियान्वित करने के लिये राज्य को गम्भीर रूप से कल्याणकारी
म लागू करने पड़ेंगे। भारत जैसे विशाल देश में यह बहुत कठिन होगा। नेहरू ने बार-बार
है कि अगर हम इस कठिन लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल रहे तो जनतंत्र को जीवित नहीं
येंगे। इसी भावना से भारतीय संविधान में इन सकारात्मक समाजवादी अधिकारों को राज्य के
निर्देशक तत्व के तौर पर मान्यता मिली, यद्यपि इन्हें वैधानिक रूप से बाध्यकारी नहीं माना गया।
य न्यायालय ने कई बार संविधान की व्याख्या के लिये इन निर्देशकों का सहारा लिया है।

भारत में वरिष्ठ नेतृत्व को राष्ट्रीय एकता की अत्यधिक चिंता थी। विभाजन के दंगे, कबाइली
ण और तेलंगाना के साम्यवादी आंदोलन जैसी घटनाओं से यह चिंता हो गयी थी कि कहीं इनसे
एकता की खतरा न हो जाये। इसी आशंका के कारण मौलिक अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाने
निवारक नजरबंदी अधिनियम को पारित किया गया। दुर्भाग्य से इसका उपयोग ए0 के0 गोपालन्
ख्यात साम्यवादियों के विरुद्ध किया गया, लेकिन इससे नेहरू के जनतंत्र-प्रेम आँच नहीं आयी।
में सामान्यतः साम्यवादी दल को भी सभी जनतांत्रिक अधिकार प्राप्त थे। मौलिक अधिकार पर
हार सम्पत्ति के संदर्भ में हुआ, जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं। हमें ध्यान रखना चाहिये कि

अगर ऐसे संशोधन न किये गये होते तो समाजवादी कार्यक्रम क्या, यहाँ तक कि बोर्ज्वा-जनतांत्रिक कार्यक्रम को भी लागू करना कठिन होता है। जमींदारी व्यवस्था और राजाओं के विशेषाधिकार भी समाप्त नहीं किये जा सकते थे। मौलिक अधिकारों पर इतनी मर्यादा स्थापित करना उचित था।

16.8 कर्म, धर्म-निरपेक्षता और साम्प्रदायिकता

हम देख चुके हैं कि युवा नेहरू पर सबसे गम्भीर प्रभाव अपने पिता का पड़ा था, जिसकी झलक उनके धार्मिक विचारों में भी दिखती है। अध्ययन के दिनों में बर्टेंड रसेल के संशयवाद और आस्कर वाइल्ड जैसे विचारकों के सुखवाद ने उन्हें धर्म से दूर रखा। एक अत्यंत कर्म-निष्ठ देश में लोकप्रिय और बाद में चुनावी राजनीति करने के बाद भी उन्होंने कभी भी धर्म के पारलौकिक पक्ष पर कभी ध्यान नहीं दिया। ईश्वर के अस्तित्व, उसके रूप और गुण अथवा मृत्योपरांत मानव की गति जैसे विशुद्ध धार्मिक पहलुओं पर उन्होंने कभी विचार नहीं किया... "सारतः मैं इस दुनिया में दिलचस्पी रखता हूँ, इस दुनिया में–न कि किसी दूसरी दुनिया में या किसी भावी जीवन में। मुझे यह नहीं मालूम कि आत्मा का अस्तित्व है या नहीं या मृत्यु के बाद कुछ बचता भी है या नहीं। हालांकि ये सवाल बहुत अहम हैं, लेकिन इनसे मुझे मामूली सी भी परेशानी नहीं होती।" एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा है..."मैं इसलोक के बाद की चिंता नहीं करता। ...मुझे यह समझ में नहीं आता कि लोग इस बात की चिंता क्यों करते हैं कि आगे कुछ है या नहीं। मैं ऐसी सम्भावना को इन्कार भी नहीं करता। मेरे हिसाब से इस मामले में सबसे सही नजरिया बुद्ध का था, जिन्होंने न तो इसे अस्वीकार किया और न ही इस पर जोर दिया।"

यह स्पष्ट है कि नेहरू नास्तिक नहीं, सिर्फ संशयवादी थे। धर्म के नैतिक पक्ष के प्रबल प्रभाव को उन्होंने सदैव स्वीकारा है। इसके अतिरिक्त उनमें न्यूनतम स्तर की रहस्यात्मक-आध्यात्मिक चेतना भी थी। प्रकृति के अनंत विस्तार, उसके बहुविध रूप और उन सबको बाँधने वाले किसी परम प्राधिकार पर उनको आधारभूत आस्था अवश्य थी। ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि यह चेतना एक ओर तो सर्वेश्वरवाद है और चूंकि समस्त सृष्टि में परम सत्ता की व्याप्ति है, इसलिये यही चेतना अद्वैतवाद की ओर भी ले जाती है। नेहरू ने सर्वेश्वरवाद और अद्वैतवाद–दोनों पर विश्वास प्रकट किया है:... "प्रकृति की विविधता और सम्पूर्णता मुझे स्पन्दित करती है और आत्मा का सामंजस्य उत्पन्न करती है। मैं प्राचीन भारतीय या यूनानी सर्वेश्वरवादी परिवेश में सुखी होने की कल्पना कर सकता हूँ।" एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा है... "पुराने हिंदू विचार की ओर, आस्था के अभाव में भी मैं आकर्षित होता हूँ कि यदि इस विश्व में दिव्य तत्त्व है तो प्रत्येक व्यक्ति में इसका अंश अवश्य है और वह उसको विकसित कर सकता है। इसलिये कोई व्यक्ति तुच्छ नहीं है।" ध्यान देने वाली बात है कि स्वतंत्रता आंदोलन के प्रायः सभी नेता इसी अद्वैतवाद का आश्रय लेते थे, क्योंकि अंग्रेजी दासता के विरुद्ध संघर्ष में यह भावना बहुत सहारा लेती थी कि हम भारतीयों में भी ईश्वर का अंश है। हर मनुष्य में एक आत्मा है और ईश्वर परमात्मा यानी परम आत्मा है। अद्वैतवाद का समर्थन करने के पीछे सम्भवतः नेहरू के मन में यह उपयोगिता वाला पक्ष भी रहा होगा।

हम देखते हैं कि नेहरू ने धर्म में दिलचस्पी मुख्यतः उसके नैतिक प्रभाव के कारण ही दिखायी थी। साम्प्रदायिकता के सम्बन्ध में हम इसी दृष्टि का विस्तार पाते हैं–अर्थात् धर्म के विशुद्ध धार्मिक (यानी पारलौकिक) पक्ष की उपेक्षा और उसके सामाजिक-आर्थिक-नैतिक पक्ष पर विशेष जोर देना। नेहरू के अनुसार साम्प्रदायिकता धर्म की स्वाभाविक परिणति नहीं है, बल्कि वह धर्म का रुग्ण राजनैतिक दुरुपयोग है। साम्प्रदायिकता को समझने के लिये हमें धर्म का नहीं, उन सामाजिक-आर्थिक तत्वों का अध्ययन करना चाहिये, जो अपने लाभ के लिये धर्म का दुरुपयोग करते हैं। उनके अनुसार

ाम्प्रदायिकता प्रतिक्रियावादियों के हाथ का हथियार है।

हरू ने साम्प्रदायिकता के अपने सामाजिक-आर्थिक उपागम का प्रयोग ब्रिटिश कालीन साम्प्रदायिकता ा अध्ययन में किया। उनका विश्लेषण इस प्रकार है। अंग्रेजी राज में सेवायोजन का आधार अंग्रेजी ाक्षा हो गयी जिसमें हिंदुओं ने विशेष योग्यता प्राप्त किया। जमींदारी की स्थायी व्यवस्था में भी ंदुओं को अच्छा लाभ मिला। गाँव में महाजनी का काम पारम्परिक रूप से हिंदू ही करते थे। कुल मिलाकर अंग्रेजी शासन की विशेष परिस्थितियों के कारण मध्यवर्ग, सामंतों और सहूकारी में हिंदुओं ा अनुपात बहुत बढ़ गया। हिंदुओं की ये भूमिकाएं कई बार मुस्लिमों को शोषक सी लगती थीं और ई बार ईर्ष्या का कारण बनती थीं। वस्तुतः इन भूमिकाओं का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं था, लेकिन ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने 'फूट डालो और शासन करो' की नीति से न्यस्त स्वार्थों को प्रेरित किया कि वे इन भेदों को धार्मिक रंग दे दें। अंग्रेजों ने मामूली व्यवसायिक विभेद को भी धार्मिक विभेद में दलवाने का सुव्यवस्थित प्रयास किया। उन्होंने प्रेरित किया कि सामान्य शैक्षिक, सांस्कृतिक या ामाजिक कार्य को भी हिंदू या मुस्लिम नाम से जोड़ा जाये, ताकि एक तो दोनों की धार्मिक पहचान बल हो और उसका स्वरूप वैमनस्यात्मक या कम से कम प्रतिद्वन्दात्मक हो। नेहरू के अनुसार ंग्रेजों को सबसे पहले मुस्लिमों में यह भावना पैदा करने में सफलता मिली, क्योंकि वे अल्पसंख्यक ोने के कारण विशेष रूप से संवेदनशील थे। समय के साथ हिंदुओं में भी साम्प्रदायिक भावना घर कर गयी। नेहरू ने यह भी लिखा है कि प्रत्यक्षतः तो हिंदू और मुस्लिम साम्प्रदायिकता एक दूसरे की विरोधी थीं, लेकिन वस्तुतः दोनों एक दूसरे को बढ़ाती थीं। विपन चंद्रा ने इसे प्रतियोगितात्मक साम्प्रदायिकता ('काम्पिटीटिव कम्यूनलिज्म') का नाम दिया है।

साम्प्रदायिकता का यह सामाजिक-आर्थिक विश्लेषण परवर्ती समय में लोकप्रिय हुआ। इसका श्रेय ेहरू को मिलना चाहिये। फिर भी इस विश्लेषण में कुछ सरलीकरण है। एक सवाल यह है कि ंग्रेजी शासन में हिंदुओं और मुस्लिमों ने जिन अलग भूमिकाओं में विशिष्टता हासिल किया, उसके ीछे कुछ मात्रा में धार्मिक कारण भी अवश्य था। नेहरू की यह स्थापना भी पूर्णतः सत्य नहीं है कि न दोनों साम्प्रदायिकताओं ने कभी अंग्रेजी शासन से संघर्ष नहीं किया। नेहरू की इस मान्यता पर भी ाश्न उठ सकता है कि बहुसंख्यक साम्प्रदायिकता पर ही प्रहार करना उचित होगा, जैसा उनकी ीवनी के आधिकारिक लेखक सर्वपल्ली गोपाल ने इंगित किया है। एक तथ्य यह भी है कि नेहरू के आँकड़े केवल बंगाल के लिये ठीक थे। हंटर की पुस्तक के कारण यह भ्रम हो गया कि मुस्लिम पूरे ारत में हिंदुओं से पीछे थे। वस्तुतः संयुक्त प्रांत में मुस्लिम 1947 तक सरकारी नौकरियों और कालत आदि में हिंदुओं के बराबर थे।

र्म और साम्प्रदायिकता के बाद अब हम नेहरू की धर्म निरपेक्षता की धारणा पर विचार करेंगे। नेहरू ने स्पष्ट माना कि धर्म-निरपेक्षता वास्तविकता नहीं है। उनके अनुसार धर्म निरपेक्षता 'में की कतिपय ैतिक मूल्य और आचार के कुछ निश्चित मानक होने चाहिये और जब हम इस पर विचार करते हैं तो म ऐसे क्षेत्र में पहुँच जाते हैं, जिसे धार्मिक कहा जाता है।'' नेहरू की धर्मनिरपेक्षता के दो निहितार्थ स्पष्ट हैं। एक तो यह कि राज्य धर्मतन्त्रीय नहीं होगा अर्थात् राज्य का कोई आधिकारिक धर्म नहीं ोगा। 1931 के कराची कांग्रेस में नेहरू ने 'मौलिक अधिकार और कर्त्तव्य' पर जो प्रस्ताव प्रस्तुत किया था, उसके अनुच्छेद (1) (ix) में कहा गया था–'राज्य सभी धर्मों के मामले में तटस्था की नीति का अनुसरण करेगा।' इस धर्म निरपेक्षता का सकारात्मक पक्ष है, जिसे इस सर्व-धर्म समभाव कहते ैं।

ह स्पष्ट है कि नेहरू की धर्म-निरपेक्षता धर्महीनता नहीं है। धर्म निरपेक्षता में बहुधर्मिता और भारतीय रम्परा की उदात्त सांस्कृतिक देन को स्वीकार किया गया है। नेहरू ने धर्म प्रवर्तन चक्र और पंचशील

जैसी धार्मिक मान्यताओं को भारतीय राष्ट्रीय पहचान के प्रतीक बनाये। नेहरू ने यह भी स्पष्ट किया था कि राज्य धार्मिक समूहों में मानवीय सुधार लाने के लिये कृत संकल्प है। इसी कारण से भारतीय संविधान के नीति निर्देशक सिद्धांतों में समान नागरिक संहिता बनाने का लक्ष्य रखा गया है। नेहरू ने हिन्दू कोड बिल के लिये विशेष प्रयास किया, जिसमें उन्हें आंशिक सफलता भी मिली। नेहरू की धर्म निरपेक्षता धार्मिक क्षेत्रों में राज्य की निष्क्रियता नहीं है। नेहरू जानते थे कि समाज सुधार के बड़े कार्य धार्मिक वर्गों में होते हैं और अगर राज्य की धर्म-निरपेक्षता धर्महीनता होगी तो राज्य को धार्मिक वर्गों से संवाद स्थापित करने का नैतिक अधिकार नहीं रहेगा।

16.9 सारांश

इस अध्याय में हमने स्वतंत्र भारत के महानतम राजनेता के व्यक्तित्व और विचारों का अध्ययन किया। नेहरू जी के नेतृत्व को इस बात का श्रेय मिलना चाहिये कि भारतीय जनतंत्र पूरी तरह सुरक्षित रहा। हमने संसदीय व्यवस्था को चुना था, क्योंकि ब्रिटिश भारत में अधूरे तौर पर ही सही, यही वेस्टमिंस्टर मॉडल लागू था। हम पाते हैं कि तीसरी दुनिया के देशों में जनतंत्र ही सुरक्षित नहीं रहा और संसदीय व्यवस्था तो अपवादतः ही जीवित रही। इन देशों में कई बार राष्ट्रीय अक्षुण्णता को बचाने के नाम पर और कई बार क्षेत्रीय, नस्ली, धार्मिक या भाषाई तनाव को कम करने के नाम पर जनतंत्र को और विशेषतः संसदीय व्यवस्था को नष्ट किया गया। भारत में भी इन आधारों पर भिन्नता कम नहीं थी, लेकिन नेहरू के नेतृत्व में इन सबका शांतिपूर्ण समायोजन किया गया और विविधता में एकता के सूत्रों की तलाश की गयी।

नेहरू ने अपनी लोकप्रियता का प्रयोग अपने आधुनिकतावादी कार्यक्रमों को लागू करने में किया। नेहरू के व्यक्तित्व का बल न होता तो धर्म निरपेक्षता और समाजवाद जैसे विचार इस सीमा तक प्रभावी न होते। विभाजन के बाद के माहौल में साम्प्रदायिक राजनीति प्रभावी हो सकती थी और राष्ट्रीय एकता को खतरे में बताकर या वैसे भी कोई अन्य नेता कांग्रेस के प्रचण्ड बहुमत का दुरुपयोग करके अपना अधिनायकवाद, भले ही अल्पकाल के लिये, स्थापित कर सकता था। नेहरू ने जन भावनाओं का सम्मान ही नहीं किया, कई बार अपनी लोकप्रियता दांव पर लगाकर जनता को कतिपय आधुनिक अवधारणाओं के लिये तैयार भी किया। महान नेतृत्व का यही असाधारण गुण होता है और नेहरू इस कसौटी पर खरे उतरे।

16.10 उपयोगी पुस्तकें

1. जवाहर लाल नेहरू – एन आटोबायोग्राफी (जान लेन, दि बोदली हेड, लंदन, 1936)
2. जवाहर लाल नेहरू – ग्लिम्पसेज़ ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री (लिंडसे ड्रमंड, लंदन, 1939)
3. जवाहर लाल नेहरू – डिस्कवरी ऑफ इंडिया (द सिगनेट प्रेस, कलकत्ता, 1946)
4. फ्रैंक मॉरेस – जवाहर लाल नेहरू (जैसो पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1959)

16.11 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. नेहरु के जनतांत्रिक समाजवाद सम्बन्धी विचारों का विवेचन कीजिये।
2. धमनिरपेक्षता के सम्बन्ध में नेहरु के विचारों का उल्लेख कीजिये।

ु उत्तरीय प्रश्न

नेहरु के राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचारों का संक्षेप में उल्लेख कीजिये।

गाँधी और नेहरु के बीच सहमति और असहमति के बिन्दु क्या थे।

ुनिष्ठ प्रश्न

नेहरु पहली बार कांग्रेस के सभापति कब बने?

(अ) 1928

(ब) 1929

(स) 1930

(द) 1931

नेहरु ने कांग्रेस के कहाँ हुए अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में कांग्रेस के समाजवादी संगठन बचाने की बात कही थी?

(अ) लखनऊ अधिवेशन

(ब) लाहौर अधिवेशन

(स) बम्बई अधिवेशन

(स) करांची अधिवेशन

6.11 सम्बन्धित प्रश्न

1. (ब)
2. (अ)

इकाई 17 : डॉ0 भीमराव अम्बेडकर

रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 जीवन वृत्त, व्यक्तित्व एवं कृतित्व

17.3 ऐतिहासिक, सामाजिक और राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में जाति-प्रथा

17.3.1 वर्ण व्यवस्था से जातियों का जन्म

17.3.2 अस्पृश्यता का अंतः धार्मिक संघर्ष की परिणति

17.3.3 जातिवादी समानता के संघर्ष में डा0अम्बेडकर

17.3.4 जातिवादी असमानता का आत्मघाती असर

17.3.5 जातिवाद का उन्मूलन

17.4 धर्म का महत्व और बौद्ध धर्म की विशेषताएँ

17.5 बौद्ध धर्म और मार्क्सवाद

17.6 भारतीय परिप्रेक्ष्य में मार्क्सवाद

17.7 "आर्थिक शोषण के विरुद्ध संरक्षण"

17.8 राष्ट्रवाद का स्वरूप और भारतीय राष्ट्रवाद

17.9 सारांश

17.10 उपयोगी पुस्तकें

17.11 सम्बन्धित प्रश्न

17.12 प्रश्नोत्तर

17.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप जान सकेंगे कि–

- भारतीय समाज के एक बड़े और अत्यंत उपेक्षित दलित वर्ग की राजनैतिक चेतना का विकास किस प्रकार हुआ, उसने किस प्रकार के संघर्षों से अपने अधिकार प्राप्त किये, और
- राष्ट्रीय मुख्यधारा ने किस प्रकार दलितों के साथ हुए अमानवीय अत्याचारों का संज्ञान लेकर राजनैतिक जनतंत्र का आधार व्यापक करने का प्रयास किया और इस प्रकार जनतंत्र के सार्वजनिक-आर्थिक आधारों को सशक्त बनाकर एक ऐतिहासिक समस्या को सुलझाने का प्रयास किया।

7.1 प्रस्तावना

ारत में बीसवीं सदी अर्थात् आधुनिक युग का आरम्भ एक विकट ऐतिहासिक समस्या के उभार के ाथ हुआ। यह समस्या भारतीय समाज के लगभग 20% दलितों की थी जो अपने अत्यंत ौचित्यपूर्ण अधिकारों के लिये संघर्ष करने की तैयारी कर रहे थे। समय आ गया था जब वे संगठित । सकते थे। इतिहास में कई वर्गों का दमन हुआ है, उन वर्गों ने प्रायः दमन का प्रतिरोध भी किया, किन यह कड़वी सच्चाई है कि समाज ने दमन के सत्य और प्रतिरोध के औचित्य को उसी समय ीकार किया, जब प्रतिरोध के सफल होने की भौतिक परिस्थिति बन जाती है। हम मान सकते हैं क बीसवीं शताब्दी आते-आते दलितों के लिये ऐसी भौतिक परिस्थिति बन गयी थीं। दलितों का दमन रने वाली ग्रामीण व्यवस्था टूट रही थी, संचार के साधन विकसित हो रहे थे और राष्ट्रीय सत्ता वर्णों के हाथ में नहीं, बल्कि औपनिवैशिक शासकों के पास थी। जब इस तरह की अनुकूल भौतिक रिस्थिति बन जाती है, तब उसके अनुकूल विचारधारा भी विकसित हो जाती है। मार्क्सवादी शब्दावली कह सकते हैं कि वह वर्ग ('क्लास इन हटसेल्फ') सचेत वर्ग ('क्लॉस फार इटसेल्फ') में बदल ाता है।

ासवीं सदी के शुरुआती दौर में दलित जागरण की प्रक्रिया प्रबल हो गयी थी। इसे चरम पर पहुँचाने ; लिये दलितों को अपने बीच से ही ऐसे उपवर्ग और नेतृत्व की आवश्यकता थी, जो पूरे आंदोलन ो आक्रामकता, वैचारिक स्पष्टता और क्षेत्रीय सघनता दिला सके। अगर ऐसा न होता, तो भी दलित ागरण प्रतिगामी नहीं होता लेकिन ऐसा उपवर्ग और नेतृत्व मिल जाने के कारण दलित आंदोलन और धिक तेजी से बढ़ सका। हम कह सकते हैं कि भारतीय दलितों को यह नेतृत्व महाराष्ट्र के महार मुदाय और डा0 अम्बेडर से मिला। महार समुदाय नेतृत्व कर सकने की स्थिति में था क्योंकि वे म्भवतः पूरे भारत के दलितों में सर्वाधिक सशक्त थे। एक मत तो यह भी है कि महाराष्ट्र का नाम ी महार समुदाय के ऊपर पड़ा है। महार मराठी भाषी क्षेत्रों में 10% के लगभग हैं। पारम्परिक रूप वे गाँव की रक्षा और चौकीदारी का काम करते थे। प्रायः वे शारीरिक दृष्टि से सबल हुआ करते । शायद इन्हीं कारणों से महार लोगों को इस्ट इंडिया कम्पनी ने अपनी बाम्बे आर्मी में बड़ी संख्या नियुक्त किया। इस प्रकार नयी ब्रिटिश व्यवस्था के सम्पर्क में वे काफी पहले ही आ गये। ब्रिटिश मर्थ और सेना में सेवायोजन के कारण महार तत्कालीन दलित समुदाय के मानदंड से काफी आगे ।

ह भी एक संयोग है कि इसी महार समुदाय में डा0 अम्बेडकर जैसे इतिहास-पुरुष का जन्म हुआ। में दो विशेष कारणों पर भी ध्यान देना चाहिए। एक तो यह है कि महाराष्ट्र में समाज-सुधार की म्बी पृष्ठभूमि और परम्परा होने के बावजूद दलित नेतृत्व अनुपस्थित था, जिस कमी को महार जन ौर डा0 अम्बेडकर पूरा कर सकते थे। बात यह थी कि उन्नीसवीं शताब्दी में प्रार्थना समाज और नाडे तथा अगली सदी की शुरुआत में वी आर शिंदे जैसे समाज सुधारकों ने दलितों के मामले में ाक्षा पर ही ज्यादा जोर दिया। अधिक आक्रामक होने के बावजूद ज्योतिबा फुले और उनके त्यशोधक समाज की भी सीमा यही थी। इस तरह दलित समाज के राजनैतिकीकरण और उसके तेनिधित्व का ऐतिहासिक दायित्व डा0अम्बेडकर पर ही आया और फिर यह स्वाभाविक रूप से ष्ट्रीय स्तर तक फैल गया। दूसरी बात यह है कि कुछ मामलों में डा0अम्बेडर के बचपन और परिवार ी परिस्थिति नेतृत्व के बहुत अनुकूल थी। यह अलग बात है कि डा0 अम्बेडकर को बाद में शिक्षा ा स्वर्णिम अवसर मिला और सोने पर सुहागा यह था कि डा0 अम्बेडकर असाधारण रूप से ध्ययनशील और अध्यवसायी निकले। अगर परवर्ती परिस्थिति इतनी असाधारण न होती, तो भी

शायद एक ऐतिहासिक संयोग से राष्ट्रीय स्तर पर दलित नेतृत्व डा0 अम्बेडकर के पास ही होता। हमारा आशय डा0अम्बेडकर की शहरी और सैनिक पृष्ठभूमि से है। पूरे जीवन में केवल कुछ समय के लिये, प्राथमिक शिक्षा के लिये वे अपने पैतृक गांव के पास के दापोली कस्बे में रहे। सतारा के बाद उनकी शिक्षा बम्बई में हुई। नेतृत्व स्थापित करने के लिये एक अतिरिक्त आधार उनके परिवार की सैनिक पृष्ठभूमि थी। उनका जन्म पश्चिमी कमान के मुख्यालय में हुआ, जिसका नाम–महू इसी मुख्यालय का संक्षिप्त रूप था। (मिलिट्री हेडक्वार्टर ऑफ दि वेस्ट–एम0एच0ओ0डब्लू) अम्बेडकर के पिता, उनके नाना और नाना के छह भाई, चारों बहिनों के पति और उनके एक भाई सीधे सेना में ही थे। इस सैनिक पृष्ठभूमि ने निसन्देह अम्बेडकर को अनुशासन, व्यापक दृष्टि, दृढ़ संकल्प और लक्ष्य के लिये एकाग्रता का पाठ पढ़ाया होगा।

हमने इस पृष्ठभूमि को देखा, जिसने डा0 अम्बेडकर की असाधारण प्रतिभा को प्रस्फुटित होने का असाधारण अवसर दिया। यह भी एक संयोग है कि उस समय महाराष्ट्र में ब्राह्मण-विरोधी आंदोलन चल रहा था, जो कि बाद में विशेषतः तमिलनाडु और केरल में फैला। कुल मिलाकर स्पष्ट दिखने लगता है कि 1923 में विदेश से दो भागों में उच्चतम शिक्षा समाप्त करके आने के बाद राष्ट्रीय स्तर पर दलित आंदोलन का नेतृत्व डा0 अम्बेडकर ही कर सकते थे। यह इतना सुनिश्चित सा दिखने लगता है ऐसे यह कोई दैवीय व्यवस्था हो। समय के साथ अम्बेडकर का प्रभाव बढ़ता ही गया, जिसकी चर्चा हम अब करेंगे। आज अगर हम भारत में मैक्स वेबर के 'चमत्कारी नेतृत्व' का उदाहरण पाना चाहेंगे तो निर्विवादतः इसमें गाँधी जी के साथ डा0 अम्बेडकर का ही नाम आयेगा। यह भी सत्य है कि इन दोनों महापुरुषों के बीच सम्भवतः सर्वाधिक कटु विवाद भी हुआ। एक विद्वान के अनुसार अगर हम गाँधी को राष्ट्रीय मुख्यधारा का पूर्णतः प्रामाणिक प्रतिनिधि मानते हैं, तो डा0 अम्बेडकर को उसका प्रतिपक्ष या उत्तर-आधुनिकतावादी शब्दावली में 'अन्य' ('दि अदर') मानना पड़ेगा। एक तरह से ब्रिटिश भारत की भारतीय राजनीति इन्हीं दो ध्रुवों के बीच ही फैली रही है। इन दोनों का अध्ययन करते समय हमें नीर-क्षीर विवेक का प्रयोग करना चाहिए। हम पायेंगे कि सत्य बहुत विस्तृत होता है और इसमें दोनों महापुरुष समाहित हो सकते हैं।

17.2 जीवन-वृत्त, व्यक्तित्व और कृतित्व

जैसा हमने संकेत किया, भीमराव रामजी अम्बेडकर का जन्म 14 अप्रैल 1891 को इंदौर के निकट सैनिक मुख्यालय में हुआ। उनके पिता रामजी सकपाल महार बटालियन में सूबेदार थे और आंग्ल-अफगानिस्तान युद्ध (1878–90) में भाग ले चुके थे। बाद में उन्हें सूबेदार-मेजर का पद मिला और वे सेना में ही शिक्षक बन गये। इसी पद पर उन्होंने रावलपिंडी में काम किया और फिर स्थान्तरित होकर महू सन् 1888 में पहुँचे। बालक भीमराव पाँच वर्ष के थे जब उनकी माँ–भीमावाई का देहांत हो गया। उनका पालन-पोषण उनकी एकलौती बुआ ने किया। बालक भीमराव को पालन-पोषण में एक समस्या यह भी आयी कि उनके पिता को समय पूर्व सेवानिवृत्त होना पड़ा। आर्थिक संकट के उस दौर में भीमराव मात्र तीन वर्ष के थें।

बालक भीमराव का बचपन बहुत कठिनाइयों में बीता। माँ की मृत्यु हो गयी, पिता सेवा निवृत्त हो गये और परिवार में बुजुर्ग भी नहीं थे। उन्हें अस्पृश्यता और आर्थिक संकट का भी सामना करना पड़ा। सौभाग्य यह था कि उनके पिता रामजी ने अपने सबसे छोटे बेटे की शिक्षा पर बहुत ध्यान दिया। रामजी के चौदह बच्चे थे, जिनमें जीवित बचे सात बच्चों में भीमराव सबसे छोटे थे। हो सकता है भीमराव की शिक्षा पर विशेष ध्यान देने का एक बड़ा कारण यह भी रहा हो कि रामजी सैनिक से

ं अधिक शिक्षक बन गये थे और सेवा निवृत्त होने के कारण उन्हें समय भी मिल गया। रामजी की र्थिक स्थिति भले ही ठीक न रही हो, लेकिन उनका बौद्धिक स्तर अपने समय और समाज के र्म में काफी ऊँचा था। डा0 अम्बेडकर बाद में अपने अंग्रेजी के ज्ञान के लिये अपने पिता को श्रेय थे। रामजी ने 1892 में रानाडे के सहयोग से बम्बई के राज्यपाल को एक ज्ञापन देकर यह माँग थी कि ब्रिटिश सेना में महारों के सेवायोजन पर लगा प्रतिबंध हटाया जाये। ऐसे और भी प्रकरण ाने आये हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि डा0 अम्बेडकर को सामाजिक प्रतिबद्धता और नेतृत्व की ता पैतृक परम्परा से मिली थी।

क भीमराव की प्राथमिक शिक्षा उनके कोंकण स्थित पैतृक कस्बे दापोली से शुरु हुई। फिर उनका बार सतारा होते हुए अन्ततः स्थायी रूप से बम्बई पहुँच गया, जहाँ उन्होंने कुछ समय मराठा स्कूल में अध्ययन करके फिर एलफिंस्टन स्कूल में प्रवेश लिया। यहीं से भीमराव की प्रतिभा का ुटन हुआ। इस विद्यालय में भी उन्हें अस्पृश्यता का अमानवीय अपमान झेलना पड़ा। उनकी भा को पहचान करके कई बुद्धिजीवियों ने उनकी सहायता भी किया। उनको और उनके भाई न्दराव को संस्कृत पढ़ने नहीं दिया गया, जिस कारण से उन्हें दूसरी भाषा के रूप में हाईस्कूल में सी पढ़ना पड़ा। वहीं से उन्होंने एफ0ए0 (इंटरमीडिएट) भी किया, जिसमें प्रख्यात समाज सुधारक के बोले और कृष्ण अर्जुन केलुस्कर जैसे लोग प्रमुख थे। केलुस्कर ने अपनी पुस्तक 'दि लाइफ फ गौतम बुद्धा' से भीमराव को पहली बार भगवान बुद्ध की महानता से परिचित करवाया। उन्होंने भीमराव को बड़ौदा के राजा सयाजीराव गायकवाड़ से मिलवाकर बीए के लिए 25/- मासिक की वृत्ति की व्यवस्था करवाया, जिस कारण से उन्हें अपेक्षाकृत बड़ा घर लेकर निश्चित होकर पढ़ने अवसर मिल सका। इस तरह उन्होंने 1912 में राजनीति शास्त्र और अर्थशास्त्र लेकर बीए उत्तीर्ण या। इस उपलबधि के कुछ समय बाद 1913 में एक दुखद घटना हुई, जब उनके पिता जी का ांत हो गया। उस समय वे बडौदा राज्य के एक सैनिक अधिकारी थे।

1913 में ही उन्हें बड़ौदा राज्य की ओर से विदेश में शिक्षा के लिये तीन वर्ष की अवधि की वृत्ति मिली। यहाँ यह पृष्ठभूमि भी स्पष्ट करना चाहिए कि उनका विवाह सत्रह वर्ष की उम्र में ाबाई के साथ हुआ था जबकि रमाबाई मात्र नौ वर्ष की थीं। एक बड़ा दुर्भाग्य यह था कि उनके व बच्चों में से मात्र यशावंतराव ही जीवित बचे। उन्होंने लिखा है कि दूसरे बेटे गंगाधर की मृत्यु र्थिक अभाव के कारण हुई और उसकी मृत्यु के समय उनके पास अंतिम संस्कार के लिये भी धन ीं था। उनके सबसे छोटे बेटे राजरत्न की मृत्यु 1926 में हुई, जबकि उनकी आर्थिक स्थिति ठीक चुकी थी। इस तरह के भावनात्मक कष्टों के बीच ही उनका अध्ययन और फिर राजनैतिक जीवन ता। संक्षेप में 1913 से 1916 के बीच उन्होंने अमेरिका के कोलम्बिया विश्वविद्यालय से एम ए या और शोध ग्रन्थ भी लिखकर जमा कर दिया। उसी साल वे लंदन गये लेकिन छात्रवृत्ति न मिलने कारण भारत आकर सिडेन्हम कॉलेज, बम्बई में शिक्षण कार्य में लग गये। 1920 में कोल्हापुर के सक शाहू महाराज की छात्रवृत्ति से वे फिर लंदन गये। वहाँ उन्होंने फिर एम0 ए0 किया और एचडी के साथ 1923 में ग्रेज इन से बैरिस्टरी की उपाधि भी प्राप्त कर लिया। उन्होंने डी एस सी दो उपाधियाँ प्राप्त कीं, जिनके विषय थे--'नेशनल डिविडेंट ऑव्ह इंडिया' औ 'प्राब्लम ऑफ सी'। हम कह सकते हैं कि डा0 अम्बेडकर ने उच्च शिक्षा नहीं बल्कि उच्चतम शिक्षा प्राप्त किया र उस युग में सम्भवतः किसी भी समुदाय के सामाजिक व्यक्ति ने ऐसी शिक्षा लेने में रुचि या मता का प्रदर्शन नहीं किया। 1923–24 के डा0 अम्बेडकर को हर सामाजिक वर्ग अपना नेतृत्व देने गर्व का ही अनुभव करता।

डा0अम्बेडकर ने 1923 में भारत लौटकर बम्बई के अपीलीय न्यायालय में वकालत शुरू किया, जिसमें उन्हें एन एम जोशी और डी ए खरे जैसे प्रख्यात व्यक्तियों के साथ काम करने का अवसर मिला। इसी के साथ वे बाटलीबॉय एकाउंट्सी इन्स्टीच्यूट में वाणिज्यिक विधि के अंश कालिक शिक्षक भी रहे। 1924 में उन्होंने अपने मिशन का प्रारम्भ किया जिसकी तैयारी में उन्होंने अब तक पूरा जीवन लगाया था। उनकी पहली संस्था का नाम बहिष्कृत हितकारिणी सभा था और उसी के साथ उन्होंने 'बहिष्कृत भारत' नाम से एक मराठी साप्ताहिक भी शुरू किया। बाद में उन्होंने 'मूक नायक' और 'जनता' नाम से भी पत्रिकाएँ प्रकाशित किया। अपने मिशन के लिये डा0 अम्बेडकर बहुत स्पष्ट थे। इसी कारण उन्होने विकट परिस्थितियों में भी कभी सरकारी नौकरी का विचार तक नहीं किया। यह भी ध्यान देने वाली बात है कि विदेश में अध्ययन की अवधि में वे कुछेक भारतीय छात्रों में से एक रहे होंगे, जिन्होंने समाजवाद जैसे विचारों से कोई विशेष लगाव नहीं महसूस किया। उनके मस्तिष्क में यह साफ था कि भारत का अस्पृश्य समाज पूरे विश्व में अनोखा है, इसलिए उसकी मुक्ति की विचारधारा बाहर से नहीं आ सकती।

डा0 अम्बेडकर बम्बई की धारा सभा में 1927 और 1932 में मनोनीत किये गये और उसके बाद 1937 के आम चुनाव में विजयी होकर कुल मिलाकर 12 वर्ष अनवरत् सदस्य होकर उन्होंने कार्य किया। 1937 के चुनाव में उनके स्वतंत्र श्रमिक दल ने 17 आरक्षित स्थानों में से 15 और उसके साथ-साथ अन्य स्थान प्राप्त करके मुख्य विपक्षी दल की स्थिति प्राप्त किया। वे विधिवेत्ता थे और श्रमिक दल के नेता थे, इसलिए स्वाभाविक रूप से उन्होंने विशेषकर श्रमिकों के कल्याण के लिए विधायी कार्यों में काफी योगदान किया। 1942 से 1946 की अवधि में वायसरॉय की कार्यकारी परिषद के श्रमिक सदस्य के रूप में उन्हें फिर इसी कार्य को आगे बढ़ाने का अवसर मिला। पहले दौर में उन्होंने श्रमिकों के पक्ष में औद्योगिक विवाद अधिनियम का विरोध किया और इसके साथ ही दलित भाइयों के पक्ष में वतनदारी और खोती जैसे व्यवस्थाओं पर प्रहार किया। वतनदारी प्रथा बेगारी का ही परिष्कृत रूप था और खोती प्रणाली में खेतिहर श्रमिकों को कोई स्थायी अधिकार नहीं थे।

वर्ष 1927 में डा0 अम्बेडकर ने महाड सत्याग्रह और 1930 में नासिक के कालाराम मंदिर में प्रवेश को लेकर हुए बड़े आंदोलनं का नेतृत्व किया। महाड कस्बे के चौदार तालाब के पानी से अस्पृश्यों को वंचित रखा गया था। इस आंदोलन में ही 1927 में उन्होंने मनुस्मृति को सार्वजनिक रूप से जलाया। 1930 का कालाराम मंदिर आंदोलन 1935 तक चला, जिसकी असफलता पर 1936 में उन्होंने नासिक के पास के येवला कस्बे में धर्मान्तरण की घोषणा किया। आधुनिक भारत की राजनीति में इन दोनों आंदोलनों को युगान्तरकारी माना जाता है। 1927 से 1935 की इस अवधि में डा0 अम्बेडकर हिंदू या अधिक सटीक शब्दों में, ब्राह्मणवादी व्यवस्था को भीतर से सुधारने का प्रयास कर रहे थे। 1935 में उनका मोहभंग हो गया, जिसका प्रमाण उस वर्ष प्रकाशित हुए उनके लेख 'जाति उन्मूलन' में भी मिलता है। इसी बीच 1930–32 के बीच हुए तीनों गोलमेज सम्मेलनों में भी उन्होंने दलित समाज का प्रतिनिधित्व किया। हम पाते हैं कि उन्होने धार्मिक दृष्टि से अलग होने की घोषणा तो 1935–36 में किया लेकिन राजनैतिक दृष्टि से अलग अधिकार पाने का प्रयास तो उन्होंने 1930 के गोलमेज सम्मेलन से ही शुरू कर दिया था। उनका विचार था कि "सामाजिक दृष्टि से अलग रह रहे वर्ग को राजनैतिक दृष्टि से भी अलग रहने का अधिकार मिलना चाहिये।" यहाँ तक तो सर्वसम्मति थी कि दलितों के चुनाव-क्षेत्रों का आरक्षण हो। डा0 अम्बेडकर इसके आगे जाकर यह मांग कर रहे थे कि पृथक चुनाव क्षेत्र के साथ पृथक मतदाता मंडल भी हो, जिस प्रश्न पर दूसरे गोलमेज सम्मेलन में उनका गाँधी से तीखा विवाद हुआ। गाँधी का कहना था कि मुस्लिम तो सदैव मुस्लिम रहेंगे, लेकिन दलित (या अस्पृश्य) सदैव दलित या अस्पृश्य नहीं रहेंगे। ब्रिटिश शासन ने अम्बेडकर की मांग को

ा साम्प्रदायिक पंचाट में स्वीकार कर लिया, जिसके विरुद्ध गाँधी के अनशन के बाद 24 सितम्बर 2 को गांधी और अम्बेडकर के बीच पूना समझौता हुआ।

ा सक्रिय सार्वजनिक जीवन में डा0 अम्बेडकर ने दो बार बहुत आश्चर्यजनक ढंग से अपने ोण को बदला। गोलमेज सम्मेलन पहला उदाहरण था, जब उन्होंने अचानक लंदन में पृथक ता मंडल की मांग रख दिया। उसके पहले साइमन आयोग तक में उन्होंने संयुक्त मतदाता मंडल वीकार किया था। ऐसा लगता है कि लंदन में ब्रिटिश शासकों ने अलगाववाद को अपनी ओर से हुत बढ़ावा दिया, जिससे डा0 अम्बेडकर भी प्रभावित हुए। डा0 अम्बेडकर ने इसी प्रकार 1946 सरी बार अपने दृष्टिकोण को आश्चर्यजनक ढंग से बदला, जब 1942 से कांग्रेस और कांग्रेस के ा में मिलने वाली स्वतंत्रता का विरोध करते-करते वे अचानक कांग्रेसी सरकार में ही शामिल नहीं बल्कि उन्होंने कांग्रेस की इच्छा से बनने वाले संविधान को लिखने के लिए बनायी गयी प्रारूप ति की अध्यक्षता को भी स्वीकार कर लिया।

पैक्ट पर हस्ताक्षर करते हुए डा0 अम्बेडकर ने स्पष्ट किया था कि संयुक्त मतदाता-मंडल से तों को न्याय नहीं मिल सकेगा। दलितों के प्रति शेष समाज की मानसिकता इतनी नकारात्मक है वे चुनाव में आरक्षित सीटों पर उसी दलित को विजयी बनायेंगे, जो सभी दलित प्रत्याशियों में धिक समझौतावादी हो। 1942 और 1952 के चुनावों में समाजवादियों के साथ चुनाव लड़ने के भी स्वयं डा0अम्बेडकर चुनाव हार गये और उनका शिड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन बुरी तरह से जित हुआ। संविधान सभा में आने के लिए भी डा0 अम्बेडकर को पहले मुस्लिम लीग और फिर स की सहायता लेनी पड़ी। डा0 अम्बेडकर जुलाई 1942 से जुलाई 1946 तक गर्वनर जनरल की कारी परिषद में सदस्य रहे, जिसे एक प्रकार से कैबिनेट मंत्री का पद माना जा सकता है।

अम्बेडकर ने सितम्बर 1946 में लंदन जाकर ब्रिटिश शासन को यह समझाने का प्रयास किया भारत को स्वतंत्रता देते समय दलितों की सुरक्षा की संवैधानिक व्यवस्था सुनिश्चित कर ली जाये। फल होने पर उन्होंने स्वतंत्र भारत के राष्ट्र निर्माण के महत्वपूर्ण कामों में कांग्रेस की सहायता करने निश्चय किया। नवम्बर 1946 में वे संविधान सभा के सदस्य निर्वाचित हुए। संविधान सभा में ने अपने पहले भाषण में स्पष्ट कर दिया कि यह समय है जब हमको देश की एकता के लिये सी मतभेद भूलकर काम करना चाहिए। डा0 अम्बेडकर अगस्त 1947 को प्रारूप समिति के क्ष चुने गये, जिस स्थिति के कारण ही उन्हें भारतीय संविधान का निर्माता माना जाता है। उनके क्ष बनने पर डा0राजेन्द्र प्रसाद की टिप्पणी है..."हमने उन्हें प्रारूप समिति का सदस्य और क्ष बनवाया और हम इससे अच्छा और कोई निर्णय कर ही नहीं सकते थे। उन्होने न केवल व को औचित्यपूर्ण सिद्ध किया बल्कि अपने काम को आभा भी प्रदान किया।" डा0 अम्बेडकर ने धान के साथ विधान निर्माण के भी कई काम किये। नेहरू मंत्रिमंडल के विधि मंत्री के रूप में का सर्वाधिक ऐतिहासिक काम हिंदू कोड बिल को प्रस्तुत करना था। यह विधेयक संसद में टूबर 1948 में प्रस्तुत किया और अनेक प्रकार से चर्चा में रहा और खिंचता भी रहा। इसको ड़ों में पारित किया गया और यह जिस भी रूप में पारित हुआ, एक उपलब्धि के रूप में ही णीय होगा। इस विषय पर डा0 अम्बेडकर कांग्रेस से निराश हो चुके थे। मंत्रिमंडल में लगभग सवा साल रहने के बाद 1952 के पहले आम चुनाव के मात्र तीन महीने पहले डा0 अम्बेडकर ने गपत्र दिया। इस चुनाव में असफल रहने पर वे राज्यसभा में गये।

) अम्बेडकर ने 1936 में ही घोषणा किया था कि यद्यपि वे हिंदू पैदा हुए हैं लेकिन वे हिंदू रहकर ो नहीं। उसके पहले से ही वे बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित हो रहे थे। 1949 में उन्होंने काठमांडू

के बौद्ध अधिवेशन में भाग लिया था। इसी तरह वे 1954 के रंगून अधिवेशन में भी सम्मिलित हुए थे। इन अधिवेशनों में उन्होंने बौद्ध धर्म बनाम मार्क्सवाद तथा भारत में बौद्ध धर्म के उत्थान और पतन जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर व्याख्यान दिये। अंतः उन्होंने नागपुर में एक विशाल सम्मेलन में 14 अक्टूबर 1956 के दिन बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। 1936 में कहा गया उनका वाक्य कुछ अजीबे ढंग से संदर्भित होता है, क्योंकि बौद्ध धर्म अपनाने के डेढ़ महीने बाद 6 दिसम्बर को उनका देहावसान हो गया।

डा0 अम्बेडकर एक सामान्य प्रकार के बुद्धिजीवी नहीं थे, बल्कि उनमें विषय की विशेषज्ञता और अकादमिक अनुशासन भी था। उन्होंने अपने अध्ययन के अनुरूप ही विस्तृत लेखन भी किया है। लगभग दस पुस्तकें तो उनके निधन के बाद ही प्रकाशित हुई है। तमाम, आयोगों, सम्मेलनों और धारा-सभाओं में उनके वक्तव्य और प्रतिवेदन भी पुस्तकों जैसी गम्भीरता लिये हुए हैं, जिनमें से कुछ अभी भी अप्राप्य हैं। उन्होंने मुख्यतः आर्थिक पहलुओं, जातिवाद, अल्पसंख्यक, भाषाई प्रांतों के औचित्य, जनतंत्र, साम्यवाद और बौद्ध 'धम्म' पर लिखा है। अस्पृश्य और शूद्रों को इतिहास में ढूँढ़ने के लिये उन्होंने पर्याप्त गम्भीर शोध किया है। उनकी पुस्तकों का समग्र संकलन कई स्थानों से प्रकाशित हो चुका है, लेकिन इनमें से कोई भी पूर्ण नहीं है। इसके अतिरिक्त उनके नाम पर कुछ विवादास्पद लेखों को भी प्रकाशित किया गया है। डा0 अम्बेडकर की भाषा और लेखन-शैली गागर में सागर भरने का प्रयास करती है और हमें उनकी महानता के आगे नतमस्तक कर देती है। उन्होंने पत्रिकाओं में भी काफी लिखा है, बौद्ध धर्म के उपदेशों का संकलन किया है और समाज की हर गतिविधि से अपना सरोकार रखा है। उनके लेखन में कुछ समस्याएं भी हैं। एक तो यह कि वर्गीय और दलीय राजनीति में रहने के कारण वे कई बार केवल एक पक्ष को ही प्रस्तुत करते हैं। कुछ वकील रहने के कारण भी उनका प्रयास होता है कि उनका पक्ष मुकदमा किसी भी प्रकार से जीत जाये। जैसे भारत के बंटवारे का समर्थन करने के लिये उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि भले ही पूरी मुस्लिम आबादी को पाकिस्तान और हिंदू आबादी को हिंदुस्तान ले जाना पड़े, बँटवारा हो ही जाना चाहिए। एक समस्या यह भी है कि वे बहुत बड़े-बड़े उद्धरणों को शामिल करते हैं, जिससे पुस्तक का आकार बढ़ता है और वे प्रायः अपाठ्य हो जाती हैं।

17.3 ऐतिहासिक सामाजिक और राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में जाति प्रथा

17.3.1 वर्ण-व्यवस्था से जातियों का जन्म

डा0 अम्बेडकर की मनोरचना मूलतः पश्चिमी उदारवाद से प्रभावित थी, लेकिन भारतीय जातियों के विश्लेषण में उन्होंने उदारवादी मान्यताओं में थोड़ा संशोधन किया है। वे उदारवाद की इस मान्यता से थोड़ा असहमत हैं कि इतिहास लगभग सीधी रेखा की तरह सदैव आगे ही बढ़ता है और मानवीय चेतना के उत्तरोत्तर प्रगतिशील विकास के कारण धर्म का प्रभाव कम होता जाएगा। डा0 अम्बेडकर के अनुसार इतिहास प्रतिगामी भी हो सकता है और धर्म की नियंत्रक भूमिका न तो कभी कम होगी तथा उसे कम होना भी नहीं चाहिए। उन्होने उदारवाद की इस आधारभूत अवधारणा को भी अस्वीकार किया कि विश्लेषण की मौलिक इकाई समाज या वर्ग नहीं बल्कि अहंवादी व्यक्ति है। हम देखेंगे कि भारत में जातियों के जन्म के ऐतिहासिक आख्यान में उन्होंने इन दोनों उदारवादी मान्यताओं को अस्वीकार किया है।

न यह है कि जातियों का जन्म कैसे हुआ? उनके अनुसार विद्वानों ने इस 'कष्टदायक प्रश्न' को तो 'दुखद ढंग से' अनदेखा कर दिया या फिर यह मान लिया कि जाति का जन्म नहीं, बल्कि ाब्दियों के विस्तार में क्रमिक विकास हुआ है। उनके अनुसार "अंतर विवाह जाति की एकमात्र र्गायक विशेषता है", इसलिये यह देखना होगा कि अंतर-विवाह की उत्पत्ति कब हुई। कबीलाई ाज बाह्य-विवाह करते हैं और उनमें सगोत्र विवाह के विरोध की भावना अभी भी प्रबल दिखती है। ह्य-विवाद करने वाले इन समुदायों के सम्मिलन और इस तरह बने बड़े वर्ग पर अंतर-विवाह का ध्यारोपण ही जाति के जन्म के रूप में सामने आया। यहाँ यह भी दृष्टव्य है कि उनके विश्लेषण में क्ति नहीं, वर्ग या समुदाय ही आते हैं। वे यह स्पष्ट नहीं करते हैं कि अगर अंतर-विवाह जाति के न्म का कारण है, तो अंतर-विवाह के जन्म का कारण क्या है और अगर अंतर विवाह और जातियाँ क ही हैं (जैसा उन्होंने कई बार कहा है), तो फिर इन दोनों कार्यों (इफेक्ट्स) का उभयनिष्ठ कारण ाज) क्या है।

म्बेडकर यह भी मानते हैं कि जातियों को जन्म प्रगतिशील नहीं बल्कि प्रतिगामी घटना है। उनके नुसार प्राचीन भारत में जातियाँ नहीं बल्कि गुण-कर्म के आधार पर काम करने वाली अत्यंत लचीली र्ण-व्यवस्था थी। प्रत्येक चार वर्ष के 'युग' या 'मन्वंतर' के बाद सबको मनु और सप्तवर्षियों के एक ाक्षात्कार मंडल' के सामने जाना पडता था। इन अभ्यर्थियों से सप्तर्षि ब्राह्मणों का और मनु क्षत्रियों, श्यों का चुनाव कर लेते थे। शेष शूद्र बन जाते थे। इसके बाद "आचार्य गुरुकुल व्यवस्था" आयी, ासमें बच्चों को 12 वर्ष तक अपने गुरुकुल में पढ़ाने के बाद गुरुजन बच्चों का वर्ण-निर्धारण कर देते । अम्बेडकर के अनुसार यह नयी व्यवस्था पुरानी से "निसंदेह श्रेष्ठ" थी। चूँकि गुरुजन बच्चों के ाथ रहते थे, इसलिए वे बच्चों के "व्यक्तित्व को जानते थे", जो कि "व्यक्ति के वर्ण-निर्धारण की ष्ठ पद्धति थी", इसलिए "इस नयी प्रक्रिया को हम एक महान सुधार मान सकते हैं" डा0 म्बेडकर के अनुसार इस व्यवस्था में योग्यता को मानदंड बनाया गया था, लेकिन प्रश्न यह है कि च्चों में योग्यता प्रायः तो उनके परिवार और आर्थिक स्थिति आदि से निर्धारित होती है। स्पष्ट है कि नेर्धन, अशिक्षित समस्याग्रस्त या विखंडित परिवारों के बच्चे अयोग्य ठहरा दिये जायेंगे। दूसरी समस्या ससे भी बढ़ी है। वह यह है कि एक बार अयोग्य ठहरा दिया गया बच्चा पूरे जीवन अयोग्य माना ायेगा, जबकि मन्वंतर वाली पुरानी व्यवस्था में हर चार वर्ष बाद वर्ण-परिवर्तन की आशा थी। आश्चर्य है कि अम्बेडकर इस नयी व्यवस्था को 'निसन्देह श्रेष्ठ' मानते हैं। उनके अनुसार इस नयी व्यवस्था से ऊँचे वर्ण वाले व्यक्तियों को अपने पूरे जन्म भर का विशेषाधिकार मिल जाता था, लेकिन उनके बच्चों का गुरुकुल में नीचे रहने और इस तरह निचले वर्ण में गिर जाने की आशंका मंडराती हती थी। अम्बेडकर के अनुसार ब्राह्मणों ने इस समस्या से निपटने, अर्थात् वर्ण को वंशानुगत बनाने के लिए "हम जितना सोच सकते हैं, वैसे ही अत्यधिक धृष्टतापूर्ण ढंग से" एक नया काम किया।

अम्बेडकर के अनुसार ब्राह्मणवाद के इस नये काम से ही जातियों का जन्म हुआ। नयी व्यवस्था यह बनी कि पिता घर पर ही बच्चे का उपनयन करके बच्चे को अपना वर्ण देकर गुरुकुल भेजेगा, जैसी व्यवस्था मनु ने दिया है। ऊपरी वर्ण के लोगों ने विशेषाधिकार को वंशानुगत बना लिया। अब उन्होंने इसे सुरक्षित करने के लिए अंतर-विवाह अपना लिया। अम्बेडकर मानते हैं कि वर्ण-व्यवस्था में ऊँच-नीच नहीं था, उसमें एक वर्ण से दूसरे वर्ण में जाने की व्यवस्था थी, जन्म के स्थान पर योग्यता का महत्व था और ब्राह्म-विवाह था, जबकि जाति-व्यवस्था इन चारों महत्वपूर्ण मामलों में वर्ण-व्यवस्था के ठीक विपरीत है। ऐसा प्रतीत होता है कि अम्बेडकर वर्ण-व्यवस्था को अनावश्यक महिमा-मंडित कर रहे हैं। वर्ण-व्यवस्था या कोई भी सामाजिक व्यवस्था हो, चाहे जितनी लचीली और खुली व्यवस्था क्यों न हो, उसमें पद-सोपानात्मक अवश्य होगी। फिर उन्होंने जिन बाह्य-विवाहों के उदाहरण दिये हैं,

(पाराशर और मत्स्यगंधी, शांतनु और गंगा), वे अपवाद दिखते हैं और वैवाहिक कम, विवाहेतर अधिक दिखते हैं।

अम्बेडकर के अनुसार सर्वप्रथम ब्राह्मणों ने अंतर-विवाह की व्यवस्था अपना कर अपने को वर्ण के स्थान पर जाति बना लिया। उनके अनुसार ब्राह्मणों या मनु ने किसी अन्य वर्ण को जाति में बदलने का काम नहीं किया। "ब्राह्मणों ने बहुत गलत काम किये हैं...लेकिन गैर ब्राह्मण जनों पर जाति व्यवस्था लादने का काम उनकी क्षमता के बाहर था।...मनु ने जाति का विधान नहीं दिया। उनके बहुत पहले से जातियां थीं। वे वर्तमान हिंदू व्यवस्था को नहीं बना सकते थे। उन्होंने उस समय प्रचलित जाति नियमों को संहिताबद्ध किया और जाति धर्म के पालन का उपदेश दिया। उनका काम यहीं पर समाप्त हो गया।" यह स्पष्ट नहीं है कि अम्बेडकर बार-बार यह क्यों कहते हैं कि ब्राह्मणों ने अन्य पर जाति व्यवस्था आरोपित नहीं किया, क्योंकि जब ऊपरी वर्ग अंतर-विवाह ही करेंगे, तो अन्य वर्ग भी स्वाभाविक रूप से यही करने को बाध्य हो जायेंगे और इस प्रकार जातियों का जन्म हो जाएगा। उनके अनुसार मनु ने सिर्फ जाति नियमों को संहिताबद्ध किया और जाति धर्म के पालन का उपदेश दिया। प्रथाओं को नियम बनाना, नियमों को संहिताबद्ध करना और फिर इनके अनुपालन को धर्म बताना–एक प्रकार से यह जाति व्यवस्था को जन्म देना ही है। सभी सामाजिक व्यवस्थाएँ 'घटना' की तरह किसी गर्भ से जन्म नहीं लेती बल्कि उनकी प्रक्रिया का विकास होता है, इसलिए हम 'जन्म' शब्द का प्रयोग अभिधा में नहीं, लक्षणा और व्यंजना में ही करते हैं। इस अर्थ में मनु को "जाति धर्म" का जन्मदाता माना जा सकता है।

अम्बेडकर के अनुसार वर्ण व्यवस्था पहले 'आचार्य गुरुकुल व्यवस्था' से आजीवन बनी, फिर पिता द्वारा उपनयन करने से वंशानुगत हुई, फिर अंतर-विवाह से जाति में बदल गयी और अंततः कतिपय नवाचारों से दुर्ग जैसी अविचल और अभेध्य बन गयी। जातियों ने नियम न मानने पर बिरादरी से बाहर करने की व्यवस्थाएँ बनायीं। एक समस्या विधुरों और विधवाओं की थी जो बाह्य-विवाह करने के लिये विवश हो सकते थे और इस प्रकार जाति व्यवस्था को तोड़ सकते थे। अम्बेडकर ने इसे "अतिरिक्त पुरुषों और अतिरिक्त महिलाओं की समस्या" बताया है। उनके अनुसार 'अतिरिक्त महिलाओं' की समस्या का समाधान एक तो सती के द्वारा और दूसरा वैधव्य की कठोर व्यवस्था द्वारा किया गया। 'अतिरिक्त पुरुषों' की समस्या को दूर करने के लिए बाल विवाह की व्यवस्था बनायी गयी। उनके इस विवरण में बहुत जटिलता है। क्या हम यह नहीं मान सकते कि अतिरिक्त पुरुष और अतिरिक्त महिलाओं के लिये इतनी जटिल व्यवस्था की जगह पर एक सरल प्रक्रिया यह हो सकती थी कि अतिरिक्त पुरुष अतिरिक्त महिलाओं से ही विवाह कर लें। क्या सती और उससे भी बढ़कर बाल विवाह का प्रचलन इसी कारण से हुआ? अम्बेडकर के इस विश्लेषण में वर्ण की इतनी प्रशंसा क्यों की गयी है, जबकि अन्य स्थानों पर उन्होंने वर्ण-व्यवस्था को "एक खतरनाक व्यवस्था", "व्यक्तिगत और सामाजिक रूप से एक मूर्खता और एक अपराध" तथा "सामाजिक संगठन की अत्यधिक निकृष्ट व्यवस्था" बताया है, "जो अच्छे कार्य करने से व्यक्तियों को उदासीन, अपाहिज और लकवाग्रस्त बना देता है।" उनके अनुसार केवल "पैदाइशी मूर्ख" ही चातुर्वर्ण्य को "समाज का आदर्श प्रारूप" मान सकता है। वर्ण व्यवस्था की यह आलोचना कम से कम अम्बेडकर के संदर्भ में स्वाभाविक है। केवल जाति के जन्म के संदर्भ में वर्ण व्यवस्था की उनकी प्रशंसा अस्वाभाविक प्रतीत होती है।

17.3.2 अस्पृश्यता का आरम्भ–धार्मिक संघर्ष की परिणति

जाति व्यवस्था के जन्म का विश्लेषण करने के लिए डा0 अम्बेडकर ने इतिहास की गहराइयों में

न किया था। ऐसा ही उद्यम उन्होंने अस्पृश्यता के संदर्भ में भी किया है, यद्यपि इस बार भी वह चाहते तो किसी प्रचलित मान्यता को स्वीकार करके इस जटिल विषय से बच सकते थे। भी नहीं था कि ऐसा करने पर उनके राजनैतिक मिशन में कोई बाधा पहुंचती। वे अर्थशास्त्र और जैसे आधुनिक विषयों के विद्वान थे और सार्वजनिक कार्यों में अत्यधिक व्यस्त भी रहते थे। इन बाद भी उन्होंने आश्चर्यजनक रूप से प्राचीन गूढ़ विद्या के लिए समय निकाला। जाति और कार अस्पृश्यता के सम्बन्ध में यह मान्यता प्रचलित ही थी कि इनका विकास भारतीय समाज ले दौर में अचेतन रूप से धीरे-धीरे हुआ। उन्होंने इस मान्यता को स्वीकार नहीं किया। उनके र वेदों और यहाँ तक कि धर्मशास्त्रों तक में अस्पृश्यता का संदर्भ नहीं है। उन्होंने इन प्रचलित ाओं का भी खंडन किया कि अस्वच्छ कार्य करने से अस्पृश्यों का जन्म हुआ या नस्ली भेद के अस्पृश्यता अस्तित्व में आयी। उनके अनुसार हर समाज में अस्वच्छ कार्य होते हैं और सिक रूप से सभी समाजों में नस्ली मिश्रण भी हुआ है, बल्कि भारत के अस्पृश्य तो सम्भवतः तौर पर भी सवर्णों से भिन्न नहीं हैं। डा0 अम्बेडकर ने इस प्रकार अस्पृश्यता के आरम्भ को ने के लिए अपनी पुस्तक 'हू वेयर अनटचेबुल्स?' में, अपने शब्दों में, "एक पूर्णतः नया '' प्रस्तुत किया है।

हम कह चुके हैं, डा0 अम्बेडकर मानते कि वेदों, धर्म सूत्रों और स्मृतियों में अस्पृश्यता नहीं है। कतिपय 'निम्न जातियों' का संदर्भ है। धर्म शास्त्रों में 'चण्डाल' और मनु स्मृति में चंडाल, अंत्य, ा, अंत्यवासिन् और बाह्य जैसे शब्द आये हैं। अम्बेडकर ने माना है कि इन शब्दों का संदर्भ र्णों में विवाह करने से उत्पन्न संकर जातियों से है। वर्ण और जाति की शुद्धता के विकृत विचार त तत्कालीन विधिशास्त्रियों ने इन संकर जातियों के सैकड़ों हास्यास्पद वर्ग बना दिये। मनु ने ई कि वर्ण चार ही हैं और 'कोई पाँचवा वर्ण नहीं है।' अम्बेडकर के अनुसार चार वर्णों के बाहर ो थे, लेकिन जैसा नारद स्मृति में कहा गया है, इसमें दास थे, अस्पृश्य नहीं। स्मृतियों आदि तेरिवत सन् 400 के आस-पास गुप्त काल में भारत आये चीनी यात्री फाह्यान ने चंडालों का ग दिया है, जो सड़क पर लकड़ी बजाते हुए चलते थे, ताकि सभी सवर्ण लोग उनके सम्पर्क से ायें। अगर इनसे सम्पर्क हो जाये तो स्नान करके 'शुद्ध' होना पड़ता था। अम्बेडकर चण्डालों के ास्तृत और व्यापक विवरणों को अस्पश्यता का नहीं, अपितु अशौच का उदाहरण मानते हैं। इस अम्बेडकर के अनुसार सन् 400 तक अस्पृश्यता नहीं थी, लेकिन उसके बाद भारत आये एक चीनी यात्री ह्वेनश्वांग ने चंडालों के अतिरिक्त 'अन्य समुदायों' का संदर्भ दिया है। अम्बेडकर हैं कि अन्य समुदायों से अस्पृश्यों का आशय भी आता है। इस आधार पर उनका मानना है स्पृश्यता का आरम्भ सन् 400 के आस-पास हुआ और सन् 600 तक यह प्रथा अत्यधिक हो गयी।

ष्कर्ष पर पहुँचने के बाद अम्बेडकर यह जानने का प्रयास करते हैं कि सन् 400–600 के बीच क्या हुआ, जिससे अस्पृश्यता का आरम्भ हो गया। उनके अनुसार इस दौर में बौद्ध धर्म के ब्राह्मणवाद का प्रबल प्रतिक्रियात्मक प्रहार हो रहा था, जिसमें ब्राह्मणवाद देश के भीतर निर्णायक ा विजयी हुआ। मुख्यधारा के सभी वर्णों, जातियों के लोगों ने ब्राह्मणवादी व्यवस्था को स्वीकार ाया। समस्या उनके साथ हुई जो मुख्यधारा के बाहर और भौतिक रूप से भी गाँव के बाहर थे। अम्बेडकर के अनुसार ये व्यक्ति ('ब्रोकेन मैन'-खंडित मानव) प्राचीन काल से ही गाँव के रहते थे। इतिहास में कृषि के विकास के साथ एक वर्ग स्थायी बस्तियों में रहने लगा, जबकि लोग इन गांवों के बाहर रहने लगे। गाँव के लोग बाहर रहने वाले इन खंडित मानवों को अन्न देते थे और बदले में आक्रामक कबीलों से सुरक्षा प्राप्त करते थे।

कालांतर में बौद्ध धर्म का प्रभाव बढ़ा और फिर उसकी प्रतिक्रिया में ब्राह्मणवाद ने एक 'रणनीति' बनाई। बौद्ध धर्म ने वैदिक यज्ञों आदि में होने वाली अनावश्यक और अतिरेकी हिंसा का विरोध किया था, लेकिन उसमें माँसाहार का निषेध नहीं था। ब्राह्मणों ने चालाकी से मांसाहार का और विशेषतः गौवंश की हत्या का विरोध शुरु कर दिया। गौवंश परम पवित्र बना दिया गया। मुख्यधारा के समाज ने इन निषेधों को स्वीकार कर लिया, जिसके पीछे एक कारण यह भी था कि गौवंश कृषि के लिए अत्यधिक उपयोगी बनता जा रहा था। गांव से बाहर रहने वाले 'खंडित मानवों' को इस निषेध से समस्या हुई। उनकी अर्थ व्यवस्ता अनुत्पादक थी। प्रायः वे गाँव से मरे जीवों को बाहर लाते थे और उनकी खाल, हड्डियों वगैरह का प्रसंस्करण करते थे और मांस का उपयोग खाने में करते थे। इस तरह, मुख्यतः निर्धनता के ही कारण वे गोवंश-समेत अन्य मृत जीवों को खाते रहे। चूँकि ग्रामवासियों को इससे गांव की सफाई में सहायता मिलती थी, इसलिए उन्हें इस पर आपत्ति नहीं थी, लेकिन गोवंश-भक्षण के कारण ये खंडित मानव अस्पृश्य बन गये।

अस्पृश्यता के आरम्भ की यह व्याख्या निसंदेह नयी है, जैसा डा0 अम्बेडकर ने दावा किया था। इस सिद्धान्त में अनुमानों को उपयोग अधिक किया गया है और उन्हें प्रमाणों का विकल्प बना दिया गया है। अस्पृश्यता के प्रमाण पहले से मिलते हैं, लेकिन वे उनको वहाँ से ही स्वीकार करते हैं, जहाँ से स्वीकार करने पर बौद्ध-ब्राह्मण संघर्ष को बल मिलने लगे। ऐसा इसलिए भी लगता है, क्योंकि 1948 में इस सिद्धांत के प्रतिपादन के बाद 1956 में उन्होंने अपनी पुस्तक 'बुद्धा एंड हिज धम्म' में आज से 2500 वर्ष पूर्व भगवान बुद्ध को अस्पृश्यों को अपने संघ में भिक्षुक बनाते हुए दिखाया है। डा0 अम्बेडकर ने सोपक और सुप्पिय नाम के इन दो व्यक्तियों को शीर्षक में ही 'दि अनटचेबुल्स' लिखा है। एक तरफ तो वे अस्पृश्यता को सन् 400–500 के आस-पास शुरू हुआ मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार अस्पृश्यता का आरम्भ ब्राह्मण-बौद्ध संघर्ष से हुआ और दूसरी ओर वे अस्पृश्यता को उसके भी एक हजार साल पीछे उपस्थित पाते हैं, क्योंकि इस परिस्थिति में वे भगवान बुद्ध को अस्पृश्यों के मुक्तिदाता के रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं।

17.3.3 जातिवादी समानता के संघर्ष में डा0 अम्बेडकर

डा0 अम्बेडकर का पूरा जीवन ही सामाजिक समानता के संघर्ष की वीर गाथा है। इसी कारण भयंकर विपन्नता में भी उन्होंने सरकारी सेवा स्वीकार नहीं किया। 1923 तक उन्होंने उच्च शिक्षा के लिए भी इसी उद्देश्य से अपना समय समर्पित किया। इस प्रकार वे अपने मिशन के लिये वैचारिक और व्यवहारिक–दोनों स्तरों पर लम्बी लड़ाई लड़ सके। हम यहां उनके कुछ व्यवहारिक योगदानों की संक्षिप्त चर्चा करेंगे। ब्रिटिश शासन ने औपचारिक स्तर पर सभी भारतीयों को समान अधिकार दिये थे। इनमें राजनैतिक अधिकार तो उतने उपयोगी नहीं थे, क्योंकि औपनिवेशिक शासन में जनतंत्र की जगह नहीं होती, लेकिन नागरिक अधिकारों और सामाजिक अधिकारों का महत्व था। इनमें भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण नागरिक अधिकार थे, क्योंकि राज्य से इनके अनुपालन को सुनिश्चित करवाने की आशा की जा सकती थी। डा0 अम्बेडकर ने इन आंदोलनों को 'प्रत्यक्ष कारवाई' (डाइरेक्ट एक्शन) की संज्ञा दिया है, जो वैसे तो स्वतः स्फूर्त ढंग से पहले से ही चल रहे थे, लेकिन 1920 के दशक से बहुत ही प्रभावशाली हो गये। इन आंदोलनों में प्रतीकात्मकता और नाटकीयता थी, जिससे दलित वर्ग में आत्म सम्मान की भावना प्रबल हुई। धार्मिक स्थलों में प्रवेश की मांग हिंदू धर्म के भीतर रहकर की गयी थी, जिसे हम 'संस्कृतिकरण' का दलित प्रारूप मान सकते हैं। धीरे-धीरे डा0 अम्बेडकर ने इस प्रारूप को अप्रासंगिक मान लिया और 1930 के बाद दलितों की राजनैतिक लड़ाई पर ज्यादा जोर देना शुरू किया। 1935 के बाद तो यह संघर्ष हिंदुत्व की सीमा के भी बाहर चला गया। डा0

डकर के एक अन्य निष्कर्ष के महत्व को अपेक्षाकृत अनदेखा कर दिया गया। उनका मानना था मंदिर और तालाब के प्रश्न से कहीं अधिक आधारभूत प्रश्न यह है कि हिंदू समाज व्यवस्था को । तरह तोड़ा जाये। इसका उपाय केवल यही है कि दलित लोग तथाकथित अस्वच्छ कार्यों को ; दें। इससे दलितों का आत्माभिमान तो प्रबल होगा ही, उससे भी बढ़कर उपलब्धि यह होगी कि समाज व्यवस्था चरमरा जायेगी। इसीलिए वे बार-बार दलितों से कहते थे कि मृत पशुओं से जुड़े काम छोड़ दो और उसके कारण जहाँ तक आर्थिक संकट झेलने की बात है, "कोई सच्चरित्र ला अपना पेट भरने के लिए अपना शरीर बेचने की बात सोच भी नहीं सकती।"

त आंदोलन के प्रत्यक्ष कारवाई वाले प्रारूप का प्रारम्भ 1924 के त्रावणकोर रियासत के वैकोम र के आंदोलन से माना जाता है। अम्बेडकर का सीधा जुड़ाव 1925 के विदर्भ के अमरावती के बा देवी मंदिर में प्रवेश की मांग को लेकर शुरू हुए आंदोलन से हुआ, जिसके संदर्भ में उन्होंने 27 में अमरावती में विशाल जनसभा को सम्बोधित किया। बम्बई के मुम्बा देवी मंदिर के लिये 28 में निकाले गये विशाल जुलूस का नेतृत्व भी डा0 अम्बेडकर ने किया। इसी तरह के आंदोलन ागिरि, पूना और सतारा में भी हुए। रत्नागिरि (कोंकण) डा0 अम्बेडकर का पैतृक जनपद था और ारा से भी जुड़ाव रहा था। आंदोलनों के इस अटूट क्रम में कोलाबा के महाड कस्बे में स्थित शर सरोवर (1927) और नासिक के कालाराम मंदिर (1930) के आंदोलनों का अधिक महत्व है, ोंकि ये दोनों आंदोलन लम्बे चले। चौदार का अर्थ मीठा पानी होता है। इस सरोवर के उपयोग को कर वहाँ डा0 अम्बेडकर ने मार्च 1927 में दो दिन का एक सम्मेलन आयोजित किया। सम्मेलन ल का नामकरण स्थानीय ग्राम देवता वीरेश्वर के ऊपर किया गया था। मांग भी कि 1923 के धेनियम के अनुसार इस सार्वजनिक सरोवर का पानी दलितों को भी उपलब्ध हो। इस पानी का ोग गैर हिंदू भी करते थे। सवर्णों ने बाद में इसे हिंदुओं की निजी सम्पत्ति घोषित करके न्यायालय स्थगनादेश प्राप्त कर लिया। बम्बई उच्च न्यायालय में इस बात पर मुकदमा चला कि क्या स्पृश्यता आदिकाल से प्रचलित है। सवर्ण न्यायालय में यह सिद्ध नहीं कर सके, इसलिए दलित ा की विजय हुई। डा0 अम्बेडकर को फिर भी इस बात का दुख रहा कि न्यायालय ने अस्पृश्यता : अवैधता पर विचार नहीं किया। डा0 अम्बेडकर के नेतृत्व में दूसरा बड़ा आंदोलन 1930 में सिक में चला। यहाँ के मंदिर में राम की प्रतिमा काली है, इसलिए इसे कालाराम मंदिर कहते हैं। ा मंदिर में रामनवमी के दिन प्रतिमा की रथ-यात्रा को खींचना बहुत पुण्यदायी माना जाता है। वैसे भी सिक तीर्थ है और वहाँ की गोदावरी में स्नान भी फलदायी माना जाता है। इस आंदोलन के कारण क अनौपचारिक समझौता हुआ था कि रामनवमी के दिन दलितों को भी रथ खींचने का अवसर लेगा। समय आने पर सवर्णों ने दलितों पर आक्रमण कर दिया और इस प्रकार उन्हें रथ यात्रा से हर कर दिया। यह आंदोलन भी उन्नतः वैधानिक तरीके से ही दलितों के पक्ष में गया। यह आंदोलन च वर्ष के संघर्ष से 1935 में सफल हुआ।

छ अजीब संयोग रहा कि महाड और नासिक की इन दो बड़ी प्रत्यक्ष कारवाइयों में भी डा0 म्बेडकर को अन्ततः विजय वैधानिक माध्यम से मिली। हम जानते हैं कि दलितों के अधिकार जैसे ाधारभूत सामाजिक संरचना को बदलने वाले मामले पर भी डा0 अम्बेडकर, जहाँ तक सम्भव हो, ांतिपूर्ण संवैधानिक उपायों के ही पक्ष में थे। साइमन आयोग, लोथियन समिति और साउथबरो समिति सी समितियों और 1927 से 1939 तक के बम्बई विधानसभा में अपनी सदस्यता के दौरान उन्होंने पनी विलक्षण वैधानिक प्रतिभा का प्रदर्शन किया, जिसका संदर्भ हम ले चुके हैं। संविधान सभा और ज्य सभा की सदस्यता की अवधि में भी उन्होंने इसी क्रम को जारी रखा। यहाँ इस गोलमेज म्मेलनों में उनके संघर्ष की चर्चा करेंगे, जिसे हम औपचारिक रूप से सितम्बर 1932 के पूना

समझौते से समाप्त हुआ मान सकते हैं, यद्यपि उन्होंने संविधान सभा की सदस्यता से थोड़ा पहले 'स्टेट एंड माइनारिटीज' में प्रस्तुत अपनी मांगों में पृथक् मतदाता मंडल की मांग को नहीं छोड़ा था।

डा0 अम्बेडकर पहले गोलमेज सम्मेलन (नवम्बर 1930) में आमंत्रित 89 भारतीयों में से एक थे। उनके साथ रायबहादुर श्रीनिवासन् भी दलितों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। वैसे तो सहभागियों में उदारवादी नेता, साम्प्रदायिक दलों और रियासतों के प्रतिनिधि और भारतीय इसाइयों के प्रतिनिधि भी थे, लेकिन स्पष्ट था कि आने वाले दिनों में इनमें से केवल मुस्लिम और दलित प्रतिनिधियों की बातों का ही महत्व रहेगा। डा0 अम्बेडकर ने दलितों को हिंदुओं मुस्लिमों और अंग्रेजों–तीनों से अलग करके स्वतंत्र स्थिति में रखा। उन्होंने स्पष्ट किया कि भारत में दलित कुल जनसंख्या के 20% हैं अर्थात् अकेले ही इंग्लैंड या फ्रांस् के बराबर हैं। सितम्बर 1931 के दूसरे सम्मेलन में विवाद गहरा गया, क्योंकि इस बार गाँधी जी के रूप में अम्बेडकर को भावी भारत की वास्तविक सत्ता से तीखा संघर्ष करना पड़ा। अम्बेडकर ने बहुत विस्तार से लिखा है कि गाँधी गुप्त रूप से मुस्लिम लीग से यह वार्ता कर रहे थे कि अगर मुस्लिम लीग दलितों के हिस्से पर जोर न दे तो वे मुस्लिम लीग की सभी मांग मान सकते हैं। गांधी और मुस्लिम लीग की वार्ता पर अम्बेडकर का वक्तव्य था कि इन दोनों में से किसी को दलित हिस्से की सौदेबाजी का अधिकार नहीं है। इस विवाह के बाद घोषित साम्प्रदायिक पंचाट की धारा नौ में दलितों को सामान्य स्थानों के अतिरिक्त पृथक् मतदाता के तौर पर दलित प्रत्याशियों को भी वोट देने का अधिकार मिल गया था। इस पंचाट से पूरे भारत में उत्तेजना फैल गयी और इसके विरोध में गांधी ने सितम्बर 1932 में पूना के यरवदा जेल में आमरण अनशन शुरु कर दिया। अंततः 24 सितम्बर को डा0 अम्बेडकर ने किंचित अनिच्छापूर्वक पूना समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये। इस समझौते से दलितों की आरक्षित सीटें तो दुगुनी हो गयीं, लेकिन उनका पृथक् मतदाता मंडल समाप्त हो गया। यह भी सच है कि इस समझौते से डा0 अम्बेडकर ने स्वयं सीधे चुनाव से जीत सकने की सम्भावनाओं को समाप्त सा कर दिया, जिसका प्रमाण आगे चुनावों में मिला। फिर भी डा0 अम्बेडकर का सम्मान बहुत बढ़ा और एक प्रकार से वे गाँधी के समकक्ष हो गये। हम कह सकते हैं कि पूना समझौता से दलितों के अधिकार की लड़ाई तो अवश्य ही अधूरी रह गयी लेकिन दलितों के सम्मान की लड़ाई को शानदार सफलता मिली। मदन मोहन मालवीय और डा0 राजेन्द्र प्रसाद जैसे सनातनी हिंदुओं ने भी दलितोत्थान के प्रति हिंदू समाज की प्रतिबद्धता को स्वीकार किया। कई प्रांतीय सरकारों ने समानतावादी कानून बनाये और उन्हें दृढ़ता से लागू किया। एक तरह से पूरे देश में ही अस्पृश्यता के ऐतिहासिक पाप के प्रायश्चित करने की भावना एक लहर की तरह फैल गयी। इसी सिलसिले में अस्पृश्यता निवारण संघ का भी गठन किया गया, जिसका नाम बाद में बदलकर हरिजन सेवा संघ कर दिया गया।

17.3.4 जातिवादी असमानता का आत्मघाती असर

डा0 अम्बेडकर ने भारतीय समाज पर जातिवाद के दुष्प्रभाव का विशद विश्लेषण किया है। इस संदर्भ में उन्होंने लार्ड एक्टन को उद्धृत किया है कि सभी समाजों में समय के साथ असमानता भी बढ़ी है, लेकिन इस असमानता को शायद ही कभी दार्शनिक औचित्य प्रदान किया गया हो। भारतीय समाज इसका अपवाद रहा है। अम्बेडकर ने लिखा है कि अन्य समाजों में श्रम का विभाजन किया गया, जबकि भारत में जाति प्रथा से "श्रमिकों का विभाजन" भी कर दिया गया है। ब्राह्मणों ने वेदाध्ययन, यज्ञ कर्म और दान को अपना विशेषाधिकार बना लिया। धार्मिक कार्यों में ही नहीं, राजनैतिक, नागरिक और सामाजिक कार्यों में भी वंशानुगत विशेषाधिकार स्थापित हो गये। सोलह धार्मिक संस्कार, मंत्र पाठ और पौरोहित्य तो दूर की बात है, सहभोज तक को प्रतिबंधित कर दिया गया।

ा अम्बेडकर ने लिखा है..."जाति ने जनमत के निर्माण को असम्भव बना दिया है। एक हिंदू के
ये जनमत का अर्थ जातिमत ही होता है। उसका दायित्व केवल अपने जाति तक सीमित है। उसकी
ठा अपनी जाति तक सीमित है। सद्गुण जातिवद्ध है, नैतिकता जातिवद्ध है। योग्य के प्रति कोई
ानुभूति नहीं है। प्रतिभाशाली के लिए सराहना का कोई भाव नहीं है।" जाति प्रथा ने समाज को
तिज और ऊर्ध्वाधर--दोनों रूपों में बांट दिया है और उनके बीच की दूरी को केवल परम्परा से ही
ीं, बल्कि धार्मिक मान्यता देकर पत्थर की लकीर बना दिया है। जातियों के बीच की अभेद्य और
लंघ्य दूरी केवल कार्य की नहीं, बल्कि सम्मान और शासनाधिकार की दूरी भी है। इस कारण से
नेकों के कार्य की उत्पादकता और गुणवत्ता भी घटी है, क्योंकि जातिवादी पदक्रम में नीचे पड़ने
ने श्रमिक अपना भूत और वर्तमान ही नहीं, बल्कि अपने और अपनी संतान के भविष्य को भी
धकारग्रस्त पाते हैं। यहाँ डा0 अम्बेडकर अर्थशास्त्र के मानवीय आयामों को उद्घाटित करते हुए
र्स के अलगाव (एलीनेशन) के सिद्धांत के निकट पहुँच जाते हैं।

ा हमने देखा है, डा0 अम्बेडकर मानते थे कि वैदिक काल में जाति प्रथा नहीं थी और अस्पृश्यता
बहुत बाद में प्रचलन में आयी। वेद के पुरुष सूक्त में चातुर्वर्ण्य की चर्चा हुई है, लेकिन अधिकांश
ान इसे क्षेपक मानते हैं। डा0 अम्बेडकर का भी यही विचार है। परवर्ती समय में मनु, कात्यायन,
द और गौतम जैसे स्मृतिकारों ने तत्कालीन समाज के शोषक स्वरूप को धार्मिक औचित्य देकर
यी बनाने का प्रयास किया। इस व्यवस्था में ब्राह्मण श्रेष्ठतम है और "चूँकि वह धार्मिक कार्यों में
स्त हैं, इसलिए राज्य कार्य उसका छोटा भाई राजन्य (क्षत्रिय) कर रहा है।" मनु ने शूद्रों के लिये
ूनतम वेतन का नहीं, बल्कि अधिकतम वेतन का निर्धारण किया है" और यह व्यवस्था दी है कि
से अधिक होने पर शूद्र का धन छीन लिया जाये। अम्बेडकर कहते हैं कि यह सिर्फ संयोग नहीं
के फासीवादी दर्शन के जन्मदाता फ्रेडरिख नीत्से ने मनु की व्यवस्था की प्रशंसा करते हुए ब्राह्मण
एक प्रकार से अपने अतिमानव के समकक्ष माना था। जाति व्यवस्था ने इस प्रकार कुछ को
तिमानव बनाया और शेष बहुसंख्यक समाज को अमानव बना दिया।

ा अम्बेडकर मानते हैं कि जाति व्यवस्था ने हिंदुओं की धारमिक अस्मिता को समाप्त सा कर दिया
हिंदुत्व किसी धार्मिक या दार्शनिक व्यवस्था का प्रतिपादक नहीं है, इसलिए ऐसी कोई मौलिक
यता भी नहीं है, जिसके उल्लंघन पर किसी को हिंदू धर्म से बहिष्कृत किया जा सके। हाँ, जाति
ामों को न मानने पर उल्लंघनकर्त्ता को जाति से बाहर कर दिया जाता है। इसके प्रमाण बहुत मिलते
और यह अत्यधिक प्रभावी भी है। डा0 अम्बेडकर किंचित दुख के साथ कहते हैं कि बहुसंख्यक
ाज के इस आत्मघाती आंतरिक विभाजन से देश सदैव से कमजोर रहा है और विदेशी आक्रमणों
आसान शिकार रहा है। जातिवाद के कारण एक तो सामाजिक समरसता नहीं रही, जिससे
धसंख्य देशवासी देश से अपनत्व का अनुभव नहीं करते थे। इसके अतिरिक्त देश की रक्षा का
न एक जाति-विशेष पर छोड़ दिया गया, जो संख्या में कम थे और शायद उतने सक्षम भी नहीं थे।
ा अम्बेडकर ने लगातार पराजित होते रहने के राष्ट्रीय दुर्भाग्य के पीछे जातिवाद को ही जिम्मेदार
ा है और बहुत मार्मिक शब्दों में संविधान सभा में कहा था कि हमें अपनी राष्ट्रीय आजादी को अब
री बार खोना नहीं चाहिए।

'.3.5 जातिवाद का उन्मूलन

ा अम्बेडकर ने जातिवाद के दुष्प्रभावों की विस्तृत चर्चा किया है। इसके बाद उसके उन्मूलन पर
के विचारों की चर्चा करना उचित होगा। वैसे तो इस विषय में उन्होंने अलग-अलग बहुत लिखा है
केन 1936 की उनकी पुस्तक 'एन्हीलेशन आफ कास्ट्स' ठीक इसी विषय पर ही लिखी गयी है।

यह लेख उन्होंने पंजाब के जात पात तोड़क मंडल के अध्यक्षीय भाषण के तौर पर लिखा था, लेकिन आयोजकों से विवाद के कारण वे यह भाषण सम्मेलन में पढ़ नहीं सके। उनका मानना था कि जाति उन्मूलन लगभग असम्भव है। इसका कारण यह है कि जाति व्यवस्था को धार्मिक मान्यता प्राप्त है और धार्मिक भावनायें अतार्किक होती हैं। इसके अतिरिक्त ये भावनाएँ अवचेन तक में घुस गयी हैं। इस आधार पर कई बार वे कहते हैं कि जाति को मिटाने के लिए हिंदू धर्म को ही मिटाना पड़ेगा। यह निष्कर्ष कुछ विरोधाभासी इसलिए लगता है क्योंकि स्वयं अम्बेडकर ने सिद्ध किया है कि वेदों और उसके काफी बाद तक भारत में जाति प्रथा नहीं थी और जो वर्ण व्यवस्था थी, उसकी प्रशंसा अम्बेडकर ने ही किया है जात-पांत तोड़क मंडल के आयोजकों से उनका मुख्य विवाद इसी विषय पर हुआ।

जातिवाद के उन्मूलन में आने वाली दो अतिरिक्त कठिनाइयों को भी उन्होने विमर्श का विषय बनाया है। एक कठिनाई यह है कि ब्राहमण इसके पक्ष में नहीं है। चूंकि "यह दुर्भाग्यपूर्ण सच्चाई है कि भारत में बुद्धिजीवी वर्ग सामान्य रूप से ब्राह्मण जाति का ही पर्यायवाची है" और "लौकिक ब्राह्मणों तथा कर्मकांडिक ब्राह्मणों में सारतः कोई अंतर नहीं है," इसलिये जाति उन्मूलन आंदोलन वैचारिक दृष्टि से सदैव बहुत निर्बल रहेगा। दूसरी समस्या यह है कि जातिवाद ने यहाँ तक कि निचली जातियों को भी आपस में ही इतना विभाजित कर दिया है कि वे जातिवाद के विरुद्ध कोई साझा मोर्चा नहीं बना सकते। उनके अनुसार यह समस्या मुस्लिमों में भी है लेकिन उनका धर्म "सशक्त एकतापरक बल" है, इसलिए उनके यहाँ यह समस्या कम है। डा0अम्बेडकर का दृष्टिकोण इस संदर्भ में अनावश्यक रूप से नकारात्मक और निराशावादी लगता है, क्योंकि स्वयं उनके कई बड़े आंदोलन ब्राह्मणों को सहयोग के बिना भी सफल रहे थे। जहाँ तक अन्य जातियों की बात है, जाति तोड़ने के लिए न सही, कम से कम ब्राह्मणों के वर्चस्व को तोड़ने के लिये ऐसे कई साझा मोर्चे स्वयं अम्बेडकर के समय बने थे और सफल भी हुए थे। स्वयं अम्बेडकर ने ऐसे साझा मोर्चों का विश्लेषण किया है।

डा0 अम्बेडकर ने कई बार यह माना है कि जातिवाद समाप्त हो भी सकता है। इस दृष्टिकोण में भी वे दो सीमाएँ स्वीकार करते हैं। एक तो यह है कि व्यक्तिगत स्तर पर जातिवाद का उन्मूलन असम्भव है। इस बात पर उन्होंने अस्पृश्यता निवारण संघ से विवाद किया था। गांधीवादी उपाय पर उनकी एक आपत्ति और आशंका यह भी थी कि ऐसा शांतिपूर्ण तरीके से सम्भव नहीं है...."मेरा निश्चित विश्वास है कि सवर्ण हिंदुओं के अज्ञानी समुदाय में तर्कपूर्ण विचारों के मौन प्रचार-प्रसार से दलितों की मुक्ति सम्भव हो सकती है।....न्यूनतम प्रतिरोध और तर्क पूर्ण विचारों के मौन प्रचार-प्रसार की इस नीति की एक बड़ी बुराई यह है कि, चूंकि इनसे संकट पैदा नहीं होता, इसलिए इनसे कोई 'विवश' भी नहीं होता।" 1932 में उन्होंने अस्पृश्यता निवारण संघ के मंत्री अमृतलाल ठक्कर को लिखा था कि दलितोत्थान के गम्भीर प्रयास में हिंसा अवश्य होगी, उसको टाला नहीं जा सकता...."दलितों और सवर्णों के बीच दंगे होंगे, जिसमें सिर भी फूटेंगे....इस कार्यक्रम में सामाजिक अराजकता और यहाँ तक कि रक्तपात भी होगा....आपको सीधी कारवाई के द्वारा एक संकट को जन्म देना पड़ेगा।" इसी तरह से उन्होंने अन्यत्र लिखा है...."दलितों को मुक्ति उस समय मिलेगी, जब सवर्ण यह सोचने और महसूस करने के लिये बाध्य हो जायें कि उनको अब बदलना ही है।"

जातिवाद के उन्मूलन पर डा0 अम्बेडकर ने हिंदू धर्म के सुधार का भी एक वैकल्पिक कार्यक्रम दिया है। इसके मुख्य बिंदु इस प्रकार हैं–(1) "हिंदू धर्म की एक और केवल एक मानक पुस्तक हो जो सभी हिंदुओं को मान्य और स्वीकार्य हो।" (2) "अच्छा हो कि हिंदुओं में पुजारी वर्ग समाप्त कर दिया जाये...कम से कम इसे वंशानुगत तो न रहने दिया जाये"। (3) पुजारी की परीक्षा हो और सनद

त न करने पर भी पौरोहित्य करने वाले व्यक्ति को दंडित किया जाये। (4) "पुजारी शासकीय र्मचारी हो" और (5) "पुजारियों की संख्या को कानून द्वारा सीमित किया जाये।"

7.4 धर्म का महत्व और बौद्ध धर्म की विशेषताएँ

0 अम्बेडकर का पालन-पोषण धार्मिक परिवेश में हुआ और 1935 तक वे सारी शिकायतों के बाद हिंदू धर्म के भीतर रहकर काम करना चाहते थे। उसके बाद भी वे इस मान्यता से कभी नहीं डिगे धर्म के बिना समाज और समाज के बिना व्यक्ति अर्थहीन हो जाएगा...."मेरे जीवन में जो कुछ भी ठ है और मेरी शिक्षा का जो थोड़ा बहुत लाभ समाज को मिला है, उन सबके पीछे मेरी धार्मिक वना ही है।....नौजवानों को धर्म से तटस्थ होते देखकर मुझे पीड़ा होती है।" अम्बेडकर का मानना कि "धर्म भाषा की भाँति ही सामाजिक है, क्योंकि दोनों सामाजिक जीवन के लिये जरूरी हैं और क्ति को दोनों की आवश्यकता है ताकि वह सामाजिक जीवन में सहभागिता ले सके।" इसी तरह वे र्म को एक साधन मानते हैं, "जिसके द्वारा समाज व्यक्ति के आचरण को नियंत्रित करता है।"

र्म की आवश्यकता बताने के बाद अम्बेडकर आदर्श धर्म की खोज करते हैं। वे इस मामले में अपने ॅ जान डेवी का समर्थन करते हैं, जिनका मानना था कि धर्म अन्ततः सामाजिक संगठन का यंत्र है। ा करणवादी (इन्स्ट्रूमेण्ट लिस्ट) विचार के अनुसार धर्म मनुष्य और ईश्वर के बीच का नहीं, बल्कि ुष्य और मनुष्य के बीच का विश्वास है। वे यहां तक कि ईश्वर के अस्तित्व या उसकी वश्यकता पर भी संदेह करते हैं। उनका मानना है कि अधिकतर धर्मों ने सिद्धांतों पर नहीं, बल्कि नेयमों और विधियों" पर जोर दिया है। विधि और नियम तो मात्र यह बताते हैं कि क्या करना है, जैसे पकवान बनाने की पुस्तिका मात्र यह बताती है कि क्या करना है और कैसे करना है", जबकि द्धांत हमको मान्यताओं के उत्कृष्ट या निकृष्ट होने का नैतिक मानदंड बताते हैं। उनके अनुसार कर्म केंद्र में ईश्वर नहीं, बल्कि नैतिकता है...."नैतिकता का जन्म इस आवश्यकता से होता है कि ुष्य मनुष्य से प्यार करे। इसके लिए किसी ईश्वर के आज्ञा की आवश्यकता नहीं है। भगवान को त्र करने के लिए नैतिक होने का औचित्य नहीं है।" अम्बेडकर ने आदर्श धर्म के निम्न गुण बताये -(1) उसे विज्ञान के अनुकूल होना चाहिए, (2) उसे स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व की भावना के नुकूल होना चाहिए, और (3) इसे दरिद्रता को महिमा मंडित नहीं करना चाहिए और अंध विश्वास, खंड, रहस्यवाद, अज्ञानता और जुनून को बढ़ावा नहीं देना चाहिए।

म्बेडकर ने हिंदू धर्म को अपने आदर्श धर्म की कसौटी पर कसा और उसे अयोग्य पाया। उनके नुसार हिंदू धर्म में पहले तो जाति प्रथा और अस्पृश्यता नहीं थी और उसमें मिशनरी भाव भी था। के अतिरिक्त वे अद्वैतवाद को भी आदर्श मानते हैं, लेकिन व्यवहार में इसकी उपेक्षा हुई ..."यदि समस्त सृष्टि में ब्रह्म व्याप्त हैं तो ब्राह्मण और अस्पृश्य समान हैं। लेकिन लोग इस सिद्धांत ा सामाजिक संगठन के स्तर पर लागू नहीं करते और वेदान्तिक स्तर तक ही सीमित कर देते हैं।" होंने विशेषतः मायावाद और कर्मवाद की आलोचना किया है। उनके अनुसार मायावाद से निष्क्रियता ाती है और कर्मवाद के कारण मनुष्य अपने साथ हो रहे अन्याय का प्रतिकार करने का प्रयास नहीं र पाता...."इस सिद्धांत के आविष्कार के पीछे क्या कारण हो सकते हैं? केवल एक कारण ही झ में आता है कि इससे राज्य और समाज को निर्धनों और निम्न श्रेणी के लोगों के दायित्व से क्ति मिल गयी।" इसके अतिरिक्त जातिवाद के कारण "हिंदुत्व और सामाजिक एकता विरोधी हो ये हैं। हिंदुत्व की सोच सामाजिक अलगाव पर विश्वास करती है, जो सामाजिक बिखराव का ही र्याय है और यह सोच यहाँ तक कि सामाजिक अलगाव को पैदा करती है।" उन्होंने लिखा है कि

धर्म-परिवरतन से कोई लाभ नहीं है..."धर्म परिवर्तन से धर्मान्तरित अस्पृश्यों की सामाजिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया है। आम हिंदुओं के लिए भले ही वे इसाई हो गये हों, वे अस्पृश्य ही रहेंगे।" उन्होंने लिखा है कि सभी वर्णों के लोगों ने इसाई धर्म स्वीकार किया, लेकिन इस धर्म में भी उनके बीच वही दूरी बनी रही। अमेरिका के दलित अश्वेतों को मुक्ति इसाइयत से नहीं, बल्कि गृह युद्ध से मिली। इन मान्यताओं के होते हुए भी उन्होंने 1956 में बौद्ध धर्म स्वीकार किया। यह माना जा सकता है कि इसके पीछे उनका सर्वथा उचित संचित आक्रोश था।

डा0 अम्बेडकर ने 13 अक्टूबर 1935 को येवला (महाराष्ट्र) में धर्म परिवर्तन की घोषणा किया था और अगले वर्ष उन्होंने बम्बई में महारों का सम्मेलन भी इसी उद्देश्य से बुलाया। अधिकतर महारों ने ही धर्म-परिवर्तन किया, जिन्हें नव-बौद्ध कहते हैं। बीस वर्ष बाद कहीं जाकर उन्होंने नागपुर में 14 अक्टूबर 1956 को बौद्ध धर्म स्वीकार किया। उस वक्तव्य में भी उन्होंने कहा था कि उन्होंने भारतीय धर्म को ही बहुत विचार करके अपनाया है और भगवान बुद्ध को उनकी भूमि पर वापस लाने का प्रयास किया है। उनकी इस उदात्त भावना की सराहना होनी चाहिए, लेकिन धर्मांतरण शब्द इस काम के लिये काफी कठोर लगता है–वस्तुतः वे भारतीय मनीषा की और गहराई में चले गये। सावरकर ने सही कहा था कि अम्बेडकर ने 'लम्बी छलांग' की घोषणा किया था, जबकि उन्होंने 'ऊँची छलांग' लगाई है।

डा0 अम्बेडकर भगवान बुद्ध से बचपन से ही प्रभावित थे। युवावस्था में यह भावना और प्रबल हुई। हम देख चुके हैं कि उन्होंने अस्पृश्यों को बौद्ध मतानुयायी सिद्ध किया था। उन्होंने बम्बई में सिद्धार्थ कालेज और औरंगाबाद में अजंता-एलोरा की बौद्ध गुफाओं के पास बौद्ध राजा मिलिंद (मिनेंडर) के नाम पर विद्यालय की स्थापना करवाया। उसके पास के उद्यान का नामकरण उन्होंने मिलिंद के बौद्ध गुरु नागसेन पर किया था। उन्होंने संविधान सभा में पालि भाषा के लिये सफलतापूर्वक प्रयास किया। उनके प्रयास से ही राष्ट्रीय ध्वज पर धर्म चक्र और मुद्रा पर अशोक स्तम्भ का सिंह वाला शीर्ष भाग अंकित हुआ है। राष्ट्रपति भवन में भी इसी क्रम में बुद्ध का प्रथम उपदेश 'धर्म चक्र प्रवर्तनाय' उत्कीर्ण किया गया है। उनका भावना था कि "बौद्ध धर्म का उदय और फ्राँस की महाक्रान्ति–दोनों युगान्तकारी घटनाएँ हैं।" इसके पीछे यह तर्क था कि बौद्ध धर्म ने ही शूद्रों को शासनाधिकार दिलवाया। नालंदा तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालय स्थापित किये और गणतान्त्रिक शासन प्रणाली से विश्व को परिचित करवाया। बौद्ध काल में भारतीय साहित्य, दर्शन और कलाओं की अभूतपूर्व प्रगति हुई। उनके अनुसार बौद्ध धर्म के पतन के दो बड़े कारण थे। एक तो उन ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया थी, जो बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण निष्प्रभ और निर्धन हो रहे थे। दूसरा बख्तियार खिलजी जैसे आक्रांताओं ने भयंकर रक्तपात और लूटपाट किया। चूँकि बौद्ध धर्म संघों में संगठित था, इसलिए उसे नष्ट करना सरल था। बख्तियार ने नालंदा विश्वविद्यालय को जला दिया जहां लगभग दो लाख पुस्तकें थीं। अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म के प्रामाणिक परिचय के लिये 1951 से ही 'बुद्ध एंड हिज धम्म' नाम से एक महाग्रन्थ लिखना शुरू कर दिया था, जो उनकी मृत्यु तक चलता रहा। उन्होंने महाराष्ट्र के ठाणे के पास सोपारा में अशोक के एक शिलालेख का कई बार जाकर अध्ययन किया और उसके आधार पर मराठी में एक पुस्तक लिखा।

17.5 बौद्ध धर्म और मार्क्सवाद

भगवान बुद्ध और कार्ल मार्क्स की तुलना बहुत प्रासंगिक प्रतीत नहीं होती। दोनों के बीच लगभग 2500 वर्ष का अंतर है और उससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि दोनों के कार्यक्षेत्र बिल्कुल अलग हैं।

यं अम्बेडकर के शब्दों में "दोनों की तुलना को एक मजाक माना जा सकता है।" फिर भी म्बेडकर ने दोनों की तुलना करते हुए "बुद्धा आर कार्ल मार्क्स?' शीर्षक से एक लेख लिखा है जो ठमांडू में दिये गए उनके व्याख्यान पर आधारित है। नागपुर में दीक्षा लेते समय भी उन्होंने अपने नुयायिओं को मार्क्सवाद के खतरे से सचेत किया था। काठमांडू के व्याख्यान में भी उन्होंने बौद्ध धर्म र मार्क्सवाद को अपने सामने खड़ी वैकल्पिक व्यवस्थाएँ माना था..."यदि बौद्ध देशों की युवा पीढ़ी समझ सकने में असफल होती है कि बौद्ध जीवन पद्धति साम्यवादी जीवन पद्धति से श्रेष्ठ हैं, तो द्ध धर्म भविष्यहीन हो जाएगा।" इसी तरह उन्होंने आगे लिखा है, "हमें ध्यान रखना चाहिए कि ज एशिया में बहुत लोग और विशेषकर भारी संख्या में नवयुवक कार्ल मार्क्स को पूजा के योग्य मात्र मसीहा मानते हैं और वे बौद्ध संघों को प्रायः मात्र एक पीला खतरा मानते हैं। भिक्षुओं को श्यमेव इस संकेत को समझना चाहिए और इस तरह सुधार करना चाहिए कि उनकी तुलना कार्ल र्स से हो सके और बौद्ध धर्म प्रतियोगिता कर सके।" हमें याद रखना चाहिए कि वह युग शीत र का था, जिसमें पश्चिमी संसार एशिया में साम्यवादी चीन और सोवियत संघ के बढ़ते प्रभाव से तेत था। मार्क्स के समकक्ष बुद्ध को खड़ा करने के पीछे डा0 अम्बेडकर का मंतव्य भी कुछ न वैसा ही था। मार्क्सवाद और बौद्ध धर्म के अपेक्षाकृत अनौचित्यपूर्ण तुलनात्मक अध्ययन के पीछे इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को याद रखना आवश्यक है।

ना के प्रारम्भ में अम्बेडकर दोनों मतों की मौलिक मान्यताओं को बिंदुवार प्रस्तुत करते हैं। दोनों के तुलना का एक बिंदु धर्म है। उनका कहना है कि बौद्ध धर्म में ईश्वर नहीं है, बल्कि वह नैतिकता जीवन का आदर्श ही नहीं, जीवन का नियम बनाता है और इस रूप में बौद्ध धर्म शुद्ध धार्मिक लों में भी मार्क्सवाद के अनुकूल है। दार्शनिक मामलों में भी दोनों में विचित्र समानता है। बुद्ध ने मा, अमरत्व विश्व की शाश्वता, मृत्यु के बाद के अस्तित्व जैसे दार्शनिक प्रश्नों पर विचार करने मना कर दिया था। मार्क्स ने भी कहा है कि "अब तक दार्शनिकों ने दुनिया की बहुविध व्याख्या ा है। प्रश्न उसे बदलने का है।" अम्बेडकर के अनुसार इस प्रकार दोनों मत सर्वथा सांसारिक हैं। का धम्म आचार शास्त्र ही है। इसके बाद अम्बेडकर वर्गों के प्रश्न पर आते हैं। जो मार्क्सवाद मौलिक मत है। मार्क्सवाद के अनुसार वर्गों का अस्तित्व सदैव रहा है, उनके बीच में आर्थिक ार पर संघर्ष होता रहा है और निजी सम्पत्ति को समाप्त करके ही वर्ग संघर्ष को समाप्त किया जा ता है। अम्बेडकर इन प्रश्नों पर 'धम्म' की विवेचना करते हैं। बुद्ध ने वर्गों के अस्तित्व, उनके संघर्ष होते रहने और इस संघर्ष को समाप्त करने की आवश्यकता को स्वीकार किया है। अंतर है कि बुद्ध की दृष्टि में ये वर्ग मात्र आर्थिक आधार पर नहीं बने हैं, बल्कि ये विस्तृत हैं–जैसे क, अभिजात, पिता-पुत्र, मित्र और गृहस्थ आदि।

ान बुद्ध न केवल वर्गों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, बल्कि उनके बीच होने वाले संघर्ष की याख्या करते हैं। उनके अनुसार यह संघर्ष क्षुद्र इच्छाओं के कारण होता है और इस संघर्ष को त करने के लिए आठ उपाय (आष्टांगिक आर्य मार्ग) हैं। अम्बेडकर यहाँ भी बुद्ध और मार्क्स को ः समान धरातल पर खड़ा पाते हैं...."भाषा भिन्न है, लेकिन आशय वही है। अगर हम दुख के पर शोषण रख दें तो बुद्ध मार्क्स से दूर नहीं है।" मार्क्स शोषण समाप्त करने के लिये निजी त्ति को समाप्त करना चाहता है और अम्बेडकर के अनुसार बुद्ध ने भी यही किया। बुद्ध ने ओं के लिये निजी सम्पत्ति वर्जित कर दिया। भिक्षुक केवल आठ वस्तुयें रख सकते थे। स्वयं बुद्ध छेक दरिद्रता का तपस्वी जीवन जीते थे। अम्बेडकर के अनुसार बुद्ध स्वयं भी ऐसा इसलिए करते कि संघ में धनिकों का प्रवेश न हो। यह अवश्य है कि बुद्ध की ये वर्जनाएं समाज के लिये नहीं

उपरोक्त विश्लेषण से अम्बेडकर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि मार्क्सवाद और धम्म के लक्ष्य एक हैं। मार्क्सवाद बल पर टिका है। जब बल समाप्त होगा तो उस राज्य को टिके रहने के लिए 'धम्म' की आवश्यकता होगी जो ईश्वर, कर्मकांड, पाखंड और अंधविश्वास आदि से मुक्त है...."हमें 'धम्म' को अन्य धर्मों की तरह नहीं लेना चाहिए। बलहीन होने पर साम्यवाद को जीवित रखने में बौद्ध मत परम सहायक होगा।" ऐसा इसलिए है, क्योंकि "व्यक्ति को बदलने के लिए बुद्ध ने उसकी नैतिक वृत्ति को बदला ताकि वह सही रास्ते पर जाए–लेकिन स्वेच्छा से।"

17.6 भारतीय परिप्रेक्ष्य में मार्क्सवाद

अम्बेडकर ने युवावस्था में विदेशों में अध्ययन की अवधि में भी मार्क्सवाद से कोई विशेष लगाव नहीं दिखाया था, यद्यपि उस समय मार्क्सवाद युवाओं में बहुत लोकप्रिय था। इसके अतिरिक्त यह तथ्य भी था कि मार्क्सवाद मूलतः आर्थिक सिद्धांत है और अम्बेडकर भी मूलतः अर्थशास्त्री थे। इसके पीछे एक कारण तो यह था कि अम्बेडकर सम्भवतः नैसर्गिक रूप से उदारवादी थे। दूसरी बात यह थी कि उनका दलित समुदाय अपनी मुक्ति के लिए एक बड़ी लड़ाई में लगा था। उसके संघर्ष का दूसरा मोर्चा खोलने से भटकाव और अनावश्यक टकराव ही होता। फिर भारत की परिस्थितियाँ भिन्न थीं। अम्बेडकर ने लिखा है...."समाजवादियों की त्रुटि इस मान्यता में है कि, चूँकि यूरोपीय समाज के वर्तमान दौर में शक्ति का मुख्य आधार सम्पत्ति है, इसलिए वैसा ही भारत के लिए भी सच होगा।" उनके अनुसार भारत में "धर्म, सामाजिक प्रस्थिति और सम्पत्ति-तीनों शक्ति और प्राधिकार के स्रोत हैं, जिनके आधार पर कोई व्यक्ति अन्य की स्वतंत्रता नियंत्रित कर सकता है। एक चरण पर एक प्रभावी होता है, दूसरे पर अन्य। यही अंतर है।"

भारत में मार्क्सवादी आंदोलन अपने यूरोपीय प्रेरणा केन्द्रों की कार्बन कापी बन गया। भारतीय मार्क्सवादियों ने जाति को सदैव अधिरचना (सुपर स्ट्रक्चर) ही माना। भारतीय परिस्थिति की मौलिक भिन्नता को उन्होंने अनदेखा कर दिया। एक अंतर यह था कि भारत में बड़े जनांदोलन सदैव धार्मिक भावना से ही चल सके हैं। उन सबने कम से कम धर्म से टकराव की स्थिति कभी नहीं आने दिया। नारायण गुरू, फुले और घासीराम तक की यही स्थिति थी, जबकि मार्क्सवाद ने सीधे कर्म पर आक्रमण कर दिया। यूरोप में धर्म-सुधार, पुनर्जागरण, औद्योगिक क्रांति और समाजवादी आंदोलनों की लम्बी परम्परा ने एक तो धर्म के आधार को कमजोर कर दिया था और बोर्जुआ तथा श्रमिकों–दोनों को एक सीमा तक प्रगतिशील बना दिया था। भारत में मार्क्सवाद शहरी बुद्धिजीवियों के नियंत्रण में रहा। इसके अतिरिक्त भारतीय संगठित श्रमिक वर्ग में अस्पृश्य कम रहे। भारतीय मार्क्सवाद ने संगठित श्रमिक क्षेत्रों पर जोर दिया, कुछ इसलिए भी क्योंकि संगठित होने के कारण ये श्रमिक हड़ताल जैसी प्रभावी 'औद्योगिक कारवाई' बहुत सरलता से कर लेते थे। भारतीय दलित संगठित श्रमिकों की तुलना में बहुत दयनीय स्थिति में थे और आज भी हैं। भारतीय दलित एक प्रकार से वास्तविक और शाश्वत सर्वहारा हैं, लेकिन भारतीय मार्क्सवादी यूरोपीय मान्यताओं पर प्रश्न चिन्ह न लगा सके। अम्बेडकर ने शुरुआती चरण में स्वतंत्र श्रमिक दल बनाकर कई बार दलित-श्रमिक एकता का प्रयास किया। उनका कहना था–"श्रमिकों के दो विरोधी हैं–ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद।" ऐसी कई हड़तालों में अम्बेडकर ने भाग लिया, फिर भी उनके मन में यह संदेह बना रहा कि भारतीय मार्क्सवादी-समाजवादी दलितों की समस्या को समझ नहीं सके हैं।

यह स्पष्ट नहीं है कि अगर भारतीय समाज और विशेषतः भारतीय दलितों की इतनी विशिष्ट न होती, तो डा0 अम्बेडकर मार्क्सवाद को किस प्रकार देखते। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें मार्क्सवाद पर दो

आपत्तियाँ थीं। एक तो यह कि मार्क्सवाद अनावश्यक और अतिरेकी हिंसा पर जोर देता है और ारा के नाम पर अधिनायकवाद स्थापित करता है। दूसरी आपत्ति उसके चरम भौतिकतावाद पर है, से खिन्न होकर अम्बेडकर ने कार्लाहिल का शब्द उधार लेकर मार्क्सवाद को "शूकर दर्शन" या है।

.7 "आर्थिक शोषण के विरुद्ध संरक्षण"

देख चुके हैं कि अम्बेडकर ने अपने सार्वजनिक जीवन में दलितों के साथ ही श्रमिकों को भी त महत्व दिया था। बम्बई विधान सभा के अपने 12 वर्षों के कार्यकाल में उन्होंने ऐसे तमाम न बनवाये और पुराने कानूनों में संशोधन के प्रस्ताव रखे। श्रमिक समस्याओं से उनका जुड़ाव बना रहा। इस कार्य में उनको एक बड़ा अवसर जुलाई 1942 में मिला जब उन्हें वायसराय की कारिणी में श्रमिक समस्याओं का दायित्व दिया गया। इस स्थिति में उन्होंने श्रमिक कल्याण की क व्यवस्था बनाई, जैसे श्रमिकों के न्यूनतम वेतन और काम करने के अधिकतम घंटों का ण, त्रिपक्षीय संगठन का गठन, बीमा योजना का क्रियान्वयन और श्रमिक संगठनों की मान्यता के डों का निर्धारण। उस समय यह आपत्ति की जाती थी कि अगर औद्योगिक विकास के इस चरण मेक कल्याण की योजनाएँ बनायी जाएंगी, तो औद्योगिक विकास नहीं हो पाएगा, मंहगाई बढ़ेगी प्रायः तो इन्हें लागू कर पाना भी कठिन होगा। औद्योगिक क्रांति के शास्त्रीय प्रतिरूप यानी इंग्लैंड लगभग एक शताब्दी तक श्रमिक कल्याण की कोई व्यवस्था नहीं थी। अम्बेडकर ने इन श्रमिक ी तर्कों का प्रबल प्रतिवाद किया।

में डा0 अम्बेडकर ने आर्थिक कार्यक्रमों की एक विस्तृत योजना प्रस्तुत किया, जिसका शीर्षक आर्थिक शोषण के विरुद्ध संरक्षण।" उन्होंने इस व्यवस्था को 'राजकीय समाजवाद' का नाम उनका मानना था कि चकबंदी और मुजारा कानूनों से 6 करोड़ दलितों की समस्या का कोई ान नहीं होगा। क्योंकि वे अधिकतर भूमिहीन श्रमिक या सीमांत कृषक ही हैं। इसी तरह उद्योग र में पूँजीवादी विकास से भी श्रमिकों को कोई लाभ नहीं होगा, क्योंकि पूँजीवाद से अमानवीय ानता और बढ़ेगी। इनकी योजना में इनका विकल्प तैयार किया गया था, जिसमें मुख्य बातें इस थीं--मुख्य उद्योगों और बीमा पर राज्य का नियंत्रण होगा, क्योंकि भारी मात्रा में पूंजी का निवेश ही कर सकता है। इसी तरह समस्त कृषि भूमि राजकीय नियंत्रण में रहेगी, यद्यपि उसको सभी के बीच औचित्यपूर्ण ढंग से बांट दिया जाएगा। कृषि सामूहिक ढंग से होगी। जिन तियों, सामन्तों और भूस्वामियों से सम्पत्ति का अधिग्रहण होगा, उनको क्षतिपूर्ति के रूप में त्र प्रदान किए जाएंगे। ये ऋण-पत्र वंशानुगत होंगे, लेकिन इनके ब्याज की राशि और भुगतान ार का निर्धारण राज्य ही करेगा।

कर का मानना था कि इस योजना से आर्थिक प्रगति के साथ सामाजिक समानता भी स्थापित गी। उन्होंने यह भी प्रयास किया कि इसके कुछ प्राविधानों को संविधान में शामिल किया ताकि राजनैतिक लोकतंत्र के साथ आर्थिक-सामाजिक लोकतंत्र भी स्थापित हो। वे यह भी चाहते इस 'राजकीय समाजवाद' को संविधान की मौलिक व्यवस्था में इस प्रकार शामिल किया जाए वर्तनशील विधायिका इसे संशोधित न कर सके। निसन्देह अम्बेडकर की यह योजना अत्यधिक शील थी, लेकिन सम्भवतः वे स्वयं इस योजना पर समय नहीं दे सके। एक अर्थशास्त्री होने उनसे अपेक्षा थी कि वे इस रूपरेखा के विस्तार में जाते। इतने विशाल देश की समग्र ल सम्पत्ति का अधिग्रहण और संचालन कैसे होगा और क्षतिपूर्ति की राशि कहाँ से आयेगी?

उन्होंने इन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार नहीं किया।

17.8 राष्ट्रवाद का स्वरूप और भारतीय राष्ट्रवाद

डा0 अम्बेडकर ने राष्ट्रवाद का विशद विश्लेषण अपनी पुस्तक 'थाट्स ऑन पाकिस्तान' में किया है। उनके अनुसार राष्ट्रवाद मूलतः एक भावना है, जो आर्थिक और राजनैतिक स्वार्थों से परे है। उन्होंने रेनां के इस वाक्य को उद्धृत किया है कि 'वह प्रतिदिन होने वाला जनमत संग्रह' है। एक दुधारी भावना की भाँति राष्ट्रवाद एक वर्ग को आत्मीयता के बंधन में बाँधती है और उसके साथ शेष वर्ग से अलग भी करती है। अम्बेडकर राष्ट्र को राज्य की अपेक्षा समाज से अधिक गहराई से जोड़ते हैं। राष्ट्र की शक्ति राज्य को समाज से ही मिलती है। जहाँ राष्ट्रीय भावना उपस्थित है, वहाँ राज्य भी प्रभावशाली होगा...."राज्य का अर्थ राष्ट्र नहीं है और जो राज्य राष्ट्र नहीं है, वह अस्तित्व के संघर्ष में कठिनाई से ही बच पाएगा।" इस प्रकार वह राष्ट्र-राज्य को सम्मानित स्थान देते हैं। राष्ट्र की शक्ति के बिना राज्य कुछ नहीं है, क्योंकि "राष्ट्रवाद एक ऐसी भावना है, जिसे अनदेखा या अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। हम इसे अतार्किक सहजवृत्ति या सकारात्मक विभ्रम कह सकते हैं, लेकिन यह एक तथ्य है कि इस बल में साम्राज्यों को विघटित करने की गतिशील शक्ति है।" उन्होंने इसका एक उदाहरण अरब राष्ट्रवाद से दिया है, जिसने इस्लाम के उस धार्मिक बंधन को भी तोड़ दिया, जिसे "मानवों में अब तक ज्ञात सर्वाधिक सशक्त बंधन" माना जाता है। अरब राष्ट्रवाद के तूफान ने तुर्की आटोमान खलीफा के साम्राज्य को नष्ट कर दिया।

राष्ट्रवाद की सैद्धान्तिक विवेचना करते हुए उन्होंने राष्ट्र को राष्ट्रीयता, समुदाय और देशभक्ति से अलग किया है। उनके अनुसार राष्ट्रीयता राष्ट्र में विकसित हो सकती है, अगर (1) इस समुदाय में साथ रहने की भावना बाध्यकारी बल प्राप्त कर ले और (2) उसके पास वह भूक्षेत्र हो जिस पर राज्य स्थापित किया जा सके। समुदाय "वे जन हैं जो विरोधों के होते हुए भी स्वयं अपने और अपने विरोधियों के लिए एक साझे भविष्य की कल्पना करते हैं", जबकि दो राष्ट्र अपने भविष्य को अलग ढंग से ही सोच सकते हैं, भले ही उन्हें विवशता में कितने भी लम्बे समय तक साथ क्यों न रहना पड़े। इसी कारण समुदाय को विद्रोह का अधिकार है, जबकि राष्ट्र को राज्य विखंडित करने का भी अधिकार है। समस्या उस समय आती है जब राष्ट्रीयताएँ भावनात्मक आवेश में राष्ट्र-राज्य बनने का हिंसक प्रयास करती हैं। अम्बेडकर के अनुसार अगर राष्ट्रीयता (1) जुड़े हुए भूभाग पर रहती है, और (2) वह भूभाग शेष भूभाग से अलग किया जा सकता है तो उस राष्ट्रीयता को राष्ट्रमानकर राज्य दिया जा सकता है। अम्बेडकर राष्ट्रवाद और देश भक्ति (पैट्रियाटिज्म) में भी अंतर करते हैं। राष्ट्रवाद "जीवन की पूरी विविधता में, सम्पूर्ण राष्ट्रीय समाज की परम्परा और उपलब्धियों के प्रति लगाव की भावना" है, जबकि देशभक्ति "अपनी जन्मभूमि की मिट्टी और पूरे परिवेश की भौगोलिक विशेषता के प्रति लगाव की भावना" है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि डा0 अम्बेडकर के दलित समुदाय ने अस्पृश्यता की अमानवीय यातना शताब्दियों से सहन किया है और स्वयं अम्बेडकर भी इसके अपवाद नहीं रहे। उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने और बड़े पदों पर रहने के बाद भी उन्हें अस्पृश्यता से मुक्ति नहीं मिली। 1928 में जब वे विधायक थे और स्टार्ट समिति के सदस्य के तौर पर एक प्राथमिक विद्यालय का दौरा करने गये थे, एक शिक्षक ने उन्हें कक्षा में घुसने नहीं दिया। एक बार खानदेश की यात्रा करते समय तांगेवाले ने उनका परिचय प्राप्त करने पर तांगा चलाने से मना कर दिया। विवशता में अम्बेडकर के नौसिखिये साथी ने तांगा चलाया, जिसके पलट जाने पर अम्बेडकर की हड्डी टूट गयी और उन्हें दो महीने

तर पर रहना पड़ा। इन अपमानों के बाद भी वे भारतीय राष्ट्र के भविष्य के प्रति आशावान रहे। ोंने उस समय के प्रचलित नस्लवादी सिद्धान्तों के विरुद्ध दो पुस्तकें लिखकर यह सिद्ध किया कि और अस्पृश्य नस्ली तौर पर भारतीय समाज के ही अंग हैं? खिलाफत आंदोलन का विरोध ोंने इस आधार पर किया, क्योंकि उसमें विदेशी खलीफा को फिर से स्थापित करने की मांग की थी। इसी तरह उन्होंने सिंध जैसे, मुस्लिम बहुल प्रांत की माँग का समर्थन करने पर मौलाना ाद की आलोचना किया था। उन्होंने भाषाई प्रांतों का विरोध इसी आधार पर किया क्योंकि उससे ाय एकता नष्ट होती है। कर्नाटक और गुजरात के अलगाव का समर्थन करने पर उन्होंने ैयालाल माणिकलाल मुंशी की राष्ट्र भक्ति पर प्रश्न चिह्न लगाया था।

ेडकर सदैव यह मानते थे कि सशक्त केंद्र ही दलितों की रक्षा कर सकेगा, जबकि प्रांतीय सरकारें ातों के हितों की रक्षा नहीं कर पाती हैं। इसीलिए उन्होंने एकात्मक और केंद्रीकृत राज्य का समर्थन ा। वे यह भी चाहते थे कि राष्ट्र भाषा एक ही हो...."एक भाषा लोगों को जोड़ती है। यह ेचित है कि दो भाषाएँ जनता को विभाजित करेंगी। चूंकि भारतवासी एकता और साझी संस्कृति का ास करना चाहते हैं, इसलिए सभी भारतीयों का कर्त्तव्य है कि वे हिंदी को अपनी भाषा के तौर स्वीकार करें।" उन्होंने एकता की भावना को प्रबल करने के लिये ही भारतीय संविधान में ऐसी स्थाएँ बनाई"...."एक भारतीय के नाते मैं भारतीय राष्ट्रवाद का विकास चाहता हूँ और इसमें बाधा ने के विचार से मैं प्रसन्न नहीं होता हूँ। भारतीय राष्ट्र के विकास में एकात्मक शासन का सर्वाधिक व पड़ा है।"

ेडकर का राष्ट्र प्रेम उनके धर्म-परिवर्तन के निर्णय में भी दिखता है। संविधान सभा में अम्बेडकर योगदान राष्ट्रवादी दृष्टि से अतुलनीय है। उन्होंने कहा था कि अब समय आ गया है, जब हम ं और पंथ के मतभेद भुलाकर राष्ट्र निर्माण के काम में लग जाएँ..."हमें अपनी स्वतंत्रता की रक्षा लिए अपने खून की आखिरी बूँद भी बहाने के लिए तैयार रहना चाहिए। 17 दिसम्बर 1946 को ोंने संविधान सभा में कहा था...."समय और परिस्थितियाँ अनुकूल होंगी और मुझे यह कहने में मात्र हिचक नहीं है कि हम लोग किसी न किसी रूप में एक हो जाएंगे।" उनके अनुसार इस ावाद का आधार संस्कृतिक एकता का उत्तराधिकार है, जो हमें प्राचीन काल से मिला है...."भारत एकता उतनी ही प्राचीन है, जितनी कि प्रकृति। इस भौगोलिक एकता के भीतर, इसके पूरे विस्तार नादिकाल से ही सांस्कृतिक एकता व्याप्त है। इस सांस्कृतिक एकता ने राजनैतिक और नस्ली दों को परास्त कर दिया है। इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती....कि भारत मौलिक रूप से है।"

7.9 सारांश

इकाई में हमने दलित अस्मिता के प्रबलतम प्रवक्ता डा0 अम्बेडकर के विचारों का अध्ययन ा। इस माध्यम से हम जान सके कि पिछली शताब्दी में किस प्रकार भारतीय समाज के वंचित ने अपने अधिकारों के लिए संघर्ष किया। इस दलित जागरण में निसन्देह डा0 अम्बेडकर की धिक सक्रिय भूमिका रही। उन्होंने इस जागरण का एक विस्तृत वैचारिक आधार तैयार किया। के साथ उन्होंने जनसंघर्षों, विधायिकाओं, गोलमेज सम्मेलनों तथा संविधान सभा आदि के मोर्चों में य सहभागिता करके दलितों को राष्ट्रीय राजनीति में सम्मानजनक स्थान दिलवाया।

अम्बेडकर जैसी बहुमुखी प्रतिभाएँ बहुत कम होती हैं। उन्होंने एक 65 वर्ष के अल्पजीवन में ाजिक जीवन के हर पहलू को प्रभावित किया। उन्होंने सिद्ध किया कि शूद्र और अस्पृश्य किसी

अलग नस्ल के नहीं है और इतिहास की कतिपय दुखद घटनाओं ने उन्हें निचले स्तर पर पहुँचा दिया। प्राचीन भारत में ऐसी असमानता नहीं थी। तत्कालीन समाज लचीला था। उन्होंने बौद्ध काल की स्वर्णिम उपलब्धियों की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया। इस आधार पर भारत एशियाई देशों से निकटता बढ़ा सकता है। बौद्ध भारत के महान योगदान को हम भूल चुके थे। उनके प्रयास से ही कुछ प्रतीक हमारे राष्ट्रीय चिह्नों में सम्मिलित हो सके। उनके उदाहरण से हम समझ सकते हैं कि जनतांत्रिक व्यवस्था में टकराव होता है लेकिन धीरे-धीरे उन समस्याओं का अगर समाधान न हो, तो भी किसी प्रकार का समायोजन हो ही जाता है। अधिनायकवादी व्यवस्था में इन समस्याओं से हिंसक गृह युद्ध हो जाता है। राष्ट्रीय संकट के समय का राष्ट्र-निर्माता के महत्वपूर्ण अवसरों पर जनतंत्र में विरोधी भी अपना विरोध भूलकर बहुमत से नहीं बल्कि सर्वानुभूति से काम करने लगे हैं। भारतीय संविधान के निर्माण में सक्रिय भूमिका निभाकर डा0 अम्बेडकर ने राष्ट्र को यही संदेश दिया।

17.10 उपयोगी पुस्तकें

1. डा0 धनंजय कीर– डा0अम्बेडकर, लाइफ एंड किशन, पापुलर प्रकाशन, बम्बई 1985
2. डब्लू एन कुबेर– अम्बेडकर : ए क्रिटिकल स्टडी, पीपुल्स पब्लिकेशन हाउस, नयी दिल्ली 1949
3. भारती, के एस– फाउंडेशन ऑफ अम्बेडकर थॉट, डॉटसन पब्लिशर्स, नागपुर, 1990
4. कुसुम शर्मा– अम्बेडकर एंड इंडियन कांस्टीच्यूशन, आशीष पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1985

17.11 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. डॉ0 अम्बेडकर का पूरा जीवन सामाजिक समानता के संघर्ष की वीर गाथा। इस कथन की व्याख्या कीजिये।
2. राष्ट्रवाद के स्वरुप और भारतीय राष्ट्रवाद के संघर्ष में डा0 अम्बेडकर के विचारों की विवेचना कीजिये।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. डा0 अम्बेडकर के अनुसार वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था में क्या अंतर था?
2. डा0 अम्बेडकर के किन कारणों से जाति-उन्मूलन को असंभव या कठिन बताया था?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. डा0 अम्बेडकर की जन्मतिथि क्या है?

   (अ) 14 अप्रैल, 1891

   (ब) 15 अप्रैल, 1891

   (स) 16 अप्रैल, 1891

   (द) 17 अप्रैल, 1891

डा0 अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म को छोड़कर किस धर्म को स्वीकार किया था?

(अ) इसाई धर्म

(ब) इस्लाम धर्म

(स) जैन धर्म

(द) बौद्ध धर्म

.12 प्रश्नोत्तर

1. (अ)

2. (द)

इकाई–18 : राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 संक्षिप्त जीवन वृत्त

18.3 राजर्षि के आर्थिक विचार

18.4 भारतीय संस्कृति का बौद्धिक आधार

18.5 राजर्षि और राष्ट्रीय समस्याएँ

18.6 धार्मिक व्यक्तिगत विधि और धर्मान्तरण

18.7 राष्ट्रभाषा हिंदी, देवनागरी लिपि और अंक

18.8 हिंदुस्तानी और हिंदी

18.9 सारांश

18.10 उपयोगी पुस्तकें

18.11 सम्बन्धित प्रश्न

18.12 प्रश्नोत्तर

18.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से आपको ज्ञात होगा कि–

- वर्तमान काल की तमाम व्यवस्थाओं को हम सहज स्वीकार कर लेते हैं, जैसे उनका औचित्य स्वयंसिद्ध हो और उन पर हमारा जन्मजात अधिकार हो, लेकिन उनको पाने के लिए राजर्षि टंडन जैसे महापुरुषों को कितना कष्ट उठाना पड़ा है। यह स्थापना विशेष रूप से राष्ट्रभाषा हिंदी के लिए सच है। आपको यह अविश्वसनीय लगेगा कि आधुनिक हिंदी को केवल अंग्रेजी और उर्दू से ही नहीं बल्कि हिंदुस्तानी नाम की प्रायः कृत्रिम भाषा से भी लम्बी लड़ाई लड़नी पड़ी, जिस प्रक्रिया में हिंदी को महात्मा गांधी तक के कठोर विरोध का सामना करना पड़ा,
- बहुत अर्थों में स्वतंत्र भारत में भी आधुनिकीकरण के नाम पर किस प्रकार से पश्चिमीकरण किया गया और किस प्रकार से सर्वोदय की तरह ही राजर्षि टंडन ने भारतीय संस्कृति के तमाम पहलुओं जैसे देशी और प्राकृतिक चिकित्सा, हिंदू उत्तराधिकार, देवनागरी लिपि और अंक आदि के लिए संघर्ष किया, और
- कांग्रेस के भीतर ही गांधी-नेहरू से अलग एक विकसित विचारधारा किस प्रकार संघर्षरत थी और राजर्षि टंडन के नेतृत्व में उस विचार ने किस प्रकार से–कम से कम राष्ट्रभाषा के मामले में निर्णायक विजय हासिल किया।

18.1 प्रस्तावना

हमें ज्ञात है कि बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही लाल-बाल-पाल के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रवाद का

त्स्वी रूप सामने आ रहा था। 1905 के बंग-भंग ने जनाक्रोश को चरम पर पहुँचा दिया। हमें यह याद रखना चाहिए कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता के राजनैतिक ही नहीं, तमाम सांस्कृतिक आयाम भी होते इस तरह स्वतंत्रता-संघर्ष प्रमुखतः कांग्रेस के नेतृत्व में तो लड़ा ही जा रहा था, उसके साथ ही भाषा, राष्ट्रीय लिपि, धार्मिक स्वतंत्रता और राष्ट्रीय साहित्य आदि के लिये भी संघर्ष चल रहा था। तुतः बिल्कुल ठीक–सन् 1900 में ही राष्ट्रभाषा की लड़ाई का एक एतिहासिक चरण पूरा हुआ था, संयुक्त प्रांत के राज्यपाल–मैकडानेल ने उर्दू के साथ हिंदी को भी कचेहरी आदि के सरकारी काम लिए स्वीकार कर लिया। उस समय तो हिंदी को केवल उर्दू का समकक्ष माना गया था, लेकिन मान्यता के लिए ही लम्बी लड़ाई लड़नी पड़ी। राष्ट्रीय स्वतंत्रता की राजनैतिक लड़ाई का विस्तृत रण तो हम पढ़ते हैं, लेकिन हम प्रायः राष्ट्रभाषा के सांस्कृतिक संघर्ष को कम महत्व देते हैं। टंडन के जीवन में हमें राजनैतिक और सांस्कृतिक–दोनों संघर्षों का समान महत्त्व मिलेगा। स्वतंत्रता प्राप्ति बाद राजनैतिक संघर्ष तो रुक गया, लेकिन राष्ट्रीय अस्मिता के सांस्कृतिक पक्ष के लिए राजर्षि न जैसे कतिपय महापुरुषों का संघर्ष चलता रहा। हम देखेंगे कि इस सांस्कृतिक संघर्ष के चलते ाजर्षि टंडन केवल उपेक्षा ही नहीं, अनादर तक के शिकार हुए। एक प्रकार से उन्हें इतिहास के शिये पर डाल दिया गया। काका कालेलकर को लिखे एक पत्र में टंडन जी की मार्मिक वेदना लकती है..... "सार्वजनिक जीवन में हम लोगों को आक्षेप और कटु भाषा सुनने का अभ्यास हो ाता है। जिसको हम शुद्ध-बुद्धि से अपना सदाशय समझते हैं, उसमें लोग साधारण ईमानदारी की मी का भी आक्षेप करते हैं। ऐसी बातों को हम लोग सहन कर लिया करते हैं। हृदय पर चोट तो ुँचती है, किंतु कर्त्तव्य अथवा कार्यमोह अथवा आदत इन बातों को बर्दाश्त करवा देती है। आपके ाम्यों को मैं इसी रीति से सहूँगा"।

म्भवतः कांग्रेस में राजर्षि टंडन अकेले ऐसे व्यक्ति रहे, जिन्होंने पूरा जीवन कांग्रेस में बिताते हुए भी ांधी और नेहरू का महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर विरोध किया और अगर विजयी नहीं रहे तो पराजित भी नहीं ए। 1950 में उन्होंने प्रधानमंत्री नेहरू के खुले विरोध के बाद भी कांग्रेस अध्यक्ष का चुनाव जीता। त्लीमेंट एटली और हेरोल्ड लॉस्की का प्रसिद्ध उदाहरण हमारे सामने है, जिसके बाद राजनीति ास्त्रियों ने सर्वसम्मति से मान लिया था कि सत्ताधारी राजनैतिक दल का अध्यक्ष प्रधानमंत्री से जीत हीं सकता। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि राजर्षि टंडन प्रधानमंत्री के गृह जनपद इलाहाबाद से ी थे और वहीं से 1937 और 1952 में क्रमशः प्रांतीय और राष्ट्रीय विधायिकाओं के लिए निर्वाचित ुए थे। इसके बाद भी राजर्षि टंडन का सर्वाधिक महत्त्व राष्ट्रभाषा हिंदी को स्थापित करने में है, क्योंकि यह भाषा हमारी आधुनिक अस्मिता का अभिन्न अंग है। इस प्रश्न पर अगर उन्होंने सीधा संघर्ष न किया होता, तो महात्मा गांधी हिंदुस्तानी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए कृतसंकल्प थे। राजर्षि टंडन भाषा और लिपि के मामले में विजयी रहे, यद्यपि देवनागरी अंक के प्रश्न पर संविधान सभा में वे एक मत से पराजित हुए। उन्होंने संयुक्त प्रांत में विधानसभा अध्यक्ष रहते हुए हिंदी को सफलतापूर्वक स्थापित कर दिया, जबकि उस समय संयुक्त प्रांत तक में हिंदी राजभाषा नहीं थी। उन्होंने हिंदी को इतना सक्षम बना दिया था कि फिर केंद्र में उन्होंने उसी आधार पर हिंदी को बढ़ाया। राजर्षि टंडन को ठीक इसी आधार पर कट्टरपंथियों में शामिल कर लिया गया। पं0 नेहरू की जीवनी के लेखक माइकेल ब्रोचर ने तो उन्हें सीधे 'हिंदू साम्प्रदायिक' तक मान लिया है। उन्हें केन्द्रीय मंत्रिमंडल में कभी स्थान नहीं मिला। 1950 में सरदार पटेल के निधन के बाद वे कांग्रेस में कुछ अलग-थलग पड़ गए। उनके व्यक्तित्व में कोई दोष नहीं था, फिर भी उन्हें उचित महत्त्व नहीं मिला। स्पष्ट है कि मामला सैद्धान्तिक था। गांधी जी दबाव के कारण हिंदी छोड़कर हिंदुस्तानी पर आ गए और उर्दू की लिपि को देवनागरी के बराबर रखने लगे। इसका अर्थ होता कि हिंदी राष्ट्रभाषा तो नहीं ही रहती, लिपि के मामले में भी उसका हिस्सा आधा ही रहता। अंक रोमन रहते। अंग्रेजी का प्रभुत्व अलग से रहता। राजर्षि टंडन ने इसका विरोध किया। यहाँ तक कि गांधी जी ने अपने को हिंदी

साहित्य सम्मेलन से अलग कर लिया। हम कल्पना कर सकते हैं कि राजर्षि टंडन कितनी बड़ी लड़ाई लड़ रहे थे।

18.2 संक्षिप्त जीवन वृत्त

पुरुषोत्तर दास टंडन का जन्म अगस्त 1882 को इलाहाबाद के अहियापुर मोहल्ले में हुआ था। परम्परानुसार उस अवधि में मलमास या पुरुषोत्तम मास था, इस आधार पर उनका नामकरण हुआ। एक विचित्र संयोग ने प्रारम्भ से ही उनके जीवन की दिशा तय कर दिया। संयोग यह था कि उनके पड़ोस में ही मदनमोहन मालवीय और द्विवेदी-युग के प्रतिनिधिक लेखक बालकृष्ण भट्ट रहते थे। युवा पुरुषोत्तम को मालवीय से अग्रज और भट्ट जी से पिता जैसा स्नेह मिला। हम कह सकते हैं कि राजर्षि का पूरा जीवन ही मालवीय और भट्ट की प्रारम्भिक प्रेरणाओं का प्रखर प्रसार था। मालवीय ने संयुक्त प्रांत के शासकीय कार्यों के लिए हिंदी के पक्ष में एक ऐतिहासिक हस्ताक्षर अभियान चलाया था, जिस कारण 1900 में हिंदी को उर्दू के समकक्ष स्थान मिला। बाद में मालवीय काशी हिंदू विश्वविद्यालय के काम में लग गए और उन्होंने हिंदी और प्रयाग के विकास के अभियान को युवा पुरुषोत्तम को सौंप दिया। 1910 में काशी नागरी प्रचारिणी सभा के प्रांगण में दोनों ने मिलकर हिंदी साहित्य सम्मेलन की स्थापना किया। मालवीय उसके सभापति और पुरुषोत्तम मंत्री हुए। कालान्तर में राजर्षि सम्मेलन से एकाकार हो गए। मालवीय की प्रेरणा से उन्होंने 1904 में मात्र 22 वर्ष की अवस्था में एक पेड़ के नीचे कुछ बालिकाओं को पढ़ाकर गौरी पाठशाला का श्री गणेश किया। उसकी तात्कालिक प्रेरणा इसाई मिशनरियों की शिक्षा व्यवस्था का विकल्प बनाने की चुनौती थी, क्योंकि उसी शिक्षा से उनके मोहल्ले में एक बालिका का धर्म-परिवर्तन हुआ था। राजर्षि बाद में इस बात का उल्लेख गर्व से करते थे कि उनको पुरातनपंथी कहकर चाहे कितना निन्दित क्यों न किया गया हो, वास्तव में उन्होंने स्त्री शिक्षा के लिए अपने ही समाज से लम्बी लड़ाई लड़ी है। उन्होंने हिंदी, स्त्री, शिक्षा, प्राकृतिक चिकित्सा और भारतीय संस्कृति के कुछ अन्य प्रसंगों पर जो संघर्ष किया, उसका संदर्भ हम अन्य शीर्षकों में करेंगे। यहाँ हम प्रमुखतः राजनैतिक घटनाओं का ही सिंहावलोकन करेंगे।

राजर्षि टंडन कांग्रेस के अधिवेशन में पहली बार 1899 में शामिल हुए, लेकिन उनकी सक्रिय सहभागिता 1904 से शुरू हुयी, फिर अगले वर्ष वे बनारस अधिवेशन में तत्कालीन अध्यक्ष गोखले के अंगरक्षक बने। 1908 से 1914 तक उन्होंने इलाहाबाद उच्च न्यायालय में तेज बहादुर सप्रू के निर्देशन में वकालत किया। 1914 में वे मालवीय जी के कहने पर नाभा रियासत के दीवान बने और फिर वे वहाँ के विदेश मंत्री भी बने। नाभा बहुत बड़ी रियासत थी और उनका पद भी बहुत महत्त्वपूर्ण था। उस समय अंग्रेज विश्वयुद्ध के लिए भारत से सैनिकों की भर्ती कर रहे थे। सम्भवतः ऐसे महत्त्वपूर्ण मौके पर उनको यह उचित नहीं लगा कि पुरुषोत्तम दास जैसे राष्ट्रवादी नाभा में रहें। उन्होंने त्याग पत्र देकर प्रयाग में फिर से हिंदी का काम सम्भाल लिया। उन्होंने 1918 में हिंदी विद्यापीठ की स्थापना किया। अगले साल वे इलाहाबाद महानगर पालिका के अध्यक्ष बने। उनके पहले इस पद पर प्रायः आई0 सी0 एस0 अधिकारी होते थे। अंग्रेजों ने स्थानीय स्वशासन की नीति के आधार पर पहली बार चुनाव से यह पद किसी भारतीय को दिया। श्री नारायण चतुर्वेदी ने इस भूमिका में इनकी "शान और दबंगई" की चर्चा की है और लाल बहादुर शास्त्री ने संस्मरण में लिखा है कि अध्यक्ष के रूप में टंडन जी हमेशा ही पैदल घूमते रहते थे। अपने छोटे से कार्यकाल में उन्होंने वाटर वर्क्स से पानी देने के मामले में तत्कालीन राज्यपाल (लाट साहब) और पानी के बिल के भुगतान के मामले में छावनी के सेनाधिकारियों से टकराव मोल लिया और दोनों मामलों में जीत हासिल की। उन्होंने प्रिंस ऑफ वेल्स के स्वागत में अभिनंदन पत्र पढ़ने से मना कर दिया। इस अवधि में ही टंडन जी ने मोतीलाल जी के अनुरोध पर युवा जवाहर लाल को राजनैतिक प्रशिक्षण दिया। बाद में दोनों में बहुत

भेद रहा, लेकिन इलाहाबाद की संसदीय सीट पर टंडन जी के अधिकार को नेहरू जी ने सदैव ही कार किया।

21 में असहयोग आंदोलन के क्रम में टंडन जी के घर की कुर्की हो गयी और उनके परिवार पर ा आर्थिक संकट छा गया। उनका सिद्धांत था कि सार्वजनिक कार्य की क्षतिपूर्ति नहीं होना हेए। उनके परिवार ने मालवीय जी और जमनालाल बजाज के सहायता प्रस्तावों को स्वीकार नहीं या। उनके बेटों को आजीविका के लिए कपड़े और कढ़ाई के छोटे काम करने पड़े। असहयोग दोलन के बाद उनका सम्मान बढ़ चुका था। वे 1923 में प्रदेश कांग्रेस के गोरखपुर अधिवेशन के यक्ष बने। वे 1922 और 1923 में हिंदी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष भी रहे। 1925 तक आते-ते कांग्रेस का आंदोलनात्मक स्वरूप फीका पड़ गया था। शायद इसी कारण उन्होंने उस साल ला लाजपत राय के अनुरोध पर लाहौर जाकर पंजाब नेशनल बैंक के संयुक्त सचिव का काम भाल लिया। लाला लाजपत राय की मृत्यु पर उन्होंने उनके संगठन--लोक सेवा मंडल की अध्यक्षता ीकार किया। गांधी जी का अनुरोध था कि लोक सेवा मंडल को टंडन जी ही सही दिशा दे सकते मंडल के माध्यम से उन्होंने देश के भावी नेताओं को तैयार किया, जिसमें पंजाब के अचिंतदास, ीसा के विश्वनाथ दास और हरेकृष्ण मेहताब तथा उत्तर प्रदेश के लाल बहादुर शास्त्री और लगूराय शास्त्री का नाम प्रसिद्ध हैं।

र्षि के गैर राजनैतिक कार्यों में प्रायः केवल हिंदी की ही चर्चा होती है लेकिन वास्तव में वे ानात्मक कार्यों में भी समान दिलचस्पी रखते थे। लोक सेवा मंडल में तो लाजपत राय ने उन्हें पहला दस्य ही बनाया था। उससे पहले भी 1908 में वे लाजपत राय के साथ अकाल निवारिणी सभा के ा अकाल में सहायता कार्य कर चुके थे। उन्होंने इलाहाबाद के किले में बंद गिरमिटिया मजदूरों को ड़ाया था। 1917 में प्रयाग में प्लेग फैलने पर उन्होंने सराहनीय काम किया था। 1934 में बिहार के क्रम्प पीड़ितों के बीच उन्होंने डा0 राजेन्द्र प्रसाद के साथ राहत कार्य किया। 1925 में प्रयाग के र्धकुम्भ के अवसर पर उन्होंने स्नान के प्रश्न पर प्रशासन से टकराव मोल लिया। इस तरह के ाहरण बहुत हैं। 1944 में उन्होंने प्रांतीय प्रतिनिधि सभा बनाकर 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के ाकार परिवारों की आर्थिक और वैधानिक सहायता की व्यवस्था किया। इसी क्रम में उन्होंने जौनपुर युवकों को न्यायिक प्रक्रिया के द्वारा मृत्युदंड से बचाया।

सहयोग आंदोलन के दस साल बाद 1930-31 से कांग्रेस ने फिर सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू कया। इस आंदोलन में नमक बनाने के कारण उनकी जमीन जब्त हुई। इसी कारण सम्मेलन मार्ग की स भूमि का नाम तपोभूमि रखा गया। फिर 1937 में प्रांतीय स्वायत्तता और द्वैध शासन के आधार पर ांतीय विधायिकाओं के चुनाव हुए, जिसमें वे प्रयाग नगर से निर्विरोध निर्वाचित हुए और फिर निर्विरोध ाध्यक्ष भी बने। विधान सभा अध्यक्ष का पद उनके व्यक्तित्व से बड़ा नहीं था, फिर भी उन्होंने उस द पर रहकर भारतीय राजनीति को दो महत्त्वपूर्ण और उससे भी बढ़कर स्थायी--उपहार दिए। जनवरी 938 में मुस्लिम लीग के जहीरुल हसन लारी ने अध्यक्ष की राजनैतिक सक्रियता के विरोध में एक स्ताव रखा। सदन में कांग्रेस के 133 और विपक्ष के 95 सदस्य थे। उस प्रसंग में उनके द्वारा दिए ए इस वक्तव्य की चर्चा आज भी होती है, जिसमें उन्होंने चुनौती दिया था कि अगर विपक्ष के तीन दस्य भी उनके विरुद्ध अविश्वास व्यक्त करने की पर्ची लिखकर भेज दें तो वे तुरंत त्याग पत्र दे ंगे। विपक्ष के 95 सदस्यों में एक ने भी पर्ची नहीं भेजी। इस प्रकरण में नैतिकता कुछ नाटकीय ढंग ें अभिव्यक्त हुयी, लेकिन स्थायी महत्त्व की बातें कुछ और हैं, जिनमें से हम दो का संदर्भ लेंगे।

स संदर्भ में पहली घटना ने भारत में एक नयी संसदीय परम्परा को जन्म दिया। हम जानते हैं कि ब्रेटिश अभिसमय के अनुसार विधायिका का अध्यक्ष पूरे राजनैतिक जीवन के लिए निर्दलीय हो जाता ै। इसमें भारत की केंद्रीय धारा सभा के अध्यक्ष विट्ठलभाई पटेल ने यह संशोधन किया कि अध्यक्ष

केवल अपने कार्यकाल में अपने दल से अलग रहेगा। इस आधार पर उन्होंने अपने को स्वराज पार्टी से अलग कर लिया। राजर्षि टंडन ने इस परम्परा को और परिमार्जित करके यह व्यवस्था बनायी कि अध्यक्ष अपने कार्यकाल में भी दलीय सदस्यता नहीं छोड़ेगा। मार्च 1938 को संयुक्त प्रांत की विधायिका ने इस प्रस्ताव को स्वीकार करके वैधानिक रूप दे दिया। आज भारत में केवल राज्य सभा के सभापति ही इसके अपवाद होते हैं, जिसका कारण यह है कि राज्यसभा के अध्यक्ष पदेन उप राष्ट्रपति भी होते हैं। निश्चित रूप से उपराष्ट्रपति का निर्दलीय रहना ही उचित है। अध्यक्ष पद पर रहते हुए टंडन जी ने एक अन्य योगदान दिया जो राष्ट्रभाषा से सम्बन्धित है। तत्कालीन भाषा अधिनियम के अनुसार सदन की भाषा अंग्रेजी थी, लेकिन उसके अपवाद के तौर पर नियम 19 की व्यवस्था थी। नियम 19 के अनुसार अध्यक्ष अंग्रेजी न जानने वाले सदस्यों के लिए विशेष व्यवस्था कर सकते हैं। शिव सिंह सरोज ने सही लिखा है कि टंडन जी ने "नियम 19 की सुई से राष्ट्रभाषा हिंदी का ऊँट निकाल लिया"। टंडन जी ने नियम 19 की व्याख्या में कहा कि इसके अन्तर्गत वही सदस्य ही नहीं हिंदी में बोल सकते हैं जो अंग्रेजी नहीं जानते, बल्कि अंग्रेजी जानने वाले सदस्य भी हिंदी और उर्दू में बोल सकते हैं। नियम 19 की इस व्याख्या से अंग्रेजी को राजभाषा बनाने वाला अधिनियम ही एक प्रकार से अप्रभावी हो गया। उस समय के अंग्रेजी अखबारों और आंग्ल भारतीय सदस्यों ने अध्यक्ष की व्याख्या की तीखी निंदा किया। मुस्लिम लीग के सदस्य भी टंडन जी की व्याख्या से सशंकित थे, क्योंकि उन्हें सही ही लगता था कि अभी तो टंडन जी ने अंग्रेजी को हटाकर हिंदी और उर्दू को रखवाया है और अगले चरण में वे उर्दू को भी हटाकर हिंदी को आत्यन्तिक राजभाषा बनवा देंगे। उन्हें यह एतिहासिक अवसर 4 नवम्बर 1947 को मिला, जब हिंदी को उत्तर प्रदेश की एकमात्र राजभाषा का स्थान मिला। टंडन जी की व्याख्या थी कि इस अधिनियम के लागू होने के बाद अब वे भी, स्पीकर होते हुए भी अंग्रेजी में नहीं बोल सकते।

राजर्षि 1946 से 1950 तक दूसरी बार विधानसभा अध्यक्ष रहे। 1948 में वे फिर प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष बने। उसी वर्ष उन्हें राजर्षि की उपाधि प्राप्त हुयी। ऐसी उपाधियाँ अपवाद नहीं हैं, लेकिन टंडन जी सम्भवतः इस उपाधि के उपयुक्त अधिकारी थे। इस कारण से ही राजर्षि एक प्रकार से उनके लिए व्यक्तिवाचक संज्ञा बन गयी है। उसी वर्ष उन्होंने संविधान सभा से त्याग पत्र दिया, क्योंकि राष्ट्रभाषा के तौर पर 'नागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिंदी' की प्रतिष्ठा अवश्य हो गयी थी, लेकिन देवनागरी के अंकों को अस्वीकार करके, रोमन अंकों को स्वीकार किया गया था। वे 1950 में आचार्य कृपालानी को हटाकर राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए लेकिन सरदार पटेल के निधन के बाद वे संगठन में कमजोर पड़ गए। 1951 में उन्होंने त्यागपत्र दिया। 1952 में वे लोकसभा पहुंचे। 1957 में वे राज्यसभा पहुँचे लेकिन अस्वस्थता के कारण उन्होंने सदस्यता छोड़ दिया और एक भूमिपुत्र की भाँति अपना अंतिम समय प्रयाग में ही बिताने का निश्चय किया। 1961 में उन्हें भारतरत्न प्रदान किया गया। 1962 में उनका निधन हुआ। राजर्षि टंडन के व्यक्तित्व के संक्षिप्त विवरण के बाद उनके कृतित्व पर संक्षिप्त चर्चा करना समीचीन होगा। सार्वजनिक जीवन की पूर्णकालिक व्यस्तता के कारण वे बहुत विस्तृत रचना-संसार नहीं छोड़ गए हैं, फिर भी वह पर्याप्त है। यह अवश्य हुआ कि परवर्ती वर्षों में वे साहित्यिक कम और बौद्धिक लेखक-वक्ता अधिकार हो गए। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उनकी शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी और फारसी था। हिंदी एक प्रकार से उन्हें सीखना पड़ा। इसके बाद भी उनके लेखन और वक्तृता में प्रवाह, ओज और पारदर्शी निष्ठा दिखती है। उनका प्रारम्भिक लेखन बालकृष्ण भट्ट की पवित्रता 'प्रदीप' में प्रकाशित होता रहा, जिसके पीछे भट्ट जी की ही प्रेरणा भी थी। बाद में उन्होंने 'अभ्युदय' के प्रकाशन और सम्पादन का दायित्व सम्भाला, जो पहले मालवीय जी के पास था। इसके अतिरिक्त उन्होंने उस समय की पत्रिकाओं–मर्यादा और प्रकाश–में भी लिखा, जिनमें वे प्रायः अगम शरण या ए0एस0के0 नाम से लिखते थे। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि उनका साहित्यिक लेखन भी राजनैतिक ही है। इसका एक स्पष्ट कारण तो यही है कि वे स्वयं राजनैतिक

त थे, लेकिन एक कारण यह भी है कि तत्कालीन साहित्यिक परिवेश भी राष्ट्रवादी और वादी था। हम इस काल खंड की द्विवेदी युग के नाम से जानते हैं। महावीर प्रसाद द्विवेदी की से अराजनैतिक साहित्यकारों में भी अपने साहित्य में भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता, समाज , राष्ट्रवादी मिथकों-महापुरुषों-मूल्यों की आवश्यकता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध को स्वर । टंडन जी की प्रारम्भिक कविता 1905 में "बंदर सभा" शीर्षक से "बंदर सभा" शीर्षक से प' में प्रकाशित हुयी थी, जिसमें उन्होंने अंग्रेजों को बंदर कहकर उपहास का पात्र बनाया था। सभा से उनका व्यंजनात्मक आशय वायसराय की परिषद से था।

र्ष ने हिंदी के प्रसार को ध्यान में रखकर 'हिंदी व्याकरण' शीर्षक से एक पुस्तक लिखी और ने 'विवाह-पद्धति' का संस्कृत से हिंदी में स्वयं अनुवाद किया। इन दोनों पुस्तकों का उपयोग उस र पर्याप्त हुआ। उन्होंने स्वयं अपनी पुत्री के विवाह के लिए हिन्दी में अनुवाद पुस्तक का ही ग किया। उन्होंने राणा प्रताप के प्रेरणादायी उदाहरण को श्रद्धा सुमन अर्पित करने के लिए 'एक भूत की कथा' लिखी। इसके अतिरिक्त उन्होंने भीष्म पितामह, भारवि, भारतेंदु हरिश्चन्द्र, कानंद, सरदार पटेल और शिव प्रसाद सितारेहिंद पर भी लेख लिखे। उनके लेखों को 'राजर्षि न रचनावली' में और संसद के उनके भाषणों को 'शासने पथ प्रदर्शन' में संकलित किया गया है। लेखों और भाषणों में उन्होंने प्रमुखतः भारत की भाषा समस्या और आर्थिक-राजनैतिक समस्या पर श डाला है। आगे हम भी प्रमुखतः इन बिंदुओं पर ही विचार करेंगे।

3.3 राजर्षि के आर्थिक विचार

र्षि टंडन का राजनैतिक व्यक्तित्व इतना प्रभावी है कि प्रायः हम उनके आर्थिक विचारों को देखा कर देते हैं,। प्रायः ध्यान ही नहीं दिया जाता है कि वे 1925 से 1929 की अवधि में पंजाब नल के पूर्णकालिक संयुक्त सचिव थे। इसके अतिरिक्त 1930-32 के बीच उन्होंने कांग्रेस से ग हटकर किसान सभा के माध्यम से लगानबंदी और जमींदारी-उन्मूलन का बड़ा आंदोलन भी ाया था। उनको अलग संगठन इसलिए बनाना पड़ा, क्योंकि तत्कालीन कांग्रेस जमींदारों के विरुद्ध सीमा तक नहीं जा सकती थी। 1930-32 का काल विश्वव्यापी आर्थिक मंदी का था। इस शेष्ट परिस्थिति में पूरी तरह से ग्रामीण जीवन से जुड़े रहने के कारण उन्हें ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की ाणिक जानकारी प्राप्त हुयी। उनका अर्थशास्त्रीय विमर्श शत-प्रतिशत गांधीवादी है, जिसे आप ोंदय के अध्याय में पढ़ चुके हैं। इसकी आधारभूत अवधारणा यह है कि अर्थशास्त्र समाजशास्त्र र नीतिशास्त्र का भाग है, उत्पादन से अधिक महत्त्व वितरण का है, मानवीय श्रम सर्वोपरि है तथा और समृद्धि में अंतर है। राजर्षि की दृष्टि में मनुष्य प्रमुखतः या प्रथमतः आर्थिक प्राणी नहीं है– नुष्य का समाज कुत्तों और बिल्लियों के समाज से फर्क है"। दुख का विषय यह रहा कि स्वतंत्र त की अर्थनीति ने अन्धाधुन्ध औद्योगीकरण को ही अपना आदर्श बना लिया। ऐसे ही एक प्रसंग में होंने औद्योगीकरण के नैतिक मानदंड पर लोकसभा में भाषण दिया था, जिस पर नेहरू जी ने कहा "टंडन जी ने मारल स्टैन्डर्ड की चर्चा की। वहाँ तो उद्योगों को बढ़ाने का विषय था। वे बहक ए"। इस पर टंडन जी ने कहा..."नेहरू जी ने मेरे कथन को बहकना कहा है। जो व्यापारी लोग जिनका उद्देश्य येन केन प्रकारेण लक्ष्मी की वृद्धि करना है, वे तो नैतिकता की बात को बहकना हते ही हैं"।

र्षि टंडन जी की एक सैद्धान्तिक स्थापना यह थी कि धन का उपयोग ऐसे हो, जिससे उसकी मांत उपयोगिता बढ़े। एक पूँजीपति के लिए हजार रुपये का कोई महत्त्व नहीं है, लेकिन एक आम ादमी के लिए एक हजार रुपेय का बहुत महत्त्व है। आर्थिक नीति का उद्देश्य आम आदमी की ावश्यकता को प्राथमिकता के आधार पर पूरा करना है। भारत की जनसंख्या विशाल है, लेकिन

दूसरी दृष्टि से जनसंख्या राष्ट्रीय शक्ति भी है। हमारा पहला लक्ष्य तो यह होना चाहिए कि पहले जनशक्ति का सार्थक नियोजन हो। अतार्किक और अविचारित औद्योगीकरण ने जनशक्ति की घातक उपेक्षा किया है और भयंकर भ्रष्टाचार, अनैतिकता और असमानता को जन्म दिया है। राजर्षि ने इसे कई उदाहरणों से पुष्ट किया है। रेलगाड़ी के प्रचलन के पहले दिल्ली- कलकत्ता के बीच लाखों हरकारे, सरायवाले, घोड़ों की देखभाल करने वाले आदि अपनी आजीविका चला रहे थे। इसी तरह नल से जलापूर्ति की व्यवस्था से पहले लाखों लोग पानी ढोने का काम कर रहे थे। नयी व्यवस्था के विरुद्ध कई आंदोलन हुए। हम मान सकते हैं कि एक सीमा तक नयी व्यवस्था का आगमन अवश्यम्भावी था, लेकिन उसके अविवेकी अतिरेक पर नियंत्रण होना चाहिए। मशीनीकरण हमारी समस्याओं का रामबाण नहीं है। मशीनें मनुष्य के लिए हैं, मनुष्य मशीन के लिए नहीं। सौ लोगों को बेरोजगार करके पाँच लोगों को अमीर बनाने वाला मशीनीकरण अमानवीय है। टंडन जी का कहना था कि हमारी अर्थव्यवस्था पहले बेरोजगारी दूर करे, फिर उत्पादन बढ़ाने का प्रयास करे। इसका एक उपाय स्वदेशीकरण है। टंडन जी का कहना था...."जिसका उपभोग करते हो, उसका उत्पादन करो। जिसका उत्पादन करते हो, उसका ही उपभोग करो"। उनके अनुसार यह राष्ट्रीय शर्म की बात है कि प्रसाधन सामग्री तक का आयात हो रहा है। उनकी दृष्टि में आयात का आधार आवश्यकता तो हो सकता है, लेकिन विलासिता कदापि नहीं।

स्वतंत्र भारत की अर्थनीति औद्योगीकरण पर आधारित थी। नेहरू आर्थिक विकास को यहाँ तक कि साम्प्रदायिकता और जातिवाद तक का समाधान मानते थे। उनका विश्वास था कि औद्योगिक व्यवस्था से क्षेत्र, धर्म, जाति और भाषा आदि की पुरानी पहचान नष्ट हो जाएगी। टंडन जी का कहना था कि औद्योगीकरण बाकी समस्याओं का समाधान तो नहीं है, आर्थिक समस्या तक का समाधान नहीं है। उन्होंने पूर्वी उत्तर प्रदेश का उदाहरण दिया जो चीनी मिलों की अधिकता के कारण 'भारत का जावा' कहलाता था। इसके बावजूद इस क्षेत्र की निर्धनता की स्थिति पर है कि तमाम गरीब परिवार 'गोबरी' खाते हैं, जो गोबर से ढूँढ़कर निकाला जाता है। उनकी आपत्ति यह भी थी कि शासन ने कल्याणकारी राज्य का दावा करके समाज के हर क्षेत्र में घुसपैठ करके भ्रष्टाचार भर दिया है। नेहरू ने इसे 'हाउस कीपिंग' का काम बताया था। राजर्षि का कहना था कि यह 'हाउसकीपिंग' का विचार बहुत लुभावना है, लेकिन वास्तव में सरकार में संकल्प शक्ति ही नहीं है...."आप दावा करते हैं गृहस्थी संभालने का, लेकिन आपके पैर काँपने लगते हैं"। सरकार की कमजोरी का कारण यह था कि उसमें वह नैतिक शक्ति थी ही नहीं जो गृहस्थी चलाने वाली 'बूढ़ी दादी' में होती है। उन्होंने कहा कि यह कितने आश्चर्य की बात है कि हमारी योजनाओं में वेश्यावृत्ति और मद्यपान रोकने का कोई विचार तक नहीं है।

नैतिक शक्ति के अभाव में सभी शासकीय योजनाएँ भयंकर भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ गयी हैं। उनका कहना था कि न्यायालय और पुलिस तो पुराने विभाग थे, कल्याणकारी राज्य के विचार से आपूर्ति जैसे नये विभाग भी खोल दिये गए और इन नये विभागों ने रिश्वतखोरी में सबको मात कर दिया है पहले शासन की सक्रियता कम थी इसलिए भ्रष्टाचार भी कम था। अब स्थिति यह है कि शासन ने उपभोक्ता वस्तुओं पर मूल्य नियंत्रण लागू कर दिया है। राशन की सामग्री कागज पर सस्ती कर दी गयी जो कालाबाजारी का अक्षय स्रोत बन गयी। संसद में टंडन जी ने कई बार पूरे मंत्रिमंडल को चुनौती दिया कि एक भी मंत्री यह नहीं कह सकता है कि उसने अपने उपयोग के लिए कई बार ब्लैक मार्केट से सामान नहीं खरीदा है। उनका कहना था कि आँकड़ों को सत्य की तरह प्रस्तुत किया जाता है, जबकि स्वयं खाद्य मंत्री तक इस पर भरोसा नहीं करते थे। टंडन जी का कहना था कि शासन उस सीमा तक ही हस्तक्षेप करे, जिस सीमा तक वह वास्तव में नियंत्रण कर सकती है। नीतियों से फैले भ्रष्टाचार का निर्ममता से दमन होना चाहिए। उन्होंने उदाहरण दिया कि भ्रष्टाचार के एक बड़े

पी पर केवल इसलिए कार्रवाई नहीं हो रही है क्योंकि वह अस्वस्थ है। उन्होंने महाभारत के ाएर्व में प्रस्तुत भीष्म के विचारों को उद्धृत किया कि जो शासक सज्जनों की रक्षा नहीं कर ा और दुष्टों का दमन नहीं कर सकता, वह नर्क का भागी है।

.4 भारतीय संस्कृति का बौद्धिक आधार

र्षि टंडन भारतीय संस्कृति और राष्ट्रवाद के प्रखर प्रवक्ता थे। कांग्रेस में इस विचार के समर्थक प्त थे, लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद गांधी, पटेल और डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद के निधन से इस ारधारा का प्रभाव कम हो गया और कई बार तो उसे प्रगतिविरोधी पुनरुत्थानवाद, पोंगापंथ, क्रियावाद, हिंदू साम्प्रदायिकता और दक्षिणपंथ कह कर उपहास का पात्र बनाया गया। 1950 के भी कांग्रेस में टंडन के नेतृत्व में भारतीय परम्पराओं के समर्थकों का अस्तित्व बना रहा। यह चार ही था कि राजर्षि टंडन आदि भारतीय परम्पराओं के अविवेकी अनुकरण के समर्थक थे। हम गे कि उन्होंने भारतीय संस्कृति के प्रगतिशील पक्ष का ही समर्थन किया। उनकी मान्यता थी कि ाग्रह हर समाज में और हर वर्ग में होता है। जो लोग अपने को आधुनिक कहते हैं, वे भी अपने ार, व्यवहार, भोजन आदि में पश्चिम का ही अंधानुकरण कर रहे हैं। पश्चिम में भी तमाम ार्किक परम्पराएँ हैं। इंग्लैंड में आज भी राजतंत्र का मिथक बनाये रखा गया है। वहाँ की संसद के ले सत्र के प्रारम्भ में स्वीकार लालटेन लेकर तहखाने का निरीक्षण करता है, क्योंकि इतिहास में ; बार गार्ड फाक्स ने तहखाने में विस्फोटक रखकर संसद को उड़ाने का कुचक्र रचा था। इसी तरह ाँ स्पीकर के पास अभी भी मेस (गदा) रखी जाती है। टंडन जी की धारणा थी कि हमें परम्पराओं तर्क की कसौटी पर कसना चाहिए। प्रगतिशील परम्पराओं को स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि सि समाज अच्छी तरह से परिचित होता है। इस कारण अगर प्रगतिशील परम्पराओं के आधार पर ई समाज सुधार किया जाए तो वह अधिक असरदार, दूरगामी और दीर्घकालिक होगा।

ार्षि टंडन जी ने भारतीय संस्कृति में तर्कवाद को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उनका तो यहां तक इना है कि "जहाँ युक्ति नहीं, वहाँ भारतीय संस्कृति नहीं"। यह धारणा उनकी कोई अपनी खोज ीं थी, बल्कि पूर्णतः शास्त्र-सम्मत थी। बृहस्पति स्मृति का वाक्य है....

केवलम् शास्त्रमाश्रित्य, न कर्तव्यो विनिर्णयः।

युक्तिहीन विचारेतु धर्महानिः प्रजायते।।

तका आशय है कि यदि केवल शास्त्र का आदेश मानकर निर्णय किया जाए और वह युक्तिहीन हो इसके धर्म की हानि ही होगी। टंडन जी के अनुसार ईश्वर के बाद बुद्धि ही है। ('यो बुद्धे परतस्तु :')। इस प्रकरण में वे वेद के व्याख्याता और निरुक्त के जन्मदाता मुनि यास्क के अंतिम दिनों का दाहरण देते थे। उनके शिष्यों ने उनसे पूछा था कि उनकी मृत्यु के बाद वे किस ऋषि के पास ाएं। इस पर ऋषि यास्क ने कहा कि तुम लोग तर्क को ही ऋषि मानना ('तर्को वै ऋषिरुक्तः')। सके आगे उन्होंने प्राचीन गुरुकुलों का संदर्भ भी दिया। प्रयाग में ही मुनि भारद्वाज का गुरुकुल था। समें दस हजार से भी अधिक छात्र थे। प्राचीन काल के सभी गुरुकुल आवासीय होते थे और ुलपति नाम ही इसलिए पड़ा क्योंकि वह इन सभी विद्यार्थियों के भोजन आवास आदि की व्यवस्था रता था। इन गुरुकुलों में विद्यार्थी गुरु के साथ रहकर ज्ञान ही नहीं, संस्कार भी पाते थे। ऐसी स्थिति ं एक परम्परा यह थी कि गुरु शिष्यों को चेतावनी देता था। गुरु शिष्य से कहता था कि मेरे गुणों को अपनाओ–'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि सेवितव्यानि'–और दुर्गुण या अन्य बातों का अनुसरण मत करो–'नो इतराणि', अर्थात् सद्गुण से इतर कुछ भी स्वीकार न करो।

ारतीय परम्पराओं में बुद्धिवाद का केन्द्रीय स्थान है। टंडन जी के अनुसार हमको बुद्धि के आधार पर

मानवविरोधी परम्पराओं का या तो परिमार्जन करना चाहिए या फिर उनका परित्याग करना चाहिए। कई बार महान परम्पराओं का पतन भी हुआ। इसका एक उदाहरण कुम्भ मेला भी है। संगम के किनारे दैवीय पवित्रता की अनुभूति से हमारे ऋषियों ने यहां तपस्या और आत्मचिंतन किया। प्रयाग के संगम का यही महत्त्व है। कालांतर में यह विश्वास कर गया कि शुभ दिनों में वहाँ डुबकी लगाने मात्र से स्वर्ग प्राप्त हो जाता है। तपस्या की पवित्रता मेले की उत्सवधर्मिता में बदल गयी। प्राचीन समागम में सभाएं होती थीं, गम्भीर विमर्श होते थे। आज सब कुछ सिमटकर मेले में बदल गया। राजर्षि टंडन की व्याख्या इतनी प्रगतिशील थी कि उन्होंने कुम्भ मेले के लिए टेल विभाग द्वारा विशेष गाड़ियों की व्यवस्था का भी विरोध किया था। इसी तरह मानवविरोधी परम्पराओं का बड़ा उदाहरण अस्पृश्यता है। हमारे वहाँ 'कर्मणा वर्णः' का सिद्धांत था, जो बाद में 'जन्मना वर्णः' में बदलकर अस्पृश्यता की अमानवीय सीमा तक पहुँच गया।

राजर्षि टंडन ने अनुसार परम्पराएं समाज के पूरे एतिहासिक अनुभव को सरल ढंग से समेटतीं हैं। समाज अपनी विकास यात्रा में बहुत कुछ सीखता है, त्रुटियों का सुधार करता है। परम्पराएं इसी अनुभव को आम आदमी के जीवन में समाहित करती हैं। इसका श्रेष्ठतम उदाहरण भारतीय जीवन पद्धति, आहार, विहार और चिकित्सा पद्धति है। इस मामले में वे गांधी और विनोबा जैसे ही हैं, जिनके विचार और व्यवहार में पूर्ण तादात्म्य था। राजर्षि का निजी जीवन सात्विक और सरल था। उन्होंने शक्कर, नमक, दूध आदि को युवावस्था में ही छोड़ दिया था। दूध, रेशम और चमड़े के प्रयोग को वे हिंसक मानते थे। दवाइयों का प्रयोग भी उन्होंने अपवादतः ही किया और विनोबा की तरह ही अस्सी वर्ष की आयु प्राप्त किया उनके अनुसार यह समग्र भारतीय जीवन-पद्धति थी।

समग्र भारतीय जीवन-पद्धति में प्राकृतिक और देशी चिकित्सा पद्धति का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि 'शरीर के माध्यम से ही धर्म का पालन होता हैं। उन्होंने इस विषय पर विस्तार से चर्चा किया हैं। इनके अनुसार भारतीय चिकित्सा पद्धति हजारों साल के लम्बे जातीय अनुभव से विकसित हुयी है। वह आम आदमी को सुलभ है। उसकी औषधियाँ हमारी वनस्पतियाँ ही हैं। वे हमारी जलवायु के अनुकूल हैं। उनके पीछे वैद्यकी की समाज सेवा की समर्पण भावना है। इन सबके बावजूद स्वतंत्र भारत में आधुनिकीकरण के नाम पर अंग्रेजी चिकित्सा पद्धति थोपी गयी। राजर्षि ने इसके विरोधी में असरदार आवाज उठायी। संसद में कई अवसरों पर उन्होंने बहुत विस्तार से चिकित्सा के अंग्रेजीकरण का विरोध किया–व्यावहारिक आधार पर और वैचारिक आधार पर भी। उनके अनुसार तत्कालीन सरकार ने भारतीय पद्धतियों को प्रोत्साहित करने के स्थान पर प्रताड़ित किया है। पराकाष्ठा यह थी कि शासकीय कर्मचारियों के वेतन से अनिवार्य कटौती करके अंग्रेजी चिकित्सा पद्धति को एकमात्र उपाय के तौर पर रखा गया। प्रतिरक्षण के नाम पर अंधाधुंध टीकाकरण की योजना लागू की गयी, जिसको स्वयं इंग्लैंड ने अपने नागरिकों के लिए वैकल्पिक बनाया है। अविवेकी प्रतिरक्षण और कृत्रिम औषधियों के अत्यधिक उपयोग से शरीर की प्राकृतिक प्रतिरक्षण प्रणाली ध्वस्त हो गयी, जिसके लिए फिर और सख्त दवाइयों का उपयोग होने लगा। उन्होंने ब्रिटेन के एक प्रसिद्ध डॉक्टर के वक्तव्य को उद्धृत किया कि अगर दुनिया की सभी कृत्रिम दवाइयों को समुद्र में फेंक दिया जाए तो मानव जाति का बहुत भला होगा, लेकिन समुद्री जीव समाप्त हो जाएंगे।

राजर्षि के अनुसार भारतीय स्वास्थ्य विज्ञान बहुत सरल और प्राकृतिक है। आयुर्वेद और यूनानी व्यवस्थाएं संयमित जीवन से शारीरिक तत्वों का संतुलन बनाने में विश्वास करती हैं। ऐन्द्रिकता–विशेष तौर पर स्वाद और वासना हमारे संतुलन को बिगाड़ती हैं। एक हकीम का कहना था कि व्याधि चारित्रिक पतन का प्रमाण है। स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है कि हम शुद्ध वातावरण में रहें और शुद्ध विचार रखें। सरकारी नीति में इन बातों को कोई स्थान ही नहीं दिया गया है। शायद सरकार प्राकृतिक चिकित्सा की अवहेलना इसलिए कर रही है, क्योंकि उसमें पानी, मिट्टी सूर्य की किरण, उपवास, भाप

र से ही उपचार होता है, जिसमें सरकार को कोई भव्यता नहीं दिखती। देशी पद्धतियों की उपेक्षा इसी तरह हो रही है। उन्होंने इसी क्रम में रसायनिक उर्वरकों और पाश्चरीकरण का विरोध भी ा। रसायनिक उर्वरक कृषि का वैसा ही नुकसान कर रहे हैं, जैसा अंग्रेजी दवाइयाँ मनुष्यों का कर हैं। उन्होंने इन खादों को धरती की 'कामोत्तेजक दवाई' बताया, जिससे धरती की उर्वरकता तुरंत ढ़ जाती है, लेकिन वह थोड़े समय बाद स्थायी रूप से बंजर हो जाती है। इसी तरह वरीकरण और प्रतिरक्षण के सिद्धांत को उन्होंने अप्राकृतिक बताया। अंग्रेजी पद्धति ने जीवाणुओं का क खड़ा कर दिया है। उनके अनुसार इस पद्धति ने जीवाणुओं को मारने का "हीरोइक" तरीका लिया है। हवा में, पत्नी में, भोजन में, मेज कुर्सी हर जगह जीवाणु ढूढ़े जा रहे हैं और मारे जा हैं। इस क्रम में पुरानी बीमारियां जड़ पकड़ती जा रही हैं और नयी-नयी बीमारियाँ पैदा हो रही हैं। ध्यान देने वाली बात है कि स्वतंत्रता के बाद जन स्वास्थ्य योजनाओं के नाम पर राष्ट्रीय स्तर पर जी चिकित्सा पद्धति को प्रोत्साहित किया गया था। इसमें कोई संदेह नहीं कि अंग्रेजी औषधियाँ म्भिक चरण में चमत्कारी प्रभाव डालती हैं। टंडन जी के समय में वही चरण था। सम्भवतः इसलिए क विचारों को कम से कम सरकार ने तो कोई महत्त्व नहीं दिया। नेहरूवादी चिंतन में भारतीय तियों को वैकल्पिक चिकित्सा व्यवस्था का स्थान भी नहीं मिल सका।

3.5 राजर्षि और राष्ट्रीय समस्याएं

र्षि टंडन प्रखर राष्ट्रवाद के प्रवक्ता थे। इसकी अग्नि परीक्षा विभाजन के समय हुयी। 1947 की यों के आते आते पूरी कांग्रेस अप्रत्यक्ष रूप से विभाजन के लिए तैयार हो चुकी थी। गांधी जी ना वक्तव्य भी भूल गए कि भारत का बँटवारा उनकी लाश पर होगा। शेष नेता तो सत्ता की ट से आकुल हुए जा रहे थे। परिणाम यह हुआ कि जिस 17 जून 1947 की कांग्रेस कार्यकारिणी बैठक में पाकिस्तान बनने का अंतिम निर्णय हुआ, उसमें केवल और केवल उन्होंने ही विरोध ग। विभाजन के बाद भी टंडन जी अपने विचारों पर लड़ते रहे। उन्होंने संविधान सभा में हिंदी, नागरी और वंदेमातरम् को स्थापित करने का प्रयास किया। हम देख चुके हैं कि हिंदी और नागरी लिपि पर तो वे सफल रहे, देवनागरी अंक के मामले में वे सफल नहीं हुए और बंदेमातरम् राष्ट्रीय गीत ही बनाया जा सका। बंदेमातरम् राष्ट्रीय आंदोलन की प्रेरणा थी। कई शहीदों मे मातरम् गाते हुए फांसी का फंदा चूमा था। उससे "सुजलाम् सुफलाम्" भारत माता की आत्मिक भूति होती है। इस परिप्रेक्ष्य के बाद भी बंदेमातरम् को एकमात्र राष्ट्रीय गीत का सम्मान नहीं मिला।

त विभाजन को स्वीकार करना किसी भी राष्ट्रवादी व्यक्ति के लिए सरल नहीं था। फिर भी राजर्षि न सक्रिय रहे और उन्होंने विस्थापितों के पुनर्वास का अभियान छेड़ा। उनके प्रयास से ही पृथक र्वास मंत्रालय की स्थापना हो सकी। इस दिशा में उन्होंने लोक सेवा मंडल और हिंदू रक्षा दल के यम से भी काफी काम किया। लोक सेवा मंडल मूलतः पंजाब का ही संगठन था। पंजाब में उसका त्व लाला अचिन्तराम कर रहे थे। टंडन जी की माँग थी कि विस्थापितों के पुनर्वास में 'सौदेबाजी' र 'ओछे बनियापन' का प्रदर्शन सरकार न करे। वास्तव में स्वतंत्रता की कीमत विस्थापितों ने ही ायी है, शेष देशवासियों ने तो स्वतंत्रता का लाभ ही लिया है। विस्थापितों ने अमानवीय यातनाएं ी हैं। टंडन जी ने संसद में कई बार पूरी समस्या को उठाया। उनका कहना था कि क्षतिपूर्ति-कोष बढ़ाया जाए। कम से कम क्षतिपूर्ति के छोटे मामलों में पूरा भुगतान हो, भले ही बड़े दावों को कम दिया जाए। आवश्यकता हो तो इसके लिए अलग से कर लगाया जाए। पाकिस्तान में पहले से म कर रहे आर्यसमाज और सिक्खों के बड़े ट्रस्टों को भी मुआवजा दिया जाए। पाकिस्तान जाने ले लोगों की निष्क्रांत सम्पत्ति पर विस्थापितों को काबिज करवाया जाए। जो विस्थापित इन सम्पत्तियों उपयोग कर रहे हैं, उनमें फिलहाल उस सम्पत्ति का भुगतान या किराया न माँगा जाए। उस समय

बहुत परिवार पाकिस्तान चले गए थे, लेकिन उन्होंने अपने परिवार के एक सदस्य को सम्पत्ति पर अधिकार बनाये रखने के लिए छोड़ दिया रखा था। भारत सरकार ने बहुत जल्दी ही निष्क्रांत सम्पत्ति में नये मामलों के जोड़ने की व्यवस्था समाप्त कर दिया। टंडन जी ने इसका विरोध किया। इसमें कोई संदेह नहीं कि टंडन जी के प्रयास से विस्थापितों का पुनर्वास संतोषजनक ढंग से हो सका।

विभाजन के बाद काश्मीर, गोआ, तिब्बत आदि के मामलों पर भी टंडन जी ने सक्रिय हस्तक्षेप किया। काश्मीर पर हुए कबायली आक्रमण के जबाव में भारतीय सेनाएं मीरपुर और पुंछ के करीब पहुँचकर भी रुक गयी थीं और उन्होंने अपने आप युद्ध विराम रेखा बना लिया था। टंडन जी को इस बात का दुख था कि भारतीय सेनाओं पर भारत सरकार ने ही लगाम लगा दिया था। उनके अनुसार काश्मीर में जनमत संग्रह की आवश्यकता। आधार और औचित्य नहीं रह गया है। भारत सरकार की यह प्रवृत्ति भी बुरी है कि वह विधायन के हर काम में यह अवश्य लिखती हैं कि यह जम्मू काश्मीर में लागू नहीं होगा। उन्होंने काश्मीर के शरणार्थियों को भी विस्थापितों का दर्जा देने की माँग की। सरकार इस माँग को इस तकनीकी आधार पर निरस्त कर रही थी कि काश्मीर के वे क्षेत्र पाकिस्तान के भाग नहीं हैं। उन्होंने काश्मीर की तरह तिब्बत का मामला भी उठाया। चीन ने उस देश पर कब्जा कर लिया, जिसके पास टंडन जी के शब्दों में "सेना नहीं है, जो किसी को सताता नहीं है, ...जिसकी कोई बड़ी जनसंख्या भी नहीं है, एक अलग टुकड़े में छोटा सा देश जिसकी कोई बहुत आमदनी भी नहीं है, जिससे संसार के किसी भी देश को भय नहीं था"। भारत सरकार ने चीनी सरकार से 1950-51 में स्पष्टीकरण माँगा था। इसं स्पष्टीकरण की भाषा भी वैसी ही आक्रामक थी, जैसी चीन की तिब्बत नीति थी। इन पत्रों में चीन ने उल्टे भारत पर ही दूसरों के इशारे पर चलने का आरोप मढ़ दिया। टंडन जी ने इसे चीन की 'गुंडागर्दी' कहा था। उस समय उनके विचारों को अनदेखा कर दिया गया, लेकिन 1962 के चीनी हमले के बाद पूरे राष्ट्र ने उनके विचारों की दूरदर्शिता को समझा।

18.6 धार्मिक व्यक्तिगत विधि और धर्मान्तरण

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सभी धर्मों की व्यक्तिगत विधियों का महत्त्वपूर्ण मामला आया। हिन्दू व्यक्तिगत विधियों में परिवर्तन का प्रश्न नेहरू की आधुनिकतावादी सोच का अहम भाग था। मुस्लिम विधियों के मामले में तो वे पूरी तरह असफल रहे, लेकिन हिंदू व्यक्तिगत विधियों में कई चरण में बदलाव हो सका। इस मामले में राजर्षि टंडन आदि की छवि प्रतिक्रियावादी जैसी बना दी गयी है। इसलिए आवश्यक है कि इन प्रश्नों पर राजर्षि के विचारों को संक्षेप में समझा जाए। राजर्षि ने 1955-56 में हिंदू उत्तराधिकार और विवाह-विच्छेद विधेयकों पर अपने संशोधन प्रस्तावित किये थे। उत्तराधिकार विधेयक में वे चाहते थे कि 'पुत्री' के पहले अविवाहिता जोड़ जाए और मृतक की माँ और विधवा को उत्तरादिकार के क्रम में प्रथम वर्ग में रखा जाए। विवाह विच्छेद के मामले में उनका प्रस्ताव था कि इसकी व्यवस्था विशेष विवाह विधि में की जाए और सामान्य विवाह में यह व्यवस्था न रहे।

उत्तराधिकार विधेयक में पुत्री को उत्तराधिकार की प्रथम श्रेणी में रखा गया था, जबकि राज्यसभा ने प्रवर समिति के प्रतिवेदन को निरस्त करके माँ को इस श्रेणी से हटा दिया था। राजर्षि की आपत्ति यह थी कि इससे हिंदू परिवार में विखण्डन होगा। विधेयक को ऐसे प्रस्तुत किया गया था जैसे इससे पुत्री को अधिकार मिलेगा यानी यह स्त्री समानता का प्रश्न है। राजर्षि का कहना था कि यह लैंगिक अथवा आर्थिक न्याय का प्रश्न नहीं है। उनके अनुसार भारत के पारम्परिक समाज में महिलाओं की उपेक्षा नहीं हुयी है। इसका एक बड़ा उदाहरण यह है कि यूरोप में महिलाओं को मताधिकार के लिए लम्बी लड़ाई लड़नी पड़ी और फिर भी वहाँ के कई देशों को मताधिकार नहीं मिला। दूसरी ओर भारत में बिना किसी विवाद के सार्वभौम वयस्क मदाधिकार लागू हो गया। उत्तराधिकार से पुत्री को वंचित नहीं किया जा रहा है। पुत्री की दो स्थितियाँ होंगी–(1) अविवाहित–जिस स्थिति में उसे पुत्र के समान भाग

लेगा और (2) विवाहित–जिस स्थिति में, टंडन जी के विचार से वह पत्नी और माँ के रूप में
राधिकार की प्रथम श्रेणी में हिस्सा प्राप्त करेगी।

दू पारिवारिक पद्धति में माँ का शीर्ष स्थान है। तैत्तरीय उपनिषद में पहले माँ को देव कहा गया है
ातृ देवो भव), उसके बाद ही पिता का स्थान है। परिवार में पत्नी का भी महत्त्व है। विधवा की
थति में उसे आर्थिक स्वतंत्रता और संरक्षण की सर्वाधिक आवश्यकता होती है। इसीलिए अधिकांश
ुदायों में यह प्रथा है कि पति के अंतिम संस्कार के बाद सभी लोग विधना को अपनी क्षमता भर
छ धन अवश्य भेंट करते हैं। उत्तराधिकार अधिनियम में प्रथम श्रेणी से माँ को तो हटा ही दिया
ा और विधवा का हिस्सा काटकर पुत्री को दे दिया गया है। उन्होंने इन संशोधनों के सम्भावित
रिणामों का विवरण भी दिया। प्रस्तावित व्यवस्था में विवाहित पुत्री तो अवश्य ही संयम रखेगी,
केन उसके ससुराल की ओर से दबाव पड़ेगा। फिर हिंदू परिवारों में विवाह के समय ही पुत्री को
ोधन देने की व्यवस्था कर दी जाती है। धनाढ्य परिवारों में हो सकता है कि उसके बाद भी
वाहित पुत्री को पिता बड़ी राशि दे सके या वसीयत में अलग से व्यवस्था कर दे लेकिन आम
रिवारों की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं होती। फिर प्रायः पुत्री दूर रहती है और ऐसे में विशेष रूप से
चल सम्पत्ति के बँटवारे में बहुत मनोमालिन्य होगा। कई मुस्लिम समुदायों में यह प्रथा है कि
वाहित पुत्री को सम्पत्ति में हिस्से के बदले कुछ नगद दे दिया जाता है। हिंदुओं में विवाह के बाद
सी परम्परा नहीं है।

)55 में हिंदू तलाक विधेयक लोक सभा में प्रस्तुत किया गया था। उस पर टंडन जी का यह कहना
कि परिवर्तन तो होना ही चाहिए, क्योंकि समय और अवस्था अर्थात् परिस्थिति बदलने से धर्म भी
लता है। ("समय भेदेन धर्म भेदः। अवस्था भेदेन धर्म भेदः।") हिंदू समाज में इसीलिए लगभग सौ
ृतियाँ लिखी जा चुकी हैं। उनका मानना था कि वर्तमान संसद एक नयी स्मृति का निर्माण कर रही
जिसका उसे अधिकार भी है। प्रश्न यह है कि परिवर्तन की कसौटी क्या होगी। उनके अनुसार
यं शास्त्र कहते हैं कि केवल शास्त्र के आधार पर निर्णय नहीं होना चाहिए ("केवलं शास्त्रमाश्रित्य
कर्तव्यो विनिर्णयः")। ऋषियों-मुनियों में भी मतैक्य नहीं होता ("नैको मुनिर्यस्य मतिर्भिन्ना")। निर्णय
ी कसौटी केवल और केवल युक्ति ही हो सकती है, चाहे वह किसी बच्चे की ओर से आयी हो।
'युक्तियुक्तं बचो ग्राह्यम, बालादपि शुकादपि")।

स परिप्रेक्ष्य में देखने पर यह स्वाभाविक है कि तलाक पर विचार करते समय हम समय, परिस्थिति
ादि का तार्किक विश्लेषण करें। हिंदू विवाह एक पवित्र संस्कार (सैक्रामेंट) है। यह व्यवस्था शेष
मुदायों से इतनी भिन्न है कि हिंदू व्यवस्था में तलाक के लिए शब्द नहीं है और अन्य व्यवस्थाओं में
तिव्रत के लिए सटीक शब्द नहीं है। (पतिव्रत के लिए सी0 एफ0 एंड्रूज ने चैस्टिटी का प्रयोग
किया है।) इसमें वासना का प्राधान्य नहीं है, जिसके लिए पश्चिमी सभ्यता में कहा जाता है–"वी लव
ट व्हाइल वी मे' (हम जब तक कर सकेंगे, प्रेम करेंगे)। हिंदू समाज के कुछ दलित वर्गों में तलाक
ी प्रथा अवश्य है, लेकिन उसे भी उस समाज में ठीक नहीं माना जाता। कबीर और रैदास की
ाणियों में इसकी निंदा की गयी है। यह ठीक है कि समय और परिस्थितियों के अनुसार तलाक की
वस्था आपत्धर्म और अपवाद की तरह होनी चाहिए, लेकिन इसका प्राविधान विशेष विवाह
धिनियम में होना चाहिए, हिंदू विवाह अधिनियम में नहीं।

भी तक हमने उत्तराधिकार और तलाक जैसे प्रसंगों पर विचार किया, जिनका धर्म से अप्रत्यक्ष
म्बन्ध है। टंडन जी की एक बड़ी चिन्ता धरम परिवर्तन को लेकर भी थी, जिसका धर्म से प्रत्यक्ष
म्बन्ध है। उन्होंने 1904 में इसाई मिशनरियों के धर्म-परिवर्तन अभियान का विरोध किया था और
ोरी पाठशाला की स्थापना किया था। इस प्रश्न पर उनके विचार समय के साथ और प्रखर ही हुए।
वतंत्रता के बाद उन्होंने इन मिशनरियों की गतिविधियों पर कई बार समाज और सरकार को जागरूक

किया। ध्यान देने वाली बात है कि यहाँ भी उनका विरोध युक्तियुक्त ही है। उदाहरणतः उन्होंने संविधान प्रदत्त धर्म प्रचार के अधिकार का समर्थन ही नहीं किया, बल्कि विवेकपूर्ण धर्म-परिवर्तन तक का समर्थन किया। सरकार से तो उनकी अपेक्षा मात्र इतनी थी कि धर्म-परिवर्तन खुले और स्पष्ट रूप में हों, क्योंकि मिशनरियों पर आरोप था कि वे धर्म-परिवर्तन में हर घटिया साधन के प्रयोग से परहेज़ नहीं करते थे। इसके लिए उन्होंने तीन सुझाव दिए–(1) धर्म-परिवर्तन की इच्छा करने वाला व्यक्ति पूर्व सूचना दे, (2) धर्म-परिवर्तन की प्रक्रिया सक्षम प्राधिकारी के सम्मुख पूरी की जाए और (3) ऐसे व्यक्तियों का रजिस्टर बनाया जाए। इन तीन व्यवस्थाओं से मिशनरियों की षड्यंत्रकारी गतिविधियों पर लगाम लगती। बात यह है कि भारत एक जनतांत्रिक और धर्म-निर्पेक्ष राष्ट्र है, इसलिए खुफिया तरीके से धर्मान्तरण करवाने का कोई औचित्य नहीं दिखता।

भारत के आदिवासी क्षेत्रों में मिशनरियाँ ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सहयोग से घुसी थीं। पूरे ब्रिटिश शासन में उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के धार्मिक अनुषांगिक संगठन की भूमिका ही निभाई। स्वाभाविक था कि स्वतंत्र भारत का प्रखर राष्ट्रवाद इस पर प्रहार करता, लेकिन ऐसा हुआ नहीं। कांग्रेस में राजर्षि जैसे प्रखर राष्ट्रवादी कम ही थे। फिर भी उन्होंने बहुत तर्कसंगत ढंग से मिशनरियों के प्रयासों पर प्रकाश डाला। इस प्रकरण में उन्होंने प्रख्यात मानवशास्त्री–वैरियर एल्विन के विचारों का सहारा लिया। डॉ0 एल्विन ने दिखाया था कि मिशनरियाँ विदेशी सरकारों की एजेंट की तरह काम करती हैं। हालैंड की मिशनरियाँ जिन प्रकार भारत में धर्म प्रचार कर रही हैं, वैसा वे अपने देश में भी नहीं कर सकती हैं। वे शिक्षा और स्वास्थ्य सेवा के नाम पर जाल फैलाती हैं। उनके पास अपार विदेशी धन है, जिसके सहारे वे कर्ज, आर्थिक सहायता या नौकरी देकर भी धर्मान्तरण करवाते हैं। कई बार वे झाँसा देने के लिए हिंदू साधुओं का नाम और वेश रख लेते हैं। वे आदिवासियों और दूरस्थ देशवासियों पर विशेष नजर रखते हैं। टंडन जी के अनुसार "अस्पृश्य भाई उनके खुराक हैं"। इसमें सन्देह नहीं कि हिंदू समाज को अपनी बुराइयाँ दूर करने के लिए "साहस" का प्रदर्शन करना होगा, लेकिन इस आधार पर विदेशी शक्तियों को भारत में घुसपैठ करने का अवसर नहीं मिलना चाहिए।

18.7 राष्ट्रभाषा हिंदी, देवनागरी लिपि और अंक

अध्याय के अंत में अब हम राष्ट्रभाषा की समस्या पर विचार करेंगे, जो राजर्षि के जीवन का मिशन था। यह प्रश्न पूर्णतः राजनैतिक है। इसका प्रमाण भारत में अंग्रेजी भाषा की शिक्षा का माध्यम बनाने वाले मैकाले के नीति-वक्तव्य में मिलता है। उसने स्पष्ट कहा था कि अंग्रेजी भाषा ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अस्त्र, आधार और औचित्य है। उसको आशा थी कि इस भाषा में 'मूर्तिपूजकों का धर्म' निर्बल हो जाएगा। अंग्रेजी में शिक्षित भारतीय 'भूरे साहब' बन जाएंगे। इस तरह यह भी स्पष्ट है कि भारतीय राष्ट्रवाद को भी अपनी अर्थवान अभिव्यक्तियों के लिए राष्ट्रभाषा की आवश्यकता थी। बंकिम चन्द्र चटर्जी, केशवचंद्र सेन आदि ने 1860 के आसपास ही एक सक्षम राष्ट्रभाषा की आवश्यकता और उसके लिए हिंदी की अर्हता की राष्ट्रव्यापी स्वीकृति के लिए एक आंदोलन जैसा माहौल बना दिया था। हिंदी भारतीय राष्ट्रवाद के लिए कितनी महत्त्वपूर्ण है, यह इसी से स्पष्ट होता है कि प्रारम्भिक चरण में तो हिंदी के पक्ष में महाराष्ट्र, बंगाल और गुजरात से ही बड़े अभियान चलाए गए। इसके साथ ही भारतेंदु हरिश्चन्द्र के समय से हिंदी के परिष्कार का प्रयास शुरू हुआ, जो महावीर प्रसाद द्विवेदी के काल में उत्कर्ष पर पहुँचा। राजर्षि टंडन द्विवेदी युग में सक्रिय हुए। उन्होंने भारत की भाषा समस्या के समाधान का एतिहासिक प्रयास किया।

भारत की भाषा समस्या भारत की विशालता, भाषाई भिन्नता और एतिहासिक परिस्थितियों के कारण बहुत जटिल और स्पष्टतः साम्प्रदायिक हो गयी थी। आधुनिक युग में यह समस्या और विकट हो गयी, क्योंकि संचार साधनों और छापेखानों के विकास के कारण एक बहुत बड़ा पाठक वर्ग तैयार हो

ग था। सरकारी काम के लिए भी भाषा का महत्त्व बढ़ गया था। अंग्रेजों ने 1837 में इस विषय पर क महत्त्वपूर्ण निर्णय करते हुए बिहार और वर्तमान उत्तर प्रदेश में फारसी की जगह पर उर्दू को कारी भाषा बना दिया। धारणा यह थी कि उर्दू आम जनता की भाषा है। धीरे-धीरे हिंदी ने उर्दू के र दावे को चुनौती देना शुरू किया, जिसके परिणाम स्वरूप 1871 में बिहार में और 1900 में युक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में हिंदी को भी उर्दू के बराबर का अधिकार मिल गया। संयुक्त प्रांत हिंदी के आंदोलन का नेतृत्व मालवीय जी ने किया था और उन्हीं की प्रेरणा से राजर्षि ने इस ांदोलन को अभूतपूर्व ढंग से आगे बढ़ाया।

ह सच है कि हिन्दी-उर्दू विवाह को अंग्रेजों ने ही इनता विषाक्त बना दिया ता। भाषा सीधे सरकारी करी से जुड़ गयी। फिर भी इसका एतिहासिक परिप्रेक्षय महत्त्वपूर्ण है। संक्षेप में हमें इसका संज्ञान वश्य लेना चाहिए। मध्ययुग से ही खड़ी बोली का एक रूप हिन्दवी, हिंदी और दक्खिनी हिंदी के म से विकसित हो रहा था। दक्षिण में उसे मुस्लिम ले गए थे। इसका प्रचुर साहित्य तैयार हो चुका । आदिनाथ और गोरखनाथ जैसे नाथपंथी संतों ने इसमें विशाल साहित्य बना लिया था। मुगल सकों के अंतिम दौर में इस भाषा का एक रूप उर्दू-ए-मुअल्ला के नाम से विकसित हुआ, जिसमें ालित हिन्दवी को अरबी फारसी से भर दिया गया था। इस उर्दू को स्वतंत्र भाषा नहीं माना जा कता था, क्योंकि इसके क्रियापद हिंदवी (या वर्तमान हिंदी) के ही थे। अरबी फारसी की तस्तालीक पि को अपनाने के कारण यह उर्दू अरबी फारसी के और करीब चली गयी। अरबी फारसी से भरे ने के कारण यह उर्दू हिंदी भाषी क्षेत्रों में स्वीकार नहीं हो सकती थी और अहिंदी भाषी क्षेत्रों में तो र भी अस्वीकार्य होती । मुगलकाल में इसे जनता पर थोपा गया और अंग्रेजों ने इसमें अधिक इचन नहीं डाली। उन्होंने अलग से अंग्रेजी की अहमियत बना दिया। इस तरह भारत की भाषा मस्या और जटिल हो गयी। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की भाषा होने के नाते भारतीय राष्ट्रवादी भी ग्रेजी को अस्वीकार नहीं कर सकते थे। अरबी-फारसी से भरी हुई उर्दू के पक्ष में केवल यही तर्क कि इसके भिन्न रूपों को मुस्लिम शासकों ने प्रोत्साहित किया था। भारतीय राष्ट्रवाद ने उर्दू, अरबी, रसी के आधिपत्य को चुनौती देना शुरू किया। प्रारम्भिक पीढ़ी के सभी राष्ट्रवादी नेता उर्दू और रसी माध्यम में थोड़ी पढ़ाई तो कर ही चुके थे। स्वयं टंडन जी फारसी के प्रेमी थे। उन्हें हाफिज र रूमी विशेष प्रिय थे और उर्दू में अकबर इलाहाबादी। प्रश्न निजी ज्ञान और दिलचस्पी का नहीं , बल्कि यह था कि भारतीय जनता के लिए कौन-सी भाषा अधिक उपयुक्त है।

र्षि टंडन की दृढ़ मान्यता थी कि राष्ट्रभाषा देवनागरी में लिखी हुयी हिंदी ही हो सकती है। वे मान्य बोल चाल में आये अरबी, फारसी, तुर्की या उज्बेक शब्दो को स्वीकार करते थे, लेकिन ाल काल में प्रचलित भाषा के सायास फारसीकरण को कम से कम राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार ने को तैयार नहीं थे। उन्होंने भाषा के तीन अंगों पर विस्तृत विमर्श किया है। ये हैं लिपि, ब्दावली और अंक। हम इन तीनों के मुख्य बिंदुओं को देखेंगे। हिंदी की लिपि संसार की सर्वाधिक ानिक लिपि है। मोनियर विलियम्स ने लिखा था कि भारतवासी इस लिपि पर सही ही गर्व करते हैं र यहाँ तक कि उसे देवताओं की देन (देवनागरी) मानते हैं। शार्टहैंड के आविष्कारक आइज़क ामैन ने स्वीकार किया है कि उन्होंने देवनागरी के आधार पर ही शार्टहैंड का आविष्कार किया है। ी से यह तिब्बत तक गयी है। संस्कृत की लिपि होने के कारण यह द्रविड़ लिपियों के अलावा ड़े परिवर्तन के साथ लगभग पूरे भारत में समझी जा सकती है। कई संयुक्त ध्वनियाँ केवल इसी पि में आ सकती हैं, इसलिए तमाम भारतीय भाषाओं में परम्परा है कि संस्कृत के उद्धरण देवनागरी ही दिये जाते हैं। राजर्षि का कहना था कि एक भी ऐसा तर्क नहीं है, जिसके आधार पर देवनागरी त की राष्ट्रीय लिपि के अपने आत्यन्तिक अधिकार को किसी अन्य लिपि के साथ बाँटना चाहे।

भाषा के तौर पर हिंदी की शब्दावली कहीं से कमजोर नहीं है। उनका मानना था कि हिंदी संस्कृत

की तद्भव है, इसलिए उसकी शब्दावली पर्याप्त है। फिर आवश्यकतानुसार प्रत्यय और उपसर्ग लगाकर इसमें नये परिभाषिक शब्द गढ़े जा सकते हैं। कई बार उनके विरोधी उनकी हिंदी को "परंतु हिंदी" कहकर उपहास का विषय बनाते थे, जो कि सत्य नहीं था। राजर्षि ने यह आरोप लगाने वाले बंगाली सांसद को जवाब दिया था कि उनकी बंगाली भाषा कहीं अधिक 'परन्तु हिंदी' है। यह सत्य है कि आधुनिक भारतीय भाषाओं में संस्कृत का प्रभाव अधिक है। राजर्षि का कहना था कि भाषा के कई प्रयोग होते हैं और उसी हिसाब से शब्दावली बदल जाती है। आम बोलचाल में देशज और तद्भव की बहुलता होगी जबकि पुरोहित, वैज्ञानिक और विधिवेत्ता की शब्दावली तत्सम प्रधान होगी। आम बोलचाल की भाषा को लेकर कोई समस्या नहीं है, लेकिन बौद्धिक उपयोग की शब्दावली का कोई सुसंगत आधार होना चाहिए। भारतीय संविधान के भाषाई प्राविधान अनुच्छेद 343 से 351 तक उल्लिखित हैं। इसमें स्पष्ट व्यवस्था है कि तकनीकी शब्दावली का प्रमुख आधार संस्कृत ही होना चाहिए। तकनीकी शब्दावली के निर्माण में राजर्षि की बड़ी भूमिका रही है, जिससे उनके शब्दावली सम्बन्धी विचार स्पष्ट होते हैं। हिंदी साहित्य सम्मेलन के शब्दकोष के निर्माण का दायित्व उनका ही था। विधान सभा के अध्यक्ष पद पर रहते हुए उन्होंने फिर हिंदी की इस क्षमता का विकास किया। अंत में 1956 में संसद की हिंदी पर्याय समिति के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने फिर इस बौद्धिक आंदोलन को आगे बढ़ाया। इस समिति के प्रतिवेदन को उन्होंने नवम्बर 1956 में लोकसभा में प्रस्तुत किया था, जो लोकसभा में उनका अंतिम भाषण था। इतने बड़े कार्यों में कहीं भी उन्होंने संकीर्णता का परिचय नहीं दिया। आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने बौद्ध साहित्य से और अंग्रेजी से भी सहायता लिया। उनके प्रमुख सहयोगी राहुल सांकृत्यायन बौद्ध साहित्य के विशेषज्ञ थे। विद्यानिवास मिश्र ने लिखा है कि जब संविधान का हिंदी प्रारूप टंडन जी को प्राप्त हुआ तो वे उसमें 'एतद्द्वारा' जैसे अन्ययों के आधिक्य से क्षुब्ध हो गए थे। उन्होंने राहुल जी से आग्रह किया था कि इसे व्यवहारिक और सरल बनाया जाए। यह काम दिन-रात लगकर किया गया, जिसके परिणाम स्वरूप संविधान की हिंदी प्रवाहपूर्ण प्रतीत होती है।

लिपि और शब्दावली के बाद भाषा का तीसरा भाग अंक हैं। संविधान में रोमन अंकों को "भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रूप" बताकर स्वीकृत किया गया। रोमन अंकों को इसलिए भी स्वीकार किया गया क्योंकि महालेखाकार जैसे वित्तीय संगठनों को अंक पद्धति बदलने से असुविधा होती। इस मामले में टंडन जी को संविधान सभा में एक मत से पराजित होना पड़ा। वे रोमन अंकों को हटाकर भारतीय अंकों को स्थापित करना अपने जीवन का अंतिम लक्ष्य मानते थे। संसद और संविधान सभा में इस मामले पर उनको असाधारण दबाव झेलना पड़ा। अधिकांश नेताओं का मानना था कि अंकों से क्या अंतर पड़ता है और वैसे भी रोमन अंक भारत से ही अरब होते हुए यूरोप पहुँचे थे। टंडन जी का कहना था कि हम यूरोप में परिवर्तित अंकों को क्यों स्वीकार करें, जबकि हमारे पास अपने देश में ही विकसित मूल अंक हैं? उनको इसमें कोई आपत्ति नहीं थी कि अंग्रेजी के साथ रोमन अंक प्रयुक्त हों, लेकिन जहाँ देवनागरी का प्रयोग हो वहाँ रोमन अंक को क्यों थोपा जाए? संविधान के इस प्राविधान की व्याख्या के लिए उन्होंने विधि मंत्रालय की सहायता भी लिया। समस्या यह थी कि मौलाना आजाद के नेतृत्व में शिक्षा मंत्रालय कम से कम अंकों के मामले में हिंदी को हटाने के लिए कटिबद्ध था। टंडन जी ने ऐसे हर प्रयास का विरोध किया। ऐसा एक प्रयास टाइपराइटर के वर्ण-पटल के मामले में किया गया। हिंदी वर्ण-पटल में रोमन अंक डाल दिए गए। उन्होंने रोमन अंक को "देश का कलंक" बताया और प्रांतीय सरकारों को प्रेरणा दिया कि वे राष्ट्रभाषा के सावयविक सौंदर्य को बिगाड़ने वाले इस प्रयास को ठुकरा दें। उन्होंने ध्यान दिलाया कि नागरी अंक हिंदी में ही नहीं, गुजराती, मराठी, पंजाबी आदि भाषाओं की लिपियों में भी प्रयुक्त होते हैं। रोमन अंकों के द्वारा भारतीय भाषाओं और इस प्रकार भारत राष्ट्र की आधारभूत एकता पर आक्रमण किया जा रहा है।

ष़ा हिंदी, नागरी लिपि और अंकों के लिए राजर्षि के प्रयास पराकाष्ठा पर रहे। हमें याद रखना कि 1900 में उर्दू हिंदी को बराबरी तक का दर्जा देने को तैयार नहीं थी। 1926 में कांग्रेस के अधिवेशन में राजर्षि केवल हिंदुस्तानी का प्रस्ताव पारित करवा पाए थे और उसका भी बहुत हुआ था। व्यवहार में कांग्रेस जैसा राष्ट्रवादी संगठन भी अंग्रेजी, उर्दू और हिंदुस्तानी के आगे को स्वीकार नहीं कर पाता था। यहाँ तक कि स्वयं उनको 1937 में शुरू हुए विधानसभा के अपने कार्यकाल में अधिकांश काम उर्दू में करना पड़ा। इस बीच उनके नेतृत्व में हिंदी का बनता रहा। जनता में हिंदी के लिए प्रबल भावना भर चुकी थी। ऐसी स्थिति में हिंदी विरोधियों 30 के हिंदी के लिए प्रबल भावना भर चुकी थी। ऐसी स्थिति में हिंदी विरोधियों ने 1930 के ास हिंदुस्तानी का अवरोध खड़ा किया। इस अवरोध के टूटने और संविधान द्वारा राष्ट्रभाषा और नागरी को स्वीकार करने के बाद मौलाना आजाद के नेतृत्व में हिंदी को कूटनीतिक तरीके स्त करने का प्रयास किया गया। अब हम इन दोनों हिंदी-विरोधी प्रयासों की चर्चा करेंगे।

3 हिंदुस्तानी और हिंदी

में हिंदी के विरोध में खड़ी की गयी हिंदुस्तानी कोई भाषा ही नहीं था। गिलक्राइस्ट जैसे अंग्रेज दों में 'बांटो और राज करो' की नीति के अन्तर्गत् हिंदवी को 'हिंदुई' नाम देकर हिन्दुओं से देया और उर्दू से प्रभावित बोल चाल की भाषा को हिंदुस्तानी नाम दिया। लम्बे समय तक और उर्दू ने हिंदी को अपने बराबर भी बैठने नहीं दिया। हिंदी को बराबरी तक आने के लिए लड़ाई लड़नी पड़ी। नामवर सिंह ने सही सवाल पूछा है कि जब 1900 के पहले हिंदी उर्दू के भी नहीं थी, उस समय अलीगढ़ आंदोलन, अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू और उर्दू डिफेंस येशन क्यों सक्रिय थे? यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उत्तर भारत में मुस्लिम समुदाय सभी ं और सरकारी नौकरियों में कम से कम विभाजन तक अपनी जनसंख्या के अनुपात से बहुत और कहीं-कहीं तो 50% तक था। फ्रांसिस राबिन्सन ('मुस्लिम सेपरेटिज्म इन यूनाइटेड ा') और पॉल ब्रास ('लैग्वेज, रिलीजन एंड पालिटिक्स इन नार्थ इंडिया') ने बहुत प्रामाणिक रूप सिद्ध किया है कि उर्दू की राजनीति समानता की नहीं प्रभुता की थी।

सदी की शुरुआत से ही यह साफ होने लगा था कि जागृत भारत में प्रबल जनाकांक्षाओं के हिंदी ही मुख्यधारा की भाषा होगी। ऐसी स्थिति में कुछ उर्दू समर्थकों ने हिंदुस्तानी का समर्थन र दिया गया। कहा गया कि यह हिंदी-उरदू का समन्वित रूप है और इसे देवनागरी और लिपि में लिखा जा सकता है। 1930 के आसपास कांग्रेस के कई नेता भी इसका समर्थन गे, क्योंकि उनको लगता था कि इस तरह वे गंगा जमुनी तहजीब के ताने बाने को मजबूत मुस्लिम लीग को कमजोर कर सकेंगे। इसके समर्थन में काका कालेलकर, जमनालाल बजाज, जेंद्र प्रसाद, पंडित सुंदरलाल और ताराचंद जैसे शीर्ष नेता आ गए। 1937 में नागपुर में गांधी इसी मसले पर उर्दू के 'हमारी जुबान' के सम्पादक मौलवी अब्दुल हक से वार्ता किया। उस तक गांधी 'हिंदी-हिंदुस्तानी' की बात करते थे। उर्दू के समर्थक हिंदी शब्द को किसी भी रूप में करने को तैयार नहीं थे। अब्दुल हक ने इस वार्ता की असफलता के बाद गांधी पर तीखा शुरू कर दिया। उन्होंने लिखा..."गांधी से रिया (फरेब) की नकाब उतर गयी"। जल्दी ही गांधी ुल हक से वैसा ही समझौता कर लिया, जैसा सन् 1944 में उन्होंने जिला को "कायदेआजम' किया था। स्थिति यह हो गयी कि अब गांधी जी को भी हिंदी नाम से चिढ़ हो गयी। वे यह ने लगे कि जो उर्दू लिपि नहीं जानता वह आधा हिंदुस्तानी ही है। गांधी के इस मत परिवर्तन ा आंदोलन को जबर्दस्त फटका लगा। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा और दक्षिण भारत हिंदी भा, मद्रास हिंदी के विरोध में आ गए।

इतिहास का यह एक निर्णायक क्षण था, जब राजर्षि टंडन ने कांग्रेस के भीतर रहकर भी गांधी से सीधे टक्कर ले लिया। राजर्षि ने भाषा और लिपि के प्रश्न पर किसी समझौते से मना कर दिया। उनके नेतृत्व में गांधी जी की भाषा नीति परास्त ही नहीं हुयी बल्कि समाप्त सी हो गयी। बाद में मौलाना आजाद ने संविधान की स्पष्ट व्यवस्था के बाद भी उर्दू को हिंदुस्तानी और फिर हिंदुस्तानी को हिंदी के नाम से शासकीय संरक्षण दिया। राजर्षि टंडन का कहना था कि हिंदुस्तानी के नाम पर उर्दू और फारसी हिंदी का हक मार रहे हैं। यह कृत्रिम भाषा जबर्दस्ती थोप दी जाए तो भी नहीं चलेगी। उन्होंने हिंदुस्तानी में संविधान के अनुवाद का उदाहरण दिया, जिस पर भारी पैसा लगाया गया, लेकिन पूरी तरह बेकार सिद्ध हो गया। हिंदुस्तानी के नाम पर किस तरह मजाक किया गया, इसका एक और उदाहरण 1944-45 में बिहार के हिंदी रीडर का है, जिसमें दशरथ को बादशाह, राम को शहजादा और सीता को बेगम कहा गया था। राजर्षि को आपत्ति यह थी कि यह काम उस हिंदुस्तानी के नाम पर किया जा रहा है, जिसको हिंदी के स्थान पर राष्ट्रभाषा बनाने का प्रस्ताव कांग्रेस जैसा राष्ट्रवादी संगठन कर रहा है।

अगर राजर्षि का प्रयास असफल रहता तो स्वतंत्र भारत में हिन्दुस्तानी के नाम पर उर्दू राष्ट्र भाषा बन जाती और लिपि उसका आधा हिस्सा रहता। यह कोई कल्पना नहीं है। 1944 तक ऐसा माहौल बन गया था कि हिंदुस्तानी ही विजयी होगी। हिंदुस्तानी और उर्दू की कोशिशें स्वतंत्र भारत में भी हुयीं लेकिन तब तक हिंदी और नागरी की एकाधिकारिक संवैधानिक स्वीकृति हो गयी थी। हिंदी का मानक स्वरूप तैयार और प्रचलित हो चुका था। इसलिए शासकीय मामलों में हिंदुस्तानी-उर्दू को हिंदी के नाम पर प्रचलित नहीं किया जा सकता है। मौलाना आजाद अपने व्यक्तित्व के कारण शिक्षा विभाग में थोड़ा बहुत काम हिंदुस्तानी में करवा लेते थे लेकिन राजर्षि ऐसे मामलों पर तेज नजर रखते थे। उदाहरण के लिए सरकार ने शब्दकोष बनाने के लिए हिंदुस्तानी कल्चर सोसायटी को काफी धन दिया। उसके अनुवाद को प्रकाशित करने का साहस शिक्षा विभाग में नहीं था लेकिन राजर्षि ने उसके नमूनों को संसद के सामने रखा। इसमें इस प्रकार के शब्द बनाए गए थे–कैबिनेट (खोली)। प्रीमियर (एड्डलुआ)। बुलेटिन (बतौती) सेटर (बिच बिदी) सेंट्रलाइजेसन (बिचियाना) कन्सालीडेशन (ठेसियाना) सुनीत चाटुर्ज्या की अध्यक्षता में इस अनुवाद की समीक्षा समिति ने इसको "पूर्णतः असंतोषजनक" घोषित किया गया।

यह विचित्र बात थी कि हिंदी के काम के लिए शिक्षा विभाग ने सारे संसाधन कागजी संगठनों को दिए जबकि उस समय तक हिंदी संसार में नागरी प्रचारिणी सभा और हिंदी साहित्य सम्मेलन का सम्मान निर्विवादतः स्थापित हो चुका था। इस पर राजर्षि की चुनौती थी कि ये दोनों संगठन सरकारी सहायता के बिना भी हिन्दी को शीर्ष पर पहुँचा देंगे। स्थिति यह हो गयी थी कि हिंदी सम्बन्धी शासकीय समितियों में भी इन दोनों संगठनों को बहिष्कृत कर दिया गया था। इन समितियों के सदस्यों को वे 'मीरासी' कहते थे। वास्तव में उन्होंने स्वैच्छिक प्रयासों से ही हिंदी को राष्ट्रभाषा के उपयुक्त बना दिया। इस संदर्भ में उनके नेतृत्व में साहित्य सम्मेलन ने इस आंदोलन को दिशा दिया। स्वतंत्रता के पहले तक सम्मेलन कांग्रेस के बाद का सर्वाधिक सक्रिय और और संगठित मंच हुआ करता था। हिंदी का कोई साहित्यकार ऐसा नहीं रहा होगा जिसने इस मंच का उपयोग न किया हो। राजर्षि इसका सम्मेलन भारत के हर भाग में करवाते थे। इस समय में इसके लगभग दो हजार केन्द्र हुआ करते थे। इसने स्नातकोत्कर अध्ययन के लिए साहित्यरत्न की व्यवस्था उस समय की, जब भारतीय विश्वविद्यालय हिंदी की क्षमता को टटोल ही रहे थे। इसने राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों, धर्मपुरुषों, इतिहासकारों और पत्रकारों आदि को भी एकजुट किया। इसके द्वारा प्रदत्त साहित्य वाचस्पति और मंगला प्रसाद पारितोषिक की प्रतिष्ठा भी अधिक थी। विजयेंद्र स्नातक ने लिखा है कि राजर्षि ने सम्मेलन के कार्य को लम्बे समय तक अवैतनिक रखा और पारिश्रमिक के मामले में भी उनका विरोध बहुत उग्र होता था।

ने हिंदी को उस शिखर पर पहुँचा दिया, जहाँ से हिंदी समर्थकों को कभी-कभी अहंकार और तुष्टि होने लगी। इसका नकारात्मक प्रभाव यह पड़ा कि दक्षिण में ही नहीं, महाराष्ट्र और गुजरात हिंदी के प्रति अरुचि बढ़ने लगी। हिंदी भाषी लोग यह तो चाहते थे कि शेष भारत हिंदी सीखे, स्वयं हिंदी भाषी अन्य भारतीय भाषाओं को प्रारम्भिक स्तर तक भी सीखने को तैयार नहीं थे। हिंदी प्रदेशों के ही त्रिभाषा फार्मूले की आत्मा को मार दिया। हिंदी में उच्च स्तर की अध्ययन ी आने का नुकसान यह हुआ कि हिंदी छात्र अंग्रेजी से भी किनारा करने लगे। हिंदी उनके क आलस्य का औचित्य बन गया। हिंदी प्रदेश को "बिमारू" बनाने में इसकी भी भूमिका थी।

.9 सारांश

अध्याय में आपको ज्ञात हुआ होगा कि किस प्रकार से भारतीय राष्ट्रवाद को राजर्षि टंडन ने अपने र और व्यक्तित्व से बल दिया। उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और स्थायी योगदान राष्ट्रभाषा के पद हिंदी को स्थापित करने में है। उन्होंने यह कार्य बहुत विपरीत परिस्थितियों में किया। इसके लिए पहले अंग्रेजी और उर्दू से और फिर हिंदुस्तानी से और गांधी जी जैसे हिंदुस्तानी समर्थकों से ि करना पड़ा। इस निर्णायक लड़ाई में वे अंततः सफल रहे। उन्होंने यह संघर्ष केवल राजनैतिक पर ही नहीं, रचनात्मक-बौद्धिक स्तर पर किया। इस तरह हिंदी में राष्ट्रभाषा बन सकने की क्षमता भी विकसित हो गयी। उन्होंने समाज के कई पहलुओं पर गम्भीर काम किया, यद्यपि के आगे उन सबकी चर्चा कम होती है। उनके समस्त योगदान को उनके प्रखर राष्ट्रवादी रधारा से समझा जा सकता है, चाहे वह भारतीय संस्कृति का प्रतिपादन हो या उत्तराधिकार से माँ विधवा को वंचित करने का विरोध करने की बात हो। वे एक विचारक थे लेकिन उसके साथ उस ार के लिए जनान्दोलन खड़ा करने में समर्थ नेता भी थे। इसी कारण से वे गांधी और नेहरू तक मुकाबला कर सके। भारतीय समाज को उनके योगदान का आभारी होना चाहिए।

3.10 उपयोगी पुस्तकें

- शासन पथ प्रदर्शन–(राजर्षि के भाषणों का संकलन)–आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली
- राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन–उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ
- मुस्लिम सेपरेटिज्म इन यूनाइटेड प्राविन्स–फ्रान्सिस राबिन्सन, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 1974
- लैंग्वेज, रिलीजन एण्ड पालिटिक्स इन नार्थ इंडिया–पाल आर0 ब्रास,
- ए हाउस डिवाइडेड : दि ओरिजिन एंड डेवलपमेंट ऑफ हिंदी/हिंदवी–अमृतराय, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 1984।

8.11 सम्बन्धित प्रश्न

र्घ उत्तरीय प्रश्न

) हिंदू व्यक्तिगत विधि के सम्बन्ध में राजर्षि टंडन के विचार स्पष्ट कीजिए।

:) राष्ट्रभाषा और राष्ट्रवाद पर राजर्षि टंडन के विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

;) "जहाँ युक्ति नहीं, वहाँ भारतीय संस्कृति नहीं" –राजर्षि टंडन के इस कथन की समीक्षा कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) हिंदुस्तानी भाषा पर राजर्षि टंडन की आपत्तियों की विवेचना कीजिए।

(2) चिकित्सा पद्धतियों पर राजर्षि टंडन के विचारों की समीक्षा कीजिए।

(3) अर्थनीति के नैतिक आधार से राजर्षि टंडन का क्या आशय था? स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) राजर्षि टंडन चाहते थे कि

(क) राष्ट्रभाषा हिंदी हो, लिपि देवनागरी हो और अंक रोमन हों।

(ख) राष्ट्रभाषा हिंदी, लिपि देवनागरी और अंक रोमन/देवनागरी दोनों हों।

(ग) राष्ट्रभाषा हिंदी हो और लिपि-अंक देवनागरी के हों।

(घ) राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी हो, लिपि देवनागरी और अंक रोमन हों।

(2) इनमें से किस पद पर टंडन जी नहीं थे–

(क) अध्यक्ष, लोक सभा

(ख) अध्यक्ष, विधान सभा

(ग) अध्यक्ष, संयुक्त प्रांत कांग्रेस

(घ) अध्यक्ष, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

18.12 प्रश्नोत्तर

(1) ग

(2) क